॥ श्रीहरिः ॥

"कल्याण"के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५७वें वर्ष-(सन् १९८३ ई०) का विशेषाङ्क 'चरित्र-निर्माणाङ्क' पाठकोंकी सेवा-में प्रस्तुत है । इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि हैं । कई बहुरंगे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं ।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्री-द्वारा भेजे जा रहे हैं । जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी० पी० द्वारा भेजा जा सकेगा । रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेमें डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वी० पी० की प्रतीक्षा न करके कल्याणके हितमें वार्षिक मूल्य कृपया मनीआर्डर द्वारा ही भेजें । 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क २४.०० रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है ।

३—ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जायगा, जिससे आपकी सेवामें 'चरित्र-निर्माणाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० भी जा सकती है । ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय । ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको *नया ग्राहक* बनाकर उन्हींको वी० पी०से गये 'कल्याण'के अङ्क दे दें और उनका नाम-पता—साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें । आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे ।

४—विशेषाङ्क—'चरित्र-निर्माणाङ्क' फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है । शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी ग्राहकोंको इन्हें भेजनेमें लगभग ६-७ सप्ताह तो लग ही जाते हैं । ग्राहक-महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ ग्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे । कृपालु ग्राहक परिस्थिति समझकर हमें क्षमा करेंगे ।

५—आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें । रजिस्ट्री या वी० पी०-नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके । इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है ।

६—'कल्याण' व्यवस्था-विभाग एवं गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागको अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा इत्यादि पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये । पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर 'पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०)' भी लिखना चाहिये ।

७—'कल्याण'—सम्पादन-विभागको भेजे जानेवाले पत्रादि 'सम्पादक-कल्याण, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०)' एवं 'साधक-संघ' तथा 'नाम-जप-विभाग'को भेजे जानेवाले पत्रादिपर अभिप्रेत विभागका नाम लिखकर 'द्वारा-कल्याण-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन २७३००५ (उ० प्र०)' लिखना चाहिये । पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है ।

—व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन२७३००५—(उ० प्र०)

प० नि० अ० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अतः धर्मप्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग पैंतालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३५ वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्यताका शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइये। पता—

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग पंद्रह हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

'चरित्र-निर्माणाङ्क'की विषय-सूची

श्रीगणेश-परिवार

चारित्र्यपालक–भगवान् विष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २ । २०)

वर्ष ५७ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०८, जनवरी १९८३ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६७४

भव-व्याल-ग्रसितकी प्रार्थना

हे हरि ! कवन दोष तोहिं दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसि-बासर कीजै ॥ १ ॥
जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत बिषय अनुरागे ॥ २ ॥
भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न बिचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ॥ ३ ॥
बेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगब्यापी ।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी ॥ ४ ॥
मैं अपराध-सिंधु करुनाकर ! जानत अंतरजामी ।
तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥ ५ ॥

बाल्कोंके पृष्ठ—

आजके बालक कलके चरित्रशील राष्ट्रनिर्माता कैसे बनेंगे ? निम्नाङ्कित आदर्श आचरणोंसे—

देश-धर्म-मर्यादा-रक्षाकी प्रतिज्ञा

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामने अवतार लिया, जिस देशमें लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्णने अवतार लिया ।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें महर्षि वाल्मीकिने रामायणका गान किया, जिस देशमें महर्षि वेदव्यासने महाभारतका निर्माण किया।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा हुए, जिस देशमें दधीचि-जैसे दानी हुए, जिस देशमें हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी हुए ।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें राणा प्रताप-जैसे प्रणवीर हुए, जिस देशमें छत्रपति शिवाजी-जैसे धीर-वीर हुए, जिस देशमें गुरु गोविन्दसिंह-जैसे कर्मवीर हुए।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें लोकमान्य तिलक-जैसे कर्मयोगी हुए, जिस देशमें महामना मालवीयजी-जैसे निष्ठावान् हुए, जिस देशमें महात्मा गान्धी-जैसे सत्य-अहिंसाके पुजारी हुए ।

हमारा देश—भीम और अर्जुन-जैसे वीरोंका देश है ;

सावित्री और अनसूया-जैसी पतिव्रताओंका देश है;

गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास-जैसे भक्तोंका देश है।

हमारा देश—गौरवशाली है; वैभवशाली है; उन्नतिशाली है; गङ्गा और गायत्रीका देश है।

हम ऐसा काम नहीं करेंगे—जो हमारे देशकी संस्कृति, प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुकूल न हो, जो हमारे देशके सम्मानके अनुकूल न हो, जो धर्म और सदाचारके अनुकूल न हो।

हम देशके गौरवकी रक्षा करेंगे। हम देशके सम्मानकी रक्षा करेंगे। हम संस्कृतिकी रक्षा करेंगे। हम देश-धर्म-मर्यादा एवं संस्कृतिकी लाज रखेंगे। हम आदर्श शुचिशील चरित्रवान् बनेंगे। हम महापुरुष बनकर देश-धर्मका कल्याण करेंगे।

धर्म-पालनकी प्रतिज्ञा

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं।
सत्पुरुष धर्मकी रक्षा करते हैं। अच्छे लोग धर्मका पालन करते हैं।
जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।
जो धर्मका पालन करता है, धर्म उसका पालन करता है।
जो धर्मकी मर्यादापर चलता है, उसकी मर्यादा बची रहती है।
राजा शिबि धर्मात्मा थे। राजा रन्तिदेव धर्मात्मा थे।
राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे। धर्मात्माओंका नाम अमर हुआ।
धर्मात्माओंको भगवान्‌का धाम मिला। धर्मात्माओंका संसार सम्मान करता है।
धर्मके पालनसे सुख मिलता है। धर्मके पालनसे शान्ति मिलती है।
धर्मके पालनसे यश बढ़ता है। धर्मके पालनसे कल्याण होता है।
हम धर्मका पालन करेंगे। हम धर्मकी मर्यादापर चलेंगे।
हम धर्मानुकूल व्यवहार करेंगे। हम आदर्श धर्मनिष्ठ बनेंगे।
हम धर्मको सर्वस्व समझेंगे।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः

(दक्षिणाम्नाय श्रीशृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका प्रसाद)

वसिष्ठधर्मसूत्रका कथन है कि साङ्गोपाङ्गस्वाधीत पवित्र चारों वेद भी 'यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः' सदाचारशून्य मानवको पवित्र नहीं कर सकते— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। वेदोंकी वैसे अपार महिमा है। याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें बड़े-बड़े पापोंके प्रायश्चित्तके लिये वेदपारायणका विधान है। पर वसिष्ठके इस वचनके अनुसार यह ज्ञात होता है कि सदाचारविहीन पुरुषको वेदाध्ययन या धर्मकार्य भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः सदाचारकी महिमा सर्वातिशायी है। हम लोग धर्म एवं सदाचारके ऊपर ही ऐहिक और पारलौकिक सुख पाते हैं।

अब यह विचार करना है कि यह सदाचार है क्या? वेद, पुराण, धर्मशास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है। पर हम शिष्ट पुरुषों या उनके आचरणको सदा नहीं देख सकते। ऐसी हालतमें सदाचारको कैसे समझें? इसका समाधान यह है कि अनादिकालसे प्रवृत्त वेद और धर्मशास्त्रोंके अनुशीलनसे हम इसे समझ सकते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्में सदाचारका सुन्दर ढंगसे निरूपण हुआ है। यह किसी भी देश और कालके लिये आवश्यक है। आचार्य अध्ययन पूरा होनेके बाद अपने शिष्यको उपदेश देते हैं। उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—'सच बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायको कभी मत छोड़ो। माताको देवता समझो। पिता-को देवता समझो। आचार्यको देवता समझो। अतिथियों-का सत्कार करो।' इन स्पष्ट वचनोंसे प्रतिपाद्य आचार सदाचार है। यहाँ वेदों, शास्त्रों और संतोंके आचरण तथा जीवनसे उसे समझना चाहिये। वेदोंके अनुसार चरित्रसे मुख्यतया वैदिक अनुष्ठान ही गृहीत है। इसके अतिरिक्त श्रुतिमूलक धर्मशास्त्रोंमें भी चरित्रके अङ्ग सदाचारका विस्तारसे निरूपण हुआ है। मनुमहाराज कहते हैं—

> लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
> स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥
> (मनु० ४। ७१)

अर्थात्—मिट्टीके ढेलेका मलना, तिनकेको तोड़ना, नाखूनको मुँहमें रखके दाँतोंसे काटना, चुगलखोरी करना और अशुचि रहना ठीक नहीं। इन कार्योंको करनेवाला अश्रेय प्राप्त करता है।' भगवान्ने मनुष्यको हाथ-पाँव आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और नाक-कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं। हम तभी बुद्धिमान् होंगे, जब इन सबको अपने वशमें रखकर धर्मकार्य करें। परंतु होता यह है कि इनको अपने स्वभावके अनुसार छोड़कर हम मनमानी कर लेते हैं। पर यह सदाचार नहीं असदाचार है; इससे इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। हम ऐसे अनाचारोंसे बचें तो कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक चरित्रोंमें मुख्यतया ७ पाकयज्ञसंस्था, ७ हविर्यज्ञसंस्था एवं ७ सोमसंस्थाएँ आती हैं। इनके अनुष्ठानसे पुण्यपूर्वक अद्भुत प्रगति होती है। सामान्य चरित्र भी असंख्य हैं। इनसे सांसारिक पवित्र जीवनके साथ-साथ पुण्य भी प्राप्त होता है। सत्पुरुषोंके सम्पर्क और धर्मग्रन्थोंसे इन्हें सीखा जा सकता है। जीवनमें सदाचार आये बिना सीखी हुई विद्या और किये हुए अनुष्ठान भी निष्फल हो जाते हैं, या पूरा फल नहीं दे पाते। विष्णुसहस्रनामकी फलश्रुतिमें एक श्लोक आता है—

> सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
> आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
> (महाभारत अनुशासन १४९)

अर्थात्—'सभी धर्मशास्त्रोंमें आचार ही श्रेष्ठ माना जाता है। आचारसे पुण्यका उदय होता है। उस पुण्यके स्वामी श्रीभगवान् अच्युत हैं।' मानो भगवान् हमारे पुण्यों-के फल-प्रदाता हैं। पुण्य तो सदाचारसे प्राप्त होता है। इसलिये सभी शास्त्रोंमें आचारका प्राधान्य (श्रेष्ठत्व) है। सदाचारी पुरुषको संसारके लोग आदर देते और उसका गौरव बढ़ाते हैं। भगवान् भी उसपर कृपा करके मङ्गल प्रदान करते हैं। अतः सभी लोगोंको सदाचारी सच्चरित्र बनकर जीवनको सार्थक बनाना चाहिये। आचारसे हीन होना पापी बनना है।

संकल्पबल और चारित्र्य

(धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके अमृतोपदेश)

शास्त्र कहते हैं—'क्रतुमयोऽयं पुरुषः'—पुरुष क्रतुमय है—'स यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।' अतएव वह जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही आचरण करता है और जैसा आचरण करता है, फिर वैसा ही बन जाता है।' जिन बातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है। उसकी फिर इच्छानुसारी वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे आचरण एवं चारित्र्यके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये। जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। कर्मका आधार विचार है।

कितने ही व्यक्ति दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसना आदिको छोड़ना चाहते हैं। मद्यपायी, वेश्यागामी व्यसनके कारण दुःखी होता है। वह व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परंतु जो सावधानीसे मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंके बराबर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता, विचार आते ही उसे विचारान्तरोंसे झपट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है, परंतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता; वह बार-बार व्यसनमें लिप्त होकर रोता है। वह विचारोंके समय असावधान रहता है। विचारसे क्या होता है? बुरा कर्म न करूँगा, इसीके त्यागकी मैंने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपनेको धोखा देकर विचारके रसका अनुभव करता हुआ वह कभी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर पाता। इसीलिये पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये, उन्हें अपने पास कभी फटकने ही न दे।

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय वह अन्य-मनस्क होनेका प्रयत्न करे। भगवद्दर्शनसे, मन्त्र-जपसे, श्रवणसे, सत्सङ्गसे बुरे विचारोंकी धाराको तोड़ देना चाहिये। भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये और उत्तरोत्तर श्रेयोविचारका आश्रय लेना चाहिये। इसी तरह अच्छे कर्मोंके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। इसीलिये अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं। अतः श्रेयस्कामीको सदा वेदान्तादिके सच्चिन्तनमें ही लगे रहना चाहिये। कहा भी गया है—

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किंचित् कामादिभ्यो मनागपि॥

वैसे मनका सहसा संकल्प-विकल्पसे रहित होना असम्भव है, पर प्रयास मनोनिग्रहका चलता रहना चाहिये। जैसे भाद्रपदमें सिन्धु, यमुना, गङ्गा आदि नदियोंका वेग रोककर उनके

छोड़कर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परंतु सामान्य ऋतुओंमें उनसे नहर आदिको निकालकर जलप्रवाहको मोड़ा तो जाता ही है। इसी प्रकार बुरे विचारोंको रोककर, सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर, सात्त्विक वृत्तियोंसे तामस वृत्तियोंको काटकर सदाचरणपूर्वक शनैः-शनैः अन्तरङ्ग-सूक्ष्म-सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल-बहिरङ्ग-सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निवृत्तिका सम्पादन की जा सकती है।

शास्त्रोंमें बालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकोंके निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरणोंमें पहलेसे ही जो बातें अङ्कित हो जाती हैं, वे ही उनका चरित्र-निर्माण करती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्भुत लाक्षा-(लाख-)के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब यह द्रुत लाक्षाके समान कोमल रहता है तो लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल कोमल उस पवित्र अन्तःकरणपर उत्तम आचरणों और उपदेशोंसे प्रभाव पड़ जाता है। पहलेसे ही बुरे सङ्गों और ग्रन्थोंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका सङ्ग तथा सच्छास्त्रोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है—

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥

जैसे लोगोंका सहवास होता है और जैसे लोगोंका सेवन होता है, जैसा होनेकी उत्कट वाञ्छा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धेय प्राणीके प्रति श्रद्धालुका अन्तःकरण, प्राण, देह आदि झुक जाते हैं, अतएव श्रद्धेयके उपदेशों और आचरणोंका प्रभाव श्रद्धालुओंके अन्तःकरणमें पड़ता है। यद्यपि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है, तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगोंके सहवाससे बुरी इच्छा, बुरे कर्म बन पड़ते हैं, जिनसे प्राणीका पतन हो जाता है, परंतु अच्छे सङ्गों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मोंसे प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, श्रमन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदि तक बन सकता है। अच्छे सङ्ग, अच्छी इच्छा और शास्त्रोक्त उत्तम साधनोंका सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तुको प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मोंमें प्राणी अवश्य ही अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है, अगर बीचसे लौट न पड़े। अन्यान्य वस्तुओंके समान ही सद्विचारोंके भी आदान-प्रदानसे श्रेष्ठ चरित्रका निर्माण किया जा सकता है और इससे साध्य—मोक्ष तककी प्राप्ति भी सम्भव है।

चरित्र—भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन

(पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर, जगद्गुरु शंकराचार्य, अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम अखण्ड सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वरकी कृपाप्राप्तिके बिना प्राणीका कल्याण कदापि सम्भव नहीं। परम निःश्रेयसका एकमात्र आधार उन्हीं अशरणशरण, अकारणकरुणावरुणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान भगवान्‌की कृपा है; इस लोकमें भी सर्वविध सर्वाङ्गीण समुन्नतिका एकमात्र साधन भगवत्कृपा ही है। उसके बिना दुर्गोके सभी साधन सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, उल्टे वे घोर दुःखके कारण बन जाते हैं। अतः भगवान्‌की कृपाप्राप्तिपूर्वक उनका सांनिध्य प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। तदर्थ सदाचरण—चरित्रानुष्ठान सर्वोत्तम कार्य है। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
(विष्णुपु० ३।८।९)

शास्त्र उनकी आज्ञा हैं। लोकमें भी यदि हम किसीका कृपा-प्रसाद चाहें तो उसका सीधा-सा साधन उसका आज्ञापालन है। कठोर-से-कठोर हृदयवाले पुरुष भी निरंतर अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले व्यक्तिपर कृपा-दृष्टि बनाये रखते देखे जाते हैं। फिर अत्यन्त कोमल स्वभाववाले प्रभुका तो कहना ही क्या!

भगवान्‌की कोमलता लोकोत्तर है। समस्त संसारकी ऐश्वर्य-माधुर्याधिष्ठात्री जगज्जननी भगवती परम्मा महालक्ष्मी अपने कमलसे भी कोमल हाथोंसे भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंका संवाहन करनेकी इच्छासे जब उनका स्पर्श करनेके लिये अग्रसर होती हैं, तब मन-ही-मन सकुचाती हैं कि कहीं मेरे इन कठोर हाथोंसे श्रीचरणारविन्दोंको कष्ट न हो जाय।

यद्यपि लौकिक मनुष्योंकी तरह भगवान् प्रत्यक्ष होकर आज्ञा नहीं देते, फिर भगवान्‌की आज्ञाका पालन कैसे किया जाय? तथापि विश्वजनीन, सर्वहितकारी, सर्व-जनसुखकारी सनातन-धर्मकी यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे ही अपनी आज्ञाका स्पष्ट निर्देश करते हैं। अनादि अपौरुषेय विश्वकल्याणकारक वेदवाक्य और धर्म-शास्त्र ही भगवान्‌की आज्ञाएँ हैं। उनका पालन करना ही उन प्रभुकी आज्ञाका पालन और उनका उल्लङ्घन करना ही भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है। लौकिक व्यक्ति भी अपने स्वामीकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेपर जैसे सांसारिक सुखोंसे वञ्चित रहता है, ठीक वैसे ही श्रीभगवदाज्ञास्वरूप वेद-शास्त्रों-(धर्मशास्त्र-स्मृतियों-)के विधानका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति भी इहलोक और परलोकमें कभी किसी प्रकारकी भी सुख-शान्ति-प्राप्ति नहीं कर सकता। जो वेद-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह न तो भगवद्भक्त कहलानेका अधिकारी है और न उसे वैष्णव ही कहा जा सकता है। स्वयं श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
(वाधूलस्मृति १८९)

'वेद-शास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति मेरी आज्ञाका पालन नहीं करता, इसलिये वह मेरा भक्त नहीं, अपितु मेरा द्रोही है; फिर उसे वैष्णव कहलानेका अधिकार कहाँसे मिल सकता है!'

सच्चारित्र्यद्वारा श्रीभगवत्कृपा प्राप्त करनेका भी यही एकमात्र उपाय है कि अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार यथाशक्ति, यथासम्भव स्वधर्मानुष्ठान किया जाय तथा उसके फलकी इच्छाका परित्याग कर अपने किये हुए सत्कर्म, सद्धर्मको भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंमें अर्पण कर देना चाहिये। शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंमें अपने मनको कभी प्रवृत्त न होने देना ही भगवद्-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। अन्यथा भगवान् प्रसन्न नहीं होते—

स्वधर्मकर्मविमुखाः कृष्णकृष्णेति रावियः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

भगवान् कहते हैं—'यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो अपने-अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका-धर्मका अनुष्ठान करो तथा बिना फलकी इच्छा रखे उन कर्मोंको मेरे चरणोंमें अर्पित कर दो। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय मुझे संतुष्ट करनेका नहीं है।' स्पष्ट है कि सच्चारित्र्यसे भगवान्‌के संतुष्ट होनेपर ही उनकी कृपा प्राप्त होगी तथा भगवत्कृपा-प्राप्तिसे ही सर्वविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी।

सामाजिक जीवनमें सच्चारित्र्यकी अनिवार्यता

(—पश्चिमाम्नाय द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दजी महाराज)

वेदोंमें चारित्र्य-निर्माणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों साधनोंका प्रतिपादन हुआ है। मनुष्य-का चारित्र्य पूर्णरूपसे निष्कलङ्क तभी होता है जब उसके अन्तःकरणमें रहनेवाले मल, विक्षेप एवं आवरण—ये तीन दोष मिट जाते हैं। निष्काम कर्मयोगसे मल, उपासनासे विक्षेप एवं ज्ञानसे आवरण-दोष दूर होता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यने ज्ञानको ही मोक्षका साक्षात् साधन माना है। उन्होंने ज्ञानको फलपर्यवसायी सिद्ध करनेके लिये पूर्व मीमांसकोंके बहुत-से विचारोंका परीक्षण एवं खण्डन कर अपने पक्षकी स्थापना की है।

पूर्वमीमांसाका आधार-सूत्र है:—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

'वेदके क्रियार्थक होनेके कारण उसमें पाये जानेवाले सिद्धपदार्थ-बोधक वाक्य निरर्थक या क्रिया-विधिकी प्रशंसा या निन्दा करनेवाले अर्थवादमात्र हैं।' शाब्दबोध भी क्रियापरक वचनोंसे ही होता है। प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धसे कहा,—'गामानय' तब बालक प्रयोज्यवृद्धकी गौको ले जानेकी क्रिया देखकर 'गाम्' और 'मानय' इन दो पदोंका अर्थ जानता है। इसी प्रक्रियासे 'गां बधान, अश्वमानय' इत्यादि वाक्योंमें क्रियापरक पदोंके सहकारसे ही सिद्धपरक पदोंका अर्थ जाना जाता है। इसी तरह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवचनोंका तात्पर्य भी क्रियापरकतासे ही अवगत होता है। इस प्रकार—

'फलपदर्थोपयोगित्वं वेदत्वम्' का सिद्धान्त स्थापित होता है।

भगवान् शंकराचार्यने 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस सिद्धान्तको मानते हुए भी कर्म और उपासनाकी उपादेयताको स्वीकार किया है। पर—

'व्यवहारे भाट्टनयः।' व्यवहारकी सिद्धिके लिये कुमारिल भट्टने जिन प्रमाणोंको माना उनको शंकरने भी माना है। (सनातन-धर्मके इतिहासमें वेदके कर्मकाण्ड-भागका उद्धार कुमारिल भट्टने और ज्ञानकाण्ड-भागका उद्धार भगवान् शंकरने किया।)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—इस ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखते हुए शंकरने 'अथ' शब्दका अर्थ साधनचतुष्टय-सम्पन्न—ऐसा किया है। नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहा-मुत्रफलभोगविराग तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छः साधनसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—इन चारोंको ब्रह्म विचारके पूर्व अनिवार्य माना है। ये साधन उसीके अन्तःकरणमें उत्पन्न होते हैं जो निष्काम कर्मानुष्ठान करता है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥
(अपरोक्षानुभूति ३)

अपने वर्ण एवं आश्रमके लिये विहित कर्मरूप धर्मका तपस्याके भावसे अनुष्ठान करके श्रीहरिको संतुष्ट—प्रसन्न करनेवाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ही वैराग्यादि चार साधन प्रकट होते हैं।

परंतु आजकल बहुत-से लोग कर्मकी उपेक्षा करके उपासना और ज्ञानकी साधनामें प्रवृत्त होना चाहते हैं; जबकि यह नियम है कि क्रियामें शुद्धि नहीं है तो भाव और विचारकी शुद्धि टिक नहीं सकती। उदाहरण-के लिये मान लीजिये कि आपकी किसीसे मित्रता है, पर आप मित्रके परोक्षमें उसका अहित करते हैं या उसके अनिष्टकी बात सोचते हैं तो सामाजिक रूपमें आपकी मित्रताकी भावना समाप्त हो जायगी। आजके भारतीय जीवनमें विचारों और भावोंकी उच्चताकी चर्चा

धार्मिक आचार्य—जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य
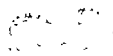
मात्र होती है। हम उच्च कोटिके मानसिक चिन्तन करते हैं; यहाँतक कि कभी-कभी हम ब्रह्मविचार करने भी बैठ जाते हैं; किंतु चारित्रिक धरातलके निम्न रहनेके कारण यह सब मात्र कल्पनाकी उड़ान बनकर रह जाता है। इसलिये कठोपनिषद्‌में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

'दुश्चरित्रसे विरत न होनेवाला, मन और इन्द्रियोंको संयममें न रखनेवाला, चित्तकी स्थिरताका अभ्यास न करनेवाला एवं विक्षिप्त मनवाला मनुष्य केवल बुद्धिबलसे आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।'

इसलिये यह आवश्यक है कि हमारा चरित्र उज्ज्वल हो। जीवनमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण आवें। जो सिद्धोंका लक्षण होता है, वही साधकोंकी साधना बन जाता है। अतः हम गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण पढ़ें। गुणातीत और भगवत्प्रियके लक्षण पढ़ें। दैवी सम्पत्तिके लक्षण पढ़ें। रामायणमें श्रीरामचरित्र पढ़ते समय उनके गुणोंपर दृष्टिपात करें। श्रीरामचरितमानसमें जो संतोंके लक्षण बताये गये हैं, उनको देखें और उन्हें अपना आदर्श बनायें। दर्पणको आदर्श कहते हैं। जैसे मनुष्य दर्पणके सामने खड़े होकर स्वयंको सजाता-सँवारता है, वैसे ही इन गुणोंको सम्मुख रखकर हमें अपने चरित्रको परिष्कृत करना चाहिये। आत्म-समीक्षा करके देखना चाहिये कि हम कहाँतक इन सद्गुणोंको अपने अन्तःकरणमें ला सके हैं—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किं वा सत्पुरुषैरिति ॥

'मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्रकी परीक्षा करे कि वह मुझमें पशुओंके तुल्य कितना है और कितना सत्पुरुषोंके तुल्य है।'

हमारे उज्ज्वल चरित्रसे न केवल हमारा लाभ, किंतु समाज, राष्ट्र और विश्वका भी उससे अभ्युदय होगा। हमारा पवित्र जीवन, उज्ज्वल चरित्र हमारे समाजका घटक होनेके नाते समाजका ही होगा—जैसे वृक्ष-वृक्षसे वन बनता है। यदि एक वृक्ष विकसित, पल्लवित, फलित होता है तो वह वनश्रीकी ही अभिवृद्धि करता है। इसी प्रकार समाजका एक-एक व्यक्ति चरित्रवान् होकर पूरे समाजको चरित्रवान् बनानेमें योग दे सकता है। यदि उनसे प्रेरणा पाकर दूसरोंने भी अनुसरण करना प्रारम्भ किया तो वह पूरे समाजका कल्याणप्रद कर सकता है।

आजकल लोग शङ्का करते हैं कि 'वर्तमान सामाजिक परिस्थितिमें सच्चरित रहना, धर्मका पालन करना क्या सम्भव है? इस समय वातावरण ही ऐसा है कि मनुष्यको न चाहते हुए भी अधर्मके मार्गपर चलना पड़ता है।' किंतु यदि हमारी समझमें यह बात आती है कि यह अधर्मका मार्ग व्यक्तिके और समाजके कल्याणका नहीं है तो हमें दूसरोंकी ओर न देखकर स्वयं ही साहस करके सत्यके मार्गपर आगे बढ़ना चाहिये और उसमें आनेवाली कठिनाइयोंका सामना करना चाहिये। कठिनाइयाँ आयेंगी, किंतु यदि हमने अपने सत्यपथको न छोड़ा तो वे सब समाप्त हो जायँगी। कदाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकताको समाप्त किये बिना न तो लौकिक अभ्युदय हो सकता है न पारमार्थिक कल्याण। यद्यपि धर्मका उद्देश्य तो महान् है, फिर भी आजकी समस्याओंका हल अगर हो सकता है, चारित्रिक उत्थान हो सकता है, नैतिकता बढ़ सकती है तो धार्मिक भावनाओंसे ही बढ़ सकती है। अतः धार्मिक भावनाओंके सदाचारकी प्राथमिक आवश्यकता है। चरित्र-साधनका यही प्रथम सोपान है।

आह्निक सदाचार

(श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

भगवान् आदि शंकराचार्यने—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतो पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात् परम्।' (विवेकचूडा० १)—इत्यादिमें मनुष्य-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है। पापकर्म करनेसे हीन योनि मिलती है। पुण्यसे देवलोक या मनुष्य-जन्म मिलता है। मनुष्यजन्ममें पाप-पुण्य दोनों होते हैं। पापके कारण कष्ट और चिन्ता होती है और पुण्यसे भगवद्-भक्ति, प्रसन्नता तथा सद्भावना मिलती है।

मनुष्य-जन्म साधनसम्पन्न है। मनुष्य-जन्ममें अनेक बाधाएँ भी हैं। पर उसे भक्ति, धर्माचरणादि करनेका अवसर प्राप्त रहता है। अन्य प्राणियोंको यह सुलभ नहीं है। अन्य प्राणियोंमें बुद्धिक्रम और विद्याभ्यास भी नहीं रहता। अन्य जीव मनुष्यकी ही तरह खाते हैं, सोते हैं, परंतु मनुष्यकी तरह धर्मका ज्ञान उन्हें नहीं होता। उनको जो कष्ट होता है उससे बचनेका उपाय सोचनेकी विवेकशक्ति भी उनमें नहीं है। मनुष्य विवेकशील है और वह लोक-परलोक आदिके सम्बन्धमें सोच-विचार सकता है। उसे इतना उत्तम शरीर भगवान्ने इसीलिये दिया है कि अच्छे काम करके अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सके। इसी जन्ममें अपने प्रयत्नोंसे दुःखकी समाप्ति की जा सकती है और मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति भी पा सकता है। पर यह सभी सम्भव है, जब वह भगवद्-भजन करे। भगवान्‌की अनन्यभावसे उपासना करनेवाले कभी जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ते। इसके विपरीत यदि हम अच्छा कार्य नहीं करते तो कुछ उल्टा-सुल्टा नीच काम करनेसे नीचे गिर सकते हैं; क्योंकि—'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' (गीता ३।५)

भगवान्ने मनुष्यको भले-बुरे—दोनों संयोग दिये हैं। पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा साथ-साथ दिये हैं। मनुष्यको विवेकसे पाप-कर्म छोड़कर अच्छे और धार्मिक काम करने चाहिये—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार'।

भगवद्भक्ति, भगवद्गुणगान, सत्प्रवृत्ति, धर्माचरण,—ये कभी स्व-पर-कष्टके कारण नहीं बनते। जो कार्य रागयुक्त इन्द्रियोंद्वारा होते हैं, वे कष्टदायक होते हैं। आचरणकी शुद्धि मनुष्यको ऊँचा उठाती है। भगवान्ने यह मनुष्य-जन्म इसलिये दिया है कि वह भगवद्भक्ति, सत्प्रवृत्ति, स्वधर्म-आचरण करता हुआ सभी प्राणियों, मनुष्यों और देशकी सेवा-सहायता करे। इसे सार्थक बनानेके लिये भगवान्‌को नमस्कार कर सदा अच्छे काम करने चाहिये। जीवनमें होनेवाले दुःखोंको कम करने तथा उनका समूल नाश करनेके लिये प्रातःकाल उठते ही इस प्रकार स्मरण करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गौरी स्यात्* प्रभाते करदर्शनम्॥
समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

* आह्निकों तथा आचारपरक आदिमें—'करमूले स्थितो ब्रह्मा, करपृष्ठे च गोविन्दः' तथा 'कुर्यात् करदर्शनम्।' ऐसा भी मिलता है।

इसके बाद स्नान करते समय निम्न श्लोक पढ़ें—

वक्रतुण्ड महाकाय　　कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यं अनुज्ञां दातुमर्हसि ॥
गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

भोजन करनेसे पहले—

अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकरप्राणवल्लभे ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ॥

—ऐसा पढ़े और रात्रिमें शयनसे पूर्व यह श्लोक पढ़े—

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सोमं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणं कृष्णं जपेद् दुःस्वप्नशान्तये ॥

प्रतिदिन पूजा-पाठादिमें स्तोत्रादिका पारायण करते समय निम्न श्लोक पढ़ें—

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं　　ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥
व्यासाननपद्मार्क　　गजाननमहर्निशाम् ।
अनेकदन्तं　　भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥

गजाननं　　भूतगणादिसेवितं
　　कपित्थजम्बूफलसारभक्षितम् ।
उमासुतं　　शोकविनाशकारणं
　　नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम् ॥
ब्रह्मामुरारिसुरार्चितलिङ्गं
　　निर्मलभासितशोभितलिङ्गम् ।
जन्मजदुःखविनाशकलिङ्गं
　　तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥
करचरणकृतं वा कर्मवाक्कायजं वा
　　श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम् ।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत्क्षमस्व
　　शिव शिव करुणाब्धे श्रीमहादेव शंभो ॥

प्रतिदिन इसी प्रकार स्नान-संध्या, नित्यकर्म-धर्म सम्पन्नकर संध्या-समय भी स्नानसंध्यादि कर भोजनके बाद भी देवस्मरण करते हुए शयन करना चाहिये । चारित्र्यको उन्नत करनेवाले ये आह्निक सदाचार अवश्य पालनीय हैं ।

चरित्र

(—ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)

वर्तमानमें समस्त विश्व चारित्रदौर्बल्य-व्याधिसे पीड़ित है । भारतवर्ष भी इस रोगके जबड़ेके आभ्यन्तरमें उत्तरोत्तर ग्रस्त होता जा रहा है । आये दिन समाचार-पत्रोंके पन्ने घटित बीभत्स दुर्घटनाओंके समाचारोंसे ओत-प्रोत रहते हैं ।

रत्नकोषकारके—'निसर्ग च शीलं चारित्रं शास्त्रं चरितं तथा'—इस वचनके आधारपर शील, चरित्र, चारित्र और चरित—ये सब शब्द समानार्थक हैं । अमरकोशके—'शुभो च चरित्रे शीलम्'—(१।७।२६) इस वचनके आधारपर सुस्वभाव ही शील या चरित्र शब्द-वाच्य है, 'वर्णः सुस्वभावस्य' (रामाश्रयी टीका) । इस प्रकार चरित्र शब्दका अर्थ सुस्वभाव या समीचीन कर्म किया जाना उचित है । स्वभावमें सुष्ठुत्व शास्त्रानुसारित्व है । अतः शास्त्रानुकूल कर्म या व्यवहार चरित्र है । तदनुसार स्वभावमें, व्यवहारमें समीचीनता क्रमशः वृद्धिगत होती रहती है । अतएव भगवान् कृष्णने गीतामें—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६ । २४)—इस उक्तिके द्वारा कर्तव्य-कर्मका शास्त्रके द्वारा ही निश्चय निर्धार्य बतलाया है । अतः शास्त्रके अनुकूल कायिक, वाचिक एवं मानस क्रिया-कलाप चरित्र हैं ।

व्यक्तियोंसे समाज तथा समाजसे देश—राष्ट्रका निर्माण होता है । उन्नतिशील समाज तथा राष्ट्रके लिये व्यक्तियोंका चरित्रशील होना आवश्यक है ।

भारतमें व्यक्तिके चरित्रका सम्मान था, धनका नहीं; अतएव भारतवर्षमें भगवान् राम तथा भगवती सीताका सदाचार त्रिकालाबाधित सत्यकी भाँति मान्य है—स्वर्णमयी लङ्काके स्वामी रावणका नहीं।

अस्तु! हम 'कल्याण'के महत्त्वपूर्ण इस अङ्ककी सफलता चाहते हैं तथा भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करते हैं कि भारतराष्ट्र चरित्रपरायण होकर विश्वमें अपना अप्रतिम स्थान पुनः बनाये।

चरित्र-निर्माणके सरल उपाय

(—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

चरित्र-निर्माणके लिये बहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किंतु उनसे साधन भलीभाँति बन नहीं पाता। इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं बन पाता। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणमें राग-द्वेष, अहंता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, जिससे साधनमें बाधा हो रही है। अतः अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये निष्कामभावसे शौचाचार, सदाचार, जप, तप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ये आत्मकल्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये घोर पतनका कारण है। ख्याल करना चाहिये कि इनके पालनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है पर इनसे लाभ अत्यन्त महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पालनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) नित्य प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्कामभावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) नित्य निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करना चाहिये। बलिवैश्वदेवमें पञ्चमहायज्ञ आंशिकरूपसे आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वह (होम) 'देवयज्ञ' है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'मनुष्ययज्ञ' है। ऋषियोंके वचन मानकर वेदमन्त्रोंका जो उच्चारण किया जाता है, वह 'ऋषियज्ञ' है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जो अन्न दिया जाता है, वह 'भूतयज्ञ' है। बलिवैश्वदेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना बहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीसूर्यभगवान्‌को अर्घ्य दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् सूर्यको अर्घ्य शूद्र भी दे सकता है। सभीके लिये सूर्यार्घ्यका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। बहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र घृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने

करते हैं। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। अंडा, मांस, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यों बताया गया है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
(गीता १७ । ९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।' तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(गीता १७ । १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।' अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और नाटक-थियेटर, बायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं। इनसे मनुष्यका पतन हो जाता है। अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तःकरण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघात आदिको छोड़कर सचाईके साथ न्यायपूर्वक धनार्जन करना चाहिये।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च करना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है। अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघातसे धन कमाने लगता है। किंतु जो खर्च कम लगाता है, सादगीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता। जब वह धनको महत्त्व नहीं देता, तब वह पाप क्यों करेगा?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है। अन्नके भाव बहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है। अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम धर्म है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
(रा० च० मा० ७ । ४० । १)

(१०) वैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है। गीतामें भगवान्ने बताया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(१८ । ४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
(गीता १८ । ४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, विधिको तू सुन।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' तुलाधार वैश्यका केवल न्यायपूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था। (देखिये महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४)।

अतः वर्तमान अन्न-संकटके समय यदि अनाज खरीदकर बिना मुनाफाके ही कर्तव्यबुद्धिसे सबमें भगवद्भाव करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्काम-भावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही श्रेष्ठ है।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषयभोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये। उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इसलिये वैराग्यपूर्वक संसारके ऐश-आराम और विषय-भोगोंका त्याग करके सत्य व्यवहार, सदाचार, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शुद्ध होता है।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण आदि दुराचार अन्तःकरणको अधिकाधिक मलिन और दूषित बनानेवाले हैं। अतः इन सबका तो अवश्य त्याग कर देना चाहिये।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा दूसरोंकी निन्दा करना-सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना भी महान् हानिकारक है। इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुने, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे देखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका भी पाप लगता है।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति घृणाबुद्धि हो जाती है, यह भी पाप है, जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है।

(घ) दूसरेका दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है। अतः आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे भी बहुत दूर रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी साधन निष्काम भावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवदर्पण या भगवदर्पणबुद्धिसे किये जायँ तब तो कहना ही क्या है। फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाता है। अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पित कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पित होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उससे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।' इस प्रकार भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं—(१) अपनेपर किसी घटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना और (२) स्वयं कोई भी कर्म करना। इनमेंसे (१) जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्मयोगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलरूप प्रारब्धका भोग मानकर हर्षके साथ निष्कामभावसे स्वीकार करे। ज्ञानयोगके अनुसार उसे स्वप्नवत् मिथ्या मानकर निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्‌का विधान या भगवान्‌की लीला या भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर परम प्रसन्न रहे। (२) जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह कर्मयोगका साधन है और सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर उन शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह ज्ञानयोगका साधन है। इसी प्रकार सब कुछ भगवान्‌का समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका साधन है।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किंतु कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए स्वतन्त्र भी है। इसलिये किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें हर समय परम प्रसन्न रहे और किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मको बहुत सावधानीसे न्यायपूर्वक निष्कामभावसे करे तो शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है, किंतु जो अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका त्याग मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६ । २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही ।'

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये ।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । १५-१७)

'हे द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है । इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है । जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है ।'

महामुनि पराशरजी भी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है ।' इससे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
(१२ । ३ । ५१)

'परीक्षित् ! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है । वह गुण यही है कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १०३)

कलिजुग केवल नाम अधारा । सुमिरि सुमिरि नर उतरहु पारा ॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगमें भगवान्‌की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है ।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कटिबद्ध हो तत्परतासे साधन करना चाहिये । समय बीता जा रहा है; मनुष्यको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये । नहीं तो, समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन नहीं बन सकेगा और पश्चात्ताप करना पड़ेगा, पर पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा । इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये, जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है । यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है । इसको जो मनुष्य विषय-भोगोंमें बिता देगा उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३, ४४ । १-२, ४४)

इसलिये मनुष्य-शरीर पाकर विषयभोगोंमें मन न लगाकर उसे भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। यह सबसे बढ़कर सार बात है। इसमें न पैसा खर्च होना है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है। हरेक मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाला है। वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस प्रकार चरित्र-निर्माताको चाहिये कि निर्दिष्ट विधिसे साधना कर जीवनको सार्थक बनावे।

सच्चारित्र्य और नियम

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—'मामनुस्मर युद्ध्य च—मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करते चलो।' सर्वसामान्यके लिये लक्षणासे यहाँ युद्धका तात्पर्य है—कर्म करना; अर्थात् भगवान्‌का स्मरण करते चलो और अपने कर्तव्यका पालन करते चलो। भगवान् तो हमारा स्मरण करते ही हैं। उनकी दृष्टिमें सारी सृष्टि है। उनके एक रोमकूप अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। हम सब उनकी आँखोंके सामने हैं। हम उनको नहीं देख पाते, वे हमको देखते हैं। उनको हम अपनी गोदमें नहीं बैठा पाते, वे हमको हमेशा अपनी गोदमें ही रखते हैं। उन्हींकी साँसमें हम साँस लेते हैं। उन्हींकी नींदमें सोते हैं। उन्हींके जागनेसे जागते हैं। परमात्माके साथ हमारा अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसे परमात्मा भी चाहें तो तोड़ नहीं सकते। अपने स्वरूपको कोई, तो ईश्वर कैसे अलग कर सकता है? परंतु परमात्माके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी इस जीवनमें दुःख क्यों रहता है? बस, अनुस्मरण न होनेसे।

श्रीकृष्णका जीवन और परिस्थिति—आप श्रीकृष्णके जीवनको देखें। कम-से-कम यह समझें कि सबके जीवनमें चढ़ाव-उतार आता है। सबके जीवनमें सुख-दुःख आता है। सबके जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं। अपने हृदयको भगवत्स्मरणमें युक्त रखा जाय, बस सब परिस्थितियाँ ठीक हो जाती हैं।

रक्षत रक्षत कोशं कोशानामपि कोशं हृदयम्।
यस्मिन् सुरक्षिते कोशे सर्वं खलु रक्षितं भवति॥

'यदि हृदय सुरक्षित रहेगा तो देश-कालकी विषम परिस्थितियाँ, वस्तुएँ दुःखी न कर सकेंगी, कोई दुःखी नहीं कर सकेगा।'

लोग श्रीकृष्णके जीवनपर केवल एक पक्ष ही देखते हैं; यथा—जब वे बालक थे, तब माखन-चोरी करते थे, गोपियोंसे छेड़-छाड़ करते थे, ग्वालोंसे खेलते थे। पर इस बातपर भी दृष्टि जानी चाहिये कि वे एक [illegible] माँ-बापसे पैदा हुए थे, जो जेलखानेमें [illegible] बेड़ीमें जकड़े हुए थे। जन्मते ही पहरे [illegible]

पड़ा। देखो, एक ओर श्रीकृष्णके जन्मकी परिस्थिति, दूसरी ओर धर्मराज्यकी स्थापना और द्वारकाका वैभव। यह उन्हीं कृष्णके जीवनमें है, जो जेलखानेमें पैदा हुए थे और जिनके माँ-बापने जा करके जन्मके बाद उन्हें एक ग्वालेके घरमें पहुँचा दिया था। कहाँ-से-कहाँ पहुँच सकता है जीवन—इसपर ध्यान दें। छठीके पहले ही जहर पीना पड़ा, पूतना आ गयी। तीसरे महीनेमें बैलगाड़ी गिर गयी। चौथे वर्षमें पेड़ गिर पड़े। सातवें वर्षमें इन्द्रका कोप हुआ, व्रज डूबने लग गया। अपने मामाको अपने हाथोंसे मारना पड़ा। ये सब अच्छी बातें तो नहीं हैं, पर श्रीकृष्णके जीवनमें ये सब आयीं। शत्रुने मथुरापर सत्रह बार चढ़ाई की। अठारहवीं बार मथुरा छोड़कर नंगे पाँव भागना पड़ा—मथुरासे गूनागढ़-तक। एक पीताम्बर उनके शरीरपर था और साधुओंके आश्रममें जाकर रहे, वहाँ प्रसाद पाते और सत्सङ्ग करते। न कोई सामग्री थी, न पाँवमें जूता था, न सिरपर टोपी थी, न उनके पास छाता था। वहाँसे चलकर गये द्वारका। द्वारका ध्यान इधर जाता है! द्वारकामें उनके खास ससुरजीके घरमें डाका पड़ा और वे मारे गये। श्रीकृष्णको चोरी लगी कि उन्होंने स्वयं स्यमन्तकमणि चुरा ली है। यहाँतक कि बलरामजीके मनमें भी शङ्का हो गयी कि श्रीकृष्णने जान-बूझकर मणिको हमसे छिपा लिया है। यह बात भागवतमें है—

किंतु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति।

श्रीकृष्ण पछताते हैं कि 'हाय! मैं क्या करूँ, मेरे बड़े भाई इस मणिके बारेमें मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते।' मैं उनको कैसे विश्वास दिलाऊँ! शम्बरासुर श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नको अपहरण करके ले गया। अनिरुद्धका अपहरण हो गया। द्वारकामें फूट पड़ गयी। महाभारतमें एक पक्षमें श्रीकृष्ण थे और दूसरे पक्षमें सेना चली गयी थी। आप सोचते हैं कि श्रीकृष्ण बड़े आनन्दमें रहते होंगे। कभी-कभी ऐसी फूट पड़ी कृतवर्मा, विप्रथ, सात्यकि, उद्धव और बलराममें कि गीताके 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से 'मा शुचः' तक उपदेश देनेवाले साक्षात् श्रीकृष्ण स्वयं चिन्तित हो जाते। इतना ही नहीं, उनके सब बेटे तो क्या, इसको तो अबतक एक भी न दीखा, जो उनकी बात मानता हो। श्रीकृष्ण और बलराम दो साधुओंपर विश्वास करते थे, परंतु बेटे उनकी परीक्षा लेते थे। खाने-पीनेमें भी श्रीकृष्णकी बात कोई न मानते थे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती गयी। यह सब होते रहनेपर भी श्रीकृष्णके हृदयका जो प्रसाद था, मुखकी प्रसन्नता थी, वाणीका माधुर्य था, उनके वदनमण्डलपर जो मुस्कान थी, उनकी आँखोंमें जो प्रेम था, वह कभी उनके जीवनसे दूर न हुआ। मृत्यु भी क्या अप्रिय हुई! क्या ध्यान भयंकर हुई! नहीं, एक बहेलियेने बाण मारा और संसार छोड़ देना पड़ा, चले गये अपने धाममें।

यह बात हमलोगोंके लिये कितनी और कैसी शिक्षा देती है कि जब श्रीकृष्णके जीवनमें भी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं तो हमलोगोंके जीवनमें यदि कोई छोटी-मोटी ऐसी परिस्थिति आ जाय तो उससे घबरानेका क्या काम! अपने हृदयका आनन्द बनाये रखें और परिस्थितियोंका सामना करें।

गीता श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है, यह उनके अनुभवकी डायरी है। यह बताती है कि कुछ व्यक्तियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, कुछ परिस्थितियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, किसीके दबावमें आकर अपना कर्तव्य-पालन न छोड़ दें।

एक पुराणमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णका जाम्बवतीसे विवाह हुआ था। पर उनके बच्चा ही नहीं होता था। दस वर्षतक बच्चा न हुआ, तब श्रीकृष्णने सूर्य भगवान्की आराधना की। सूर्यदेवताकी उपासने ग्रामका

जन्म हुआ। महाभारतके खिलभाग हरिवंशपर्व, भविष्यपर्व ७२से९० तकके अध्यायोंमें कथा आती है कि रुक्मिणीजीके पुत्र नहीं हो रहा था। कृष्णने शिवकी आराधना की, तब प्रद्युम्नका जन्म हुआ। तात्पर्य यह कि जीवनकी परिस्थितियोंको देखकर हताश न होना चाहिये, निराश भी नहीं होना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजीके जीवनको जब हम देखते हैं तो पता लगता है कि कहाँ तो बाजे बज रहे हैं—राज्याभिषेकके लिये, कौसल्याजी हवन कर रही हैं, सीताजी मङ्गल मना रही हैं और आदेश हो गया कि पेड़की छाल पहनो तथा नंगे पाँव चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जाओ। परंतु श्रीरामचन्द्रपर उसका क्या प्रभाव पड़ा? क्या वे निराश हो गये? क्या उदास हो गये? क्या उनके जीवनमें उन्नति-प्रगति नहीं हुई?

निर्भय हो, आगे बढ़ो—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
　　प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
　　प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

'तुच्छ लोग भयसे कार्यारम्भ ही नहीं करते। वे सोचते हैं—'यह काम करेंगे तो वे बिगड़ जायँगे, वह काम करेंगे तो ये छूट जायँगे।' मध्यम लोग काम शुरू तो कर देते हैं, पर विघ्न आते ही कामको छोड़ देते हैं। पर उत्तम कोटिके लोग बार-बार विघ्न आनेपर भी कार्य नहीं छोड़ते, अपने मनोबल-प्रयत्नसे उसे पूरा ही करते हैं।' अतः भगवान् कृष्णने कहा है—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'—कायरताको छोड़ पौरुषका आश्रय लो। इस प्रकार हमको, आपको भी सफलता प्राप्त करनी चाहिये। आपलोग तो बड़े-बड़े लोगोंके इतिहास पढ़ते होंगे। हमने भी कई सेठोंके विषयमें सुना है कि जब राजस्थानसे वे निकले तो उनके पास मात्र पाँच रुपये, एक लोटा तथा एक लोटा-डोरी थी; पर बुद्धि और पौरुषसे वे बहुत सम्पन्न हो गये। हमारे एक रिटायर्ड मित्र बम्बईमें रहते हैं, वे भारतीय विद्याभवनमें प्राध्यापक थे। बचपनमें उनके घरमें पढ़नेके लिये रोशनीतकका प्रबन्ध न था। वे म्युनिसिपैलिटीकी रोशनीमें उसको पढ़ा करते और महाभारतकी चौपाइयाँ बनाया करते। बनारसमें भार्गव प्रेसवाले उनको खानेके लिये दो रुपया रोज देते थे और महाभारतकी चौपाई ले लेते थे। उन्होंने उन्हीं दो-दो रुपयोंसे एम० ए० तक पास कर लिया। फिर गोरखपुर गीताप्रेसमें आकर कुछ दिन काम करनेके बाद भारतीय विद्याभवनमें अध्यापक हो गये थे। बादमें रेडियो आदिपर गाने लगे और अब उनके लड़के विदेशोंमें बहुत अच्छे ढंगसे काम करते हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिये।

अब काशीके कुछ पण्डितोंकी बात देखें। पण्डित शिवकुमार शास्त्री इस शताब्दीके यहाँके सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठित विद्वानोंमेंसे रहे। संस्कृतका ऐसा दिग्गज विद्वान् भारतवर्षमें नहीं हुआ तो दूसरे देशोंमें तो कल्पना भी क्या हो सकती है। वे बहुत दिनोंतक अपने चाचाके पास एक गाँवमें रहकर भैंस चराते रहे। बादमें 'क' 'ख' सीखनेके लिये उन्होंने कहींसे एक किताब प्राप्त कर ली। एक दिन वे उससे यह 'क' है, यह 'ख' है, यह घ—सीख रहे थे कि उनकी भैंस दूसरेके खेतमें चली गयी। उसने आकर उनके चाचाको उलाहना दी और जब चाचाने उन्हें किताब पढ़ते देखा तो बड़े जोरसे एक थप्पड़ उनके गालपर मारा और कहा कि 'तू पाणिनि-पतञ्जलि' बनना चाहता है या भैंस चराता है? उस समय वे चुप लगा गये। परंतु घरमें आकर चाचासे उन्होंने कहा कि 'चाचाजी! अब मैं जा रहा हूँ और मैं पाणिनि-पतञ्जलि बनकर ही घर लौटूँगा। यदि पाणिनि-पतञ्जलि न हुआ तो घर न लौटूँगा।' अब काशी आ गये और केवल व्याकरणमें

सभी दर्शनों, सभी वेद-वेदाङ्गोंमें अपने समयके अद्वितीय विद्वान् बन गये। आजकलके व्याकरणके पण्डित उन्हें पाणिनि-पतञ्जलिसे कम नहीं मानते। बनारसमें ही उनका विवाह हुआ। बनारसमें ही उनके चार-पाँच पक्के मकान बने। उनके वंशजोंको बहुत प्रतिष्ठा मिली।

कौन-सा साधन, कौन-सा उपकरण उनके पास था? उनके चित्तमें केवल एक दृढ़ निश्चय था। ऐसा दृढ़ संकल्प, ऐसा दृढ़ निश्चय कि उसके विरुद्ध जो कुछ था, सो सब त्याग दिया और पूरे मनोयोगसे जो अपना अभीष्ट था उसमें अपनी शक्ति लगा दी।

ऐसे ही हमारे सामने एक बंगालके पण्डित थे; हाराणचन्द्र शास्त्री। वे अपने पिता-माताकी मृत्यु हो जानेपर मामाके घर रहते और ठीक भोजनतक नहीं पाते थे। उनका एक आठ बरसका छोटा भाई था। एक दिन दोनों चुपचाप चलकर अपने पिताजीके एक सज्जन मित्रके घर चले गये। उन्होंने उन लोगोंको खिलाया-पिलाया, आदरसे रखा। परंतु पण्डितोंकी सभा हुई तो उसमें दूसरे पण्डितोंको तो पाँच-पाँच रुपये दिये और उनको दो रुपया दिये। इसपर उन्होंने कहा—'सबको पाँच-पाँच रुपये देते हो तो हमको भी पाँच रुपये दे दो।' उन्हें कहा गया—'जब तुम पढ़-लिख लोगे तब तुमको भी पाँच रुपये मिलेंगे।' फिर दोनों भाई रातको चुपकेसे जब सब सोये थे वहाँसे निकल पड़े। भूखे-प्यासे चले जा रहे थे। एक मुसलमानने उनको देखा, उनपर दया आ गयी। उन्हें वह अपने घर ले गया। कुम्हारके घरसे मटका और अहीरके यहाँसे दूध मँगाकर गोशालामें खीर बनवायी और उन्हें खिलाया। यहाँसे भागकर वे शिवकुमार शास्त्रीजीके घर काशीमें पहुँचे और अध्ययन किया। उनको भी सन् चालीसमें ब्रिटिश सरकारने सम्मानित करके महामहोपाध्यायकी सर्वोच्च उपाधिसे विभूषित किया। वे बड़े विद्वान् थे। उनकी रचना 'कारतत्त्वदर्शिनी' संस्कृत भाषामें अद्भुत पुस्तक है। (क्रमशः)

चरित्र-निर्माणमें वेदज्ञान—ब्रह्मचर्यका योगदान

(—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा, चतुर्वेदी)

आदि सत्ययुगमें सम्पूर्ण ऋषिमण्डली स्वायम्भुव मनुसे धर्म-श्रवण करने गयी। मनुकी आज्ञासे उनके शिष्य भृगुने सब प्रकारके धर्म सुनाये। उस समय ऋषिमण्डलीने एक प्रश्न अकालमृत्युके कारणके सम्बन्धमें भी किया। भृगुजीने उसका उत्तर देते हुए कहा था—

> अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
> आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥
> (मनुस्मृति ५।४)

यहाँ अकालमृत्युके चार कारण बताये गये हैं—(१) वेदोंका अभ्यास न करना, (२) आचारका परित्याग, (३) आलस्य और (४) अन्न-दोष। जब हम विचारते हैं कि ये कारण आजकल हममें, हमारे समाजमें कहाँतक फैले हुए हैं और फिर आगेकी दशाको और देखते हैं तो हृदय काँप उठता है। जिस आरोग्यका मार्ग ढूँढ़ निकालनेके लिये हम इधर-उधर भटक रहे हैं, जिसकी खोजके लिये हैरान हैं, उसका निर्णय तो हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्ष पहले कर रखा था। फलस्वरूप उसे हमें बताया भी था। अब हम उसे न देखें, उसकी कुछ परवाह न करें, उधरसे आँख ही बंद कर लें तो दोष किसके सिरपर मढ़ा जायगा।

इतिहासों, पुराणोंसे यह स्पष्ट होता है कि युगादिमें अकालमृत्यु नहीं होती थी। यहाँ सभी सम्पूर्णदीर्घायु, विद्वान्, हृष्ट-पुष्ट थे। वे न केवल सुखी थे, किंतु अपने सुखके सामने इन्द्र-मकानकी सम्पदाओंको तुच्छ समझते थे। देवता भी इनके शक्ति-पराक्रमको देखकर भारतमें जन्म लेनेके लिये तरसते थे। पर आज इन बातोंपर विश्वास नहीं होता। आज किस देशमें, किस नगरमें, किस ग्राममें, किस घरमें अकाल-मृत्यु-पिशाचीने अपना पंजा जमा नहीं रखा है! कितने पिता आज पुत्रोंके वियोगमें तड़प रहे हैं। कितनी बालविधवाओंका करुणक्रन्दन भारतके आकाश-को फाड़ रहा है। प्लेग, हैजा आदि कैसे-कैसे दुष्ट रोग भारतको अपना घर बना रहे हैं और भारतवासियों-को अपनी करनीका फल दे रहे हैं। जो आज जीते हैं, वे मरेसे बढ़कर हैं। पैदा होते ही रोग शरीरके साथ लग जाता है, बल और बुद्धिका कहीं पता भी नहीं। भारतके नवयुवकोंके आज मुखकमलको देखिये—क्यों इनपर यह अकालमें ही तुषार पड़ गया!

मनुस्मृतिमें अकालमृत्युके जो चार कारण बताये हैं, उनमें पहला है—वेदका अभ्यास न करना जिसमें—'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।' 'भूत, भविष्य, वर्तमान—सब कुछ वेदोंसे ही जाना जाता है। ऋषि-मुनियोंका कानून था—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

'जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद न पढ़कर अन्य बातोंमें श्रम करता है, वह वंशसहित जीता शूद्र-वर्गोंमें गणना-योग्य हो जाता है।' यहाँ आज कितने वेदज्ञ ब्राह्मण हैं। षडङ्गसहित वेदोंको पढ़ना और समझना ब्राह्मणका सहज धर्म था—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' आज वेदोंके पढ़नेकी चर्चा आते ही पेटकी बात आगे आ पड़ती है। 'वेद-शास्त्र पढ़ेंगे तो खायेंगे क्या?' आज पेटकी ज्वाला इतनी बढ़ गयी है कि उसे ही बुझानेमें सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किंतु फिर भी वह बढ़ती ही जाती है। ब्राह्मणोंमें कथा है कि भरद्वाज ऋषि बाल्य, यौवन, जरा तीनों अवस्थाओंमें वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्रने उनसे पूछा कि 'आपको चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेंगे?' उसपर भी उन्होंने यही उत्तर दिया कि 'ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी बिता दूँगा। पाँचवीं और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़नेमें हो जायगी।' किंतु आज अवस्थाकी तो कौन कहे, कुछ वर्ष भी, कुछ मास भी, कुछ दिन भी ब्राह्मण-नामधारियोंके भी वेद पढ़नेमें खर्च नहीं होते। सौभाग्यवश लोग वेद पढ़ते भी हैं' पर वे—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-
दधीत्य वेदं यो न विजानात्यर्थम्।
(निरुक्त २१)

'वह केवल बोझ ढोनेवाले गर्दभके समान है, जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता।' साङ्ग सार्थ वेद पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओंको जाननेवाला आज भारतमें कौन है?

वेद ज्ञानका दावा आज जगत्में बहुत बढ़ गया है कि 'वेदमें यह नहीं, वह नहीं' इत्यादि; किंतु जब पूछा जाय—'बाबूसाहब! आपने कितमें कितने काण्डतक वेद पढ़ा है' तो उत्तर यही होगा कि 'उर्दू या अंग्रेजीमें उसका तर्जुमा देखा है।' जिस प्रकार वेदको पढ़नेके लिये दर्शनोंके आचार्य, मुनि और ऋषि बीसों वर्ष ब्रह्मचर्य रखते थे, फिर भी यावज्जीवन उसके अर्थ-ज्ञानका निरन्तर यत्न ही करते रहते थे, उसका ज्ञान हम अनुवादोंके आधारपर प्राप्त करना चाहते हैं, इससे अधिक और दोषकी बात क्या होगी? इससे अधिक क्या अधःपतन होगा!

निरुक्तकार यास्क मुनि कहते हैं—'मनेषु प्रत्यक्ष-मरूपमुपेतवतो वा—

बिना तपके मन्त्रोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। वह तप जाने कहाँ चला गया। वेदोंमें है क्या, जिसके लिये हम ही नहीं, सारी सृष्टि उनकी गौरव-गाथा गाया करती है। किन्तु वेद-ज्ञानकी जो दुर्दशा भारतमें हुई है, उसका विचार करनेसे आँखोंके आगे अन्धकार छा जाता है। जब वेद-ज्ञान ही न रहा तो धर्मज्ञान कहाँसे हो और आचारका पालन क्यों न सूखे वृक्षके फलके समान हो जाय। जब आचार जानेंगे, तब न आचार-का पालन करेंगे। आचार जाननेका साधन वेद-शास्त्र जब छोड़ दिया तो आचार-पालन कहाँसे हो! और जब आचार-पालन ही नहीं तो चरित्र कहाँसे बने।

हमारे पूर्वजोंने अनेकों वर्ष जंगलोंमें भटककर राज्य-सम्पत्तिका सुख छोड़कर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी और परम करुणावश जो उपदेशके रूपमें दी थी, उस सम्पत्तिको, उस रत्नराशिको हमने बन्दरका काँच समझ लिया है। मूर्ख जौहरीके लड़केके समान कूड़े-करकटमें उन अमूल्य रत्नोंको फेंक रहे हैं। हम तनिक भी विचार-दृष्टिसे काम लें तो ज्ञात होगा कि हमारे आचारोंमें कितना तत्त्व भरा हुआ है। सैकड़ों वर्षोंकी खोजसे वैज्ञानिक जिन बातोंको जान पाया है, उन्हें आचारके रूपमें हमारे घरोंकी अनपढ़ स्त्रियाँ भी जानती रही हैं। आज हम अपने आचारोंपर हँसा करते हैं, किंतु उन्हीं बातोंको जब विदेशी वैज्ञानिकोंके मुखसे सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। अपने पूर्वजोंकी बातोंपर विश्वास नहीं, किंतु विदेशियोंकी बातोंपर पूर्ण विश्वास है—इतना अधःपतन किस जातिका होगा! मानो आत्मिक बल निःशेष हो गया। हमारे घरोंमें गोबरका चौका लगानेकी पुरानी रीति है, किंतु नवशिक्षित बाबू सज्जन भला इसे कब पसंद करते! इसकी घृणा करते, हँसते थे। किंतु आज वैज्ञानिकोंको पता हुआ कि गोबरपर कीटाणु आदि बाहरी दोषोंका संक्रमण नहीं हो सकता, तो अब बड़े-से डाक्टरोंके भी घरमें गोबरका चौका लगने लगा। वैष्णव हिंदू सदासे अपने घरोंमें तुलसी रखते आये हैं, भला बँगलोंमें इस बेचारीको कहाँ स्थान मिलता; किंतु अंग्रेज डाक्टरोंने अनुभव करके बता दिया कि मलेरियाका उपाय इससे अच्छा कोई नहीं, तो अब तुलसीके भी उच्च भाग्य आये। जगह-जगह इसका प्रचार होने लगा। तात्पर्य यह कि हम केवल दूसरोंकी दृष्टिसे देखते हैं। पाश्चात्त्य शिक्षासे हम सर्वथा दृश्यवादी हो गये हैं, अदृष्ट-धर्म-अधर्मपर हमारा विश्वास आता ही नहीं। डाक्टरोंके कहनेसे यह दृढ़ विश्वास है कि प्लेगका असर समीप रहनेवालोंपर हो जाता है, अतः प्लेगके रोगीसे यहाँतक डरते हैं कि पुत्र पिताके पास नहीं जाता, पुरुष स्त्रीके पास नहीं जाते। किंतु तामसी, नीच व्यक्ति व पापियोंकी संगतिसे तमोगुण, व पापका भी असर होता है—इस महर्षिवाक्यको नहीं मानते। अदृष्टवादको जाने दीजिये, जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आचारोंको भी कौन मानता है! प्रातःकाल उठनेके लाभोंको कौन नहीं जानता! किंतु कितने सज्जन ब्राह्म-मुहूर्तमें उठते हैं! शौच-विधि, दन्तधावन, नित्य-स्नान आदिका फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिक्षित इन्हें निभाते हैं! अतः 'आचारस्य च वर्जनात्' यह मनुस्मृतिका कहा हुआ दूसरा अनाचार मृत्युका कारण भी यहाँ पूर्ण उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं।

तीसरे हेतु आलस्यके विषयमें कुछ कहना ही व्यर्थ है। आलस्यका तो भारतमें साम्राज्य है। काम कुछ न करेंगे, किंतु कहेंगे यही कि फुरसत नहीं। दिनभर व्यर्थ बिता देनेवालोंकी हमारे यहाँ कमी नहीं। इसे जो निर्णय करना चाहें, विदेशीय सज्जनोंकी कार्यतत्परताका आगेसे मुकाबला कर देख लें।

अब रहा चौथा हेतु अन्न-दोष। इसके विषयमें कुछ न पूछिये। जिस जातिके पूर्वजोंने मद्य, मांसके सेवनको महापाप माना था, उस जातिमें आज डाक्टरोंने

बड़े आनन्दसे आते और मारते उड़ती है। बुद्धि यह हो गयी है कि खाने-पीनेका धर्मसे सम्बन्ध ही क्या? धर्मको इन सज्जनोंने दुनियासे बाहरकी वस्तु मान रखा है—जिसका आचार-व्यवहारसे कोई सम्बन्ध नहीं। शास्त्रने निर्णय किया था—'अन्नमयं हि सौम्य मनः' जो हम भोजन करते हैं, उसके तीन भाग होते हैं। स्थूल भाग मलरूपमें निकल जाता है, मध्यभाग रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात धातुओंको क्रमसे बनाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म सार भाग होता है उसका मन बनता है। पुरुष जैसा अन्न खायेगा, वैसा ही उसका मन होगा। सात्त्विक अन्नसे सात्त्विक मन बनेगा तो ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दान, दया आदिके विचार होंगे। तामस अन्न खानेसे तामस मन बनेगा तो परद्रोह, दुराचार, छल, हिंसा आदिके विचार होंगे। इसी आधारपर शास्त्रने भोजनमें बड़ा विवेक रखा। शुद्ध अन्न हो, शुद्ध कमाईका हो, शुद्धि-पूर्वक बनाया जाय, वह भोजन करना। पर आज न अन्नका विचार, न कमाईका। भक्ष्याभक्ष्यका विवेक वैज्ञानिक बुद्धिमें ही नहीं समाता। चरित्र क्यों न गिरे, अकाल मृत्यु क्यों न हो?

अब जब चारों कारण अकाल मृत्युको हमारे यहाँ उपस्थित करते हैं, तो मानना चाहिये कि इन्हीं कारणोंसे दुर्दशा हो रही है और यदि हम अपना शुभ चाहें तो इन्हीं कारणोंको दूर करें।

शास्त्रोंने ब्राह्मणके लिये चार आश्रमोंके पालनका उपदेश दिया है—सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास। पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रमके बिगड़ जानेसे सभी आश्रम अस्त-व्यस्त हो गये। ब्राह्मण-का ८ वर्षका बालक, क्षत्रियका ११ वर्षका और वैश्यका १२ वर्षका उपनयन-संस्कार होकर आचार्यके घर जाकर निवास किया करता था। 'उपनयन' शब्दका अर्थ ही यह है कि आचार्य उसे अपने समीप ले जाता था। उपनयन द्विज-मात्रका आवश्यक कर्म है। क्या सुन्दर प्रथा थी, कैसा उच्च आदर्श था कि कोई द्विज-बालक अपनी पूर्वावस्थामें घर रह ही न सके, आचार्यके घर जाकर पहले विद्या पढ़े तब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

आचार्यगृहमें वेदका 'चरण' अर्थात् अध्ययन करना होता था। उसे ही कहते थे 'ब्रह्मचर्य'। साङ्गवेदके अध्ययनके साथ-साथ उससे आचारोंके पालनका पूरा अभ्यास कराया जाता था। दण्ड-कमण्डलु लिये, मेखला बाँधे, कौपीन लगाये, साधारण वेषसे रहना होता था। यह आवश्यक न था कि स्कूलमें आकर भर्ती होते ही कोट, पतलून, कमीज, नेकटाई और बूटका अनावश्यक खर्च पिताके सिरपर पड़े। भोजन भी भिक्षान्नका करना होता था—जिससे शौक पैदा न हो, जैसा मिले, वैसा साधारण भोजनका अभ्यास हो। मान-अपमानके सहनेकी शक्ति पैदा हो और सबसे बढ़कर यह बुद्धि हो कि मैं देशका अन्न खा रहा हूँ, देशका मुझपर ऋण हो रहा है, अपनी विद्याद्वारा देशकी सेवा कर यह ऋण मुझे चुकाना है। आचार्यमें पिता-बुद्धि होती थी, सहपाठियोंमें भ्रातृभाव होता था, स्त्रीमात्रको माता कहनेकी आदत होती थी। जरा हम सोचें कि क्या यह आदर्श था। क्यों न इस रीतिसे शिक्षा पाकर जगत्‌में भ्रातृभाव उत्पन्न हो? वे आँखें जो सबको मातृ-दृष्टिसे देख चुकी हैं, फिर किसीपर क्यों बुरी तरह पड़ेंगी? वहाँ आचारोंकी न केवल वाचिक शिक्षा होती थी, किंतु प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठनेसे लेकर शयनपर्यन्तके सभी सदाचार गुरुकी निरीक्षणतामें पालन करने होते थे। सन्ध्या, हवन आदि आचारोंका पालन, परिश्रमसे शास्त्रोंका अध्ययन, भिक्षा लाना, गुरुके घरका सब कार्य करना—इतने आवश्यक कृत्य रहनेपर आलस्यको स्थान ही कहाँ? अवकाश परिपूर्ण विचार कहाँ करना होता था। भयका पूर्ण विवेक था। ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त चारों दोषोंमें एक भी दोष नहीं उत्पन्न होने पाता था। जब वेद-विद्या समाप्त कर चुके, तब आचार्यकी दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा लेकर समा-

वर्तन होता था; समावर्तन अर्थात् घर लौटना। विना विद्या समाप्त किये कोई घर नहीं लौट सकता, विवाहका नाम भी नहीं ले सकता। समावर्तनके पीछे विवाह कर क्रमसे गृहस्थाश्रमका पालन करता हुआ, अवस्थानुसार वानप्रस्थ और संन्यासका अधिकारी होता था।

अब आप आजकी दशापर विचार कीजिये। जिस शिक्षाकी आज भारतमें प्रधानता है, उसमें न अपनी भाषाका स्थान है, न अपना वेष रहता है, न अपने भाव ही। संसारभरके शिक्षित मनुष्य इस बातपर एकमत हैं कि अपनी भाषाद्वारा दी हुई शिक्षा ही शिक्षाका सच्चा फल दे सकती है। जैसे बच्चोंके शरीर-पोषणके लिये माताका दूध ही प्राकृतिक आहार है, अन्य आहार विकृति ही उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही मानस भावोंके पोषणके लिये मातृभाषाका शिक्षारूपी दुग्ध ही प्राकृतिक सामग्री है। अन्य भाषाद्वारा दी हुई शिक्षा भावोंके पोषणके स्थानमें उन्हें विकृत ही करती है। इसीसे तो सब देशोंके नेता अपने बालकोंकी शिक्षाका प्रबन्ध अपनी भाषामें ही करते हैं। किंतु हमारी शिक्षा ही निराली है। यहाँ उच्च शिक्षित कहलानेवाले भी, अपनी शिक्षाकी डींगके आगे संसारकी बुद्धिको तुच्छ समझनेवाले भी, अपनी मातृभाषामें अपना मतलब लिखना नहीं जानते, अपने धर्मग्रन्थ वेदकी भाषाकी बात ही क्या करें, देववाणी संस्कृतको भी एक तरफ रखिये, जब उन्हें अपनी सभ्यताका या अपने धर्मका ज्ञान ही नहीं, तो उनपर उन्हें श्रद्धा कैसे होगी? अपने धर्म आदिकी बात जाननेके लिये जो कुछ वे पढ़ते हैं, उसका भी उन्हें मार्मिक ज्ञान नहीं होता। विदेशीय भाषाद्वारा प्राप्त की गयी शिक्षा अन्तःकरणपर नहीं जमती। प्रत्यक्ष ही देखिये, लाखों छात्र कालेजोंमें पढ़ते हैं, किंतु उनमेंसे कितने यथार्थ वैज्ञानिक बनते हैं, कितने राजनीतिके विद्वान् होते हैं, कितने सर्वशास्त्रपारंगत होते हैं, कितनोंको उच्च कक्षाकी डिग्रियाँ मिली हैं। अपनी भाषामें जब शिक्षा हो, तब ही सच्चा विकास हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

जहाँतक कहा जाय, जबतक उसमें आचारकी प्रधानता न रहेगी, जबतक शिक्षित और सदाचारी दोनों शब्द समानार्थक न बना दिये जायँगे, जब शिक्षाके साथ व्यायामका समुचित प्रबन्ध [illegible] नवयुवक बलिष्ठ न बनाया जायगा, तबतक देशोन्नतिका नाम नाम रहेगा। यथार्थ उन्नति इन बातोंसे ही हो सकती है। ये सब बातें अवलम्बित हैं—पुराने [illegible] ब्रह्मचर्याश्रमकी रक्षापर। इनके पालनसे ही चरित्र-निर्माणका पावन कार्य हो सकता है।

यह है ब्रह्मचर्यका आदर्श। खेद है कि हमने आज उस ब्रह्मचर्याश्रमकी परिपाटीको जलाञ्जलि दे दिया है। जैसे कृष्णलीलावाले भगवान् रामचन्द्रके चरित्रोंको कुछ दिनोंमें करके दिखाया करते हैं, ऐसे ही हमारे घरोंमें यह ब्रह्मचर्यकी लीला घंटोंमें समाप्त हो जाती है। उसी समय एक वेदीपर उपनयन और दूसरी वेदीपर समावर्तन हो जाता है। वेदका आरम्भ और उसकी समाप्ति साथ-ही-साथ होती है। लड़का पढ़ने काशी, कश्मीर जाने लगता है तो विवाहका लालच देकर रोक दिया जाता है। ब्रह्मचर्य-नाश पर [illegible]-विवाहकी कुप्रथाको हमने स्थान दिया तब बल और बुद्धि कहाँसे हो। वीर्य ही शरीरका बल है, और उससे ही आगे मन-बुद्धिकी पुष्टि होती है। इसकी रक्षापर जब प्राचीनोंका ध्यान था, विना परिश्रम दूर, वीर्यकी दुश्चिन्तना मनमें न आने देते थे और गृहस्थाश्रममें भी सन्तानोत्पत्तिके लिये शास्त्रोक्त ऋतु-कालमें धर्म-प्रसङ्गके अतिरिक्त वीर्यकी पूर्ण रक्षा करते थे—तभी वह बल और बुद्धि भारतमें थी। आज वह सब कुछ स्वप्न-सा प्रतीत होता है। उनकी कथाएँ सुनकर आश्चर्य-समुद्रमें डूब जाना पड़ता है, पर उन्हें गप्प कह सकते हैं। वीर्य रक्षा

ब्रह्मचारी थे, जिन्हें आज सनातन-धर्मावलम्बी पितामह कहते हैं। वृद्धावस्थामें जिनके बलके सामने बड़े-बड़े तरुण वीर, भीमार्जुन-जैसे धनुर्धर हवास भूल जाते थे; जगन्नियन्ता श्रीकृष्णने भी जिनके आगे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, किंतु भीष्मकी, उनको शस्त्र-ग्रहण करानेकी प्रतिज्ञा न टूट सकी। टूटे कैसे! भीष्मका नियम भी कैसा दृढ़ था—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन॥
त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन॥

'मैं तीनों लोकोंको छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य या इससे भी बड़ी कोई वस्तु हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किंतु सत्यको कदापि नहीं छोड़ सकता। चाहे पृथ्वी गन्ध छोड़ देवे, जल अपना रस छोड़ देवे, प्रकाश चाहे रूप छोड़ दे, वायुका स्पर्श चाहे पृथक् हो जाय, सूर्य चाहे कान्ति छोड़ दे, अग्नि गर्मी छोड़ दे, आकाशमें चाहे शब्द न रहे, चन्द्रमाकी किरणोंसे शीतलता निकल जाय, इन्द्र चाहे पराक्रम छोड़ देवे, धर्मराज चाहे धर्म छोड़ देवे—किंतु मैं कभी सत्य छोड़नेका संकल्प भी नहीं कर सकता।' यह थी ब्रह्मचारीकी सत्यनिष्ठा, जिससे परमेश्वर भी हार मानते थे। रोम-रोममें बाण चुभे रहनेपर भी, अनन्त रुधिरकी धारा शरीरसे गिरती रहनेपर भी जिनने धर्मका रहस्य सुनाया था। आज हम उनकी बातोंका क्या विश्वास करेंगे, जिनने ब्रह्मचर्यकी कभी कदर ही न जानी। इसका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। सभी बुद्धिमान् ब्रह्मचर्यके लाभोंको जानते व मानते हैं, किंतु आत्मिक दुर्बलताके कारण अनुष्ठान नहीं करते।

सनातनधर्मके मान्य स्मृति, पुराण सब ही ब्रह्मचर्यकी महिमा गा रहे हैं। भगवान् शंकराचार्यकी ब्रह्मचर्यकी कथा प्रसिद्ध है। इस गिरी दशामें भी—अंग्रेजोंका साम्राज्य होनेपर भी—बहुत-से सनातनधर्मी पण्डितोंके घरोंमें ब्रह्मचर्याश्रम हुआ करते थे और उनसे देशको लाभ होता था। किंतु आज भीषण-कालने यह भी न रहने दिया। फलतः चरित्रका स्तर गिर गया है। यदि हमें चरित्रको उठाना है, राष्ट्रमें चरित्रबल लाना है तो हमें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना होगा।

आद्य चरित्रकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक प्रसङ्ग

(—श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदमार्तण्ड स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)

रत्नगर्भा वसुन्धराके अन्तर्गत धर्मप्राण भारतवर्षमें ही भगवान् नारायण एवं शिवादि देवताओंके अवतार होते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने चार भाइयोंके रूपमें अवतीर्ण होकर वेद-प्रतिपादित समस्त धार्मिक नियमों एवं सदाचारोंका अनुष्ठान किया। मानव-जातिके सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा निःश्रेयसके लिये सामान्य-विशेष रूप धर्मोंको जीवनमें उतारा। वेदवेद्य परमात्मा- द्वारा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके रूपमें प्रकाशित होनेपर उनके गुणगानके लिये श्रीवाल्मीकिके द्वारा साक्षात् वेद श्रीरामायणके रूपमें प्रादुर्भूत हुए। यही महाकाव्य सब कवियोंका प्रेरणास्रोत रहा है। देवर्षि नारदसे धीरोदात्त-नायक श्रीरामके सोलह गुणोंका वर्णन सुनकर महर्षि प्रसन्न हो जाते हैं। उन गुणोंमें—'चारित्रेण च को युक्तः' इत्यादिके अनुसार 'सदाचारसम्पन्न होना' एक विशेष गुण है। सदाचार—सच्चरित्रताके ... मनुष्योंका पशुओंसे पार्थक्य सिद्ध होता

[इस महाकाव्यमें प्रमुख पात्रोंके समस्त चरित्र शास्त्रीय मर्यादामें आबद्ध आदर्श अत्यन्त समादरणीय एवं अनुकरणीय हैं।

देशके सभी समागत सामन्तों, राजाओं तथा नगरकी सारी प्रजाओं और वसिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों एवं सुमन्त आदि सचिवोंके समक्ष सर्वसम्मतिसे दूसरे दिन ही आनेवाले पुष्य नक्षत्रमें श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त कर देनेका प्रस्ताव पारित होता है। महाराज दशरथ उन्हें बुलाकर 'श्वस्त्वामहमभिषेक्ष्यामि'—मैं कल तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करूँगा' कहते हैं। तब वे गुरु वसिष्ठको उनके भवनपर भेजते हैं। वसिष्ठजी उन्हें सीतासहित नियमपालन एवं उपवास करनेका आदेश देते हैं। पर इधर रात्रिमें कोप-भवनके अंदर कैकेयीको सशपथ वरदान देनेके कारण राजा स्वयं किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। प्रातःकाल बुलानेपर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। पिताजीको उदास एवं खिन्न देख माता कैकेयीसे उसका कारण पूछते हैं। कैकेयीद्वारा 'यदि राजाकी कही हुई बात सुनकर पालन कर सको तो मैं तुमसे साफ बता दूँगी, वे स्वयं तुमसे उन अप्रिय बातोंको नहीं कहेंगे'—यह सुनकर वे कहते हैं—'अहो धिक्कार है, आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये, देवि! मैं राजाके आदेशसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका भी भक्षण कर सकता हूँ तथा समुद्रमें भी डूब सकता हूँ।' महाराज मेरे पूज्य पिता और हितैषी हैं। मैं उनकी आज्ञासे सब कुछ कर सकता हूँ, अतः देवि! तुम राजाके मनकी बात मुझे सुनाओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा, राम दो तरहकी बात नहीं करता।' श्रीरामकी इस प्रतिज्ञासे आजके पुत्रवर्गको प्रेरणा लेकर पिताकी आज्ञा-पूर्तिके लिये रामकी तरह अपने प्राणोंकी बाजी न सकें, यथाशक्ति श्रद्धा-भावना तो लगानी ही चाहिये।

राजाने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको दो वर दिये थे। तदनुसार कैकेयीने भरतका राज्याभिषेक एवं रामके लिये १४ वर्षोंतक दण्डकारण्यवासकी इच्छा उनसे व्यक्त की। श्रीरामने इसे सुनकर कहा—'मुझे एक ही दुःख है कि भरतके अभिषेककी बात महाराजने मुझसे न कही। मैं अपने भाई भरतके लिये राज्यको, सीता एवं प्रिय प्राणोंसहित सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ। आज ही ननिहालसे भरतको बुलानेके लिये दूत भेजे जायँ। मैं अभी दण्डकारण्य जा रहा हूँ। इसपर कैकेयी कहने लगी—'राम! जबतक तुम इस अयोध्यासे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान और भोजन कुछ न करेंगे।' कैकेयीके इस अप्रिय एवं कठोर वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें कोई क्लेश न हुआ। वे बोले—'देवि! मैं धन-(राज्य-) का लोभी बनकर संसारमें नहीं रहना चाहता। मुझे ऋषियों-की ही भाँति शुद्ध धर्मपर पूर्ण आस्थावान् समझो।' वे सीता एवं लक्ष्मणको साथ लेकर पिताजी एवं माताओंको

१-यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते। ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति॥
(वा० रा० २।१८।२१)

२-अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः। अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥
(वा० रा० २।१८।२८-३०)

३-नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥
(वा० रा० २।१९।२०)

प्रणाम करके वनको निकल पड़ते हैं। मन्त्रियोंसे सलाह लिये बिना कैकेयीको वरदान देनेकी अपनी त्रुटिपर महाराज दशरथ दुःख-संतप्त हो पश्चात्ताप करते हैं। वे श्रीरामसे कहते हैं—'वत्स! मैं कैकेयीको दिये गये वरोंके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। तुम मुझे कारागारमें डालकर आज ही अयोध्याका राजा बन जाओ।'[1] इन बातोंको सुनकर भी सीता-लक्ष्मणसहित श्रीराम वनको प्रस्थित होते हैं। विचारणीय बात यह है कि महाराज दशरथ उनके वनगमनका निषेध कर रहे हैं। परंतु अपने पिता महाराज दशरथको धर्म-संकटमें देखकर विमाताके प्रति चरम निष्ठा रख वे वनवासको चल देते हैं। इस प्रकार सुन्दर युवावस्थामें दारुण क्लेशका सामना करनेके लिये श्रीरामका प्रस्थित हो जाना नवयुवकसमाजके लिये यह शिक्षा प्रदान करता है कि अपने सुख-सौलभ्य सौन्दर्य आदिपर ही ध्यान नहीं देना चाहिये, अपितु अवसर पड़नेपर अपने माता-पिताके लिये सब सुखका परित्याग कर देना चाहिये।

पिताके दिवंगत हो जानेपर अन्त्येष्टि क्रियाके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी श्रीरामकी दृढ़ प्रतिज्ञासे परिचित होनेके कारण उन्हें चित्रकूटसे न बुलाया गया। दस दिनोंतक व्यतीत होनेवाली दूरीवाले ननिहालसे भरतको ही बुलाया गया तथा उन्हींके द्वारा पितृकर्म कराया गया। मन्त्रियोंके सामने उस समय भरतजीके अतिरिक्त राजपदपर आसीन करने योग्य कोई दूसरा विकल्प न था। फिर भी भरत आदर्श भ्रातृप्रेम और परम्परागत धार्मिक कुल-मर्यादाकी सुरक्षा-हेतु राजकीय वैभवके साथ वनमें जाकर वहीं श्रीरामको राजपदपर अभिषिक्तकर लौटा लानेके लिये गुरुजनों, सचिवों एवं प्रमुख नागरिकों-सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं। बीचमें श्रीरामका अभिन्न मित्र निषादराज मनमें यह सोचकर कि श्रीरामसे युद्ध करके उन्हें समाप्तकर निष्कण्टक राज्यकी इच्छासे तो कहीं भरत वन नहीं जा रहे हैं, मार्ग रोकता है। किंतु उनके सम्पर्कमें आनेपर जब उसे पता लगता है कि ये तो श्रीरामको राजा बनाने-हेतु उनकी अनुनय-विनय कर उन्हें लौटानेके लिये जा रहे हैं, तब भरतजीकी श्रीरामके प्रति अनुकरणीय भ्रातृभक्तिसे प्रभावित होकर यह कह उठता है—'भरतजी! आप धन्य हैं, आप-जैसा छोटा भाई मुझे भूमण्डलके साथन्त इतिहासमें कहीं भी नहीं दिखता। जिस चक्रवर्ती साम्राज्यके लिये बड़े-बड़े लोग जीवनभर संघर्ष करते हैं, ऐसे अनायास-प्राप्त महनीय साम्राज्यका आप त्याग कर रहे हैं।'[2]

भरतकी अपार सेनाको देखकर भरद्वाज-जैसे तपोधन महर्षिको भी यह शङ्का हो जाती है कि सम्भवतः दुर्भावनासे ही भरत वनमें रामकी ओर जा रहे हैं, परंतु जब भरतजीद्वारा उनके हृदयका परिचय प्राप्त कर लेते हैं तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथा भरतजीका आतिथ्य आधिदैविक शक्तियोंद्वारा करते हैं।

वहाँसे जब वे सैनिकों, परिजनों एवं गुरुजनोंके साथ दुःखसे संतप्त होकर चित्रकूटकी ओर चलते हैं तो अपने साथ चलनेवाले दुःखसन्तप्त लोगोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहते हैं कि आपलोग चिन्ता न करें—

पादुके चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(वा० रा० अयो० ९८।१)

'जबतक मैं ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्र श्रीरामके राजकीय चिह्नविहित चरणोंको अपने सिरपर नहीं धारण कर

1-अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥
(वा० रा० २।३४।२६)

2-धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले। अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
(वा० रा० अयो० ८५।१२)

[इस महाकाव्यमें प्रमुख पात्रोंके समस्त चरित्र शास्त्रीय मर्यादामें आबद्ध आदर्श अत्यन्त समादरणीय एवं अनुकरणीय हैं।

देशके सभी समागत सामन्तों, राजाओं तथा नगरकी सारी प्रजाओं और वसिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों एवं सुमन्त्र आदि सचिवोंके समक्ष सर्वसम्मतिसे दूसरे दिन ही आनेवाले पुष्य नक्षत्रमें श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त कर देनेका प्रस्ताव पारित होता है। महाराज दशरथ उन्हें बुलाकर 'श्वस्त्वामहमभिषेक्ष्यामि'—'मैं कल तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करूँगा' कहते हैं। तब वे गुरु वसिष्ठको उनके भवनपर भेजते हैं। वसिष्ठजी उन्हें सीतासहित नियमपालन एवं उपवास करनेका आदेश देते हैं। पर इधर रात्रिमें कोप-भवनके अंदर कैकेयीको सशपथ वरदान देनेके कारण राजा स्वयं किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। प्रातःकाल बुलानेपर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। पिताजीको उदास एवं खिन्न देख माता कैकेयीसे उसका कारण पूछते हैं। कैकेयीद्वारा 'यदि राजाकी कही हुई बात सुनकर पालन कर सको तो मैं तुमसे स्पष्ट बता दूँगी, वे स्वयं तुमसे उन अप्रिय बातोंको नहीं कहेंगे'—यह सुनकर वे कहते हैं—'अहो धिक्कार है, आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये; देवि! मैं राजाके आदेशसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका भी भक्षण कर सकता हूँ तथा समुद्रमें भी डूब सकता हूँ।' महाराज मेरे पूज्य पिता और हितैषी हैं। मैं उनकी आज्ञासे सब कुछ कर सकता हूँ, अतः देवि! तुम राजाके मनकी बात मुझे सुनाओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा, राम दो तरहकी बात नहीं करता।' श्रीरामकी इस प्रतिज्ञासे आजके युवकवर्गको प्रेरणा लेकर पिताकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये रामकी तरह अपने प्राणोंकी बाजी न सही, यथाशक्ति श्रद्धा-भावना तो लगानी ही चाहिये।]

राजाने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको दो वर दिये थे। तदनुसार कैकेयीने भरतका राज्याभिषेक एवं रामके लिये १४ वर्षोंतक दण्डकारण्यवासकी इच्छा उनके साथ रखी। श्रीरामने इसे सुनकर कहा—'मुझे एक ही दुःख है कि भरतके अभिषेककी बात महाराजने मुझसे न कही। मैं अपने भाई भरतके लिये राज्यको, सीता एवं प्रिय प्राणोंसहित सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ। आज ही ननिहालसे भरतको बुलानेके लिये दूत भेजे जायँ। मैं अभी दण्डकारण्य जा रहा हूँ।' इसपर कैकेयी कहने लगी—'राम! जबतक तुम इस अयोध्यासे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान और भोजन कुछ न करेंगे।' कैकेयीके इस अप्रिय एवं कठोर वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें कोई क्लेश न हुआ। वे बोले—'देवि! मैं धन-(राज्य-) का लोभी कहलाकर संसारमें नहीं रहना चाहता। मुझे ऋषियोंकी ही भाँति शुद्ध धर्ममें पूर्ण आस्थावान् समझो।' वे सीता एवं लक्ष्मणको साथ लेकर पिताजी एवं माताओंको

१—यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते। ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति॥ (वा० रा० २। १८। २६)

२—अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः। अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥ (वा० रा० २। १८। २८-३०)

३—नाहमर्थपरो देवि! लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥ (वा० रा० २। १९। २०)

प्रणाम करके वनको निकल पड़ते हैं। मन्त्रियोंसे सलाह किये बिना कैकेयीको वरदान देनेकी अपनी त्रुटिपर महाराज दशरथ दुःख-संतप्त हो पश्चात्ताप करते हैं। वे श्रीरामसे कहते हैं—'वत्स! मैं कैकेयीको दिये गये वरोंके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। तुम मुझे कारागारमें डालकर आज ही अयोध्याका राजा बन जाओ।'[1] इन बातोंको सुनकर भी सीता-लक्ष्मणसहित श्रीराम वनको प्रस्थित होते हैं। विचारणीय बात यह है कि महाराज दशरथ उनके वनगमनका निषेध कर रहे हैं। परंतु अपने पिता महाराज दशरथको धर्म-संकटमें देखकर विमाताके प्रति परम निष्ठा रख वे वनवासको चल देते हैं। इस प्रकार सुन्दर युवावस्थामें दारुण क्लेशका सामना करनेके लिये श्रीरामका प्रस्थित हो जाना नवयुवकसमाजके लिये यह शिक्षा प्रदान करता है कि अपने सुख-सौलभ्य सौन्दर्य आदिपर ही ध्यान नहीं देना चाहिये, अपितु अवसर पड़नेपर अपने माता-पिताके लिये सब कुछका परित्याग कर देना चाहिये।

पिताके दिवंगत हो जानेपर अन्त्येष्टि क्रियाके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी श्रीरामकी दृढ़ प्रतिज्ञासे परिचित होनेके कारण उन्हें चित्रकूटसे न बुलाया गया। दस दिनोंतक व्यतीत होनेवाली दूरीवाले ननिहालसे भरतको ही बुलाया गया तथा उन्हींके द्वारा पितृकर्म कराया गया। मन्त्रियोंके सामने उस समय भरतजीके अतिरिक्त राजपदपर आसीन करने योग्य कोई दूसरा विकल्प न था। फिर भी भरत आदर्श भ्रातृप्रेम और परम्परागत धार्मिक कुल-मर्यादाकी सुरक्षा-हेतु राजकीय वैभवके साथ वनमें जाकर वहीं श्रीरामको राजपदपर अभिषिक्तकर लौटा लानेके लिये गुरुजनों, सचिवों एवं प्रमुख नागरिकों-सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं। बीचमें श्रीरामका अभिन्न मित्र निषादराज मनमें यह सोचकर कि श्रीरामसे युद्ध करके उन्हें समाप्तकर निष्कण्टक राज्यकी इच्छासे तो कहीं भरत वन नहीं जा रहे हैं, मार्ग रोकता है। किंतु उनके सम्पर्कमें आनेपर जब उसे पता लगता है कि ये तो श्रीरामको राजा बनाने-हेतु उनकी अनुनय-विनय कर उन्हें लौटानेके लिये जा रहे हैं, तब भरतजीकी श्रीरामके प्रति अनुकरणीय भ्रातृभक्तिसे प्रभावित होकर वह कह उठता है—'भरतजी! आप धन्य हैं, आप-जैसा छोटा भाई मुझे भूमण्डलके सामन्त इतिहासमें कहीं भी नहीं दिखता। जिस चक्रवर्ती साम्राज्यके लिये बड़े-बड़े लोग जीवनभर संघर्ष करते हैं, ऐसे अनायास-प्राप्त महनीय साम्राज्यका आप त्याग कर रहे हैं।'[2]

भरतकी अपार सेनाको देखकर भरद्वाज-जैसे तपोधन महर्षिको भी यह शङ्का हो जाती है कि सम्भवतः दुर्भावनासे ही भरत वनमें रामकी ओर जा रहे हैं, परंतु जब भरतजीद्वारा उनके हृदयका परिचय प्राप्त कर लेते हैं तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथा भरतजीका आतिथ्य आधिदैविक शक्तियोंद्वारा करते हैं।

वहाँसे अब वे सैनिकों, परिजनों एवं गुरुजनोंके साथ दुःखसे संतप्त होकर चित्रकूटकी ओर चलते हैं तो अपने साथ चलनेवाले दुःखसन्तप्त लोगोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहते हैं कि आपलोग चिन्ता न करें—

> पादुके चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
> शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
> (वा० रा० अयो० ९८।९)

'जबतक मैं ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्र श्रीरामके राजचिह्न विभूषित चरणोंको अपने सिरपर नहीं धारण कर

१-अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥
(वा० रा० २।३४।२६)

२-धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले। अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
(वा० रा० अयो० ८५

रहूँगा, तबतक मुझे शान्ति न मिलेगी। जबतक पिता-पितामहके राज्यपर उसके वास्तविक अधिकारी श्रीराम प्रतिष्ठित होकर अभिषेकके जलसे आर्द्र न हो जायँगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं।' इस प्रकार उन्हें राजा बनानेके उद्देश्यसे जब भरतजी चित्रकूट पहुँचते हैं, तब वसिष्ठ आदि गुरुजनों, मन्त्रियों और प्रजाजनोंके बीच अनुनय-विनय करते हुए श्रीरामको राजा बनने एवं अयोध्या लौट चलनेके लिये उनकी शरणागति करते हुए कहते हैं—'इन मन्त्रियोंके साथ मैं आपका छोटा भाई शिष्य एवं भीत साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक याचना करता हूँ—'रघुकुलकी मर्यादा एवं धर्मके अनुसार बड़ा भाई ही राज्यका अधिकारी होता है। आप मेरी माँग पूरी करें।' पर उनके सर्वस्व श्रीरामने स्वीकार नहीं किया और कहा—'पिताजीने मुझे वनवास दिया है, मुझे उनकी आज्ञाका पालन करना है। तुम्हें भी उनकी आज्ञा माननी चाहिये। अतः चौदह वर्षोतक तुम राज्यकार्य करो। मैं उसके बाद ही अयोध्या लौट सकूँगा। सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामकी यह बात सुनकर जब किसी भी स्थितिमें उन्होंने श्रीरामको अयोध्या लौटते हुए न देखा, तब स्वर्णभूषित चरणपादुकाको श्रीरामजीके समक्ष श्रीभरतजीने रख दिया तथा कहा—'आप इनपर अपने चरणोंको रख दें; इन्हें ही राज्यका अधिकार दें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योग-क्षेमका भार वहन करेंगी।' श्रीरामने वैसा ही कर दिया। श्रीभरतजीने पादुकाको प्रणामकर श्रीरामसे कहा—'मैं चौदह वर्षोतक जटा-वल्कल धारणकर फल-मूलपर ही जीवन व्यतीत करता हुआ आपकी प्रतीक्षामें नगरके बाहर ही रहूँगा।' श्रीरामचन्द्रजीने भी 'अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकृति दे दी। भरतजी प्रसन्न होकर चरणपादुकाको सिरपर रख प्रसन्नतापूर्वक शत्रुघ्नसहित रथपर बैठ गये तथा वसिष्ठ वामदेवादिको आगे कर अयोध्याकी ओर चल दिये।

अयोध्या लौटते समय भरतजी भरद्वाज महर्षिके आश्रमपर पहुँचते हैं। भरद्वाजजी जब उन्हें मस्तकपर चरणपादुका धारण किये देखते हैं तो उनकी भ्रातृभक्ति एवं कुलमर्यादाकी निष्ठाको सोचकर कहते हैं—'तुम्हारे पिता महाराज दशरथ सभी प्रकारसे उऋण हो गये, जिनको तुम्हारे समान धर्मप्रेमी एवं मूर्तिमान् धर्मस्वरूप पुत्र है।' इस प्रकार भरद्वाज महर्षिसे प्रशंसित हो चरणपादुकाको ले जाकर राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित कर वे स्वयं भोगोंसे बहुत दूर रहकर सचिवकी भाँति चौदह वर्षोतक राज्यका संचालन करते हैं। भरतके इस लोकोत्तर भ्रातृप्रेम, आदर्श चरित्रको आजका भौतिक-वादी मनुष्य यदि अपनी बुद्धिका विषय एवं अपने आचरणका लक्ष्य बना ले तो देशमें हो रहे गृहकलहको कहीं स्थान न मिले।

बहुतसे भक्त भगवत्सौन्दर्योपासक, बहुतसे श्रीविग्रहके उपासक, बहुतसे गुणके उपासक होते हैं, परंतु भरतजी भगवान् श्रीरामकी चरणपादुके उपासक थे, जिससे उनकी दूरदर्शिताका प्रमाण मिलता है। चरणपादुकाका राज्य इक्ष्वाकुकुल-परम्पराका एक आदर्शभूत निरुपद्रव राज्य था। कोई भी नरेश इस दृष्टिसे भी उन दिनों आक्रमण नहीं कर सकता था कि शत्रुकी खड़ाऊँसे जाकर कौन टकराये? श्रीरामसे सम्बन्धित चरणपादुकाकी सेवा करनेके कारण ही उन्हें विशेषतर धर्म-पालकके रूपमें स्वीकार किया जाता है।

लक्ष्मणको विशेष धर्मका उपासक इसलिये कहा गया कि पिताके जीवित रहते हुए श्रीरामको परब्रह्म परमात्माकी भावनासे अनन्य अनुरागी बन उन्हींको अपना सर्वविध बन्धु समझकर उनकी उपासनामें अपने सम्पूर्ण जीवनको समर्पित कर दिया। गङ्गा पार करनेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणजीको माताके सुरक्षार्थ लौट जानेका विशेष आग्रह किया, जिसे सुनकर लक्ष्मणजीने उत्तर दिया—'ज्ञात होता है आप ऊपरी मनसे अयोध्या लौट जानेके लिये कहते हैं। हृदयसे जिस दिन आप

लक्ष्मण और सीताजीका परित्याग कर देंगे, उस दिन हमलोग जलसे निकाले हुए मीनके समान मुहूर्तमात्र भी जीवित नहीं रह सकेंगे।'[1] लक्ष्मणके इन भावोंको माँ सुमित्रा समझती थीं, इसीलिये उन्होंने वनवासके लिये जाते समय लक्ष्मणसे कहा था—'तात! तुम्हारी सृष्टि वनवासके लिये ही हुई है; क्योंकि रामके अनन्य अनुरागी होनेके कारण उनसे अलग होकर तुम नहीं रह सकते। जब राम वन जा रहे हैं, ऐसी स्थितिमें तुम भी उनके साथ अवश्य जाओ और ध्यान रखना कि श्रीरामके वनमें चलते समय उनके गमन-सौन्दर्यपर ही कहीं ध्यान न चला जाय अन्यथा आगे-पीछे चलकर कण्टकाकीर्ण मार्गमें उनकी सेवा नहीं कर सकोगे।'[2] लक्ष्मणकी इस अनन्य प्रीतिके कारण ही श्रीराम कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे। लक्ष्मणजीके बिना पुरुषोत्तम श्रीराम न तो निद्रा ही लेते थे और न ही मधुर-मिष्टान्न सेवन करते थे। खेल-कूदमें भी लक्ष्मण शिकारीदलमें नहीं रहते थे। कहीं भी जाते समय वे उनका अनुगमन किया करते थे।

विशेषतम धर्मका पालन करनेवाले वे भागवद्भक्त होते हैं, जो भगवान्‌के भक्तोंकी परिचर्यामें ही अपना, सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। भरतजीके नन्दिग्राम जाते समय शत्रुघ्नजी उनके साथ होते हैं। १२ वर्षों तक उनके साथ ही रहते हैं तथा साथ ही लौटते भी हैं। वे उनसे कभी भी वियुक्त नहीं रहना चाहते। भक्तिकी दो धाराएँ हैं—१—भगवत्-चरणारविन्दोंमें अनुराग तथा २—भागवत-चरणारविन्दोंमें अनुराग। भक्तिस्वरूपा सुमित्रा माँ दो पुत्रोंको उत्पन्न कर एकको तो भगवान्‌के चरणों तथा दूसरेको (शत्रुघ्नको) भगवद्भक्त भरतके चरणोंमें अर्पित कर अपनेको धन्य एवं भाग्यशालिनी मानती हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी अनपायिनी पत्नी सीताजीने, जैसा श्रीरामका अनुगमन किया, अन्यत्र कहीं किसीके प्रसङ्गमें ऐसा दृष्टान्त देखनेको नहीं मिलता। लङ्काकी अशोकवाटिकामें १० महीनोंतक निवास करनेपर भी सुवर्णमयी लङ्का, नन्दनवनोपम सुषमा तथा भयङ्कर राक्षसियोंकी विकराल यातनाओंसे भी विचलित न होकर अपने सर्वेश्वर ही अचल-प्रतिष्ठ रहीं। श्रीरामके द्वारा प्रेषित हनुमान्‌से संवाद एवं अशोकवाटिका-विध्वंसके पश्चात् लङ्कादहनके प्रसङ्गमें एक राक्षसीके द्वारा यह संवाद पहुँचानेवाले लाल मुखवाले बन्दर-(हनुमान्-)की पूँछमें आग लगा दिये जानेका समाचार प्राप्त करती हैं तब सीताजी अपने अमोघ चारित्रिक बलका परिचय देते हुए कहती हैं—

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः॥
(वा० रा० सु० ५३। २७)

'अग्निदेव! यदि मैंने पतिकी सेवा की है और यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्यका बल है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ।' उनके ऐसा कहते ही हनुमान्‌की पूँछकी आग बर्फके समान ठण्डी हो गयी।

सीताजीके इस आदर्श पातिव्रत्यसे आधुनिक नारियोंको शिक्षाग्रहण करनी चाहिये। आज भी मन, वाणी, शरीरसे नारियाँ पतिकी सेवा करें तो वह सर्वोपरि शक्ति प्राप्त करने तथा अग्निको शीतल करने, मृत्युके हाथसे रोक देनेके चमत्कार उनके समक्ष

1-न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
(वा० रा० अयो० ५३। ३१)

2-सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने। रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
(वा० रा० अयो० ४०…)

हाथ जोड़कर दासकी तरह एक पंक्तिमें खड़े हो सकते हैं।

वनमें राज्य करते हुए श्रीरामने लोकापवादके भयसे भगवती सीताका परित्याग कर गर्भिणी-अवस्थामें ही वाल्मीकिके आश्रमपर आज्ञाकारी लक्ष्मणद्वारा जब भेज दिया उस समय सीताजीने कहा—'लक्ष्मण ! आज ही मैं तुम्हारे समक्ष गङ्गाजीमें कूदकर प्राणोंका परित्याग कर देती, परंतु मैं इसलिये ऐसा नहीं कर रही हूँ कि मेरे नष्ट होनेपर रामका वंश संदेहके लिये नष्ट जायगा।'

इस चरित्रसे आजकी नारियोंको शिक्षा लेनी चाहिये कि किसी विषम परिस्थितिके कारण यदि पत्नीका परित्याग भी पति कर देता है तो उन्हें चाहिये कि उस समय वह पतिके गौरव, उसके एवं सास-ससुरजनकी कुलमर्यादाओंकी रक्षा करते समाजके समक्ष एक आदर्श नारीके रूपमें उपस्थित हो।

मानवके चरित्रका उत्थान एवं पतन उसके मनपर आधृत है

(—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री श्रीजी, श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

अनन्तकृपाकोश भगवान् श्रीसर्वेश्वरके कृपाप्रसाद एवं जीवके बहुजन्मार्जित पुण्योंके फलस्वरूप इसे देवदुर्लभ मानवशरीर उपलब्ध होता है। ऐसे दुष्कर मानवशरीरमें यदि सच्चारित्र्यका दर्शन न हो तो यह मानवताका वास्तविक स्वरूप नहीं है। सच्चरित्र-चारित्र्य ही मानवताका पोषक है। इसीसे उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जाना जा सकता है। केवल उदर-पोषणादि कार्य उसके 'इदमित्थम्' लक्ष्य नहीं है। यह सब तो समस्त प्राणिमात्रमें भी विद्यमान है।

देवर्षिवर्य श्रीनारदजीने अपने 'नारदभक्ति-सूत्र'में 'लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि'—इस सूत्रके उपर्युक्त वचनसे भोजनादि व्यापारको नश्वरक प्राकृतिक शरीर है, सम्मिश्रित प्राणियोंके जीवननिर्वाहका एक साधन बताया है; क्योंकि इसके बिना जीवनका स्थिरत्व नहीं होता। परंतु भोजनादि व्यापारको जीवनका मूल लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जीवनका प्रमुख उद्देश्य है—अपने स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहकर निवेशपूर्वक वेदादिशास्त्रानुमोदित धर्मका अनुपालन और यही, सच्चारित्र्यका भी वास्तविक स्वरूप है—यह 'धर्मं चर', 'सत्यं वद', 'मातृनमः', 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः', 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव',—'मातृमान्-पितृमान्—आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि औपनिषद्-वचनोंसे स्पष्ट ही है। 'ईशावास्योपनिषद्'के इस प्रथम मन्त्रसे कितना सुन्दरतम उद्बोधन मिल रहा है कि—

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

विविध विचित्र संस्थान-सम्पन्न चेतनाचेतनात्मक इस अनन्त जगत्में जो भी कुछ समग्र दृष्टिगत हो रहा है, वह उन्हीं निखिलजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारण, क्षराक्षरातीत, जगज्जन्मादिहेतु, सर्वद्रष्टा, सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् सर्वेश्वरसे ही ओतप्रोत है। अतः इन अनन्तकृपासिन्धु अशरणशरणावरुणालय श्रीप्रभुसे प्रदत्त वस्तुका ही सेवन करें। इतर जनोंके धनादि पदार्थोंकी लिप्सा न करें। विष्णुपुराणकी यमगीतामें भी उपर्युक्त प्रसङ्गका बड़ा सुन्दर निदेश है—

> हरति परधनं निहन्ति जन्तून्
> वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च।
> अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः
> कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः ॥
> न सहति परसम्पदं विनिन्दां
> कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः।
> न यजति न ददाति यश्च सन्तं
> मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य ॥

'जो दूसरोंका धन हरण करता है, पशु-पक्षी आदि जीवोंकी हिंसा करता है तथा असत्य-भाषण और कठोर वचन बोलता है, ऐसे अशुभकर्मजनित दुर्गन्धयुक्त पापमति पुरुषके हृदयमें अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीसर्वेश्वर निवास नहीं करते। जो असाधु पापबुद्धि दूसरोंकी सम्पत्ति चुराता या लूट-खसोट करता है एवं पुण्यश्लोक साधु पुरुषोंकी निन्दा करता है, न तो यज्ञादि उत्तम कर्म करता है तथा न किसी प्रकारका दान ही करता है, ऐसे अधम पुरुषके मनमें जनार्दन भगवान् श्रीराधामाधव कभी निवास नहीं करते।'

इस प्रकार शास्त्रोंके अगणित वचन सदाचरण या धर्मकी ओर अग्रसर होनेका उपदेश करते हैं। धर्मविमुख अधमकर्तव्यपरायण मानव कथमपि सुख-शान्तिकी अनुभूति नहीं कर सकता। धर्म-सेवनसे ही उसके जीवनमें सच्चारित्र्यका उद्भव हो सकता है। धर्माभिरुचि एवं पवित्र चरित्रसंवलित जीवन तभी सम्भव है, जब मानवका मन इस ओर प्रवृत्त हो। मनुष्यका मन बड़ा चञ्चल है। इसीके कारण वह बन्धन एवं मोक्षको प्राप्त होता है— 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' अभ्यास-वैराग्यसे इसका निरोध होता है (योगदर्शन २। ५, गीता ६। ३५)। श्रीमद्भागवतमें भी 'मनःपूतं समाचरेत्'का आदेश है। श्रीमद्भागवतमें ही जगन्नियन्ता भगवान् श्यामसुन्दर श्रीगोविन्दने उद्धवको उपदेश करते हुए अवन्तिकापुरीके द्विजके द्वारा—जिसने जागतिक पीडाओंसे संतप्त होकर वैराग्य धारण किया था, अनुभूतिपूर्ण मनोरूप निदेशक विचार व्यक्त कराये हैं, वे सदा हृदयमें अवधार्य हैं। इनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

मेरे सुख-दुःखके हेतु न तो ये मनुष्य और न देवता ही तथा न यह शरीर एवं न ये ग्रह, कर्म, कालादिक ही हैं। वेद-वचन और सन्तवचन मनको ही प्रमुख कारण मानते हैं और इस सारे संसार-चक्रको मन ही प्रेरित करता है। यथार्थमें यह मन प्रबल पराक्रमी है।

इसीने विषय एवं उनके कारण गुणों तथा तत्सम्बन्धी वृत्तियोंकी उत्पत्ति की है और उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस, तामस आदि विविध प्रकारके कर्म हैं—

'मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥
मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
(श्रीमद्भा० ११। २३। ४३-४४)

उन कर्मोंके क्रमानुसार ही प्राणीकी नानारूपसे गतियाँ होती रहती हैं—समस्त चेष्टाएँ मन ही किया करता है। सर्वदा उसके साथ रहनेपर भी ज्ञानशक्ति-प्रमुख यह आत्मा निष्क्रिय ही है। जब यह मनके अनुकूल होकर विषय-भोक्ता बन जाता है, तब यह कर्मोंके साथ तीव्रासक्ति होनेसे उनसे बँध जाता है। दान, स्वधर्मपालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम व्रतोंका सर्वान्तिम फल यही है कि मन तन्मय होकर श्रीहरिमें प्रवृत्त हो जाय। ऐसा समाहित मन ही उत्तम योगका परिणाम है। जिसका मन सर्वदा शान्त और समाहित है, उसे दानजनित सम्पूर्ण सत्कर्मोंका फल मिल गया। इसलिये अब उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है। और, जिसका मन अस्थिर है अथवा आलस्यपूर्ण है, उसे इन दानादिक श्रेष्ठ कर्मोंसे अद्यावधि कुछ भी लाभ न मिला। समस्त इन्द्रियाँ मनके वशीभूत हैं। किंतु मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। वस्तुतः यह मन बड़ा ही प्रबल एवं अतिभयंकर देव है। इसको वशमें करनेवाला इन्द्रियपारङ्गत परम विजेता ही शास्त्रोंमें देव-देव है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं

भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । ४६, ४८)

वस्तुतः मानवके चरित्रनिर्माणमें प्रमुखतम मूल है— उसका मन। यदि उसका यह मन शास्त्रपथस्थानुकूल व्यवस्थित है, नियन्त्रित है, धर्मरत है, तो फिर उसके चरित्रमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं आ सकता। पर च कथंचित् उसका चञ्चल मन विविध विकारपुञ्ज-जन्य अविचारसंभारसे समाक्रान्त है तो फिर स्वाभाविक है कि उसका चरित्र भी अपावन, अनाचरणीय विकृत और अति निन्दनीय बन जाता है। इसीलिये इन समग्र दृष्टियोंसे चरित्र-निर्माणमें मन ही नितान्तरूपसे प्रमुख आधार है। तभी तो श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीप्रभुने अर्जुनको—'मन्मना भव मद्भक्तः', 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते', 'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि वचनोंसे मन-विषयक उपदेश किया।

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्क भगवान्ने अपने ब्रह्मसूत्रके 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' भाष्यमें एवं आपहीके पट्ट शिष्य श्रीनिवासाचार्यजीने 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यके आनुमानाधिकरण प्रकरणमें कठोपनिषद्के (१ । ३-३-९) मनोविषयक औपनिषद मन्त्र उद्धृत किये हैं; वे मननीय हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

सभी शास्त्रोंमें सर्वकारण-कारण इस मनको ही निश्चित किया है। प्रत्यक्षमें भी अनुभवदृष्टिसे सुस्पष्ट है कि सर्वदा-सर्वत्र क्षेत्रमें मन ही सर्वेन्द्रियोंका एकमात्र आधार है। 'अध्यात्मरामायण'के उत्तरकाण्डमें शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीको उपदेश करते हैं—

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥
(अध्या० रा० उ० का० स० ५, श्लो० ४९)

परमात्मचिन्तनपरायण मुमुक्षु साधकका कर्तव्य है कि वह एकान्तस्थलमें इन्द्रियोंको विषय-रहित कर अन्तःकरणको अधीन कर आत्मामें स्थित हुआ इतर साधना-रहित विशुद्ध चित्तसे केवल ज्ञानदृष्टिके द्वारा एकमात्र परमात्माकी ही भावना करे। 'अध्यात्मरामायण'के अरण्यकाण्डमें भी कबन्धने गन्धर्वरूप धारण करनेके बाद विनयावनत हो भगवान् श्रीरामचन्द्रकी स्तुति करते हुए मनको श्रीप्रभुके स्वरूपचिन्तनमें अग्रसर करनेपर ही इङ्गित किया है—

यद्यस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः संधार्यते नरैः।
अनायासेन मुक्तिः स्यात्ततोऽन्यन्नहि किंचन ॥
(अध्या० रा० अ० का० स० ९ श्लो० ४६)

'यदि मानव आपके मङ्गलमय अनुग्रह-विग्रहरूपमें, अपने मनको प्रवृत्त कर दे तो वह बिना प्रयासके मोक्षको प्राप्त हो जाता है। अतः हे राम! आपके इस नयनाभिराम मनोहर मङ्गलमय स्वरूपके अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ नहीं है।' 'श्रीरामचरितमानस'में भगवान् श्रीराम अपने प्रिय सखा श्रीसुग्रीवजीको उपदेश कर रहे हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

श्रीमानसमें ही अन्यत्र जीवके मनमें रहनेवाली ममता आदिकी आलोचना है—

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥
(श्रीराम च० मा० ५ । ४९)

श्रीनिम्बार्कपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने परशुराम-सागरमें मनोनिग्रहका उपदेश दिया है—

मनही चञ्चल मन चपल, मन राजा मन रंक।
परमा मन हरि सौं मिलै, सौ हरि मिले निसंक॥

इसी प्रकार श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराजने अपनी सरस वाणीमें मनको सावधान किया है—

मनुवाँ हरि हरि हरि भजन भला।
तुम धाम मैं कौन गमायौ यह जग-जन्मा जला॥
सुत बन्धु सब स्वारथ साथी तू क्यों आय रला।
गोविंदसरन चित चेत सवेरा क्यों दुख सेत हला॥
(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यवाणी पृ० २८ प० १००)

रसिक भक्तशिरोमणि किशनगढ़के महाराज नागरीदासजीने अपनी बृहद् वाणीमें मनकी स्थितिका मार्मिक चित्रण किया है। वे कहते हैं—

पाप परीक्षित समझ गयो।
जिन तैं थकि विश्राम न लीनौ अधिक-अधिक दुख भयौ॥
ज्यौं-ज्यौं सब यह जीरन है त्यौं मन है नयौ-नयौ।
नागरीदास बसौ वृन्दावन चित सुख रहै छयो॥
(श्रीनागरीदास वाणी पृ० २११ प० ४७)

तात्पर्य यह कि सर्वविधरूपसे इस विषयासक्त चञ्चल मनका पूर्ण निग्रह किया जाय। निगृहीत मन मानवके चरित्र-निर्माणमें सहायक होगा। आजके युगमें मानवके निर्मल चरित्रका जो अभाव हो रहा है, इसके मूलमें कारण मनकी उच्छृङ्खलता ही है। यदि मन व्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित है तो उत्तम चरित्रका निर्माण स्वाभाविक है। अतः शास्त्रोंके चिन्तन-मनन एवं महापुरुषोंके सत्सङ्गमें रहकर स्थिर-बुद्धिसे मनको पवित्रतापूर्वक सर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभुके पदाम्भोजमकरन्द पानेके लिये भ्रमर करें। स्वतः ही हमारा चरित्र पवित्र होकर आदर्शरूप बन जायगा। यही सर्वात्मना आचरणीय है।

मानवके लिये आचरणीय कर्तव्य

(– नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

परमात्मा सबमें निर्दोष तथा समभावसे सदा [illegible] है। परंतु व्यवहार-संसारमें भेद अनिवार्य है। [illegible]शाल हाथीका आकार बहुत बड़ा है और नन्हीं-सी [चीं]टीका बहुत ही छोटा। हाथी और चींटीका आहार है– [घा]स-पात, अन्न; मक्खी आदिका अन्न और मानवोंका [अ]न्न आदि। हाथीके आहारका परिमाण भी विशाल और क्षुद्र चींटीका आहार अत्यन्त अल्प। हाथीपर [रा]जा-महाराजा सवार होकर गौरव-लाभ करें, गायपर [सवा]री करनेमें पापकी भीति रहे और कहीं कुत्तेकी सवारी [क]रनेको कह दिया जाय तो घोर अपमानका बोध हो— [औ]र कुत्तेकी सवारी सम्भव भी नहीं। गायका दूध भी [मां]साहारी लोगोंको अत्यन्त प्रिय और पुष्टिकर, पर कुतियाका [दू]ध किसीको प्रिय नहीं। गो-दुग्धके बदलेमें किसीको कुतियाका दूध पीनेको कह दिया जाय, उसको कितना अप्रिय लगेगा! हाथीकी बड़ी कीमत, चींटी बेचारीकी कोई कीमत नहीं, कहीं आ जाय तो निकाल-कर दूर फेंकनेका सहज प्रयत्न। विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण सनातन शास्त्रानुसार सबका पूज्य और चाण्डालके पूज्यताका अभाव। ब्राह्मणमें सहज सात्त्विक भाव तथा चाण्डालमें सहज तामसिक भाव। इनके आचार-व्यवहार, आहार-विहार, आदर, रहन-सहन, मूल्य, सम्मान, उपयोगिता आदिमें पर्याप्त अन्तर है। इन्हें कभी कहीं मिटाया ही नहीं जा सकता। पर आत्मभावसे ये सब सर्वत्र समान हैं। जो आत्मा हाथीमें, वही चींटीमें, वही ब्राह्मणमें, वही चाण्डालमें, वही गौमें और वही कुत्तेमें भी वर्तमान है।

देश-जाति या व्यक्तिविशेषमें आचार-व्यवहारका भेद रहता है। इन भेदोंको कभी भी मिटाया

जा सकता। सबके शरीरका गठन एक-सा नहीं, सबका रूप भी एक-सा नहीं, सबका स्वभाव, सबकी बुद्धि, सबमें प्रज्ञाका प्रकाश समान नहीं। सबकी प्रतिभा एक-सी नहीं, सबमें भाषणपटुता एक-सी नहीं, सबकी रुचि एक-सी नहीं और सबकी पाचन-शक्ति भी एक-सी नहीं है। ऐसी दशामें सब बातोंमें सर्वत्र सम व्यवहार-की सम्भावना निरा-पागलपन है। सृष्टिकी उत्पत्ति ही तब होती है, जब प्रकृतिके गुणोंमें विषमता आ जाती है और जबतक सृष्टि है, तबतक विषमताका रहना सर्वथा अनिवार्य है। प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार आदिकी इस अनिवार्य विषमतामें भी जो समता देखता है, व्यवहार-भेद होनेपर भी जिसके मनमें राग-द्वेष या मोह-घृणाका अभाव है, देश, जाति, व्यक्ति, योनि आदि तमाम भेदोंको जो एक ही शरीरके विभिन्न अङ्गों तथा अवयवोंके भेदोंकी भाँति मानकर सबके सुखमें सुखी तथा सबके दुःखमें दुखी होकर यथायोग्य तथा यथासाध्य अपने—निजके दुःख-निवारणकी भाँति ही दूसरोंका दुःख-निवारण तथा अपने—निजके सुख-सम्पादनकी भाँति ही दूसरोंका सुख-सम्पादन करता है—वही यथार्थ मानव है।

मानव-नामधारी प्राणी जब अनेक नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त प्राणियोंको एक आत्मभावसे न देखकर पृथक्-पृथक् देखता है, तब अपने और पराये सुख-दुःख-को भी पृथक्-पृथक् मानता है। इससे वह अपने दुःख-निवारण तथा अपने सुख-सम्पादनके लिये सचेष्ट और सक्रिय होता है और यह व्यष्टि-सुखसंचयकी इच्छा तथा प्रयत्न दूसरोंके सुखहरण और घोर दुःखोत्पादनका कारण बनता है। जितना-जितना मानवका 'स्व' संकुचित होता है, उतना-उतना ही उसका स्वार्थ संकुचित होता है तथा जितना-जितना 'स्व' विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना ही स्वार्थ भी महान् होता जाता है। संकुचित स्वार्थ एक स्थानपर एकत्र पड़े जलकी भाँति सड़ जाता है, उसमें दुःखरूपी कीड़े पड़ जाते हैं और विस्तृत स्वार्थ प्रवाहित जलधाराकी भाँति पवित्र, कीटाणुरहित, नीरोग होकर सबको आरोग्य-सुख प्रदान करता है। जब मानवका 'स्व' अत्यन्त विस्तृत होकर प्राणिमात्रमें फैल जाता है, तब उसे सर्वत्र एकात्मभावके दर्शन होते हैं। तब व्यवहारादिमें भेद रहते हुए भी उसके समस्त आचरण देहके विभिन्न अवयवोंका समान हित करने तथा सबको समान सुखी करनेवाले शरीरधारीकी भाँति प्राणिमात्रके लिये हितकर तथा सुखोत्पादक हो जाते हैं। अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका सुख और हित ही उसका सुख और हित बन जाता है। संसारमें जो भय, संदेह, उपद्रव, अशान्ति, दुःख, क्लेश आदिका उद्भव तथा विस्तार होता है, इसमें प्रधान कारण इस 'स्व' का—'मैं' का संकोच ही है। एक शरीर और नामसे जकड़ा हुआ 'मैं' दूसरोंके लिये भयानक भय और दुःखोंकी सृष्टि करता रहता है और यह दुःख-परम्परा संकुचित 'स्व' के साथ सुदूर कालतक चलती रहती है। मानव-शरीर ही इसीलिये दिया गया है कि वह सब प्राणियोंको अपनी आत्मामें गुमसे और अपनी आत्माको सब प्राणियोंमें देखे तथा इस एकात्म-भावके साथ 'आत्मौपम्य' व्यवहार कर सुख-शान्ति देता तथा प्राप्त करता हुआ अन्तमें भगवान्को प्राप्त हो जाय। इस प्रकार जगत्के अणु-विशाल समस्त प्राणियोंमें आत्मानुभूति कर सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करनेवाला सच्चरित्र मानव 'ज्ञानी मानव' है। उसकी मानवता यथार्थ तथा धन्य है।

उसकी एक दूसरी सुन्दर अनुभूति है। इस अनुभूतिमें हम सभी प्राणियोंमें अपने परम इष्टदेव, अपने परमाराध्य श्रीभगवान्के दर्शन करते हैं तथा इस दृष्टिसे प्राणिमात्रको सदा-सर्वदा परम पूज्य, परम सम्मान्य, परम आदरणीय तथा नित्य सेवनीय मानते हैं। ऐसा पवित्र-निष्ठ अपनेको अनन्य सेवक और प्राणिमात्रको अपने स्वामी श्रीभगवान्का स्वरूप समझकर सदा सबके

नमस्कार, पूजन तथा सेवामें लगा रहता है। सबके सामने सदा नत रहकर अत्यन्त विनय-विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है, सबका सम्मान-सत्कार करता है और अपने सब पुरुषको भगवान्की सम्पत्ति मानकर सर्वस्वके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। इस सेवा-स्वीकारको वह उनकी कृपा मानता है। सेवा-बुद्धि प्रदान करने, सेवामें निमित्त बनाने तथा सेवा स्वीकार करनेमें भगवान्की कृपाको ही कारण समझकर वह सदा-सर्वदा कृतज्ञ हृदयसे श्रीभगवान्का स्मरण-चिन्तन करता रहता है। उसके पवित्र तथा मधुर अन्तःकरणमें सदा निर्मल समताकी पवित्र मधुर सुधा-धारा बहती रहती है। वह केवल चेतन प्राणीमें ही अपने भगवान्को नहीं देखता, जड़ प्राणियोंमें भी वह अपने भगवान्के नित्य दर्शन करके प्रणाम, पूजन तथा समर्पण आदिके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। ऐसा मानव 'भक्त मानव' है। इसकी मानवता सर्वथा आदर्श तथा महान् है।

व्यवहारमें भेद न रखना मूर्खता या पशुता है। व्यवहारमें भेद रखे बिना जगत्का काम चल ही नहीं सकता। माता और पत्नी दोनों स्त्री-जाति हैं। दोनोंके अङ्ग-अवयव एक-से हैं, परंतु मनुष्य दोनोंमें भेद मानेगा ही। और इस भेदका मनपर विलक्षण प्रभाव होता है। माताको देखकर मनमें कुछ और ही भाव आते हैं और पत्नीको देखकर कुछ और ही। आत्माके नाते परस्पर भेद समझना और किसीसे घृणा करना 'आसुर भाव' है और अज्ञान है। किसी भी प्राणीपर क्रोध करना 'पापाचरण' है।

मानवको सब कार्य यथाधिकार यथाविधि सुचारु-रूपसे करने चाहिये। कर्ममें कहीं त्रुटि न हो, जो कार्य जहाँ जैसा करना विहित हो, वैसा ही सम्यक् प्रकारसे करना चाहिये, परंतु करना चाहिये आसक्ति न रखकर भगवत्पूजाके लिये, अथवा भगवान्की प्रसन्नता या प्रीतिके लिये। कर्म साङ्गोपाङ्ग हो, परंतु कहीं ममता-आसक्ति न रहे। जैसे अभिनेता नाटकमें नाट्यमञ्चपर अपने स्वाँगके अनुसार विधिवत् अभिनय करता है। जहाँ जिस रसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहाँ वह उसीकी अवतारणा करता है। रोनेकी जगह रोता है, हँसनेकी जगह हँसता है। दर्शक-समुदाय उसके सफल अभिनयसे प्रभावित होकर रोने-हँसने लगता है, परंतु वह रोता-हँसता हुआ भी वस्तुतः न रोता है, न हँसता है। वह तो केवल अभिनय करता है और उस अभिनयके द्वारा नाटकके स्वामीको प्रसन्न करता है। नाट्यमञ्चपर वह किसीका स्वामी बनता है, किसीकी पत्नी बनता है, किसीका नौकर बनता है, किसीका मालिक बनता है, किसीका पुत्र बनता है, किसीका पिता बनता है और ठीक उसीके अनुरूप सम्बोधन करता है, व्यवहार-बर्ताव करता है। बहुमूल्य राजपोशाक तथा आभूषणादि पहनकर राजाका अभिनय करता है और फटा-चिथड़ा लपेटकर फकीरका। परंतु वह जानता है कि मैं न तो यहाँके किसी सम्बन्धसे किसीके साथ सम्बन्धित हूँ, न पोशाक-गहने ही मेरे हैं तथा न मैं राजा या फकीर ही हूँ। इसी प्रकार मानव अपने कर्मक्षेत्रमें नाटकके अभिनेताकी भाँति कहीं भी ममता-आसक्ति किये बिना अपने कर्तव्यकर्मका सुचारु-रूपसे पालन करता रहे और उसमें लक्ष्य हो—'भगवान्की प्रसन्नता'। इस प्रकार जीवन बितानेवाला मानव न तो कभी अशान्तिमें पड़ता है और न दुःख भोगता है, न उसे चिन्तामग्न रहना पड़ता है, न उसके द्वारा अपना या किसी भी दूसरेका कभी अहित ही होता है एवं न उसे कर्मबन्धन ही मिलता है। उसके द्वारा स्वाभाविक ही जगत्-मङ्गलकारक कर्म होते रहते हैं। जैसे अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती, वैसे ही उसके कर्मसे किसी भी प्राणीका अहित नहीं होता। उसका संसारमें [illegible] रहना केवल लोक-कल्याणार्थ

होता है, परंतु वह अभिमानपूर्वक लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त नहीं होता । उसका स्वरूप ही होता है—लोक-कल्याण । जैसे सूर्यदेवता प्रकाश देनेके लिये उदय नहीं होते, उनका स्वरूप ही प्रकाशमय है, अत उनके उदय होते ही अपने-आप प्रकाशका सर्वत्र विस्तार हो जाता है, वैसे ही उस लोक-कल्याणरूप मानवके द्वारा सहज ही महान् लोक-कल्याण होता रहता है ।

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान हैं । सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना भगवान्की ही पूजा है । जो लोग भगवान्की पूजा करना चाहते हैं और सर्वप्राणियोंमें सदा स्थित परमात्माकी मोहवश उपेक्षा करते हैं, उनसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा बड़े विधि-विधान तथा प्रचुर सामग्रियोंसे की हुई पूजासे वस्तुतः भगवान् प्रसन्न नहीं होते । जो मानव समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे वर्तमान भगवान्का द्रोह करता है, वह वास्तवमें भगवान्से ही द्रोह करता है । इसलिये वही मानव बुद्धिमान् तथा अपना हित करनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंके हित तथा सुखका आचरण करके भगवान्की पूजा करता है । पूजाके लिये अपना कर्म ही प्रधान है, भाव भगवत्-पूजाका होना चाहिये । यही स्वकर्मके द्वारा भगवान्का पूजन है । पाप वही है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित हो । पुण्य वह है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित हो । पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार यह निश्चय करना चाहिये कि जिससे दूसरोंका अहित होता होगा, उससे कभी अपना हित होगा ही नहीं और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना हित निश्चय ही होगा । अतएव सदा-सर्वदा परहितमें ही अपना यथार्थ हित समझकर उसीमें प्रवृत्त रहना चाहिये ।

सबसे श्रेष्ठ मानव वह है, जो परार्थको ही अपना स्वार्थ मानकर अपनी हानि करके भी दूसरेको लाभ पहुँचाता है । उससे नीचा वह है, जो अपनी हानि न करके दूसरेका लाभ करता है । तीसरा वह है, जो अपना लाभ हो तो दूसरेका लाभ करता है, केवल दूसरेके लाभपर ध्यान नहीं देता । चौथा वह है, जो केवल अपना लाभ ही देखता है, दूसरेके बाबत कुछ नहीं सोचता । पाँचवाँ वह है, जो अपने लाभके लिये दूसरेकी हानि करनेमें नहीं हिचकता । छठा वह है, जो अपना लाभ न होनेपर भी दूसरेको नुकसान पहुँचाना चाहता है और सातवाँ वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरेकी हानि करता है । यह सबसे निकृष्ट मानव है । ऐसे मानवोंकी संख्या जब बढ़ने लगती है, तब सब ओर दानवता छा जाती है । मानव मानवका शत्रु हो जाता है तथा एक दूसरेसे लड़कर सभी विनाशके मुखमें जाने लगते हैं ।

मानवके पालनके लिये भगवान् देवर्षि नारदने तीस आचरणीय धर्म बतलाये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंमें अन्न आदिका उचित विभाजन, सब जीवोंमें अपने आत्मा या इष्टदेवकी भावना, परम आश्रय भगवान्के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण । ये तीस प्रकारके आचरण मानवमात्रके लिये परम धर्म हैं, इनके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं—

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । १२

वस्तुतः इनके आचरणके प्रयत्नकी सफलतामें मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है ।

घोर कर्म दीखनेपर भी स्वार्थ, ममता, अहंता, कामनाका त्याग करके कर्तव्य किया जाय तो वह घोरता नहीं रहता, केवल क्रिया ही रहती है। क्रिया तो वर्ण और आश्रमके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है, पर जो घोरपना, तीक्ष्णपना, मलिनता, पतन करनेकी बात होती है, वह कामनाके कारण होती है। कामना रख करके पारमार्थिक ग्रन्थ पढ़ें, दूसरोंको सुनायें तो (लक्ष्य पैसा आदिकी इच्छा रहनेसे) आसुरी-सम्पत्तिसे, पापोंसे बच नहीं सकते; क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं (३। ३७)। कहने-सुननेपर भी समचरित्रता नहीं आ सकती। परंतु परमात्माका लक्ष्य हो तो लौकिक कर्तव्य-कर्म करते हुए भी स्वतः समचरित्रता आ जाती है। इसलिये तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कामनाका त्याग कर कर्तव्य-कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। ऐसे ही चौथे अध्यायमें बताया कि जब अपनी कामना नहीं रहती, कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, तो सब कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंको करते हुए भी मनुष्य बँधता नहीं; क्योंकि उसका उद्देश्य परमात्माकी ओर बढ़नेका है, अग्रसर होनेका है। पाँचवें अध्यायमें भी अपने कर्तव्यका पालन करनेकी बात बतायी—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५। १२)

'जो युक्त (योगी) होता है, वह कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी, सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है और जो अयुक्त होता है, अर्थात् जिसके मन-इन्द्रियाँ वशमें नहीं होते, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।' पाप (पदार्थ) तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, पर उसमें जो कामना है, वही बन्धनका कारण है। कामनासे चरित्र गिरता है। चरित्र गिरनेसे अशान्ति पैदा हो जाती है और चरित्र-निर्माणसे शान्ति मिलती है। मनमें दुर्भाव उत्पन्न होते ही अशान्ति हो जाती है और सद्भाव होते ही शान्ति होने लगती है।

यदि ध्यान दें तो यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि जितना-जितना वह नाशवान्‌की कामनाका त्याग करता है, उतनी-उतनी शान्ति, आनन्द, समता, सद्‌गुण उसमें आते रहते हैं और जितनी-जितनी नाशवान् वस्तुओंकी कामना करता है, उतनी-उतनी अशान्ति, विषमता, दुःख, सन्ताप, लक्षण, दुर्गुण आते रहते हैं।

छठे अध्यायमें भी परमात्मामें तत्परतासे लगनेकी बात कही है। वह परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। उस परमात्माको जो सब प्राणियोंमें देखता है और सब प्राणियोंको परमात्माके अन्तर्गत देखता है, उससे परमात्मा अदृश्य नहीं होते और वह परमात्मासे अदृश्य नहीं होता—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

जो मनुष्य दूसरोंके दुःख-सुखको अपने शरीरके दुःख-सुखके समान समझता है, वह परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

किसीको भी दुःख न पहुँचे—ऐसा जिसका हृदय है, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। सबका दुःख दूर कैसे हो! सभी सुखी कैसे हो जायँ!—ऐसे भाववालेका चरित्र सबसे ऊँचा होता है। आगे मनको वशमें करनेकी बात आयी तो अभ्यास और वैराग्यको बताया (६। ३५), अर्थात् यहाँ भी भगवान्‌की ओर लगने और संसारसे हटनेकी बात कही। परलोकमें गतिके विषयमें भी यही बात है। जो परमात्माकी ओर चलता है, उसका साधन बीचमें ही छूट जाय और वह मर जाय तो उसका भी उद्धार ही होता है, दुर्गति नहीं होती (६। ४०)। कल्याणकारी काम करनेवालेकी

काम अधूरा रहनेपर भी उसको लाभ ही होता है। जो भगवान्‌में ही मन और बुद्धिको लगा देता है, वह योगियोंमें श्रेष्ठ योगी माना गया है (६ । ४७)। भगवान्‌की ओर लगना ही श्रेष्ठता है।

जो भक्ति नहीं करते, उनको भगवान् दुष्कृती बताते हैं (७ । १५) और जो भक्ति करते हैं, उनको सुकृती बताते हैं (७ । १६)। तात्पर्य यह कि परमात्माकी तरफ चलनेवाले सुकृती और संसारकी ओर चलनेवाले दुष्कृती हैं। आगे बताया कि जिनके कर्म पवित्र हैं, जिनका चरित्र बढ़िया है, वे दृढ़व्रत होकर भगवान्‌का भजन करते हैं (७ । २८)।

भगवान्‌की ओर चलनेमें स्मृतिकी बात मुख्य है। आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने कहा कि जो अन्त समयमें मेरा स्मरण करते हुए जाता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं (८ । ५); कारण कि मनुष्य जिस-जिस भावको स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है (८ । ६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू सब समयमें मेरा स्मरण कर—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' (८ । ७)। फिर भगवान्‌ने विशेष बात बतायी कि जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८ । १४)

भगवान्‌का स्मरण करना दैवी-सम्पत्तिका, सच्चरित्रताका वास्तविक मूल है। स्मरण करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के साथ अपना जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसको स्मरण करना कि मेरा तो भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध है, संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल माना हुआ है, इसलिये यह सम्बन्ध टिकता नहीं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस जन्मके जो सम्बन्धी हैं, वे पहले जन्ममें नहीं थे और आगेके जन्ममें भी नहीं रहेंगे। अभी बाल्यावस्थामें भी जो दशा थी, वह अभी नहीं रही और जो अभी है, वह आगे नहीं रहेगी। इस प्रकार संसार तो निरन्तर बदल रहा है, पर परमात्मा वे ही हैं और मैं भी वही हूँ। इसलिये परमात्माके साथ मेरा सम्बन्ध नित्य है। इस बातको याद रखना ही स्मृति है। चिन्तन तो संसारका भी हो सकता है, पर स्मृति भगवान्‌की ही होती है। ऐसी स्मृति रहनेसे सच्चरित्रता स्वतः आती रहती है।

जो केवल भगवान्‌की ओर चलता है, वह सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। वेद, यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत आदिसे जो लाभ होता है, उससे अधिक लाभ भगवान्‌का उद्देश्य रखकर भगवान्‌की ओर चलनेवालेको होता है (८ । २८)। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेको सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी बताया गया है (९ । २)। भगवान् अपने-आपको इतना सुगम बताते हैं कि 'जो भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर देता है, उसका मैं भोजन कर लेता हूँ' (९ । २६)। 'इसलिये खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो तू सब पुण्यों और पापोंसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जायगा' (९ । २७-२८)।

मनुष्य दुराचारी है या सदाचारी है—इसकी कोई चिन्ता नहीं। विशेष बात है कि वह भगवान्‌में लग जाय। भगवान्‌में लगनेपर उसका दुराचार टिक ही नहीं सकता। 'वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है' (९ । ३०-३१)। दुराचारी

(पशु आदि), स्त्री, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि किसी जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिका कोई क्यों न हो, भगवान्‌में लग जाय तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है' (९। ३२-३३)। जितनी जातियाँ, वर्ण आदि हैं, उनमें बाहरसे तो प्रकृतिकी भिन्नता है, पर भीतरसे सब परमात्माके अंश हैं। इसलिये संसारके व्यवहारमें तो अपने वर्ण आदिके अनुसार चलनेकी मुख्यता है, पर पारमार्थिक मार्गमें वर्ण आदिकी मुख्यता नहीं है; क्योंकि परमार्थरूपसे (परमात्माका अंश होनेसे) सबका स्वरूप शुद्ध है और सबका परमात्मापर समानरूपसे अधिकार है। भगवान् कहते हैं कि 'मुझमें मनवाला हो, मेरा ही भक्त बन, मेरा ही पूजन कर, मेरेको ही नमस्कार कर' (९। ३४)। तात्पर्य है कि केवल मेरी तरफ लग जा।

दसवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपनी विभूतियों और योगशक्तिका वर्णन किया। उसमें सार बात यह कही कि 'मैं सब संसारमें व्यापक हूँ। जहाँ-जहाँ तुम्हें विशेषता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान' (१०। ४१)। विशेषता तो मेरे कारणसे ही है। तात्पर्य है कि जहाँ जो कुछ विशेषता, अधिकता, विलक्षणता दीखे, वहाँ भी भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये। फिर कहते हैं कि 'मुझे बहुत जाननेसे क्या, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ' (१०। ४२)। ऐसी बात सुनकर अर्जुनने, जिसके एक अंशमें सब संसार है, वह विश्वरूप देखना चाहा। उसे देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु दिये।* विश्वरूप देखकर अर्जुन चकरा गये, भयभीत हो गये, मोहित हो गये। तब भगवान्‌ने कहा कि यह तेरी मूढ़ता है। मैं तो वही हूँ। फिर तू भयभीत क्यों होता है?

बारहवें अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि 'जो ज्ञानमार्गसे चलते हैं और जो भक्तिमार्गसे चलते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है?' भगवान्‌ने भक्तिमार्गसे चलनेवालोंको श्रेष्ठ बताया (१२। २)। ज्ञानमार्गमें तो स्वयं (अपने बलपर) चलते हैं, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें तो दैवी-सम्पत्तिके गुणोंका, विवेक-वैराग्य आदिका उपार्जन करना पड़ता है, पर भक्तिमार्गमें प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर दैवी-सम्पत्तिके सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक आते हैं। ऐसे शरणागत भक्तोंका भगवान् बहुत जल्दी उद्धार करते हैं (१२। ७)। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि 'तू अपने मन-बुद्धि मुझको ही दे दे, मेरे ही परायण हो जा।' ऐसे भगवत्परायण पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वह मुझे बहुत प्यारा है। ऐसे तो संसारके सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को प्यारे हैं, पर जो भगवान्‌के शरण हो जाते हैं, वे भगवान्‌को बहुत प्यारे होते हैं। केवल भगवत्परायण होनेसे सद्गुण-सदाचार बिना कोई प्रयत्न किये आप-से-आप आ जाते हैं।

तेरहवें अध्यायमें भगवान् जब ज्ञानका वर्णन करते हैं तो उसमें अमानित्व आदि सद्गुणोंका वर्णन करते हुए अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहते हैं—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।' (१३।१०)। चौदहवें अध्यायमें भी भक्तिकी बात कहते हैं कि 'जो भक्तियोगके द्वारा मुझको भजता है, वह तीनों

* भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिव्यदृष्टिसे अपने शरीरके एक अंशमें दिखाया है, व्यापकदृष्टिसे समझाया नहीं है। इस विषयमें भगवान्, अर्जुन और संजय—तीनोंके वचन प्रमाण हैं; जैसे भगवान् कहते हैं—'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश........' (११। ७)। अर्जुन कहते हैं—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' (११। १५) और संजय कहते हैं—'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे........' (११। १३)।

गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है' (१४ । २६) । गुणोंके सङ्गसे ही आसुरी सम्पत्ति आती है, जिससे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है ।* भगवान्‌की ओर चलनेसे इन गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है ।

पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपना विशेष प्रभाव बताया और कहा कि 'क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी जीव)—इन दोनोंसे उत्तम पुरुष मैं हूँ' (१५ । १६–१८) । जो मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्ववित् है अर्थात् सब कुछ जाननेवाला है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है । जो भगवान्‌का भजन करते हैं, उनमें दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक प्रकट होती है । इस वास्ते सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने दैवी-सम्पत्तिका वर्णन किया । परंतु 'जो भगवान्‌से विमुख होकर अपने ही शरीरको पुष्ट करना, भोगोंको भोगना और संग्रह करना चाहते हैं, उनमें आसुरी सम्पत्ति आती है ।' उस आसुरी सम्पत्तिका भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया । 'दैवी सम्पत्तिसे मुक्ति होती है (१६ । ५) । आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन होता है (१६ । ५), चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है (१६ । १९), और नरकोंकी प्राप्ति होती है' (१६ । २०) ।

सत्रहवें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके भावोंका वर्णन किया । इसमें भी देखें तो संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होनेवालोंमें ही सात्त्विक भाव होते हैं । वे राजस और तामस भावोंसे ऊँचा उठ जाते हैं । परमात्माके लिये किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म सात्त्विक और मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं' (१७ । २५) । परंतु संसारके लिये अर्थात् मान, बड़ाई, सुख, आराम आदिके लिये तथा प्रमाद और मूढ़तापूर्वक किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म राजसी-तामसी हो जाते हैं ।

अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग-(कर्मयोग-) का विस्तारसे वर्णन किया । अन्तमें भगवान्‌ने यह निर्णय दिया कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

संसारके जितने काम हैं, जितनी सिद्धियाँ हैं, जितनी उन्नति है, वे सब-की-सब इस एक ही बात-(शरणागति-) में आ जायँगी । भगवान् कहते हैं कि जितने पाप हैं, दुर्गुण-दुराचार हैं, उनसे मैं मुक्त कर दूँगा । तू चिन्ता मत कर । मेरी कृपासे दैवी-सम्पत्ति आप-से-आप आ जायगी ।

जैसे बालक माँकी गोदीमें रहता है तो उसका स्वाभाविक ही पालन-पोषण हो जाता है, ऐसे ही एक प्रभुका आश्रय ले लिया जाय तो सब-के-सब सद्गुण-सदाचार बिना लाये ही आ जायँगे । आप-से-आप ही चरित्र-निर्माण हो जायगा । चरित्र-निर्माणकी कुंजी भगवत्-शरणागति है ।

इस तरह गीताभरमें देखा जाय तो एक ही बात है—परमात्माकी तरफ चलना अर्थात् परमात्माके सम्मुख होना । परमात्माकी और परसेवाका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माणमें हेतु है और संसारकी और स्वसेवाका उद्देश्य ही चरित्र गिरनेमें हेतु है । सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छासे ही सब दुर्गुण-दुराचार आते हैं । सबसे अधिक पतन करनेवाली वस्तु है—रुपयोंका महत्त्व और आश्रय । इससे मनुष्यका चरित्र गिर जाता है । चरित्र

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिके विस्तृत विवेचनके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता की सम्पत्ति और श्रद्धा' नामक पुस्तक देखनी चाहिये ।

गिरनेसे उसकी मनुष्योंमें निन्दा होती है, अपमान होता है। चरित्रहीन मनुष्य पशुओं तथा नारकीय जीवोंसे भी नीचा है; क्योंकि पशु और नारकीय जीव तो पहले किये हुए पाप-कर्मोंका फल भोगकर मनुष्यताकी तरफ आ रहे हैं, पर चरित्रहीन मनुष्य पापोंमें लगकर पशुता तथा नरकोंकी तरफ जा रहा है। ऐसे मनुष्यका संग भी पतन करनेवाला है। इसीलिये कहा है कि—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५। ४५। ४)

अतः अपना चरित्र सुधारनेके लिये भगवान्‌के सम्मुख हो जायें कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है।

परंतु मनुष्यसे भूल यह होती है कि जो अपने नहीं हैं, उन सांसारिक वस्तुओंको तो अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन भगवान्‌को अपना नहीं मानता। वास्तवमें देखा जाय तो सदुपयोग करनेके लिये ही सांसारिक वस्तुएँ अपनी हैं और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् हैं; कारण कि वस्तुएँ संसारकी हैं, इसलिये उन्हें संसारकी सेवामें अर्पित करना है और मनुष्य स्वयं भगवान्‌का है, इसलिये स्वयंको भगवान्‌के अर्पित करना है। न तो संसारसे कुछ लेना है और न भगवान्‌से ही कुछ लेना है। अगर लेना ही है तो केवल भगवान्‌को ही लेना है।

सांसारिक वस्तुओंकी ममतासे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कामना ममतासे उत्पन्न होती है अर्थात् शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। अब विचार करें कि जिन शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको अपना मानते हैं, उनपर अपना स्वतन्त्र अधिकार है क्या? उनको जितने दिन चाहें, उतने दिन रख सकते हैं क्या? हम उनके साथ सदा रह सकते हैं क्या? अगर पता लगे कि नहीं, तो फिर उनमें अपनापन छोड़नेमें क्या कठिनता है? उनमें भूलसे माना हुआ अपनापन छोड़नेसे कामना नहीं उत्पन्न होगी। कामना उत्पन्न न होनेसे भगवान्‌में स्वतः अपनापन होगा; क्योंकि वे अपने हैं और नित्यप्राप्त हैं। भगवान्‌में अपनापन होनेसे सब आचरण और भाव स्वतः ही शुद्ध हो जायँगे।

शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि पदार्थ सत् हैं या असत् हैं—यह तो विकल्प हो सकता है, पर उनके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है—इसमें संदेहकी सम्भावना ही नहीं है। असत्‌को असत् जान लेनेपर असत्-सम्बन्धका त्याग सुगमता-पूर्वक हो जाता है, और भगवान्‌की सम्मुखता होनेपर भगवान्‌का नित्य सम्बन्ध स्वतः जाग्रत् हो जाता है। फिर मनुष्यमें सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है और वह चरित्र-निर्माणका आचार्य बन जाता है अर्थात् उसका चरित्र दूसरोंके लिये आदर्श हो जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी (उसके आचरणोंको आदर्श मानते हुए) वैसा-वैसा ही आचरण करने लगते हैं; और वह जो प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्ताव करने लग जाता है।'

इस चरित्र-निर्माणमें किञ्चिन्मात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं।

चरित्र क्या है ?

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

चरित्र शब्द शील-स्वभावका वाचक है । इसके पूर्व सत् विशेषण लगानेसे 'सच्चरित्र' बनता है । साधारणतया 'चरित्र' भी सदाचारका ही वाचक है । सत्पुरुषों-जैसे आचार-विचार रखनेवालेको सदाचारी कहते हैं । मनुष्यकी कुलीनता उसके चरित्रसे अभिव्यञ्जित होती है । कुलीनता चरित्रकी जननी है । व्यक्तिकी कुलीनता उसके नित्यके जीवनसे प्रकट होती है । मनुष्योंके आन्तरिक भावोंसे, कर्मोंसे तथा वाणीसे उसके चरित्रकी पहचान होती है । वाल्मीकिजीने नारदजीसे जो प्रश्न किया—

> चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
> विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥[1]

उसके उत्तरमें बतलाये समस्त गुण चरित्रके—सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं । यद्यपि 'चारित्रेण च को युक्तः' उनका एक अलग प्रश्न भी था । चरित्र ऐसा व्यापक शब्द है, जिसमें धर्म, सदाचार एवं सभी सद्गुणोंका समावेश हो जाता है । हृदयके भाव छः बातोंमें परिलक्षित होते हैं—वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आचार तथा व्यवहारसे[2] । इस प्रकार हम देखते हैं—चरित्र शब्द कहीं केवल सदाचारके अर्थमें प्रयुक्त होता है, कहीं कर्म करनेकी शैलीके अर्थमें, कहीं धर्मके अर्थमें और कहीं स्वभावके अर्थमें । जहाँ वर्णाश्रमधर्मका वर्णन आता है, वहाँ इसे भी 'स्वभावज' कहा है । जैसे—शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण हैं । शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान, ईश्वरभाव—ये क्षत्रियके स्वभावज गुण हैं । कृषि, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावज गुण हैं और परिचर्या अर्थात् तीनों वर्णोंकी सेवा करते रहना—यह शूद्रोंका स्वभावज गुण है ।[3] स्वभावजका तात्पर्य यह है कि जन्मसे ही उनके चरित्रमें ये सहज स्वाभाविक गुण रहते हैं ।

बालक (सत्यकाम) आचार्य गुरुकुलमें पढ़ने गया । गुरुने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है ?' बालकने कहा—'मैंने अपनी मातासे गोत्र पूछा था । उसने कहा—'मैं सदा सेवाकार्यमें निरत रहती थी, अतः तुम्हारे पितासे मैं गोत्र नहीं पूछ सकी ।' आचार्यने कहा—'निश्चय ही तुम ब्राह्मण हो ।' ब्राह्मणके अतिरिक्त इतनी सत्य बात दूसरा कोई कह नहीं सकता । तुम जबालाके पुत्र हो, अतः तुम्हारा नाम सत्यकाम जाबाल हुआ ।'

१–महर्षिने नारदजीसे पूछा था—'इस समय संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढप्रतिज्ञ, चरित्रवान्, सर्वभूतहितरत, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, जितक्रोध, कान्तिमान्, अनसूयक, संग्राममें किसीसे भी न डरनेवाला कौन है ?

२–(क) वचनेषु च बुद्धौ च स्वभावे च चरित्रतः । आचारे व्यवहारे च ज्ञायते हृदयं नृणाम् ॥
(उपनिषद्)

(ख) आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥
(गरुडपुराण० १ । १०९ । ५२, शिवपुराण० ... १९ । १९, विष्णुधर्मो० २ । २५ । १७, ... १ । ८, मनु० ८ । २६, पञ्चतन्त्र १ । ४५ आदि)

३–शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४२–४४)

इन दिनों सच्चरित्रता प्रायः नष्ट हो गयी है; नहीं तो पहले लोग वचनोंसे-स्वभावसे, आचार-विचारसे पता लगा लेते थे, वे किस स्वभावके किस वर्णके हैं।

बहुत पहलेकी बात है; कुम्भका मेला लगा था। चार साधु पृथक्-पृथक् बैठे तपस्या कर रहे थे। कुछ मित्रोंकी मण्डली आयी। वे कहने लगे—ये साधु किस-किस वर्णके हैं, पूछना चाहिये। एकने कहा—'देखो भाई! साधुसे जाति नहीं पूछनी चाहिये। घुटा सधा और मुंडे, साधुजीकी जातिका पता नहीं लगता।' दूसरेने कहा—'वर्णसे, स्वभावसे, आचार-विचारसे मनोगत भाव प्रकट हो जाते हैं (पूर्वोक्त मनु० ८। २६)।' चलो इनसे बात-चीत करें; पता लग जायगा। यह निश्चय करके वे पहले साधुके पास गये और दण्ड-प्रणाम करके बोले—'महाराज! कुछ उपदेश कीजिये।' साधु बाबा बोले—

राम नाम लड्डू, गोपाल नाम घी।
हरिको नाम मिश्री घोर घोर पी॥

यह सुनकर वे लोग वहाँसे चल दिये और बोले—निश्चय ही ये ब्राह्मण हैं; क्योंकि ब्राह्मणो मधुरप्रियः। अब लोगोंने दूसरे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

राम नाम की खड्ग बनाकर, ध्यान कटारा बाँध लिया।
हरी नाम की ढाल बनाकर, यमका कच्चा काट दिया॥

मित्र-मण्डली उठ भागी। बोले—निश्चय ही ये क्षत्रिय हैं; क्योंकि 'जस घर ब्राह्मण तस घर क्षत्रिय।' अब तीसरे साधुके पास जाकर लोगोंने उपदेशकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

यह जग मण्डी हाट है, मोदी श्रीभगवान्।
जैसे जाके कर्म हैं, तौलि देत सामान॥

मित्र-मण्डली उठ आयी। बोले—'ये महात्मा वैश्य कुलावतंससे दीखते हैं; क्योंकि तौलना-जोखना वैश्यका स्वाभाविक कर्म है।' अब सब मिलकर चौथे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना करने लगे। साधुने कहा—

राम झरोखे बैठिके, सबको मुजरा लेत।
जैसी जाकी चाकरी, तैसो ताकूँ देत॥

मित्र मण्डलीने उठकर निर्णय किया कि ये कोई शूद्र कुलोत्पन्न साधु हैं; क्योंकि नौकरी-चाकरी तो उसका मूल्य लेनेके लिये ही की जाती है। तात्पर्य यह है कि यह सब जन्मजात स्वभावज-चारित्रिक फल है। एक तो चरित्र स्वाभाविक होता है दूसरा सत्सङ्गसे, साधु-पुरुषोंकी सेवासे निर्माण किया जाता है। स्वाभाविक जन्मजात गुण-दोषोंका छूटना तो अत्यन्त ही कठिन है। किंतु सत्संगतिद्वारा चरित्र सुधारा जा सकता है।

चरित्र दो प्रकारका होता है। एक तो अनुभवात्मक दूसरा लीलात्मक।[1] साधारणतया चरित्र मानव व्यक्तियोंका होता है। लीला अवतारी पुरुषोंके चरितको कहते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यद्यपि अवतार हैं, फिर भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। उन्होंने अवतार होकर भी मानवोचित चरित्र किये। श्रीकृष्णने भी मानवोचित चरित्र किये, किंतु उन्होंने अवतारोचित लीलाएँ भी कीं। जैसे गोवर्धन धारण लीला, रासलीला आदि। इन लीलाओंको अवतारी पुरुष ही कर सकते हैं। मनुष्योंको इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। हाँ, वे जो उपदेश करें मानवोचित चरित्र करें उनको हमें करना चाहिये। इसीलिये भागवतकार कहते हैं—ईश्वरोंके-अवतारोंके वचन-उपदेश तो सत्य हैं, पर उनके सभी आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। उनके जो आचरण हों, इन

[1] अनुभावस्तु लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा॥ (–उज्ज्वलनीलमणि)

चरित्रयुक्त हों वे ही अनुसरणीय हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उनके गुण ग्रहणीय ही आचरण करना चाहिये। चरित्र-निर्माण साधु-सङ्गसे, भगवत्कथा श्रवणसे, भगवन्नाम संकीर्तनसे, अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनसे तथा भगवद्-भक्तिसे होता है। संसारमें जो चरित्रवान् हैं, सदाचारी हैं, वे ही धन्य हैं। उन्होंने मानवजीवनका फल पाया है। जो चरित्रसे हीन हैं, स्वेच्छाचारी हैं वे तो सूकर-कूकरादिके सदृश हैं। अतः मुमुक्षु पुरुषको चरित्र-निर्माणके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

योगका तात्पर्य और चरित्र-निर्माण

(लेखक—गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

योगके सामान्य स्वरूपपर उसकी साधनाके षडङ्ग, अष्टाङ्ग, षोडशाङ्ग आदि भेद निर्दिष्ट हैं। पर ये सभी स्तर मानव-जीवन और मानवके चरित्र-निर्माणके लिये अमर आधार हैं। इनमें यम-नियमके संयमपूर्वक सेवनसे चरित्र उदात्त, पवित्र और प्रसादयुक्त होकर श्रेयकी प्राप्तिमें महनीय भूमिकाकी स्थापना करता है। योगका प्रधान विशुद्धशक्तिकेन्द्र, आत्मनिरंजन परमात्माके सत्-स्वरूपसे, निरंजनसे जीवनकी कल्याणमयी मङ्गलज्योति प्रवाहित होती रहती है और योगसाधनाएँ तथा यम-नियमादि योगके विभिन्न अङ्ग-उपाङ्ग सभी उस केन्द्रीय शक्ति-गृहसे युक्त होकर मानवको सम्यग्रक्षित पुण्य जीवनयापन तथा आत्मदर्शन और परमात्म-साक्षात्कारकी प्रेरणा देते रहते हैं। चरित्र-निर्माणकी दिशामें यही योगका परम तात्पर्य अथवा श्रेयस्कर कार्य है। महायोगी गोरखनाथजीने एक सबदीमें चरित्र-निर्माणका सम्पूर्ण रहस्य योगसाधकके लिये बता दिया है। उनका यह अमृतवचन सम्पूर्ण मानवताके लिये पवित्र चरित्रकी प्रेरणा देता है। यह गोरखबानीकी [illegible]वीं सबदी है जो इस प्रकार है—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राखि आपना चीत॥

योगीको सदैव आत्मसंयम करना चाहिये। योगका आधार ही नहीं, स्वरूप भी चित्तवृत्तिका निरोध है। संसारमें जन्म लेनेवाले प्राणीके लिये यह उचित है कि वह आनन्दपूर्वक समस्त सुखोंका भोग करता हुआ भी उनमें अनासक्त रहे। इससे उसकी आत्मस्वरूपमें स्थिति निरन्तर बनी रहती है। उसे काम और क्रोधसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि काम और क्रोधसे ही प्राणी अविद्या-अन्धकार और ममत्वके बन्धनमें आसक्त होनेपर आत्मविस्मरणका शिकार हो जाता है। जीवनको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जीवनकी सफलतासे, कर्तव्य-पालनमें, निपुण न हो, अनासक्त भावसे जीवनके समस्त ऐश्वर्य-वैभवका भोग करता हुआ भी आत्मसंयममें रहे और मनपर नियन्त्रण रखे। यही गीताकी भाषामें—'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म-बन्धनसे बच निकलनेका मार्ग और युक्ताहारविहार तथा निर्द्वन्द्व संतुलित स्थितिरूप 'समत्वयोग' है। यह समत्वयोग ही चरित्र-निर्माणका केन्द्रीय प्रकाशप्रद है। इससे सङ्ग अथवा आसक्तिका अपने-आप त्याग हो जाता है और जीवनमें निर्मलताका अमृत प्रवाहित होता है। यही योगका फलसम्पादन है, जिससे चरित्रनिर्माणमें महत्ता सुलभ होती है। भगवान्‌का कथन है—

१. [illegible] सर्वं [illegible]। [illegible] बुद्धिमान् [illegible]॥
—(श्रीमद्भग० [illegible])

श्रीकैकेयीजीको दिया, जो बचा उसके पुनः दो-भाग हुए। श्रीकौसल्या एवं कैकेयीजीके हाथोंमें वह एक-एक भाग रखकर प्रसन्नमनसे वे दो भाग श्रीसुमित्राजीको दिये। वाल्मीकिरामायणके अनुसार श्रीकौसल्याजीके पश्चात् जो पायसका भाग श्रीसुमित्राम्बाको दिया गया, उससे श्रीलक्ष्मणकुमार प्रकट हुए, इसलिये वे श्रीरामानुगामी रामानुज कहलाये तथा श्रीकैकेयी महारानीके पश्चात् जो पायसका भाग प्रदान किया गया, उससे श्रीशत्रुघ्नकुमार प्रकट हुए। अतः वे भरतानुजके नामसे विख्यात हुए। 'अनुचिन्त्य सुमित्रायै'—इस पङ्क्तिका यही अर्थ है कि श्रीलक्ष्मणकुमार रामानुज श्रीशत्रुघ्नकुमार भरतानुज होंगे, ऐसा सोचकर ही उन्होंने तदनुरूप पायसका वितरण किया था। सभी महारानियोंने पायसको प्राप्तकर सबको सम्मानित अनुमत किया—'सम्मानं मेनिरे सर्वाः।'। इससे स्पष्ट है कि पायसके विभाजन एवं विभाजित वितरणमें किसी रानीको कोई आपत्ति न हुई।

यहाँ श्रीमद्वाल्मीकिरामायणके सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्रीगोविन्दराजका मत इस प्रकार है—श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्नके श्रीविग्रह पायसके परिणाम थे। मानवोचित शुक्र-शोणितके परिणाम नहीं; क्योंकि पायस प्राशन—(भक्षण-)के पश्चात् ही महारानियोंने गर्भधारण किये। महर्षिके स्पष्ट वचन हैं—'गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा।'। भगवान्की मूर्ति प्राकृत नहीं होती। उनके श्रीविग्रह पञ्चभूतके विकार नहीं होते। पायस भी भगवान्का षड्गुण-सम्पन्न श्रीविग्रह ही था। उसकी (गर्भकी) वृद्धि (पोषणादि) अन्न-जलादिसे नहीं हुई, किंतु भगवान्के अपने सत्यसंकल्पके अनुसार ही हुई—

'रामादिमूर्तयश्च पायसपरिणामाः, न तु शुक्रशोणितपरिणामाः, तत्प्राशनानन्तरं गर्भधारणप्रथमात्, न तस्य प्राकृता मूर्तिः। न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन इत्यादिस्मरणात्। पायसं च भगवतः षाड्गुण्यविग्रह एव तद्वृद्धिश्च नान्नपानादिकृता, किंतु इच्छयाऽऽत्मसंकल्पेनैव सर्वमवधेयम्।' (भूषणटीका)

> अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
> सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ विष्णोरर्धसमन्वितौ॥
> (वा० रा०)

श्रीसुमित्राम्बाने श्रीलक्ष्मण एवं श्रीशत्रुघ्न इन दो पुत्रोंको प्रकट किया। ये दोनों अस्त्र-विद्याओंमें कुशल, धीर, वीर तथा साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न थे। यहाँ अर्ध शब्द अंशमात्रका वाचक है। भूषणकारके अनुसार लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों भ्राता क्रमशः पायसके चतुर्थ भाग एवं अष्टम भागसे प्रकट हुए। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—श्रीरामभद्रको श्रीकौसल्याम्बाने लोककल्याणके लिये प्रकट किया—'कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी।' किंतु श्रीलक्ष्मणकुमारको माता सुमित्राने केवल श्रीराम-सेवाके लिये ही प्रकट किया था—'सृष्टस्त्वं वनवासाय।'
(वाल्मी० २)

चक्रवर्ती नरेश महाराज दशरथकी द्वितीय राजमहिषी होनेपर भी श्रीसुमित्राम्बा श्रीरामराज्याभिषेकका समाचार सुनकर अपने करकमलोंसे मणिमय सुन्दर चौक पूरनेका कार्य करती हैं, जो दास-दासियोंद्वारा भी सम्पन्न हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि इन्हें राजमहिषी होनेका किंचित् भी गर्व न था। निरभिमानिताकी मूर्ति श्री माता सुमित्राने—

चौकें चारु सुमित्राँ पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥

जिस प्रकार श्रीअवधके राजकाजमें श्रीलक्ष्मणकुमारकी प्रधानता थी, उसी प्रकार राजमहलके अभ्यन्तरकी व्यवस्था श्रीसुमित्राम्बाके अधीन थी। तभी तो जब श्रीरामभद्र राजमहलमें पधारते हैं तब श्रीसुमित्राम्बाका अन्वेषण करते हैं। गीतावलीमें श्रीकौसल्याम्बा कहती हैं—भद्र श्रीराम हँसकर यह नहीं पूछते कि श्रीसुमित्राम्बा कहाँ हैं'—

बूझिहौं न बिहँसि मेरे रघुबर कहाँ री सुमित्रा माता ।
(गीतावली २ ।)

इससे अन्तःपुरमें श्रीसुमित्राम्बाकी प्रधानता सूचित होती है । सेवकोंपर श्रीलक्ष्मणकुमारका वर्चस्व था । अतएव माता श्रीकैकेयी मंथरासे कहती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मणकुमारने तुम्हें दण्ड दिया है—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरें । दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें ॥

श्रीसुमित्राम्बाके त्यागमय आदर्श चरित्रकी पराकाष्ठा-का दर्शन तब होता है, जब उन्होंने—'कोमल अंग कमल कछु सोने—लाडिले सुकुमार श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रभुके साथ वन जानेकी सहर्ष आज्ञा दी । प्रभुने श्रीलक्ष्मण-कुमारसे कहा कि वनगमनके लिये मातासे आज्ञा लेकर शीघ्र आओ । श्रीलक्ष्मणकुमार माताके चरणोंमें प्रणाम कर समस्त वृत्तान्त सुना देते हैं—

गए लखनु जहँ जानकिनाथा । भे मन मुदित पाइ प्रिय साथा ॥
पूँछे मातु मलिन मन देखी । लखन कही सब कथा बिसेषी ॥

श्रीसुमित्राम्बाने धैर्य धारण कर मधुर वाणीसे श्रीलक्ष्मणकुमारको जो उपदेश दिया है, वह मननीय है । माता कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू । तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥

महर्षि वाल्मीकिने भी श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश समादरके साथ लिखा है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥
(वाल्मी० रामा० २।४०)

वे श्रीलक्ष्मणकुमारका ही नहीं, अपना भी सौभाग्य समझती हैं कि उनका पुत्र श्रीरामकी निष्काम सेवामें दत्तचित्त है—

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ ॥

श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश कि—

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ॥

—नारीमात्रके लिये प्रेरणादायक है । वास्तवमें भक्त पुत्र प्राप्तकर ही माता धन्य होती है । महापुरुषोंने रामवनगमनके अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें साधुपरित्राण मुख्य है तथा असुरविनाश गौण है । इन दो कारणोंके अतिरिक्त श्रीनिषादराज, श्रीशबरीजी, श्रीसुग्रीव, विभीषणादि भक्तोंपर प्रभुकी कृपा तथा ऋषि-मुनियोंके आश्रममें जा-जाकर सुख प्रदान करना भी है—

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ।

किंतु माता सुमित्राको इन कारणोंसे पृथक् कारण दिखायी दे रहा है, अतः वे कहती हैं—'तुम्हारे कारणसे ही प्रभु वनमें जा रहे हैं, दूसरा कोई हेतु नहीं है ।' जब श्रीअवधमें प्रभु रहते थे, तब उनकी सेवामें अनेक भक्त एवं सेवकगण तत्पर रहते थे, अतः सम्पूर्ण सेवा श्रीलक्ष्मणकुमारको कैसे प्राप्त हो सकती थी ? वाल्मीकिरामायणमें श्रीदशरथजी कहते हैं—'जिनके भोजनके समय कुण्डलधारी रसोइयागण 'मैं पहले बनाऊँगा, मैं पहले', इस प्रकार परस्परमें विवाद करते थे—

यस्य आहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥
(वा० रा० २ । १२ । ९९)

—पर वनमें तुम्हें यह अवसर प्राप्त हो गया ।

पूर्वाचार्योंने श्रीसुमित्राम्बाको आचार्यके रूपमें भी स्मरण किया है । यद्यपि श्रीलक्ष्मणका प्रभुपादारविन्दमें सहज स्नेह था किंतु आचार्य-स्वरूपा श्रीसुमित्राम्बाके उपदेशद्वारा उनकी प्रभु-पदप्रीति और दृढ़ की गयी । यह वैदिक परम्पराका प्रामाणिक उदाहरण है । श्रुति कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।' 'प्राप्य वरान् निबोधत' आचार्यके समीप जाकर ही

प्राप्त करना चाहिये। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' से गीता भी इसी बातका प्रतिपादन करती है। आचार्यका उपदेश जो श्रीलक्ष्मणकुमारको प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त ही मनन करने योग्य है। माता कहती हैं—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥

यहाँ श्रीसुमित्राम्बाका उपदेश ध्यान देने योग्य है। वे कहती हैं—राग-रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि विकारोंके वशमें स्वप्नमें भी नहीं होना चाहिये। जाग्रत्-अवस्थाकी तो बात ही क्या है! जिस प्रकार श्रीसीतारामजीको वनमें सुख हो, वही सेवा तुम करना। यह माताका श्रीलक्ष्मणकुमारके लिये उपदेश है। साथ ही माता, पिता, परिवार तथा अवधके आनन्दकी स्मृति भी प्रभुको न आये, ऐसी सेवाका भी वे उपदेश दे रही हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

माताने श्रीलक्ष्मणकुमारको वन जानेकी आज्ञा तथा प्रभुकी सेवा करनेकी शिक्षा दी एवं श्रीसीतारामजीके श्रीचरणोंमें नित्य-नवीन प्रीति हो, ऐसा आशीर्वाद भी दिया। श्रीमद्वाल्मीकिरामायणमें श्रीसुमित्राम्बाने वनगमनके समय श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रणाम करते देखकर उनका मस्तक सूँघा एवं कहा—'तुम अपने परम सुहृद् श्रीरामचन्द्रके परम अनुरागी हो। विधाताने तुम्हारी सृष्टि वनवासके लिये ही की है अथवा मैंने तुमको वनवासके लिये ही प्रकट किया है। अपने ज्येष्ठ भ्राताके वनमें विचरण करते समय उनकी सेवामें प्रमाद मत करना—

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
(वाल्मी० रा०)

'भ्रातरि गच्छति'का तात्पर्य है कि श्रीजनकनन्दिनीके साथ जब प्रभु वनकी शोभाका अवलोकन करते हुए चलेंगे, तब उनके गमनकालिक सौन्दर्यमें आकृष्ट होकर उनकी रक्षामें असावधान नहीं होना। प्रभु संकटमें हों अथवा समृद्धिमें, वे ही एकमात्र तुम्हारी गति हैं। संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाके अधीन रहें। इस कुलका सनातन धर्म यही है—दान देना, यज्ञमें दीक्षित होना और युद्धमें शरीर-परित्याग करना। श्रीलक्ष्मणकुमारसे ऐसा कहकर सुमित्राम्बाने 'पुत्र! जाओ-जाओ' इस प्रकार बारंबार उन्हें शीघ्र जानेकी प्रेरणा दी। अन्तमें श्रीसुमित्राजीके अद्भुत त्यागका प्राकट्य उस समय होता है, जब श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमारकी मूर्छाका समाचार प्राप्त होता है। गीतावलीमें गोस्वामीजीने इस प्रसङ्गका वर्णन करते हुए करुणाकी धारा प्रवाहित कर रखी है—

'सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि करे हैं॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात! जाहु कपि सँग,' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥
(गीतावली ६।१३)

पुत्र श्रीलक्ष्मणकुमारके युद्धमें घायल होनेका समाचार सुनकर माता सुमित्रा अपने स्वामी श्रीरामके कार्यमें सुभट मेघनादसे युद्धमें ललकारकर बाण एवं शक्तिसे लड़नेवाले घायल पुत्रके लिये शोकाभिभूत हो उठीं किंतु साथ ही इस बातसे वे संतुष्ट भी हो जाती हैं कि मेरा पुत्र श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको अङ्गीकार किये हुए

है। उनका शरीर पुत्रशोकसे क्षण-क्षणमें सूखता है और फिर यह भाव श्रीरामकी भक्तिमें हुआ है, यह विचारकर क्षण-क्षणमें उल्लसित होता है तथा उनके शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग हरे-भरे हो जाते हैं। श्रीसुमित्राम्बाके नेत्र अश्रुजलसे पूरित हैं। वे स्वभावसे ही श्रीहनुमान्‌जीसे कहती हैं कि रघुकुलके आनन्दवर्धन श्रीराम इस कुअवसरमें बिना भाईके हो गये हैं। पुनः मनमें सोचती हैं कि मेरे पास एक धन (सम्पत्ति) रूप दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्न भी हैं (अतः श्रीराम भ्रातारहित कैसे हुए!) ऐसा सोचकर समीपमें बैठे हुए शत्रुघ्नकुमारसे कहती हैं—पुत्र! तुम वानरराज श्रीहनुमान्‌जीके साथ जाओ। यह सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये। वे शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न हैं, मानो विधाताके किये हुए संयोगसे (उनके) पासे पूरे दाँवपर सुन्दर ढारसे ढरे हैं अर्थात् पूरे-पूरे दाँव पड़ गये हैं। माता सुमित्रा और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नकी यह दशा देखकर श्रीपवनकुमार और श्रीभरत आदि ग्लानिमें गले जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय भरत श्रीसुमित्राजीको समीने समझाकर सचेत किया। ऐसा था श्रीसुमित्राम्बाका धैर्य एवं अगाध श्रीरामभक्ति।

चारों भ्राताओंके सुन्दर सलोने नन्हें शिशुरूपको देखकर श्रीसुमित्राम्बा प्रेमसे पुलकित हो जाती थीं तथा सब शिशुओंको हृदयसे लगाकर कहतीं कि तुम चारों भैया कब अपने पैरोंसे चलोगे—

> पगनि कब चलिहौ चारो भैया ?
> प्रेम-पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ॥
> (गीतावली १।९)

वात्सल्य-प्रेमसे ओतप्रोत जैसा माता सुमित्राका कोमल हृदय था वैसा ही उनका लोकोत्तर वैदुष्य भी था। उनकी प्रगाढ़ एवं प्रतिभासम्पन्न बुद्धिका दर्शन श्रीराम-वनगमनके पश्चात् होता है। वाल्मीकिरामायणमें महर्षि वाल्मीकिने स्पष्ट किया कि जब महारानी कौसल्या प्रभुके वियोगमें पुत्रशोकसे विह्वल हो विलाप करने लगीं, तब धर्मपरायणा देवी सुमित्राने धर्मयुक्त वचनोंद्वारा महारानी कौसल्याको आश्वासन दिया—

> विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम्।
> इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत्॥
> (वाल्मी० रा० २।४२)

श्रीसुमित्राम्बा बोलीं—श्रीराम धर्ममें स्थित हैं, पिताको सत्यवादी बनानेके लिये ही वे वनमें गये हैं। निष्पाप लक्ष्मण भी समस्त प्राणियोंके प्रति दयावान् हैं तथा श्रीरामके प्रति सदा उत्तम व्यवहार करते हैं, अतः लक्ष्मणकुमारके लिये भी यह लाभप्रद अवसर है। विदेहनन्दिनी सीता भी उचित विचारका आश्रय लेकर तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण कर रही हैं। श्रीरामकी भगवत्ता प्रकट करते हुए देवी सुमित्राने पुनः कहा—'श्रीरामके पवित्र और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य उन्हें अपनी किरणोंद्वारा संतप्त नहीं करेंगे। सुखद मङ्गलमय वायु उनकी सेवा करेगी। रात्रिमें शीतल चन्द्रमा सोये हुए श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श कर उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे, रघुनन्दन श्रीराम अतुल पराक्रमी हैं। देवि! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि, प्रभुके प्रभु, लक्ष्मीके लक्ष्मी एवं क्षमाके भी क्षमा हैं। वे देवताओंके भी देवता, भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी क्लेशप्रद हो सकते हैं'—

> सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
> श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥
> दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
> तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे॥
> (वाल्मीकिरामा० ६

जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीतारूपमें साक्षात् लक्ष्मी हो गयी हैं, उनके लिये विश्वमें क्या दुर्लभ हो सकता है—'सीतेयानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम्।' तुम शीघ्र ही वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ आये हुए अपने सुन्दर पुत्रको देखोगी, अतः शोक और मोहका परित्याग कर दो—'अहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते।' शोक शरीरमें ही विलीन हो गया—जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

परम विदुषी तत्त्वज्ञा श्रीसुमित्राजी स्वयं भी असूया-रहित स्नेहमयी राजरानी हैं। अपनी सपत्नी महारानी कौसल्याके प्रति उनका भगिनी-सदृश स्नेह है, इसलिये वार्तालापमें वे श्रीकौसल्याजीके प्रति 'जीजी' शब्दका प्रयोगकर उन्हें आश्वस्त करती हैं—

जीजी कहा, जीजी जू ! सुमित्रा परि पाँय परि,
तुलसी सहावै विधि सोई सहियतु है—
(कवित॰

इस प्रकार अयोध्यानरेशकी द्वितीय रानी श्रीसुमित्राजी अनेक उत्तम गुणोंसे समलङ्कृत हैं। उनका उदात्त आदर्श चरित्र आज भी अध्यात्म-जगत् व्यवहारमें नारीमात्रके लिये अनुकरणीय है। अतः आधुनिक परिवेशमें भ्रमित स्त्रियोंको भी सुमित्राका धैर्य, त्याग, स्नेह एवं तपोमय जीवन युग-युगतक पथ-प्रदर्शन करता हुआ अपने आभामय प्रकाशपुञ्ज गुणसमूहोंसे आलोकित करता रहेगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम।
सुवन लखन रिपुदवन से, पावहिं पति पद प्रेम।
(रामाज्ञाप्रश्न १।

चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता और उसके मूल तत्त्व

(योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाके उपदेश)

वर्तमान समयमें समाजकी दशा देखते हुए यह कहना पड़ता है कि मनुष्यमें मानवताके गुण न रहकर दानवताके दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। सज्जनोंकी संख्या घटती जा रही है और धर्मकी कमीके कारण दुर्जनोंकी संख्याकी वृद्धि हो रही है।

किसी भी शहर या गाँवको लीजिये और वहाँके निवासियोंकी गणना गुणोंके अनुसार करवाइये तो आपको यही मानना पड़ेगा कि धर्मकी जगह अधर्म, सज्जनकी जगह दुर्जन अधिक मात्रामें हैं। हर जगह उनके अमानुषिक कर्म हो रहे हैं।

आये दिन धर्मके नामपर शान्ति-व्यवस्था बिगड़ जाती है। उसका एकमात्र कारण होता है कि लोगोंके अंदर सच्ची धर्म-भावना न है। उनके अंदर अहिंसादि सच्चे धर्मका प्रभाव नहीं होता है। राष्ट्रिय सांस्कृतिक चेतना एवं वास्तविक धार्मिक भावना उनमें नहीं रहती है। इससे राष्ट्र-चरित्र गिरता जा रहा है। इससे देशकी व्यवस्थामें भारी गड़बड़ी आती जा रही है। यह बात चिन्तनीय है।

हमें जहाँ अपने सभी कर्मोंमें धर्मको अपने आगे रखना चाहिये वहाँ हमलोगोंने उसे पीछे कर दिया है। धर्मका कोई भी विचार हम नहीं रखते। शास्त्रोंने कहा है कि यदि हमारे सभी कार्य धर्मसे सम्बद्ध हों तो वे ही सदाचार हो जाते हैं और यदि हमारे कार्य धर्मसे विरुद्ध हों तो वे सभी दुराचार या पाप हो जाते हैं। यही क्यों ? यहाँतक कहा गया है कि धर्मसे हीन मनुष्य पशुके समान हैं—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।' धर्म ही मानवका विशिष्ट गुण है

धर्मके पालन न करनेसे महान् हानि होती है और धर्मके पालन करनेसे रक्षा होती है। अतएव हमें धर्मको किसी प्रकार छोड़ना न चाहिये; अन्यथा विनाशका भय है।

इस प्रकार सदाचार ही चरित्र-निर्माण है। —'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'—आचारहीन व्यक्तिको वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। अतएव सदाचारकी विशेष महत्ता हमारे शास्त्रकारोंने बतलायी है। अपने शास्त्रोंने महान् व्यक्तियोंके आचरण देखकर चलनेका उपदेश दिया है।

धर्मका भव्य भवन धर्मकी आधार-शिलापर टिका हुआ है। मन, वाणी और कर्ममें जो-जो दिव्य कर्म हैं या होते हैं, उन्हींसे धर्मका कार्य पूरा होता है। ईश्वरीय नियमोंका पालन, सदाचारके नियमोंका अनुष्ठान, सामाजिक शुभ व्यवहार—ये सब दिव्य कर्म हैं, जिनसे धर्म ऊपर उठता है और इसी कार्यको सरल और सुलभ करनेके लिये शास्त्रकारोंने मार्ग बतलाये हैं, जिन्हें मनुष्यमात्रको आचरित करना चाहिये और अपने-अपने चरित्रमें उन्हें उतारकर अपने जीवनको सुखी-समृद्ध बनाना चाहिये।

चरित्र-निर्माणकी इच्छावाले व्यक्तियोंको कष्टमें धैर्य, व्यवहारमें क्षमा चाहिये। मनको विषयोंकी तरफ जानेसे रोकना चाहिये, अस्तेय माने अन्यायसे किसीका धन हड़पना नहीं चाहिये, मिट्टी और जलसे अपना शरीर शुद्ध करना चाहिये। विषयोंकी तरफ जानेसे नेत्रोंको रोकना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान, यथार्थ कहना और सत्य बोलना तथा क्रोध न करना चाहिये। ये ही दस लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो परस्पर व्यवहारमें सदाचारके मूल सोपान हैं। ऐसा जो आचरण करता है, वही विद्वान् है। उसकी जो भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। सभी शास्त्र और पुराणोंका यही विधान है। इसीसे व्यष्टि एवं समष्टिकी उन्नति होगी।

सारांश यह है कि जिसका आचरण श्रेष्ठ होता है, वही श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता है। गीतामें स्वयं भगवान् कृष्णने कहा है कि उसीके अनुसार लोक भी चलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अतएव श्रेष्ठ बनो और अपने आचरणको दूसरोंके लिये प्रमाण कर दो।

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट)

श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें संयमका योगदान

(लेखक—पूज्यपाद श्रीरामचन्द्रजी डोंगरेजी महाराज)

श्रीरामचन्द्रजीके पाँच व्रत हैं। वे हैं—एकपत्नी होना, साथ ही एकदान, एकबाण, एकस्थापन और एकवचनपालन।* आपने जिस तरह एकपत्नी-व्रतका पालन किया—एक बार ही सुग्रीवादिकी स्थापना की, उसी प्रकार एकपत्नी-व्रतका भी सम्पूर्ण पालन किया है। शास्त्रोंमें एकपत्नीव्रतकी बड़ी महिमा है। जिन स्त्री-पुरुषोंका देव, ब्राह्मण और अग्निको साक्षीमें रखकर विवाह हुआ हो, उन्हीं पति-पत्नीका परस्पर दाम्पत्य भाव रखकर धार्मिक मर्यादाका पालना गार्हस्थ्य है। अन्य सब स्त्री-पुरुषोंको जो निष्कामभावसे या सीताराममयी भावनासे या मातृभावसे देखता है, वह गृहस्थ होता हुआ भी साधु और सच्चरित्र है। वह ब्रह्मचारी और सदाचारी भी है। बिखरे हुए मनको एक खूँटेसे बाँधनेके लिये विवाह होता है। विवाह कामका विनाश करनेके लिये है, विलासभावके

* द्विःशरं नाभिसंधत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

लिये नहीं। यह धर्मकृत्य ही इस कामभावको एक जगह केन्द्रित कर कामका विनाश करता है। यही भारतीय विवाहका प्रयोजन है। इसीसे हमारी संस्कृतिमें विवाहको धार्मिक संस्कार और पत्नीको 'धर्मपत्नी' कहा गया है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका चरित्र प्रसिद्ध है। वे पत्नीमें विशेष आसक्त थे। जगत्की अन्य सब स्त्रियोंको वे मातृभावसे देखते थे। उनका मन पवित्र था, अतः उनके पत्नीप्रेमकी निष्ठा आगे चलकर साधनाकी निष्ठामें परिणत हुई। एक दिन पत्नीको माँके यहाँसे बुलावा आया। पत्नी पीहर चली गयी। महाराज घर आये तो खबर मिली कि पत्नी पीहर गयी है। उनसे पत्नीका वियोग सहन नहीं हुआ। वे उससे मिलनेके लिये मध्यरात्रिमें ससुराल जा पहुँचे। चौमासे-(वर्षाऋतु-)की भयंकर रात्रि थी। नदीमें बाढ़ आ गयी थी। तुलसीदासने शवको लकड़ी समझकर उसे पकड़कर नदी पार किया। श्वशुरके मकानके पास आये। मकानमें प्रवेश करनेके लिये पेड़के ऊपर चढ़े। लटकते सर्पको डोरी समझ बैठे। उसके आधारसे मकानमें प्रवेश किया। वेदान्तमें रज्जुसर्पका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। अन्धकारमें—अज्ञानमें मनुष्य डोरीको सर्प समझ बैठता है। मिथ्याको सत्य समझ लेता है। यहाँ तो अतिशय आसक्तिमें तुलसीदासजीको सर्पमें डोरी दिखी। तुलसीदास बहुत कष्ट सहन कर, संकट काटकर पत्नीके पास पहुँचे। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चेतावनी दी—

हाड़ माँस को देह मम तापर जैसी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति अवसि मिटति भवभीति॥

'इस शरीरमें क्या सुन्दर है? शरीर तो हाड़-माँसका गोथड़ा है। इस शरीरसे मिलनेके लिये आपने इतना कष्ट उठाया। इतनी आसक्ति मुझमें! इससे इसकी आधी रामजीमें रखते तो आपका कल्याण हो जाता।' तुलसीदासजीको ज्ञान हुआ। जितनी आसक्ति पत्नीमें थी, उतनी प्रभुमें हो गयी।

मनपर कुटेव पड़ी हुई है। सुन्दर वस्तु देखते ही यह उसके पीछे दौड़ता है, उसका चिन्तन करता है। अनेक बार मन ऐसा समझता है कि मैं जिसका चिन्तन करता हूँ, वह वस्तु मुझे मिल नहीं सकेगी। पर मन उसका चिन्तन करता है—पाप करता है। सनातन-धर्मकी यह मर्यादा है कि पुरुष बिना कारण किसी स्त्रीकी ओर देखे नहीं; और स्त्री भी पुरुषको न देखे। आँखसे भले ही कोई दीख पड़े परंतु मनसे किसीको नहीं देखना चाहिये। स्त्री पुरुषका चिन्तन करे, पुरुष परस्त्रीका स्मरण करे—यह व्यभिचार-जैसा ही पाप है। उसका विहित दण्ड मिलता है। कुछ लोग समझते हैं कि शरीरसे पाप करनेपर ही सजा मिलती है, मनसे पाप करें उसकी सजा नहीं मिलती; कारण कि मनके पाप कोई देख नहीं सकता। पर यह समझ खोटी है। मनसे किये हुए पापकी भी सजा होती है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर सबको देख रहा है। वह तो शरीरको भी जानता है और मनको भी जानता है। मनसे किये पापकी खबर जगत्को भले ही न मिले, परंतु ईश्वरको अवश्य मिल जाती है। तनके और मनके पापोंको देखनेवाला और उसकी सजा देनेवाला ईश्वर बैठा है। चारित्र्यमें शरीर और मन दोनोंसे हुए पवित्र कार्य ही सहायक होते हैं।

श्रीरामजी सदाचार-संयमकी मूर्ति हैं। संयम कैसा होना चाहिये, श्रीरामजीने अपने चरित्रसे जगत्को शिक्षा दी—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (श्रीमद्भा०)। आँखका संयम, जीभका संयम, मनका संयम—सर्व इन्द्रियोंका संयम पालन करके रामजीने बताया है। मनुष्यको सम्पत्ति थोड़ा सुख देती है, परंतु इन्द्रियोंका संयम बहुत सुख देता है। चरित्रका आधार संयम है।

इन्द्रियाँ तो नौकर हैं। हम नौकरोंके अधीन होवें ठीक नहीं! आप जहाँ जाते हैं, वहाँ नौकर जाता है अथवा नौकर जहाँ जाता है वहाँ आप? इन्द्रियोंके

अधीन होनेसे इन्द्रियाँ शत्रु सिद्ध होंगी—परंतु इन्द्रियाँ अधीन रहेंगी तो वे मित्र बनी रहेंगी। रामजी कभी किसी स्त्रीको आँख ऊँची कर नहीं देखते थे—

रामचन्द्रः परान् दारान् चक्षुषा नाभिवीक्षते।
(वा० रा०)

रामचन्द्रजीका आँखका संयम अधिक था। आँखोंमें बहुत शक्ति होती है। पर उस शक्तिका दुरुपयोग ही पाप तथा सदुपयोग ही पुण्य है। मानवकी इन्द्रियोंमें प्रभुने बहुत शक्ति दी है, परंतु मनुष्य उसका दुरुपयोग करता है। सनातनधर्मकी मर्यादा है कि पुरुष पर-स्त्रीको और स्त्री पर-पुरुषको आँख उठाकर न देखे। आँखसे देखी बात मनमें आती है। वह चित्र मनमें बस जाता है। आँखें बंद रहें तो व्यवहार चलेगा नहीं। अतः दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये। दृष्टि दो प्रकारकी है—सापेक्षात्मक और उपेक्षात्मक। कहीं रास्तेमें पड़ा हुआ कचरा दिखायी देता है; उस कचरेके ऊपर नजर तो गयी होगी, परंतु कचरेको सभी उपेक्षाभावसे देखते हैं। इस जगत्को महापुरुष ऐसे ही उपेक्षाभावसे देखते हैं; सन्तजन अपेक्षात्मक दृष्टि केवल ईश्वरमें रखते हैं। किसी स्त्री अथवा पुरुषको आप अपेक्षाभावसे देखेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, इससे सुख मिलेगा तो इससे आपका मन बिगड़ेगा। कोई स्त्री सुन्दर नहीं, कोई पुरुष सुन्दर नहीं, सुन्दर तो श्रीराम हैं। जगत् कदाचित् सुन्दर हो सके, परंतु जगत्का सौन्दर्य बहुत टिकता नहीं। फूल सुन्दर दीखता है। वह दो-चार घंटे बाद कुम्हला जाता है। फिर क्या वह पूर्ववत् सुन्दर लगता है? फूल जैसे कुम्हलाता है उसी तरह जगत् कुम्हलाता है। जगत्में केवल एक श्रीराम नहीं कुम्हलाते। देखिये—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

रामजीको कहा गया था कि आनेवाले कलमें आपका राज्याभिषेक होना है। यह सुनकर रामजी प्रसन्न नहीं हुए और राज्याभिषेकके मुहूर्तमें वनमें गये तो तनिक भी उदास न हुए।

छोटी-छोटी बातोंमें मुखकी कान्ति कुम्हला जाती है। रामजीसे कहा गया कि आपको कल पृथ्वीका राजा बनना है। ऐसा सुनकर रामजीकी मुखश्रीमें वृद्धि नहीं हुई और राज्याभिषेकके मुहूर्तमें जब वनवास मिला, तब उनकी मुखश्री कुम्हलाई नहीं।

श्रीरामजी सुन्दर हैं। उनका सौन्दर्य स्थायी है; जगत् नहीं। कदाचित् यह सुन्दर दीखे भी तो वह स्थिर रहनेवाला नहीं। रामजी किसीपर दृष्टि नहीं डालते। कदाचित् किसी स्त्रीपर नजर जाय तो रामजी उसमें मातृभाव रखते हैं अर्थात् यह हमारी माता है। प्रत्येक स्त्रीको जो मातृभावसे देखता है वह रामजीको सुहाता है। जगत्के स्त्री-पुरुषोंको कामभावसे देखनेवाला ईश्वरको तनिक भी नहीं सुहाता। वह चरित्रशील नहीं हो सकता।

परमात्माने आँख तो सबको समानरूपसे ही दी है। धन देनेमें कदाचित् विषमता की हो, पर गरीब-श्रीमन्त—सबको प्रभुने आँख तो एक समान ही दी है। भक्तिमें आँख मुख्य है। पापका आरम्भ आँखसे ही होता है और भक्तिका आरम्भ भी आँखसे ही होता है। परमात्मा सुन्दर हैं, ऐसा जिसको विश्वास हो गया है, वह भक्ति करता है और संसार सुन्दर है, ऐसा जो समझता है, वह पाप करता है। जगत् खराब नहीं, परंतु वह बहुत सुन्दर भी नहीं। श्रीरामचन्द्रजी किसी-पर भी दृष्टि नहीं डालते, बिना कारण किसीको नहीं देखते थे। रामजी प्रत्येक स्त्रीमें मातृ-भाव रखते

हैं। यही तो उनकी मर्यादा थी और इसीसे वे पुरुषोत्तम हो सके।

रामजी इतने अधिक शुद्ध हैं कि जो रामजीका स्मरण करता है, वह भी शुद्ध हो जाता है। रामायण अनेक हैं। उनमें महापुरुषोंने अनेक भाँतिसे रामजीका वर्णन किया है। श्रीएकनाथ महाराजकी भावार्थ-रामायण बहुत बड़ी है। अनेक रामायण पढ़कर एकनाथ महाराजने इसकी रचना की है। उस रामायणमें पैंतालीस हजार मराठी पद हैं। किष्किन्धाकाण्डमें वे कहते हैं कि 'इतनी कथा मैंने श्रीहनुमान्‌जीको सुनायी है। अब उसके पीछे श्रीरामजीकी प्रेरणासे यह कथा करता हूँ।'

लंकामें युद्ध चालू था। रावणके बड़े-बड़े महारथी युद्धमें मारे जा चुके थे। कुम्भकर्ण सोया हुआ था, तब युद्ध करनेके लिये रावणने उसको जगाया। कुम्भकर्णको खूब मदिरा पिलायी, खूब मांस खिलाया; कुम्भकर्ण रावणसे मिलने आया। उसने रावणसे पूछा—'मुझे क्यों जगाया है?' रावणने कहा—'रामजीके साथ युद्ध करनेके लिये तुमको जगाया है।' कुम्भकर्णने पूछा कि 'रामजीके साथ क्यों युद्ध हो रहा है।' रावणने बहुत बातें कीं। कहा—'सीताजीके लिये युद्ध हो रहा है।' कुम्भकर्णने रावणको समझाया कि 'लंकामें अनेकानेक देव-गन्धर्व-कन्याएँ हैं। फिर भी सीताजीकी चोरी करने क्यों गया? तुमने चोरी की। यह बड़ा खोटा काम किया। यह तेरी भूल है। तू सीताको किसलिये लाया है?'

रावणने कहा 'लङ्कामें बहुत-सी देव-गन्धर्व-कन्याएँ तो हैं, परंतु सीताजी-जैसी एक भी नहीं। सीताजी अति सुन्दर हैं। इनकी तुलनामें कोई आ सके, ऐसी नहीं। इस कारणसे मैं सीताजीको ले आया हूँ।' कुम्भकर्णने पूछा 'तू सीताजीको ले आया तो तेरी इच्छा पूरी हुई कि नहीं?' रावणने कहा—'मेरी इच्छा पूरी होती नहीं, सीताजी महान् पतिव्रता हैं। वे आँख ऊँचे करके किसीको सामने देखती भी नहीं।'

जब कुम्भकर्णने रावणको सलाह दी कि 'तू मायासे राम बनकर सीताजीके पास जा।' रावणने कहा 'ऐसा मैंने करके देखा है। परंतु कुम्भकर्ण! मैं तुमसे क्या कहूँ—

फलुंदयेतसि रामरूपममलं दूर्वादलश्यामलम्।
तुच्छं ब्रह्मपदं परं परवधूसंगप्रसंगः कुतः॥

'कुम्भकर्ण! जब-जब मैं नकली राम बनता हूँ, तब-तब मेरे मनमें काम रहता ही नहीं।'

मायावी रावण कामरूप होनेकी शक्ति है, पर जब वह नकली राम बनता है, तब अन्य स्त्रीमें उसका मातृ-भाव हो जाता है। परस्त्रीमें अतिशय कामभाव रखनेवाले उस राक्षसके मनमें भी काम नहीं रह जाता। नकली रामकी ऐसी स्थिति है तो असली रामकी कैसी होगी?

रामजीका चरित्र अति शुद्ध है। रामजी सम्पूर्ण रूपसे एकपत्नीव्रतधारी हैं। दशरथ महाराजसे थोड़ी भूल हुई। दशरथ महाराजने अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह किया था। उनके राज्यमें एक पुरुष अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह कर सकता था। श्रीरामजीको यह अच्छा नहीं लगा। श्रीरामजीने यह रीति सुधारी। राम-राज्यमें एक पुरुष एक ही स्त्रीसे विवाह कर सकता था, जगत्‌की अन्य प्रत्येक स्त्रीमें मातृ-भाव रखता था। रामजीको बहुपत्नी-प्रथा योग्य नहीं लगी फिर भी मेरे पिताजीने भूल की है'—ऐसा रामजी कभी बोले नहीं। पिताजीकी भूल रामजीने बहुत विवेक-युक्तिसे सुधारी। मैं एकपत्नीव्रतका पालन करूँगा। मेरी प्रजा भी एक-पत्नीव्रतका पालन करे। यह था, रामका चारित्रिक आदर्श।

बड़ोंकी कोई भूल हो तो उसका अनुकरण करना ठीक नहीं। पिताजी व्याज खाते हों, गुरुजी तम्बाकू

खाते हों इसलिये पुत्र-शिष्य भी खाय, यह उचित नहीं। पिता अथवा गुरु जो पवित्र आचरण करते हों, उनका ही अनुकरण पुत्र अथवा शिष्यको करना चाहिये।

चार वर्षतक गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचारीके वेदशास्त्रोंके अध्ययनकर गुरुजीकी वन्दना करके कहा—'अब मुझे अन्तिम उपदेश दीजिये।' तब गुरुजीने कहा—बेटा! अब तुझे घर जाकर विवाह करना है। मुझे आनन्द है, परंतु मेरा तुझे उपदेश है कि विवाह होनेके बाद याद रखना है कि तेरी माँ परमात्मा है, तेरे पिता परमात्मा हैं।' संसारमें ऐसा दीखता है कि विवाह होनेके बाद लोकलोंका माता-पिताके प्रति प्रेम धीरे-धीरे कम हो जाता है। सत्परामर्शदाता कोई न मिले तो नियत बिगड़ सकती है। अतः गुरुजी शिक्षा देते हैं—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' बेटा! तेरे गुरुजीका क्रम तीसरा है। चार वर्षतक तू मेरे आश्रममें रहा है। मेरी जितनी ही भूलें तूने देखी होंगी। जीवमात्र भूल करता है। निर्दोष तो एक परमात्मा ही हैं। मैंने कोई भूल की हो, उस भूलको तू नहीं करना—'यान्यस्माकमनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' मेरे जो पवित्र आचरण हैं उनका ही तुझे अनुकरण करना है। मैंने किसी समय क्रोध किया हो, मुझसे कोई पाप हुआ हो, उसका अनुकरण तू न करना। राम-राज्यमें प्रजा भी एक-पत्नीव्रतधारी थी। वे प्रजा-सहित सभी प्रकार चरित्रशील एवं सुखी थे। चरित्रवान् सर्वत्र सुखी ही रहते हैं।

—:o:—

उपनिषदोंमें चरित्र-शिक्षा

(लेखक—अनन्तश्री यतिचक्रचूडामणि काशी श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य श्रीशिवरामाचार्यजी महाराज)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इस जगत्में सभी दुःखके त्याग और सुखकी इच्छा करते हैं। उसमें भी निरतिशय सुखमें सबका अधिक प्रेम होता है। आधुनिक समयमें लोग जिस किसी प्रकारसे भी इन्द्रिय-तृप्तिको ही वर्तमान जन्मकी परम सफलता मानते हैं। इस इन्द्रिय-तृप्तिके साधनभूत विषयोंके उपभोगमें ही मनको लगाये रखते हैं। वे इसके साधन भूत धनराशिको किसी भी उपायसे अर्जित करना परम पुरुषार्थ समझते हैं। वे उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं मानते। दूसरी ओर कुछ विशिष्ट लोग विषयभोगोंको अति तुच्छ समझते हुए उनके साधनभूत धनादिकको तृणके समान मानकर चरित्र-निर्माण को सर्वोत्कृष्ट सुखका साधन मानते हैं। ये दो प्रवृत्तियाँ आज भी देखनेको मिलती हैं। किंतु वस्तुतः सुख तो धर्मानुष्ठान या चरित्र-निर्माणसे ही हो सकता है। प्राचीनकालमें ऋषि, मुनि, महात्मा, आचार्य शिक्षा-समाप्तिपर छात्रोंको तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक ११के अनुसार उपदेश दिया करते थे।

वहाँ कहा गया है कि—

'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायसे प्रमाद न करो। आचार्यकी आज्ञासे स्त्री-परिग्रह कर संतान-परम्पराका पालन करो। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (आत्म रक्षाके उपयोगी) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देने लेने माङ्गलिक कर्मोंमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य-स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

देवकार्य और पितृकार्यमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू माताको देवता मानो, पिताको देवता मानो, आचार्यको देवता मानो और अतिथिको देवता मानो। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका आचरण करना चाहिये; दूसरोंका नहीं। हमारे-(गुरुजनों-)के जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये। दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं। जो कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये—अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुकूल देना चाहिये, लज्जासे देना चाहिये। भयसे देना चाहिये; संवित्—मैत्रीसे भी देना चाहिये। यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई संदेह हो तो वहाँ जो विचारशील कर्मसे नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अरूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे उस प्रकरणमें जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तू भी कर। यही अनुशासन है—

'ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्।'

इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों उनके विषयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, तू भी वैसा ही कर। यह आदेश-विधि है, यह वेदका रहस्य है और ईश्वरकी आज्ञा है। इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये। इस श्रुति-वाक्यने आचार्य विद्यार्थि-वर्गको सत्य बोलने और धर्माचरण करनेके लिये दो-चार उपदेश दिये हैं।

इससे इस बातका भी ज्ञान होता है कि प्राचीन भारतवर्षमें सत्य और धर्मकी सत्ता रही है। भारतमें बौद्धिक चेतनाके शाश्वत स्रोत हमारे चिन्तक दार्शनिक तथा साहित्यस्रष्टा प्रकृतिकी गोदमें ही निवास कर अनन्त ऊर्जा तथा अलौकिक प्रतिभाको प्राप्त किया करते थे। चक्रवर्ती राजलोग भी वनोंमें ऋषि-मुनियोंके चरणोंमें बैठकर ही सुख और शान्ति लिया करते थे। इस देशके बालकोंकी शिक्षामें चरित्र-निर्माणकी आज नितान्त आवश्यकता है।

चरित्रबल और ब्रह्मचर्य ही भारतीयोंके चिर-स्वातन्त्र्यके मूल उत्स हैं

(लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्तजी चौधुरी देवशर्मा, विद्यार्णव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

कालके प्रबल प्रवाहमें अनेक सुमेरु, असुर, मिस्र, ईरान, ग्रीस, रोम आदिकी प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट तथा लुप्त हो गयीं। किंतु भारतकी सर्वप्राचीन एवं सर्वोत्कृष्ट वर्णाश्रमकी व्यवस्था आज भी स्वदेशमें प्रतिष्ठित है। विचारणीय है कि उसकी यह चिर अमर-जीवनी-शक्तिके मूल उत्स और कारण क्या हैं? हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीयोंकी धर्मानुवर्तिता, चरित्रबल एवं विशेषरूपसे ब्रह्मचर्य ही इसका प्राणकेन्द्र है। यहाँ वेद तथा तन्मूलक शास्त्रोंके आधारपर इस विषयका विवेचन किया जा रहा है। ब्रह्मचर्य अप्रतिम वीर्य तथा ब्रह्मलोक-ब्रह्मविद्या-प्रापक है। योगशास्त्रमें इसकी बड़ी महिमा है; यथा—'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' (साधनपाद ३०) 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।' (वही ३८)। तात्पर्य यह कि सुदुर्लभ ब्रह्मविद्या भी ब्रह्मचर्यद्वारा प्राप्त हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें ब्रह्मचर्यको शारीरिक

तपस्या कहा है (अ० १७।१४)। महर्षि सनत्सुजातने महाराज धृतराष्ट्रके पास ब्रह्मचर्यके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ उसका मात्र एक श्लोक दिया जा रहा है—

> नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
> यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यसीव।
> बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
> विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या॥
> (महा० उद्योग० सनत्सुजात० ४४।२)

'राजन्! आपने मुझसे जो ब्रह्मविद्याका विषय पूछा, वह त्वरायुक्त मानवको लभ्य नहीं है। मन प्रलीन होनेपर बुद्धिमें वह विद्या अवभासित होती है। ब्रह्मचर्यसे ही उसको लाभ करना सम्भव है।' ब्रह्मचर्य-का अर्थ स्त्रीसंग-त्याग है। परन्तु उसे नारीसङ्गी पुरुषसे भी दूर रहना चाहिये। छान्दोग्य-उपनिषत्-(सामवेद-छान्दोग्य-शाखा-)का कथन है—'अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते॥' (छा० ८।५।१) अर्थात् 'जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। कारण जो 'ज्ञाता' अर्थात् शास्त्रोंका मर्मज्ञ है, वह भी ब्रह्मचर्यद्वारा ही उस ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और जिसको 'इष्ट' या उपासना कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। कारण लोग ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानद्वारा ही आत्माको अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं।' (महामहोपाध्याय दुर्गाचरण, सांख्य-वेदान्ततीर्थके अनुवादका सारांश।)

मुण्डकका भी कथन है—

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
> सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
> अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
> यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
> (३।१।५)

'शुद्धचित्त यतिगण जिन्हें दर्शन करते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा ही निरन्तर सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यद्वारा ही लाभ होता है।' कठोपनिषद्की श्रुतिमें यमराज ब्राह्मणबालक नचिकेतासे कहते हैं—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
> तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
> तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
> (१।५)

'समस्त वेद जिस वाञ्छिततम वस्तुको उत्तमरूप प्रतिपादित करते हैं, निखिल तपस्या भी जिसको लाभ करनेका उपाय है तथा जिसकी अभिलाषा कर लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, तुझे मैं उस परमप्राप्य पदकी कथा संक्षेपमें कहता हूँ—वह है 'ओम्'। यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्यद्वारा ही पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य, असाधारण शक्ति, वीर्य, एवं आयुका लाभ होता है। फिर, ब्रह्मचारीको योगकी सारी विभूतियाँ, यहाँतक कि अप्रतिहत अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ मिल जाती हैं। ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञान, पर एवं अपर ब्रह्म—सब ब्रह्मचारीको ही प्राप्त होते हैं।[1]

ब्रह्मचर्य-आश्रम—वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं। वे ईश्वर-निःश्वसित एवं स्वतःप्रमाण हैं। वेदोंके कई मन्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों तथा कई संकर जातियोंके भी उल्लेख हैं।[2] वेदमन्त्रका

१—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथकी पुस्तक 'विरज पूजा' (११—७१ पृ०)में भी ब्रह्मचर्यकी महिमाका विस्तृत विवरण है।

२—जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्॥ (अथर्ववेदसंहिता)

अधिकार केवल प्रथम तीन वर्णोंको उपनयन दीक्षाके पश्चात् होता है। जिन वर्णों या जातियोंका उपनयन नहीं होता उन्हें इसमें अधिकार नहीं है। कारण, उनका उपनयनद्वारा वैदिक मन्त्रोंमें दीक्षा वर्जित है।

वर्णाश्रमी भारतीय समाजमें चार आश्रमोंमें अधिकार निम्नरूप है[१]। (१) ब्राह्मणके चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। (२) क्षत्रियके तीन आश्रम हैं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। (३) वैश्यके दो आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, एवं (४) शूद्रका एक आश्रम—गार्हस्थ्य मात्र निर्दिष्ट है। वर्णाश्रमके अनुसार तीन वर्णों या समुदायके बालक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। ब्राह्मण-बालक ५वर्षसे २६, कोई-कोई ४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते थे। क्षत्रिय ११वर्षसे, वैश्य थोड़ी और देरसे उपनयन लेते थे और उनका समावर्तन शीघ्र होता था। ये सभी ब्रह्मचारी बालक भूमिपर कुश एवं मृगचर्मपर सोते थे। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौच आदि एवं स्नानके अनन्तर संध्या-गायत्री-जपादि नित्य-कर्म करते थे। हवनके लिये समिधा—काष्ठादि आहरण, भिक्षाटन करना पड़ता था और तीन बार स्नानका नियम था। कठोर संयम, नाना व्रत, उपवास, फल-मूल आहार, त्रिकाल-संध्या, दीर्घ उपासना, तपस्या आदिसे स्वाभाविकतया उनके चरित्र बाल्यकालसे ही ठोस आध्यात्मिक भित्तिपर गठित होते थे और वे धार्मिक बन जाते थे। शूद्र और अन्य जातिके लोग उच्च वर्णोंके शारीरिक ब्रह्मचर्यका अनुकरण करते थे।

विवाहितका ब्रह्मचर्य—शास्त्रका आदेश है कि सर्व-जातिके विवाहित स्त्री-पुरुष केवल सन्तानार्थ ऋतुकालमें (प्रथम ४ दिन छोड़कर) प्रतिमास मात्र एक बार दैहिक सम्पर्क करेंगे। यद्यपि यह अभिप्राय मनसे भी कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस निश्चय उच्च आदर्श प्राचीन भारतके अधिकतर परिवारोंमें पालित होता था। यही है विवाहितका ब्रह्मचर्य। पशु भी मात्र ऋतुकालमें ही संगति करता है और एक बारमें गर्भ रह जाता है। ठीक उसी प्रकार दीर्घ पर्यन्त अस्खलित ब्रह्मचर्य रहनेपर पति-पत्नीका एक बार दैहिक संयोग होनेसे ही गर्भाधान हो जाता है। विवाहित जीवनकालमें २४। २५ वर्षमें मात्र १०-१२ बार पति-पत्नीका दैहिक मिलन होता होगा, क्योंकि दोनों ही अखण्ड ब्रह्मचर्यद्वारा अमोघवीर्य बन जाते थे। अतएव संतान-संख्या स्वाभाविक ही स्वल्प होती थी। संयम ही संतान-निरोधक था।

एक पुत्र तथा तीन-चार संतान होनेपर पति-पत्नी भ्राता-भगिनीवत् रहते थे। यह प्राचीन आदर्श आज भी भारतमें पालित हो सकता है। गांधीजीका भी उपदेश इसी प्रकारका रहा। बनेड़ा-(उदयपुर-) के राजकुमार मानसिंहजीकी माता रानी साहिबाने इस आदर्शको अपनाया था। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, माँ शारदादेवी, माँ आनन्दमयी आदिने विवाहित होनेपर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया—यह प्रसिद्ध है।

वानप्रस्थमें ब्रह्मचर्य—वानप्रस्थ आश्रममें केवल ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार है। वानप्रस्थी गृह त्यागकर वनमें रहता है। साथमें स्त्री रह सकती है, परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्यका रखना चाहिये—भूमिपर शयन, फल-मूल नीवारादि अकृष्टपच्य आहार, नित्य हवन-जपादिका पालन इत्यादि। इस आश्रममें नखच्छेद, केश-कर्तन आदि निषिद्ध है।

भगवान् श्रीरामने जगन्माता सीतादेवी और लक्ष्मणके साथ वनवासमें इसी वानप्रस्थ नियमका पालन किया था।

१–ब्रह्मचर्याश्रमाधिकार० अविकलाचारस्यो वैराग्य दर्शन। तदा भविष्यत्प्रचार० ब्रह्मचारी चरतो भिक्षुर्यदि॥
(वामनपुराण, १४ तथा वैखानसधर्मसूत्र ८। १। १०-११)

आपने लंका-विजयके बाद भी पुरी प्रवेश नहीं किया। पाण्डवोंने भी द्रौपदीके साथ इसी प्रकार वानप्रस्थ १२ वर्ष किया था।

आदर्श ब्रह्मचारी श्रीलक्ष्मण—श्रीलक्ष्मणजीने श्रीराम-सीताके साथ १४ वर्ष वनवासके समय साथ रहकर अहर्निश उनकी सेवा की थी। रावणद्वारा आकाश-पथमें सीताको ले जाते समय सीतादेवीने रामको संकेतके लिये कुछ आभूषण ऋष्यमूक पर्वतपर नीचे गिरा दिये थे। वानरराज सुग्रीवने उन्हें उठाकर रख लिया था। श्रीरामने ऋष्यमूक पर्वतमें उन आभूषणोंको पहचाननेके लिये जब कहा तो लक्ष्मणजीने कहा—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(रा० कि० ६)

'मैं केयूर तथा कुण्डलको पहचान नहीं सकता, परंतु नित्य सीतादेवीकी चरणवन्दना करनेसे नूपुरद्वयको मैं उत्तमरूपसे जानता हूँ।' यहाँ उन्होंने ब्रह्मचर्यकी मर्यादा तथा कीर्तिमान इस उत्तरमें सर्वकालके लिये स्थापित कर दिया। परमाश्चर्यकी बात होनेपर भी यह सत्य है। दीर्घ काल—१४ वर्ष अनुग्रज साथ रहकर लक्ष्मणजी उनकी सेवा करते रहे। किंतु उन्होंने अपनी भौजी सीतादेवीके चरणसे ऊपरके किसी भी अङ्गपर कभी दृष्टि नहीं डाली। कठोर ब्रह्मचर्य पालन करनेके प्रभावसे ही लक्ष्मणजीने मेघनादके वधकी शक्ति प्राप्त की थी। इसी प्रकार महात्मा देवव्रतने पिता महाराज शान्तनुके सुखके लिये राज्य त्यागकर आमरण ब्रह्मचर्यको वरण किया। हनुमान्‌जी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं एवं इसीलिये अमर हैं। भारतके इतिहासमें ब्रह्मचर्यके महान् आदर्श कभी म्लान नहीं हुए।

संन्यासमें ब्रह्मचर्य—मात्र ब्राह्मणको ही संन्यास-आश्रमका अधिकार है। क्षत्रिय भी संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासीको सुकठोर ब्रह्मचर्य व्रत करना पड़ता है। स्त्री-चिन्तनतक उनके लिये निषिद्ध है। इस प्रकार सिद्ध है कि ब्राह्मण ५ वर्षके वयसे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता था।

नारीका ब्रह्मचर्यव्रत—वैदिक शास्त्रानुसार रजोदर्शनके पहले ही कन्याओंका विवाह होना चाहिये। इस देशमें पहले प्रेम, बादमें विवाह कभी नहीं था। मुस्लिम आक्रमणके समयतक वर्णाश्रमके नियम यथावत् पालित होते रहे। लेखकने देखा है कि विदर्भ देश-(बरार-) में कई गाँवोंका नाम 'तपोना' है। यह 'तपोवन' का अपभ्रंश है। भास, कालिदास आदिके नाटकोंमें तपोवनके जो चित्र हैं, वे सब निराधार कविकी कल्पना मात्र नहीं हैं। २३,०० वर्ष पूर्व ग्रीक राजदूत मेगास्थनीजके वर्णनसे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी ३७ वर्ष (मनुके आदेशानुसार ३६ वर्ष) तक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य रहा करते थे। अनूढा कन्या विवाहकालपर्यन्त पितृगृहमें कुमारी ब्रह्मचारिणी रहती थी।[1] ५५ वर्ष पहले निधर्मी अंग्रेज

१–वेदमें कुमारी कन्याके ब्रह्मचर्यका मन्त्र है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्व सं० ११।५।१८)

'अत्रापि ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते। (कन्या) अनूढा विवाह की ब्रह्मचर्य चरन्ति तेन (ब्रह्मचर्येण) (युवानं) युवगुणोपेतं उत्कृष्टं (पतिं) (विन्दते) लभते।' (सायण भा० का सारांश) अर्थात् यहाँ ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा की गयी है। कुमारी कन्या ब्रह्मचारिणी रहती है और उसके प्रभावसे उत्कृष्ट युवा पति लाभ करती है।'

२–विधवाका ब्रह्मचर्य—विधवा नारीकी ब्रह्मचर्य-व्यवस्था केवल भारतवर्षमें ही है, अन्यत्र नहीं। अतः पतिव्रता सती मात्र भारतमें ही है।

अधिकार केवल प्रथम तीन वर्णोंको उपनयन दीक्षाके पश्चात् होता है। जिन वर्णों या जातियोंका उपनयन नहीं होता उन्हें इसमें अधिकार नहीं है। कारण, उनका उपनयनद्वारा वैदिक मन्त्रोंमें दीक्षा वर्जित है।

वर्णाश्रमी भारतीय समाजमें चार आश्रमोंमें अधिकार निम्नरूप है[१]। (१) ब्राह्मणके चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। (२) क्षत्रियके तीन आश्रम हैं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। (३) वैश्यके दो आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, एवं (४) शूद्रका एक आश्रम—गार्हस्थ्य मात्र निर्दिष्ट है। वर्णाश्रमके अनुसार तीन वर्णों या समुदायके बालक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। ब्राह्मण-माणवक ५ वर्षसे १६, कोई-कोई ४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते थे। क्षत्रिय ११ वर्षसे, वैश्य थोड़ी और देरसे उपनयन लेते थे और उनका समावर्तन शीघ्र होता था। ये सभी ब्रह्मचारी बालक भूमिपर कुश एवं मृगचर्मपर सोते थे। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौच आदि एवं स्नानके अनन्तर संध्या-गायत्री-जपादि नित्य-कर्म करते थे। हवनके लिये समिधा—काष्ठादि आहरण, भिक्षाटन करना पड़ता था और तीन बार स्नानका नियम था। कठोर संयम, नाना व्रत, उपवास, फल-मूल आहार, त्रिकाल-संध्या, दीर्घ *उपासना, तपस्या आदिसे स्वाभाविकतया उनके चरित्र* पालनकालसे ही ठोस आध्यात्मिक भित्तिपर गठित होते थे और वे धार्मिक बन जाते थे। शूद्र और अन्य जातिके लोग उच्च वर्णके शारीरिक ब्रह्मचर्यका अनुसरण करते थे।

विवाहितका ब्रह्मचर्य—शास्त्रका आदेश है कि सर्व-जातिके विवाहित स्त्री-पुरुष केवल सन्तानार्थ ऋतुकालमें (प्रथम ४ दिन छोड़कर) प्रतिमास मात्र एक बार दैहिक सम्पर्क करेंगे। यद्यपि यह अभ्यास बनाने भी कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस निय[म] उच्च आदर्श प्राचीन भारतके अधिकतर परि[वारोंमें] पालित होता था। यही है निम्नस्तरका प्राणी पशु भी मात्र ऋतुकालमें ही संगति करता है। *एक बारमें गर्भ रह जाता है। ठीक उसी प्रकार* दे[ह] पर्यन्त अस्खलित ब्रह्मचर्य रहनेपर पति-पत्नीका एक [बार] दैहिक संयोग होनेसे ही गर्भाधान हो जाता [था]। विवाहित जीवनकालमें २४। २५ वर्षमें मात्र १०-[१२] बार पति-पत्नीका दैहिक मिलन होता होगा, क[्योंकि] दोनों ही अखण्ड ब्रह्मचर्यद्वारा अमोघ-वीर्य बन [गये] थे। अतएव संतान-संख्या स्वाभाविक ही [कम] होती थी। संयम ही संतान-निरोधक था।

एक पुत्र तथा तीन-चार संतान होनेपर पति-प[त्नी] भ्राता-भगिनीवत् रहते थे। यह प्राचीन आदर्श अ[ब] भी भारतमें पालित हो सकता है। गर्भाधानका भी उपदे[श] इसी प्रकारका रहा। मेवाड़-(उदयपुर-) के राजकु[मार] मानसिंहजीकी माता रानी साहिबाने इस आदर्शको अपनाया था। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, माँ शारदादे[वी], माँ आनन्दमयी आदिने विवाहित होनेपर भी अख[ण्ड] ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया—यह प्रसिद्ध है।

वानप्रस्थमें ब्रह्मचर्य—वानप्रस्थ आश्रममें केव[ल] ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार है। वानप्रस्थी गृ[ह] त्यागकर वनमें रहता है। साथमें स्त्री रह सकती है परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्यका रखना चाहिये—भूमिपर शयन, फल-मूल नीवारादि अकृष्टपच्य आहार, नित्य हवन-जपादिका पालन इत्यादि। इस आश्रममें नखच्छेद, केश-वपन आदि निषिद्ध है।

भगवान् श्रीरामने जगन्माता सीतादेवी और लक्ष्मणके साथ वनवासमें इसी वानप्रस्थ नियमका पालन किया था।

१—ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः क्षत्रियस्याद्यास्त्रयो वैश्यस्य द्वौ । ... ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुरिति ॥
(वामनपुराण, १४ तथा वैखानसधर्मसूत्र ८।१।१०-११)

आपने लंका-विजयके बाद भी पुरी प्रवेश नहीं किया। पाण्डवोंने भी द्रौपदीके साथ इसी प्रकार वानप्रस्थ १२ वर्ष किया था।

आदर्श ब्रह्मचारी श्रीलक्ष्मण—श्रीलक्ष्मणजीने श्रीराम-सीताके साथ १४ वर्ष वनवासके समय साथ रहकर अहर्निश उनकी सेवा की थी। रावणद्वारा आकाश-पथमें सीताको ले जाते समय सीतादेवीने रामको संकेतके लिये कुछ आभूषण ऋष्यमूक पर्वतपर नीचे गिरा दिये थे। वानरराज सुग्रीवने उन्हें उठाकर रख लिया था। श्रीरामने ऋष्यमूक पर्वतमें उन आभूषणोंको पहचाननेके लिये जब कहा तो लक्ष्मणजीने कहा—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(रा० कि० ६)

'मैं केयूर तथा कुण्डलको पहचान नहीं सकता, परंतु नित्य सीतादेवीकी चरणवन्दना करनेसे नूपुरद्वयको मैं उत्तमरूपसे जानता हूँ।' यहाँ उन्होंने ब्रह्मचर्यकी मर्यादा तथा कीर्तिमान इस उत्तरमें सर्वकालके लिये स्थापित कर दिया। परमाश्चर्यकी बात होनेपर भी यह सत्य है। दीर्घ काल—१४ वर्ष अनुग्रत साथ रहकर लक्ष्मणजी उनकी सेवा करते रहे। किंतु उन्होंने अपनी भौजी सीतादेवीके चरणसे ऊपरके किसी भी अङ्गपर कभी दृष्टि नहीं डाली। कठोर ब्रह्मचर्य पालन करनेके प्रभावसे ही लक्ष्मणजीने मेघनादके वधकी शक्ति प्राप्त की थी। इसी प्रकार महात्मा देवव्रतने पिता महाराज शान्तनुके सुखके लिये राज्य त्यागकर आमरण ब्रह्मचर्यको वरण किया। हनुमान्‌जी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं एवं इसीलिये अमर हैं। भारतके इतिहासमें ब्रह्मचर्यके महान् आदर्श कभी म्लान नहीं हुए।

संन्यासमें ब्रह्मचर्य—मात्र ब्राह्मणको ही संन्यास-आश्रमका अधिकार है। क्षत्रिय भी संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासीको सुकठोर ब्रह्मचर्य व्रत करना पड़ता है। स्त्री-चिन्तनतक उनके लिये निषिद्ध है। इस प्रकार सिद्ध है कि ब्राह्मण ५ वर्षके वयसे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता था।

नारीका ब्रह्मचर्यव्रत—वैदिक शास्त्रानुसार रजो-दर्शनके पहले ही कन्याओंका विवाह होना चाहिये। इस देशमें पहले प्रेम, बादमें विवाह कभी नहीं था। मुस्लिम आक्रमणके समयतक वर्णाश्रमके नियम यथावत् पालित होते रहे। लेखकने देखा है कि विदर्भ देश-(बरार-) में कई गाँवोंका नाम 'तपोन' है। यह 'तपोवन' का अपभ्रंश है। भास, कालिदास आदिके नाटकोंमें तपोवनके जो चित्र हैं, वे सब निराधार कविकी कल्पना मात्र नहीं हैं। २३,०० वर्ष पूर्व ग्रीक राजदूत मेगास्थनीजके वर्णनसे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी ३७ वर्ष (मनुके आदेशानुसार ३६ वर्ष) तक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य रहा करते थे। अनूढ़ा कन्या विवाहकालपर्यन्त पितृगृहमें कुमारी ब्रह्मचारिणी रहती थी। ५५ वर्ष पहले विधर्मी अंग्रेज

१–वेदमें कुमारी कन्याके ब्रह्मचर्यका वर्णन है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।		(अथर्व सं० ११। ५। १८)

'अभापि ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते। (कन्या) अनूढा विवाह को ब्रह्मचर्यं चरन्ति तेन (ब्रह्मचर्येण) (युवानं) युवत्वगुणोपेतं उत्कृष्टं (पतिं) (विन्दते) लभते।' (सायण भा० का सारांश) अर्थात् 'यहाँ ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा की गयी है। कुमारी कन्या ब्रह्मचारिणी रहती है और उसके प्रभावसे उत्कृष्ट युवा पति लाभ करती है।'

२–विधवाका ब्रह्मचर्य—विधवा नारीकी ब्रह्मचर्य-व्यवस्था केवल भारतवर्षमें ही है, अन्यत्र नहीं। अतः पतिव्रता सती मात्र भारतमें ही हैं।

सरकारने १४ वर्षके पूर्व कन्याका विवाह निषिद्ध किया। अब तो जनता-सरकारने मनमाना १८ सालके नियमको बाँध दिया है। ये सब अधिनियम नारीकी चरित्र-शुद्धिके घातक हैं। इनसे नारी-चरित्रका गठन नहीं हो सकता।

भारत सतियोंकी भूमि है। यहाँ विधवा होनेपर पतिव्रता सती सहमरणीय मानी जाती रही। १८२८ में कानूनद्वारा सहमरण बंद किया गया। परंतु आज भी सहमरण कभी-कभी हो ही जाता है। १८५६ में विद्यासागर द्वारा विधवा-विवाह-विधि सिद्ध करनेका अनुचित प्रयत्न किया गया। भारतीय जातिमें विधवा स्त्री आमरण ब्रह्मचारिणी रहती है। शास्त्रों तथा इतिहासमें कहीं विधवा विवाहका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। हिन्दू कोडद्वारा सगोत्र विवाह, विवाह-विच्छेद आदि कि(?) पर सनातनधर्मके ऊपर भीषण कुठाराघात किया गया है। सहशिक्षा, नारी-नृत्य, स्त्री-पुरुषके एकत्र गीत-नाटकोंको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। सिनेमा, क्लब, खेल-कूदमें अधिकतर पाश्चात्य समाजकी नकल हो रही है। फिर भी भारतमें साधारण चरित्र दूसरे देशोंसे समधिक पवित्र है और हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह आगे भी रहेगा।

भारतीय जातिके ब्रह्मचर्य-व्रत तथा चरित्र आज भी पृथ्वीभरमें श्रेष्ठ हैं। भारतीय वर्णाश्रमी समाजका ... इतना उत्तम था और यहाँका वैयक्तिक नैतिक चरित्र आज भी इतना उच्च है कि दूसरे देशोंसे इसकी तुलना नहीं की जा सकती है।

आयुर्वेदके मतमें—

निर्मल चरित्रसे विना ओषधि रोगमुक्ति

(लेखक—वैद्य श्रीरामनिधिजी ममरान्, आयुर्वेदाचार्य)

आयुर्वेदके आर्षग्रन्थोंमें सुन्दर स्वास्थ्यके लिये चरित्रकी निर्मलता आवश्यक बतायी गयी है। सच्चरित्रको कभी गम्भीर रोग नहीं होता; हो भी जाय तो शीघ्र मिट जाता है। सुन्दर स्वास्थ्यके साथ-साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चतुर्वर्ग भी चरित्रवान्को सरलतासे प्राप्त हो जाते हैं। अतः चरित्रकी अनिवार्यता स्पष्ट है।

आयुर्वेदके तीनों महर्षियोंने स्वस्थ रहनेके लिये सद्वृत्त—सच्चरित्र-पालनकी आवश्यकता बतायी है। ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि विकारोंकी स्थितिमें साधारण भोजन भी दूषित हो जाता है। अच्छी संगतिसे, शुद्ध संस्कृतिसे पवित्र संस्कार बनते हैं। धर्मानुरागयुक्त संस्कार ही भावी चरित्रका निर्माण करते हैं। अच्छे चरित्रसे मन निर्मल रहता है। समाज, ईश्वर और कानूनका भय ही मानवको दुश्चरित्र होनेसे रोकता है। सच्चरित्रवान् दूसरोंको निर्भय बनाता है।

चरित्रवान् व्यक्तिके रक्तचाप, हृदयकी दु... मधुमेह, कैन्सर, टी० बी० आदि बीमारियाँ नहीं होतीं; हो भी जायँ तो कष्टदायक नहीं होतीं। उन्हें मृत्युका भय नहीं रहता। खान-पानमें असंयम रखनेसे बीमारीका भय रहता है। यह बीमारीका भय भी शुद्ध चरित्रके निर्मल... समाप्त करता है। ममता और कामना मनको दुर्बल, विक्षिप्त करती हैं। कर्म करते समय स्वार्थकी भावना त्याग करनेमें मनको शक्ति मिलती है। प्रयत्न इच्छा और इच्छा ज्ञानके अधीन है। इच्छा कर्मकी जननी है। ज्ञान इच्छाका कारक है। त्यागसे ज्ञान मिलता है।

इच्छा और कामना ही सम्पूर्ण रोगोंकी जननी है। दृष्ट, अदृष्ट, प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल भी पुनीत ... कष्टदायक नहीं रहते। अपनेसे शक्तिको ... पोषणका योग उतने समयतक कम हो जाता है। ... लिये ही चरित्रकी निर्मलता और त्याग आवश्यक है।

चारित्रिक प्रेरणाके मूल स्रोत—वेद

(लेखक—श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

राजर्षि मनुने धर्मका मूल स्रोत बतलाते हुए वेदको सर्वप्रथम स्थान दिया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(मनु० २ । ६)

'समस्त वेद, वेदके जाननेवालोंकी स्मृतियाँ और उनका शील, धार्मिकोंका आचार और अन्तरात्माकी आन्तरिक तुष्टि—ये धर्मके मूल हैं।' चारित्र्यका निर्माण करनेवाले दैवी तत्त्व वेदमें कूट-कूट कर भरे हैं। यहाँ उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्। (ऋ० ४ । ३३ । ६)

'नर सदा सत्य ही बोलते आये हैं और उन्होंने सदा सत्यका ही आचरण किया है और इससे उन बुद्धिमान् जनोंने सर्वसमर्थ आत्मिक शक्ति प्राप्त की।'

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीय-
स्तदित् सोमो ऽवति हन्त्यासत् ॥
(ऋ० ७ । १०४ । १२; अथर्व० ८ । ४ । १२)

'मनुष्य जब सत्य और श्रेष्ठ ज्ञानकी खोजमें होता है तब उस विवेकशील पुरुषके सामने सत्य और असत्य वचन दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं। उन दोनोंमेंसे जो सत्य है, उसका सोम परमेश्वर रक्षा करते हैं और असत्का नाश कर देते हैं।'

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥
(ऋ० ८ । २ । १८, अथ० २० । १८ । ३)

'देवलोग श्रेष्ठ और निःस्वार्थ यज्ञ-कर्म करनेवालेको ही चाहते हैं, निद्राशील आलसियोंको नहीं। स्वयं आलस्यरहित वे गलती एवं भूल करनेवालेका नियमन करते हैं।'

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तःस्थुर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १० । ५७ । १; अथर्व० १३ । १ । ५९)

'परमेश्वर! हम सन्मार्गको छोड़कर न चलें। ऐश्वर्यशाली होते हुए भी हम यज्ञका मार्ग छोड़कर न चलें। हमारे अंदर काम, क्रोध आदि शत्रु न रहें।'

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ (ऋ० १ । ३ । ११)

'सच्ची और प्यारी वाणीको प्रेरित करती हुई और अच्छी बुद्धियोंको चेताती हुई सरस्वती देवी हमारे जीवन-यज्ञको धारे हुए चल रही है।'

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥
(यजु० ३६ । २)

'मेरी आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंका जो छिद्र एवं दोष है, उनकी जो त्रुटि एवं न्यूनता है, मेरे हृदयका, मन या बुद्धिका, जो गहरा छिद्र एवं दोष है, उसे इस बृहत् विश्वका ज्ञानमय रक्षक परमेश्वर ठीक कर दे। भुवनका स्वामी हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥(यजु० ४ । २८)

'मेरे जीवन-यज्ञके अग्रणी अग्निदेव! मुझे दुश्चरितसे सब ओरसे बचा और सुचरितमें मेरी प्रीति और भक्ति हो। मैं उसीका सेवन करूँ। देवों और देवोपम मानवोंका अनुसरण कर मैं अपने जीवनमें उत्थानके मार्गपर आरूढ़ होऊँ और फिर सज्जीवनसे, सर्वाङ्गसुन्दर जीवनसे उच्च स्थानपर प्रतिष्ठित हो जाऊँ।'

'पत्थरों-शिलाओंवाली संसार-नदी वेगसे बह रही है। हे साथियो! हे सखाओ! उठो, मिलकर एक दूसरेको सहारा दो और इस नदीको प्रबलतासे पार कर जाओ। जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं, व्यर्थके बोझिल परिग्रह हैं, उन्हें हम यहीं छोड़ देवें और कल्याणकारी सुख, बल तथा धनको पानेके लिये हम इस नदीके पार हो जायँ।'

'क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय।'　　　(ऋ० ७।८९।१)

'परम तेजोमय! परम पवित्र परमेश्वर! दीनता, दुर्बलताके कारण मैं अपने संकल्पसे, प्रज्ञासे, कर्तव्यसे उल्टा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन्! मुझपर कृपा कर, मुझे सुखी करो।'

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्।
(अथर्व० २।३०।४)

'जो तेरे अंदर हो वही बाहर हो और जो बाहर हो वही अंदर।'

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १०।११७।६)

'अकेला खानेवाला मनुष्य केवल पापको ही भोगनेवाला होता है।'

अनागसो अदितये स्याम।
(ऋ० १।२४।१५। यजु० १२।१२; साम०पू० ६।३।१०।४। अथर्व० ७।८३।३)

अखण्ड-अनन्त-विस्ताररूपा जगज्जननी अदिति माताके सामने हम निष्पाप, निष्कलङ्क होकर रहें—उनका अखण्ड चैतन्य और असीम विशालता प्राप्त करनेके लिये।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्॥ (अथर्व० ८।१।६)

'ओ मनुष्य! तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो, नीचे पतन कभी नहीं हो।'

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥
(ऋ० ४।३३।११)

'बिना स्वयं परिश्रम किये, बिना थके देवोंकी मैत्री एवं सहायता नहीं मिलती।'

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
(अथर्व० ७।५२।८)

'मेरे दायें हाथमें कर्म पुरुषार्थ है और मेरे बायें हाथमें विजय रखी हुई है।'

शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः (ऋ० १०।१८।२; अथर्व० १२।२।३०)

'बाहरसे शुद्ध, अंदरसे पवित्र और यज्ञमय जीवन-वाले हो जाओ।'

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(ऋ० १।५०।१०, अथर्व० ७।५।५१)

'हम अन्धकारसे ऊपर ऊँचे उठकर, अधिक उच्च प्रकाशको देखते हुए, सब प्रकाशोंके प्रकाशक, सब देवोंके देव, सर्वप्रेरक महासूर्यको, सबसे उत्तम ज्योतिको प्राप्त करें।'

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
(ऋ० १।८६।१०)

'मरुत्-देवो! प्राणशक्तियो! हृदय-गुफाके अँधेरेको विलीन कर दो। सब खा जानेवालोंको, राक्षसी शक्तियोंको दूर भगा दो। जिस दिव्य ज्योतिकी हम कामना कर रहे हैं उसे प्रकाशित कर दो।'

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप
प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याया-
गन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
(ऋ० १।११३।१६)

'मनुष्यो! उठो, हमारे लिये नवजीवनका प्राण आ गया है। तामसी निद्राका अन्धकार हट गया है। नयी दिव्य उषाकी ज्योति आ रही है। उसने सूर्यका मार्ग प्रशस्त कर दिया है। हम उस अवस्थामें पहुँच गये हैं जहाँ जीवन-शक्तियाँ जीवनको बढ़ाती हैं

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि
सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ६।४५।१)

'ओ मेरे मनके पाप! दूर हट जा। क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है? परे हट जा, मैं तुझे नहीं चाहता। वनोंमें, वृक्षोंपर जा विचर। मेरा मन तो घरके धन्धोंमें तथा अन्य लोकोपकारक कार्योंमें व्यस्त है।'

त्वमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्
त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं
यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥
(अथर्व० २।१२।३)

'सोमपायी इन्द्रदेव! सुनिये, मैं आपका ध्यान करता हुआ आपसे पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ; जो भी मेरे मनकी हत्या करने आयेगा, मुझे पतनकी ओर ले जानेका प्रयत्न करेगा, उसे काट डालूँगा, जैसे कुल्हाड़ीसे वृक्षको काटा जाता है।'

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥
(अथर्व० २।११।५)

'मेरे आत्मन्! तू पवित्र है, तू तेजोमय आनन्दस्वरूप और ज्योतिर्मय है। तू मनुष्यके सामान्य स्तरको अतिक्रम करके उत्कृष्ट कल्याणको प्राप्त कर ले।'

'अनुत्तोऽहमनुतो म आत्मानुतं मे चक्षुरनुतं मे श्रोत्रमनुतो मे प्राणोऽनुतो मेऽपानोऽनुतो मे व्यानोऽनुतोऽहं सर्वः।'
(अथर्व० १९।५१।१)

'मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अखण्ड हूँ। मेरी आत्मा अखण्ड है, चक्षु-शक्ति अखण्ड है, श्रोत्रशक्ति अखण्ड है। मेरे प्राण विश्वात्माके प्राणसे संयुक्त हैं, मेरे श्वासोच्छ्वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वाससे संबद्ध हैं। मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नहीं है। मेरी सम्पूर्ण सत्ता अविभक्त एवं अखण्ड है।'

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते
लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋ० ९।११३।७)

'आनन्दघन, अमृतस्वरूप सोमदेव! परम पावन सोमरसकी अनन्त धाराओंके साथ मुझ भक्तके लिये प्रकट होओ, मुझे उस अक्षय लोकमें प्रतिष्ठित कर दो जिसमें शाश्वत ज्योति है और आनन्दमय साम्राज्य है।'

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(ऋ० ३।६२।१०, यजु० ३।३५)

'सच्चिदानन्द भगवन्! सकल जगत्के उत्पादक और प्रेरक आप सवितादेवके परम वरणीय तेजका हम नित्य ध्यान किया करें और उसे अपने अंदर धारण करते रहें। आपकी वह ज्योति हमारी बुद्धिको, हमारे विचारों और कार्योंको सदा सन्मार्गपर प्रेरित करती रहे, हमारी मार्गदर्शक बनी रहे।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोंमें चारित्र्य-उद्बोधक मन्त्र भरे पड़े हैं। यदि इन्हें हम अपना आदर्श बना लें तो हमारा चरित्र सम्पूर्णतया शुद्ध हो जाय और हम आदर्श चरित्रके प्रतीक बन सकें। आज इसीकी व्यक्ति और समाजको अत्यन्त आवश्यकता है।

सामवेदकी चारित्र्य-संयोजना

(ले०—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर')

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥
(सा० ३८८, १०, ७)

सामवेद गीतिमय सूक्तोंकी संहिता है। उसमें गीतिमय जीवनका उत्कर्ष और गीतिमय चारित्र्यका अनुशासन है। अतः सामवेदकी मुख्य प्रेरणा यह है कि जीवनको संगीतमय—मधुर बनाया जाय, जिससे विश्वमें जीव-जीवके मध्य साम्यभावके स्पन्दन और प्रसारमें प्रचुर योगदान होनेका पथ प्रशस्त हो सके। ब्रह्मका व्यक्तोन्मुख आदिस्वरूप नाद है। अतः वाणीद्वारा ही उसकी उत्तम उपासना सम्भव है[1] इसीलिये सामवेदका साग्रह परामर्श है—'उपास्मै गायता'[2]

परमेश्वरको संगीतमय वाणीके साथ स्मरण करना विशेष उपयुक्त है।[3] पुरुहूत इन्द्र,[4] अग्नि[5], सोम[6], रुद्र[7] एवं महान् व्यापक अर्ककी उपासनाके लिये सामगान करना चाहिये। पवित्रात्माओंका यशोगान सामके द्वारा करना चाहिये।[8] सामगानसे इन्द्र प्रसन्न होते हैं।[9] साथ ही यह भी निर्देश है कि ऋतस्वरूप यज्ञ करते हुए बुद्धिमत्तापूर्ण, मधुर, प्रिय वचन बोलना चाहिये।[11] वाणीद्वारा सुष्ठु अभिवर्धन होता है।[12] आशय यह कि हमें दूसरोंको प्रेरणा देनेवाली एवं उनका सम्मान और अभिनन्दन करनेवाली वाणी बोलनी चाहिये। तभी जीवनमें संगीतमयता, समता, समरसता और सामञ्जस्यकी संस्थापना होगी।

सुखद साम्यकी प्रतिष्ठाके लिये ऋत-पथका अनुगमन,[13] तप,[14] कर्मण्यता[15] और सेवा-भावकी[16] चतुः-सूत्रीका अनुवर्तन बहुत हितकर है। ऋत-पथसंचरणमें परमात्माकी उपासना, ऋत और सत्यमय आचरण, सुमार्गगामिता, आत्मकल्याणका उपाय करना तथा सद्भावना सम्मिलित हैं। तपमें आत्मशुद्धि, ज्ञान और भक्तिको भी लिया जा सकता है। कर्मण्यतामें कर्म, धर्म, यज्ञ और राष्ट्रभक्तिकी गणना है। सेवाभावके साथ दानको भी उसके सहायक कार्यके रूपमें लिया जा सकता है। ऋत और सत्यका समाश्रय परमात्मा है। वह सर्वस्रष्टा, सर्वधाता और सर्वत्राता है।[17] इन्द्र (परमात्मा) विश्वेश्वर हैं—'इन्द्रो विश्वस्य राजति।'[18] सामवेदका निर्देश है कि परमेश्वरका अर्चन करो, जो सर्वसमर्थ सर्वविजयी, द्वेषनाशक-

१—वाणीसे अर्चना करें ॥—सा० उ० ५ । ५ । ११, २—उपास्मै गायता ॥—सा० उ० १२ । ५ । १८, ३—सा० पू० २ । १ । १०।२ । ५ । १, १०।२।९।५; ४ । ४ । ९। सा० उ० २ । १ । १, ४—सा० पू० २ । ११ । ४, १, ५—अग्ने त्वा कामये गिरा ॥—सा० पू० १ । १ । ८। सा० उ० १८ । १ । १२ (१); अग्नि नक्षन्तु नो गिरः ॥—सा० पू० १ । ५ । १, ६—सोमाय गायमर्चत ॥—सा० उ० ११ । २ । १ (१), ७—सोमं रुद्राय दृशीकम् ॥—सा० पू० १ । २ । ५, ८—मर्मंहिष्ठाय गायत ॥—सा० पू० १ । १२ । १; सा० उ० ४ । १ । १७ (१); विश्वमभिप्रगायत ॥—सा०उ० ९ । २ । १ (२); इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ॥—सा० पू० ४ । ४ । ८, ९—पुनानाय प्रगायत ॥—सा० पू० ५ । १० । २ पुनानमाभ प्रगायत ॥—सा० पू० ५ । १० । १, १०—सा० उ० १२ । १ । ११ (१), ११—सा० उ० १ । ५ । ११ (९), १२—आ 'गिरो वर्धन्तु मा मम ॥—सा० पू० १ । २ । ८ ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः—सा० उ० १४ । १ । ५ (१), १३—ऋतस्य पथ्या अनु ॥—सा० उ० १८।१।१४ (२) सुराय कृण्वेतु वर्धी ॥—सा० पू० ४ । १२ । ४, १४—तपिष्ठैरजरो दह ॥—सा० पू० १ । १ । ४ तपसा रक्षसो दह ॥—सा० पू० १ । ११ । १०, १५—इन्द्र क्रतुं न आ भर ॥—सा० पू० ३ । १ । ७; १६—विरावन्तो हवामहे ॥—सा० उ० १ । १ । ८ (१) १७—सा० पू० ३ । ९ । ६ १८—सा० पू० ४ । ११ । १०।

और सत्य ही धन है।[१] हवियोंमें ऐसी सत्य-हवि वन्दनीय है।[२] सत्य-यज्ञसे विमुख व्यक्ति कपटी और दस्यु हैं[३] तथा प्रमादी भी होते हैं।[४] कर्महीन अयज्ञिय व्यक्ति लोभी कुत्तेके समान हैं।[५]

सत्यानुयायियोंके लिये परमात्माके कल्याणमय दान होते हैं और वे सत्योपासककी कामनाको व्यर्थ[६] नहीं जाने देते।[७] हमारी विभूति सत्यमयी हो,[८] अतः उस परमदेवके सान्निध्यके लिये हमें अपनेमें देव-भाव जगाना चाहिये—'दैव्यं देवाय जागृवि'।[९] इस प्रकार आत्म-सुधार करते हुए[१०] आत्म-कल्याणमें निरत रहना उपयुक्त है।[११] अतः हम सुमार्गगामी बनें[१२] और परमात्माकी भक्तियुक्त उपासना करें।[१३] प्रकाश-स्वरूप ब्रह्मको अपने पवित्र हृदयासनपर विराजमान करना ही सच्चा भक्ति-भाव है।[१४] इस प्रकार हम उस दिव्यरस-(आनन्द-) के पात्र बन सकते हैं—जो शिवतम है, परम कल्याणमय है।[१५] जीवनको संगीतमय बनानेके लिये, सामवेदके अनुसार, भद्रभावनाका विस्तार अपेक्षित है। उसका उपसंहृत स्वस्ति-वाचन यह है कि देवताओंकी कृपासे हम मङ्गलमय वचन सुनें, हमारे नेत्र कल्याणदर्शनमें समर्थ रहें, हमारे अङ्ग पुष्ट हों और हम विधाताद्वारा नियत आयु प्राप्त करें। पुण्यश्लोक, अविनाशी इन्द्र हमारा मङ्गल करें, विश्वविद् पूषा, अहिंसित आयुधधारी गरुत्मान् और देवाधिदेव बृहस्पति हमारा स्थायी कल्याण करें।[१६] इन्द्रके दान कल्याणमय हों—'भद्रा इन्द्रस्य रातयः'।[१७] सूर्य और इन्द्रका उपदर्शन कल्याणमय है—'भद्रा सूर्य इवोपदृक्'।[१८] हमारी आयु, विद्या, धन, यश, और प्रशस्तियाँ सब भद्र हों।[१९] प्रभो! हमारे मनको भद्र करो—'भद्रं मनः कृणुष्व'।[२०] हमारे मन, अन्तःकरण और कर्म सद्भावनामय हों।[२१] सद्भावना-हेतु परमात्माके अनुदान हैं। एतदर्थ हमें दान-परायण होना चाहिये। वेदका आदेश है कि पहले सोमके द्वारा अन्न प्राप्त करो, और फिर उसका वितरण कर दो।[२२] अन्न देवता सब देवोंसे, ऋतसे भी पहले जन्मे हैं। जो व्यक्ति अतिथियोंको अन्न देता है, वह मानो सबकी रक्षा करता है। जो लोभी दूसरोंको नहीं खिलाता, अन्नदेव स्वयं उस लोभीका ही भक्षण कर लेते हैं।[२३] युद्धोंको समाप्त करके, उनमें लगनेवाला धन हमें दो, अर्थात् समाजके हितमें लगाओ।[२४] इस प्रकार सामवेदने जीवन-संगीत-हेतु अहिंसा-भावका विस्तार किया है। उसका निर्देश है कि हम अहिंसनशील देवका वरण करें,[२५] उग्र वचन न बोलें—'उग्रं वचो अपावधीः'।[२६] हम किसीको हानि नहीं पहुँचायें और परमात्मा भी हमसे अप्रसन्न न हों।[२७] अहिंसाभावके साथ हममें अभय भी रहना चाहिये—'नो अभयं कृधि'।[२८] अहिंसाका पोषक तप है। तपका मुख्य उद्देश्य पाप-राक्षसका दहन है।[२९] अतः अग्निदेवसे प्रार्थना है कि वे

१—सा० पू० १।२।७; सा० उ० ८।१।२ (१) २—सा० उ० ८।१।१ (२) ३—सा० उ० ५।१।१।४ (२)। १२।१।१० (१) ४—सा० उ० ११।२।१ (१) ५—सा० उ० २१।६।२२ (१) ६—सा० उ० १०।१०।१४ (२) ७—विभूतिरस्तु सूनृता॥ सा० उ० १९।१।२५ (२) ८—सा० पू० १।१।९।) ९—सा० पू० १।७।८ १०—सा० पू० १।२।४ (१) ११—सा० उ० १।२।५ (१) १२—सा० पू० १।७।७ १३—सा० पू० ११।१।१ १४—सा० पू० ३०।७।१० (१) १५—सा० पू० २५।५।१ (२) १६—सा० उ० १०।१०।१४ (२) १७—सा० उ० १९।४।१४ (१) १८—सा० पू० १।१२।५; सा० उ० १५।१।१० (१) १९—सा० उ० १५।१।१० (२) २०—सा० पू० ४।८।२१—सा० पू० ६।१।८ २२—सा० पू० ६।१।१।२३—सा० पू० ४।३।१० २४—सा० पू० १।१।१।२ २५—सा० पू० ४।१।२ २६—मा रिषण्यत॥ सा० पू० ४।९।६; सा० उ० १३।२।६ (१) मा रिषाम वर्य तव॥ सा० उ० ७।१।७ (२) २७—सा० पू० १।५।३, २८—सा० १।१।५ २,

सुमति और यशकी प्रसूति 'काव्य' है। काव्य, अर्थात् वैचारिकता और मन्त्र-दर्शनका स्वरूप विश्वहित है।[1] इसीसे वह प्रिय होता है।[2] सोम सुकर्मा, सुपवित्र होनेसे कवि है। परमात्माका काव्य देखिये कि उसकी महिमासे, जो आज मरता है, वह कल जन्म ले लेता है। आशय यह कि काव्य अमरत्व-प्रदायक है।

ऋतवान्, ऋत-(सत्य-) ज्योतिका प्रतिपालक, पवित्र कर्म 'धर्म' है। ऐसे धर्मकी हम नित्य कामना करते हैं।[4] विश्वरक्षक भगवान् विष्णुने धर्म-(यज्ञादि कर्मानुष्ठानों-) को पुष्ट किया है तथा त्रिलोकीमें अपने तीन चरणोंसे उसे दबाया अर्थात् सुरक्षित किया है।[5] मनुष्यको उनका अनुसरण करके धर्म-धारण करना चाहिये। धर्मका धारण बलवान् ही कर सकते हैं—'भूपा धर्माणि दध्रिषे'।[6] अतः हमें शूरवीर और दृढमति 'शूर बल स्थिर'[7] होना चाहिये। बल, शौर्य और स्थैर्य धारण करनेका वेदका आदेश है।[8] इन्द्र स्वयं कर्मशील—[illegible]तकर्ता हैं। अतः हमें भी कर्मशील होना चाहिये।[9] और, परमात्माकी योजना जानकर—'विधाता अस्य योजना'[10] अपनी जीवनचर्या बनानी चाहिये, अपने कर्मोंका स्वरूप निश्चित करना चाहिये। परमात्माकी चरण-रजमें सब संनिविष्ट है। उनकी महिमा समझकर कर्म और उपासना करो।[11] हम—'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि' वेद-विहित कर्म करें, निषिद्ध कर्मोंसे [illegible]।[12] हमारे सभी कर्म परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।[13] इन्द्र समस्त कर्मोंके धारण-कर्ता हैं और बहु-स्तुत भुवन-रक्षक हैं।[14] वे ही हमें कर्म-फल प्रदान करते हैं।[15] वे अकर्मण्यके मित्र नहीं होते।[16] वे कर्मवानोंके संकट दूर करते हैं और सत्पुरुषोंके रक्षक हैं, साथ ही कर्महीनों और दस्युओंके उपद्रवोंको शत्रुओंसहित नष्ट करते हैं।[17] वे सोमयागको रूपसे पूर्ण करते हैं।[18] अतः उस कल्याणरूप प्रभुको हम उत्तम, सुन्दर कर्मोंद्वारा चाहते हैं, उसकी उपासना करते हैं—'भाद्र सुक्रतूयेमहे'।[19] मित्र और वरुणदेव कर्मफलके बढ़ानेवाले और साधकपर कृपा करनेवाले एवं प्रकाशके पालनकर्ता हैं। उनका आह्वान करना चाहिये।[20] शान्तमानसे कर्ममें लगा हुआ मनुष्य दिव्य गुणोंसे युक्त हो जाता है, और भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। वह शत्रुओंको पापके समान लाँघ जाता है।[21] हमें लोक-रक्षाके लिये हाथ बढ़ाना चाहिये—सदा उद्यत रहना चाहिये तथा प्रवर—कुशलकर्मी और कर्म-परायण होना चाहिये।

इस प्रकार सामवेद अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंका उपाय बताता है और ऐसी योजना करता है कि जिससे सदा और सर्वत्र जीवन-संगीतकी मधुरिमा बनी रहे। 'यहाँ घी-दूध और वहाँ भी मधु'[22] यह उसका मन्तव्य है। वरुणदेव हमारी इन्द्रियोंके घर-रूप देहको तथा पारलौकिक स्थानोंको भी उत्तम ज्ञान-रससे सींचते हैं।[23] इन्द्र परमानन्दके सार-रूप जलकी वर्षा करें।[24] सत्य-

---

१—अभिप्रियाणि काव्याः ॥—सा० उ० १।१।१।(१); १८।४।११(१)—अभिप्रियाणि काव्याः ॥ सा० उ० १९।५।१८(२), २—सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥—सा० उ० १।१।१(१); १८।१।११(१);—देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥—सा० पू० ३।१०।६, ३—सा० उ० १८।४।११(१), ४—सा० उ० १८।२।५(२), ५—सा० पू० ६।४।८; सा० उ० १।१।१(१), ६—सा० उ० १।६।१८(१), ७—सा० पू० २।१२।९, ८—सा० पू० २।११।१, ९—सा० पू० १।१।३, १०—सा० उ० ८।२।२(१), ११—सा० पू० २।११।९, १२—सा० पू० २।७।१, १३—सा० पू० ४।१२।६, १४—इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः। भुवनस्य गोपाः ॥—सा० उ० १०।१।२(१), १५—सा० उ० ५।१।१(२), १६—सा० उ० १२।२।४(२), १७—सा० उ० ४।२।८(१), १८—सा० उ० ४।२।६(२), १९—सा० उ० ४।१।१(१), २०—सा० उ० १।२।१(२), २१—सा० पू० ४।२।१—सा० पू० २।११।४, २२—सा० पू० २।११।१०, २३—सा० उ० ११।२।५(१), २४—सा० उ० १६।१।१०(१);

आध्यात्मिक अर्थ भी है । स्वराज्यके राज्यका आशय आत्मानुशासन, मनोजय, आत्म-शक्ति-वर्धन भी है । जहाँ 'राज्य' और 'राष्ट्र' शब्द हैं, वहाँ अभिप्राय राष्ट्रसे ही है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामवेदमें चरित्र-विधानकी योजना जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और स्तरको परिव्याप्त करनेवाली है । आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक, मानसिक और नैतिक एवं राष्ट्रिक और राजनीतिक सभी स्तरोंपर चरित्र-निर्माणकी ऐसी विधि बतायी गयी है, जिससे दिव्य-संगीत मनुष्यके समग्र जीवनमें तरङ्गायमान हो जाय ।

वैदिक चारित्र्य एवं ऋग्वेदके प्रेरणा-मन्त्र

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदास सेठ)

ऋग्वेद ईश्वरको सर्वोच्च प्रेरणा-स्रोत मानकर भिन्न-भिन्न रूपोंमें उसकी स्तुति करता है । वैदिक चरित्र-निर्माणका पथ-प्रदर्शन करनेवाली अपौरुषेय वाणीका धाराप्रवाह हमारे चित्त एवं चिन्तनको पवित्रतासे परिपूर्ण वायुमण्डलमें लाकर मानवजीवनके अनुत्तम रूपसे साक्षात् करा देता है । वेदोंकी यह विशेषता है कि वे ज्ञान और कर्मसे भावित कर्मको परिपुष्ट कर ईश्वरकी शरणागतिको ही श्रेयोमार्गमें महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वे ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमें सन्मार्गपर लाये, वह हमारे अन्तःकरणको उज्ज्वलकर आत्मश्रेयके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त करा दे । वेद आत्मविकासके लिये उसीकी कृपाको साध्य एवं साधन मानकर उसे ही पथप्रदर्शक आत्मकल्याणक एवं प्रेरणादायी परम स्रोत मानते हुए प्रार्थना करते हैं कि वह हमें अपनाये । श्रेयोऽर्थीकी, भक्तोंकी यही इच्छा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है । ऋग्वेदके कई प्रेरणामन्त्र आत्मश्रेयके लिये ईश्वर-कृपाकी याचनाकी निष्ठाके ज्ञापक हैं । उस आनन्दमयकी सेवारूप एवं ऋषि-संस्कृतिके क्रिया-स्वरूप चतुर्विध पुरुषार्थको प्राप्त कर अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होकर, जीवनको सामर्थ्यसम्पन्न, ऐश्वर्यसम्पन्न एवं आत्मकल्याणसम्पन्न बनाना हमारे चारित्रिक दृष्टिकोणका लक्ष्य है ।

जीवन-दर्शनका स्पष्ट आदर्श समक्ष न होनेसे जनता भ्रामक विचार-प्रवाहमें बह जाती है । तथापि भारतीय संस्कृतिका ध्येय एवं उसकी प्राप्तिके श्रेयोमार्गका स्वरूप स्पष्ट है । वह नरको नारायण बनाती है । मानव-चरित्रको परिपूर्ण बनानेके लिये मानवकी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियोंको भागवती चेतनामें ओतप्रोत और जीवनको ऐश्वर्य, चिदानन्द रस एवं माधुर्यको जगानेके लिये वैदिक संस्कृति सचेष्ट है ।

ज्ञान और कर्मके अन्तिम परिणामरूप भक्ति और उस भक्तिके अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषोत्तमकी शरणागति—यही जीवात्माका कल्पित वैदिक चारित्र्यका सर्वोत्तम स्वरूप है । उत्तम पुरुष ज्ञान और कर्मके सुभग मार्गसे होकर परमानन्दके पथपर अग्रसर होनेका यत्न करता है । भगवत्तत्त्वकी वृत्तिरूप पूजाकी रसानुभूतिमें रसतन्मय होकर पुरुष पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है । ज्ञानकी परमाधारपर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे, वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती । ऐसा जीवन ही ऋषि-संस्कृतिका आदर्श है । इस संस्कृतिके प्रदानको समझें और उत्तम जीवन जीयें—यही वेदोंकी भावना है ।

वैदिक चारित्र्यका प्रारम्भ सदाचारसे होता है । निषिद्ध प्रवृत्तियोंमें मनका संयम ही सदाचारका कारक है । जिससे आचार एवं विचार एक हो, उसका मूल बीज मनका संयम है । इसके संयमसे ही मनोजय होता

जिस प्रकार सृष्टिके आरम्भसे देव अपने-अपने कर्तव्यको सम्यक्तया (अच्छी तरह) जानकर पूर्ण करते हैं। हम सन्मार्गपर, श्रेयोमार्गपर ऐसे मिलकर चलें, जिससे परस्परका ऐक्य न टूटे। हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिये, जिससे श्रेयके साथ-साथ पारस्परिक एकता बनी रहे। हमें सम्य ज्ञान इस तरह प्राप्त करना चाहिये जिस तरह पारस्परिक प्रीति बिगड़े नहीं।

यह संगठन या सम्मन सूक्त है। मनद्वारा जो ज्ञानकी एकता स्थापित होती है, वही सच्ची एकता है। अग्नि, वायु आदि देवता संसारके संचालनमें, अपने कर्तव्यमें प्राप्त कार्योंको अच्छी तरह समझकर परस्पर एक-दूसरेके अविरोधी बनकर, एक-दूसरेके पूरक बनकर, जैसे यथायोग्य रीतिसे सम्पन्न करते हुए कठिन कार्योंमें भी सफल होते हैं, उसी तरह मनुष्योंको भी करना चाहिये। परस्परकी एकता—यह दैवी प्रवृत्ति है।

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा
सुते मुहुरुक्था च शंसत॥
(ऋ० ८।१।१)

'हिताकाङ्क्षी उपासको! सब एकत्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों या महिमाका बारम्बार चिन्तन करो, कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो, आत्मश्रेयका नाश न करो। हम भगवान्का ही अनन्याश्रय लेकर उनमें ही तन्मय बनें।'

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
(ऋ० १०।४।५३)

'मनुष्य! तू ज्ञानके प्रकाशक प्रभुका अनुगमन करता हुआ, उत्तम बुद्धिसे संतति-परम्पराका विस्तार करता हुआ, उनकी यशस्वी तेजस्वी प्रणालियोंकी रक्षा कर। जिज्ञासुओंके धर्म-कर्मोंको यथायोग्य रीतिसे कर, मननशील मन और दिव्य संततिको उत्पन्न कर। हम आत्ममन्थनपूर्वक धर्ममार्गका अवलम्बन करते हुए ज्ञानज्योतिसे अनुप्राणित पवित्र बुद्धिसे श्रेष्ठ संतति उत्पन्न कर दैवी सम्पदाका विस्तार करें। वैदिक संस्कृतिकी मूलभित्ति त्याग और तपस्यापर आधृत है।'

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः॥
(ऋ० ८।२४।११)

संसारको धारण करनेवाले भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं कदापि न गयी हैं, न जाती हैं; अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमें सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करें। हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करें और वह हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करे।'

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये॥
(ऋ० १।९१।१३)

जिस तरह जौके खेतमें गायें और अपने घरमें मनुष्य आनन्दपूर्वक रमण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे हृदयमें आनन्दपूर्वक रमण करें। हमारे हृदयमें नित्य ही निवास करके परम संतोष उत्पन्न करें, हमारी बुद्धिको प्रकाशित करें।

नह्यङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे।
राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः॥
(ऋ० ८।२४।१२)

'जगत्को यन्त्रकी भाँति नचानेवाले! हम सिद्धिके हम किसी अन्यका आश्रय

आरोग्य-प्राप्तिके साधनोंमें चरित्रकी भूमिका प्रतिपादन करते हुए महर्षि चरकने स्पष्ट किया है—

> नरो हिताहारविहारसेवी
> समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
> दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
> नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥
> (च० शारी० २ । ४६)

—हितकारी आहार-विहार सेवन करनेवाला, शुभाशुभकी समीक्षा करनेवाला, विषयोंमें अनासक्त, दानशील, समतायुक्त, सत्यवादी क्षमाशील एवं गुरुजनोंकी सेवा करनेवाला मनुष्य आरोग्यकी प्राप्ति करता है। सुख देनेवाली मति, सुखकारक वचन एवं सुखकारक कर्म, अपने अधीन मन और शुद्ध पापरहित बुद्धि जिनके पास है तथा जो ज्ञान प्राप्त करने, तपस्या करने और योग-सिद्ध करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रोग नहीं होते। उत्तम चरित्रसे बुद्धि, धैर्य एवं स्मरणशक्तिका विकास होता है। इन तीनोंके क्षीण होनेकी अवस्थामें किये गये अनुचित कर्म प्रज्ञापराध कहलाते हैं। सभी आगन्तुक एवं मानसिक रोगोंका कारण प्रज्ञापराध ही है—

> धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
> प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपनम् ॥
> (च० सू० १)

आयुर्वेदोक्त रसायनका सेवन करनेसे दीर्घ आयु, स्मरण-शक्ति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, सुवर्ण, देहमें उत्तम बलकी प्राप्ति, वाक्-सिद्धि, नम्रता एवं कान्तिका अभ्युदय होता है। उपर्युक्त गुणोंके समुचित प्राप्तिहेतु अग्निवेशने रसायनाध्यायमें आचारका समावेश किया है। तदनुसार सत्य बोलनेवाले, क्रोध न करनेवाले, मद्य एवं मैथुनसे निवृत्त, अहिंसक, अतिश्रम न करनेवाले, शान्त, प्रियवादी, जप और पवित्रतामें तत्पर, धीर, दानशील, तपस्वी, देवता, गौ, आचार्य, ब्राह्मण एवं वृद्धोंकी सेवामें तत्पर, क्रूरतासे विरत, अहंकार-रहित, उत्तम आचार-विचारवाले अध्यात्म-विषयोंमें प्रवृत्त, आस्तिक, धर्मशास्त्रको पढ़नेवाले तथा जितात्मा व्यक्ति सदा रसायनयुक्त होते हैं।

भगवान् आत्रेयने कहा है—मनुष्यको देवता, गौ, गुरुकी पूजा, प्रातः-सायं संध्या करना, सदा प्रसन्न रहना, दूसरोंपर आपत्ति आनेपर दया करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, अतिथि-पूजा करना, समयपर हितकर मधुर एवं अल्प वचन बोलना तथा जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरेकी उन्नतिके कारणोंमें ईर्ष्या करनी चाहिये; पर उनके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निडर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त एवं आस्तिक होना चाहिये। जिनकी जीविकाका कोई साधन न हो तथा जो व्याधि और शोकसे पीड़ित हो, यथाशक्ति उनकी पीड़ाको दूर करनेका उपाय करना चाहिये। याचकोंको खाली हाथ नहीं जाने देना चाहिये। अभ्यागतके गृहागमनपर उसके बोलनेसे पूर्व ही कुशल-क्षेम पूछना चाहिये। गुणोंमें श्रेष्ठ, दूसरेके स्वभावको जाननेवाले, शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे रहित, सुमुख और शान्त, प्राणिमात्रको अच्छे मार्गोंका उपदेश करनेवाले और जिनकी गाथा सुनने एवं दर्शन करनेसे पुण्य होता है, ऐसे महापुरुषोंका साथ करना चाहिये। मनुष्यको क्रोधी व्यक्तियोंको विनयके द्वारा प्रसन्न करनेवाला, भययुक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देनेवाला, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला तथा राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये। ऐसे ही व्यक्ति अपने चरित्रको सर्वत्र उज्ज्वल कर सकते हैं।

आचार्यने अहितकर कर्मोंका निषेध करते हुए स्पष्ट किया है कि मनुष्य असत्य न बोले, दूसरेके अधिकार, धन तथा स्त्रीकी कामना न करे, शत्रुतामें रुचि न ले, पाप न करे, पापीके साथ भी पापका दुर्व्यवहार

न करे और दूसरेके दोष न कहे। उत्तम पुरुषोंका विरोध न करे, नीच पुरुषोंके साथ न रहे न उनपर आश्रित रहे। अंधोंको भयभीत न करे। स्त्रियोंका अपमान न करे। अपवित्र होकर देवपूजन और अध्ययन न करे। मनुष्य समय नष्ट न करे, किसी नियमको भङ्ग न करे। किसीका तिरस्कार न करे, गायोंपर डंडा न उठाये। मित्रसे, प्रेम रखनेवाले और आपत्तिकालमें सहायता करनेवालेसे कभी सम्पर्क न तोड़े। सहसा कोई कार्य न करे, इन्द्रियोंके वशीभूत न हो तथा किसीके द्वारा किये गये अपने अपमानको बार-बार स्मरण न करे। इन सभी आयुर्वेदीय आदेशोंका पालन करनेसे उत्तम चरित्रका निर्माण होता है। शौच-मूत्रादि वेगोंको धारण करनेसे रोग प्रादुर्भूत होते हैं। इहलोक और परलोकमें भी अपना हित चाहनेवाले व्यक्तिको निम्न वेगोंको रोकना चाहिये—१-मानसिक वेग—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग और दूसरेका धन लेनेकी इच्छा। २-वाचिक वेग—अत्यन्त कठोर वचन, चुगलखोरी, असत्य वचन और अकालयुक्त वचन बोलना। ३-शारीरिक वेग—हिंसा, परपीड़न, परस्त्रीगमन एवं चोरी करना। इन वेगोंको रोकनेसे मनुष्यके मन, वचन और कर्म पापरहित हो जाते हैं, जिससे वह पुण्यका भागी होता है तथा सुखपूर्वक अर्थ, धर्म एवं कामको प्राप्त करके उसके फलोंका उपभोग करता है। सम्प्रति ,पर रहे मानसिक रोगोंकी चिकित्सामें वेग धारणकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सुश्रुतने वैद्यके चारित्रिक पक्षको सफल करनेकी दृष्टिसे चिकित्सकके गुणोंमें सत्य तथा धर्मपरायणताको सम्मिलित किया है। अष्टाङ्गहृदयमें हिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन, चुगली, कटुवचन, असत्य, किसीको चोट पहुँचानेका विचार, दूसरेके धनकी इच्छा तथा शास्त्रके विपरीत अर्थ लगाना—इन दस कर्मोंको पापकर्म कहा गया है। इनका मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग करना चाहिये—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
सम्भिन्नालापव्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम्॥
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।
(अ० हृ० सू० २

मद्यपानको गर्हित बताते हुए चरकने मत व्यक्त किया है कि रज एवं मोहसे जिनकी आत्मा पराजित है ऐसे मूर्ख व्यक्ति महादोषवाले और बड़े-बड़े रोग उत्पन्न करनेवाले मद्यपानको सुख समझते हैं। शार्ङ्गधर मतानुसार सभी मदकारी द्रव्यों (गाँजा, अफीम, भाँग, तंबाकू आदि) से बुद्धिका लोप होता है, अतः इनका त्याग करना चाहिये। सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थोंमें रोगनिवारण तथा आरोग्य-प्राप्तिहेतु स्वास्थ्य-संरक्षक चारित्रिक गुणोंकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है। निश्चय ही उत्तम चरित्र उत्तम स्वास्थ्यका मूल कारण है। अतः उत्तम स्वास्थ्य चाहनेवालेको अपने [illegible]

वेदोंमें चरित्र-निर्माणके उद्बोधक मन्त्र

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड़, वेदाचार्य)

यह निर्विवाद है कि मानव-जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। मानव-जीवनकी उत्तमता शारीरिक अथवा आर्थिक उन्नतिसे नहीं होती, किंतु चारित्रिक उन्नतिसे होती है। चारित्रिक उन्नतिशील मनुष्य ही उन्नतिको प्राप्त कर सकता है और उसीका जीवन सर्वाङ्गपरिपूर्ण एवं प्रशंसनीय कहा जाता है। इसलिये मनुष्यको अपना जीवन उन्नत बनानेके लिये चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना चाहिये। चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना ही मनुष्यका परमधर्म और कर्तव्य है। जो मनुष्य चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करता है, उसीका जीवन सार्थक है। यही कारण है कि समस्त हिंदू-धर्मके ग्रन्थोंमें चारित्र्य-निर्माण, चारित्र्य-वर्धन और चारित्र्य-संरक्षणकी आवश्यकता और महत्तापर विशेष बल दिया गया है।

मानव-जीवन क्षणभङ्गुर है। अतः इस जीवनको प्राप्तकर मनुष्यको सर्वप्रथम चरित्रवान् बनना चाहिये। जो मनुष्य चरित्रवान् हैं, उनका जीवन सार्थक और प्रशंसनीय है और जो मनुष्य चरित्रवान् नहीं हैं, उनका जीवन निरर्थक और निन्दनीय है। चरित्रवान् बननेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि होती है और चरित्रहीन होनेसे आत्मसंतुष्टि न होकर आत्मग्लानि ही होती है। अतः जिस कर्म-(सुचरित्र-)को करनेसे मनुष्यको आत्म-संतुष्टि हो, उसीको सर्वदा करना चाहिये और जिस कर्मको करनेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि न हो, उसको कभी नहीं करना चाहिये। ऐसे कर्म दुष्कर्म होते हैं। मनु महाराजकी यही आज्ञा है—

> यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
> तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥
> (मनुस्मृति ४। १६१)

संसारमें चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व है, इसीलिये चरित्रवान्‌के कुलको उत्कृष्ट और चरित्रहीन-के कुलको निकृष्ट कहा गया है—

> न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
> अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥
> (महाभारत, उद्योगपर्व ३६। ३०)

'चरित्रहीन मनुष्यका कुल श्रेष्ठ होनेपर भी वह निम्न श्रेणीका ही समझा जायगा और नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका यदि चरित्र श्रेष्ठ है तो वह श्रेष्ठ माना जायगा।'

अतः स्पष्ट है कि जो मनुष्य पुत्र, पौत्र, धन आदि विविध सम्पत्तियोंसे विशेष सम्पन्न होनेपर भी चरित्रहीन हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें नहीं हो सकती और जो मनुष्य स्वल्प धनवाले होनेपर भी चरित्रवान् हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें हो सकती है। इसलिये चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व कहा गया है। अतः मनुष्यको अपने चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। महाभारतमें ही कहा है—

> वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
> अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
> (महा० उद्योग० ३६। ३०)

'मनुष्य आचार-(चरित्र-)की यत्नपूर्वक रक्षा करे। धन तो आता-जाता रहता है। वित्तसे दुर्बल व्यक्ति यदि चरित्रवान् है तो वह क्षीण नहीं कहा जाता, किंतु वृत्त-(चरित्र-)से नष्ट होनेवाला तो सर्वथा नष्ट ही है।'

अब हम जीवनके मूल केन्द्र-बिन्दुपर दृष्टि डालते हैं। इस जीवनका मूल आधार शिक्षा क्या है, जिसके द्वारा इसका संवर्धन एवं विकास होता है। प्रत्येक प्राणी माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होता है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है; किंतु सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर

यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और पुरुष ही सभी जीवोंके उत्पादक हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगमें भी अग्नि (तेजस्) तत्त्व मुख्य है, जो सर्वत्र समस्त चराचर पदार्थोंमें व्याप्त रहता है। यही बात शुक्लयजुर्वेद-(१२। ३७) में कही गयी है—

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने।

'अग्निदेव! आप विश्वके सभी पदार्थोंमें व्याप्त हैं।' अतः स्पष्ट है कि मनुष्यको जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब अग्नि ही है। इसलिये प्राणीके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जो कुछ भी भाव-विकार उत्पन्न होते हैं, वे सब अग्निके द्वारा ही होते हैं। अतएव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें समस्त वैदिक एवं लौकिक कर्मोंका आधार अग्निदेव ही हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद-(१। १। १)में 'अग्निमीळे पुरोहितम्' और सामवेद-(पूर्वार्चिक १। १)में 'अग्न आ याहि वीतये' के द्वारा सर्वप्रथम अग्निदेवका ही स्मरण और स्तवन किया गया है। अतः अग्निको मुख्य देवता मानकर उनसे ऋषियोंने दुश्चरित्रसे मुक्त होकर सुचरित्रमें लगानेकी प्रार्थना की है—

परि माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
(शुक्लयजुर्वेद ४। २८)

'अग्निदेव! आप हमको दुश्चरितसे सर्वदा बचाते रहें और सुचरितमें सदा लगाते रहें।'

इस प्रकार वेदोंके विभिन्न स्थलोंमें ऋषियोंने अग्निदेवसे अपनेको चरित्रवान्, समुन्नत, कल्याणकारी, समदर्शी और मेधावी बनानेकी पुनः-पुनः प्रार्थना की है। चरित्रवान् बननेके लिये मनुष्योंमें जिन सद्गुणोंकी आवश्यकता होती है, उनकी पूर्तिके लिये भी ऋषियोंने अग्निदेवसे प्रार्थना की है।

वेदोंमें अग्निसे सम्बद्ध मन्त्र विशेषरूपसे प्राप्त होते हैं जो मनुष्योंको चरित्र-निर्माणके लिये प्रेरित करते हैं। वेदोंमें इसी प्रकार चरित्र-निर्माणके सम्बन्धमें अन्य भी अनेक उद्बोधक एवं प्रेरक उपयुक्त मन्त्र और सुन्दर सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनमेंसे कतिपय महत्त्वपूर्ण वैदिक मन्त्रों और सुन्दर सूक्तियोंको उद्धृत किया जाता है उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यका चरित्र-निर्माण, चरित्र-वर्धन और चरित्र-संरक्षण सुनिश्चित और सुरक्षित है।

पहले हम यजुर्वेदको देखें—

अहमनृतात् सत्यमुपैमि। (१। ५)

'मैं असत्यसे सत्यको प्राप्त होता हूँ।'

पर्यंयापयिम् (१। ४) अग्निदेव! हमको धनसे बढ़ावें। (धनकी वृद्धिसे हमें समृद्ध करें)।

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। (३। १७)

'अग्निदेव! हमारे शरीरमें जो कमी हो, उसको आप पूर्ण करें।'

परि माग्ने उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥
(४। २८)

'अग्निदेव! मुझे दुश्चरित्रसे सर्वदा सब प्रकारसे बचाते रहो और सुचरित्रमें सदा लगाते रहो, जिससे मैं उच्च जीवन और पवित्र जीवनके साथ देवताओंकी ओर उन्मुख हो सकूँ।'

ऋतस्य पथा प्रेत (७। ४५)—'सत्यके मार्गपर चलो।'

रय्यर्यि मयि पोषम् (८। ३८)

अग्निदेव! मुझ प्रार्थयितामें पोषण करनेवाला धन स्थापित करें।

अहं मनुष्येषु भूयासम्। (८। ३८)

'मैं मनुष्योंमें अत्यन्त कान्तिमान् (तेजस्वी) बनूँ।'

अग्ने अच्छा वदेह नः। (९। २८)

'अग्निदेव! हमारे अभिमुख होकर आप हमारी अभिलाषाओंको पूर्ण करें।'

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथाम्। (१५। ५४)

'अग्निदेव! आप प्रबुद्ध (प्रज्वलित) होकर मुझे श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त करें।'

मयि धेहि रुचा रुचम्। (१८ । ४८)

'अग्निदेव ! आप मुझे अपने तेजसे तेजस्वी बनायें।'

अग्नः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त। (१९ । ४८)

'अग्ने ! आप हमारी प्रजाको, अन्नको तथा जीवना-धार रसको अत्यधिक रूपसे बढ़ायें।'

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय॥ (२७ । २)

'अग्निदेव ! आप इस प्रार्थीको महान् सौभाग्यके लिये प्रेरित करें।'

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥
(३२ । १४)

'अग्निदेव ! जिस मेधा-(उत्तम बुद्धि-)को देवगण और पितृगण सेवन करते हैं, उस मेधासे आप मुझे युक्तकर मेधावी (बुद्धिमान्) बनायें।'

वयं देवानां सुमतौ स्याम । (३४ । ७)

'हम देवताओंकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें।'

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (३६ । १८)

'हम सबको मित्रकी दृष्टिसे देखें।'

पावको अस्मभ्यं शिवो भव। (३६ । २०)

'अग्निदेव ! आप हमारे लिये कल्याणकारी बनें।'

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (४० । १)

'किसीके धनपर मत ललचाओ।'

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। (४० । १६)

'अग्निदेव ! हमको सन्मार्गके द्वारा धन-प्राप्ति करनेके लिये अग्रसर करो।'

यहाँ ऋग्वेदसे भी कुछ बानगी लीजिये

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ (१ । ४ । ६)

'दुर्गुणों और पापोंको क्षीण करनेवाले प्रभो ! हमारे शत्रु भी हमें सच्चरित्रताके कारण श्रेष्ठ और सौभाग्यशाली कहें। हम सच्चरित्रताके द्वारा परमैश्वर्यशाली परमेश्वरकी कल्याणमयी भक्तिमें सर्वदा तत्पर रहें।'

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्। (१ । ८९ । २)

'हम देवों-(विद्वानों-)की मैत्री प्राप्त करें।'

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि (१ । १२३ । १३)

'प्रभो ! हम लोगोंके सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण करें।'

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ।(५ । ५१ । १५)

'हम कल्याण-मार्गके पथिक बनें।'

संगच्छध्वं संवदध्वम्। (१० । १९१ । २)

'आप सब मिलकर चलें और मिलकर बोलें।'

अब सामवेदकी सूक्तियाँ देखिये

जीवा ज्योतिरशीमहि। (पू० ३ । ५ । २)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

कृधी नो यशसो जने। (पू० ५ । २ । ३)

'हमें अपने देशमें यशस्वी बनायें।'

मा नो ब्रह्मद्विषं वनः। (उत्त० २ । २ । २)

'ब्राह्मणों (और वेद-पुराणों)से द्वेष करनेवालेसे दूर रहें।'

अथर्ववेद

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम। (१ । १५ । १)

'अग्निदेव ! हम कभी भी हानिका अनुभव न करें।'

वयं सर्वेषु यशसः स्याम । (६ । ५८ । २)

'हम समस्त जीवों-(मनुष्यों-)में यशस्वी बनें।'

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (१९ । १५। ६)

'हमारे लिये सभी दिशाएँ कल्याणकारिणी हों।'

उपर्युक्त वैदिक भावनाएँ चरित्र-निर्माणकी सीढ़ियाँ हैं। इन भावनाओंको क्रियान्वितकर मनुष्य श्रेष्ठ चरित्रवान् बन सकता है।

चरित्र-निर्माणके मूल वैदिक स्रोत

(अथर्ववेदमें चारित्र्य-विधान)

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

प्राचीन स्मृति-ग्रन्थोंमें वेदको श्रुति कहा गया है; क्योंकि गुरु-शिष्य-परम्परासे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक इनका श्रवण किया जाता था। वेदोंको धर्मका मूल और आदिस्रोत कहा गया है। मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके कुछ वचनोंको यहाँ इस कथ्यके समर्थनमें उपस्थित किया जाता है; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। ६, ७, १०, ११, १२)

अर्थात्—'वेद समस्त धर्मोंका मूल है और वेद-वेत्ताओंके लिये स्मृति, शील, श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार और आत्मसंतोष—ये सहायक हैं। जिस किसी व्यक्तिके लिये मनुने जो कुछ धर्म बताया है, वह वेदमें कहा गया है; क्योंकि वेद समस्त ज्ञानयुक्त हैं। श्रुति वेदका नाम है, स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। उनमें कहे गये वचनोंको निःशङ्क सत्य मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंकी सहायतासे धर्म प्रकाशित होता है। जो द्विज केवल तर्कशास्त्रके आश्रयसे धर्मके इन दोनों मूलोंका अपमान करे, उस नास्तिकको शिष्टजनोंसे अलग कर दिया जाय; क्योंकि वह वेद-निन्दक (नास्तिक) है।'

चरित्र-निर्माणके अनेक साधनोंमें कुछ मुख्य साधन इस प्रकार हैं—(१) भगवद्भक्ति और सपर्या, (२) विश्वकल्याणकी भावना, (३) आत्मबल, आत्मज्ञानका चिन्तन, (४) जीवनका सत्य पक्ष, (५) कामादि शत्रुओंका दमन, (६) पवित्र दीर्घ, (७) उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन, (८) दुर्वासनाका त्याग, (९) श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन, (१०) व्यक्तिगत सदाचारमय जीवन और (११) जीवनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष एवं उसके साधन।

अब हम चरित्र-निर्माणके इन साधनोंपर क्रमशः अथर्ववेदके कुछ मन्त्र अर्थ-सहित उपस्थित कर रहे हैं—

भगवद्भक्ति और सपर्या—यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥
(अथर्व० १। ५। २, ऋग्वे० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, उसे यहीं प्रदान करें। जैसे शुभ कामनामयी माता संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप कृपा करें।'

२–यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व० १०। ८। १)

'भगवन्! आप भूत, भविष्य, वर्तमान एवं सब पदार्थों और प्राणियोंके आधार हैं। आप और कैवल्य-मोक्षके साधन हैं। आप महत्तम श्रेष्ठतम ज्ञानस्वरूप प्रभुको हमारा नमस्कार है।'

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ (अथर्व० १०। ७। ३१)

'जो श्रेष्ठ प्रभुभक्त सूर्योदयसे पूर्व उषःकालमें सुप्रसिद्ध परमात्माको, उनके नामसे पुकारता है, वह अवश्य ही स्वराज्य—मोक्षको पाता है, जिससे उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है।'

विश्व-कल्याणकी भावना—'स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ (अथर्व० १ । ३१ । ४)

'हमारे माता और पिताके लिये कल्याण हो, गौओंके लिये तथा समस्त जगत्‌के नर-नारियोंके लिये कल्याण हो। हमारे लिये सभी कुछ उत्तम स्थिति और उत्तम प्रतिष्ठावाला हो। हम सब जगत्‌के प्राणी चिरकालतक सूर्यके प्रकाशको देखनेवाले हों।'

अभयं नः करोत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
(अथर्व० १९ । १५ । ५)

'प्रभो! हमें अन्तरिक्षसे भय न हो, द्युलोक और पृथ्वी दोनों हमारे लिये अभयरूप हों। पीछेसे, सामनेसे, नीचे-ऊपरसे हम निर्भय रहें।'

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अथर्व० १९ । १५ । ६)

'प्रभो! हमें मित्रसे, अमित्रसे, जो सम्मुख हैं और जो हमें ज्ञात हैं, उन सबसे अभय कीजिये। हमारे लिये दिन और रात अभय हों, सब दिशाएँ मेरे लिये मित्र हों।'

आत्मबल, आत्मज्ञान और चिन्तन—'शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांस मति समं क्राम ॥' (अथर्व० २ । ११ । ५)

प्रभु प्रेरणा देते हैं—'मनुष्य! तेरी आत्मा वीर्यवान्, तेजस्वी, आनन्दयुक्त और प्रकाशस्वरूप है। तू श्रेष्ठताको प्राप्त कर और दूसरोंसे आगे बढ़ जा।'

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न संनशे ॥
(यजुर्वेद २३ । १५)

'वाजिन्! स्वयं अपने शरीरको शक्तियुक्त कर, स्वयं अपना जीवनरूपी यज्ञ कर और स्वयं ही सेवन कर तथा फल भोग। तेरा महत्त्व दूसरेसे किसी प्रकार तुलनामें कम नहीं है।'

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ (अथर्व० ४ । १४ । ३)

'जगदीश्वर! मैं पृथिवीके पृष्ठसे ऊपर उठकर अन्तरिक्षपर चढ़ा हूँ; अन्तरिक्षसे द्युलोक आया हूँ। सुखयुक्त द्यौके पृष्ठसे मैं आनन्दमय प्रकाशको प्राप्त हुआ हूँ।'

जीवनका लक्ष्य यज्ञमय—'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥' (अथर्व० १८ । ६३ । १०)

'बृहस्पते! तू खड़ा हो जा! देवताओंको यज्ञद्वारा जागृतकर और उत्तम आयु, प्राणशक्ति, उत्तम संतान, गौ आदि पशु-प्राप्ति, कीर्ति और यजमानकी वृद्धि कर।'

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥
(अथर्व० ७ । ५ । ४)

देवगण जो निज श्रेय हविद्वारा यज्ञ करते हैं, वह यज्ञ अत्यन्त ओजस्वी है; क्योंकि वह मानवप्राणोंमें समर्पणसे किया जाता है।'

यमादि शत्रुओंका दमन—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥
(अथर्व० ८ । ४ । २२, ऋग्वे० ७ । १०४)

[मनुष्यको क्रोध, लोभ, मोह आदि छः मानसिक शत्रुओंके निवारणके लिये इस मन्त्रमें पशु-पक्षियोंकी उपमासे दमन करनेकी सम्मति दी गयी है।]

'इन्द्र! तू उलूकयातुं उल्लूकी चालवाले अर्थात् मोहको, शुशुलूकयातुं—उल्लूके बच्चेकी चालवाले, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेषको, श्वयातुं अर्थात् कुत्तेकी चालवाले सत्सरवृत्तिको, कोकयातुं अर्थात्—कामवासनाको, सुपर्णयातुं अर्थात्—गरुड़की चालवाले अहङ्कारको

गृध्रयातुं गृध्र—लोभ—उलूकयातुको (इस प्रकार इन छः प्रकारकी राक्षसीय भावनाओंको) तू प्रभुसे बल माँगकर पत्थरके सदृश कठोर साधनोंसे मसल दे ।'

पवित्र जीवन—वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः । अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥
(अथर्व० १२।२।२८)

'पवित्रता और तेजके लिये उत्तम ज्ञान देनेवाली वेद-वाणीके द्वारा पवित्र जीवन बनाते हुए दूसरोंको भी पवित्र मार्गके लिये प्रेरणा दीजिये । पापप्रेरक पदोंका अतिक्रमण करते हुए हम सौ वर्षतक पवित्रताके साथ आनन्दसे रहें ।'

उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन—उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि । आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ (अथर्व० ८।१।६)

'मानव ! तेरे जीवनका लक्ष्य ऊपरको चढ़ना है, नीचे जाना नहीं; उन्नति ही करनी है, अवनति नहीं । प्रभु प्रेरणा देते हैं—'मानव ! इस प्रकार जीनेके लिये मैं तुझे बल देता हूँ । इस जीवनरूपी सुखकारी रथपर सवार हो जा । इसके बाद तू प्रशंसित होकर दूसरोंको भी प्रेरणा दे ।'

पाप-वासनाका त्याग—तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥
(अथर्व० ११।९।२१)

'मानव ! तुम अपने आत्मबलके साथ इस शरीर, मन, इन्द्रियोंके स्वामी हो । तुम उठो जाओ । अपने सब श्रेष्ठ मित्र, पापपर विजय पानेके अभिलाषी होते हुए देवजनोंद्वारा निर्दिष्ट पाप-वासनाके सर्वथा त्यागके मार्गपर चलनेके लिये तैयार हो जाओ । इस पापके विरुद्ध संग्रामको जीतकर जीवनके अन्तिम लक्ष्य देश प्रभुसे प्रार्थना करते हुए दृढ़तासे स्थित हो जाओ ।'

श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन—अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ (अथर्व० ३।३०।२)

प्रभु गृहस्थियोंको आदेश देते हैं—पुत्र पिताके अनुकूल व्यवहार करे, माताके साथ एक मन और विचारवाला हो, पत्नी पतिसे मीठी और शान्ति देनेवाली वाणी बोले, सबका श्रेय हो ।'

व्यक्तिगत सदाचारमय जीवन—सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥'
(अथर्व० ३।३०।१)

प्रभु उपदेश देते हैं—'ओ मनुष्य ! तुम अपने जीवनमें एक-दूसरेके प्रति सदाचारके मार्गपर चलते होते हुए स्नेहयुक्त हृदयवाले, एक समान श्रेष्ठ उत्कृष्ट विचारोंवाले और वैरका सर्वथा त्याग करते हुए जीवन व्यतीत करो । तुम प्राणिमात्रसे ऐसा निःस्वार्थ प्रेम करो जैसे गौ अपने उत्पन्न बछड़ेको प्यार करती है ।'

मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य—मोक्षपद—'यस्मात् पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ (अथर्व० ४।३५।६)

'पके हुए ओदनके सदृश तपःपूत जीवनसे मोक्ष उपलब्ध होता है । जो प्रभु-गुण गानेवाली गायत्रीद्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वेदको जीवनमें पूर्णतः धारण कर लिया है, वही व्यक्ति इस वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके सदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है ।' निष्कर्ष यह कि पवित्रता निष्ठा, नियमसे पालनकर मानव अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है ।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें चरित्र-निरूपण

(लेखक—डॉ॰ श्रीओमप्रकाशजी पाण्डेय, एम्॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, ग्वालियर)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वविभूतियोंके अन्तर्गत सामवेदका सगर्व उल्लेख किया है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१० । २२)। सामवेदका वैदिक-वाङ्मयमें सदासे असीम महत्त्व रहा है। बृहद्देवताके अनुसार सामविद् ही वेदका वास्तविक तत्त्ववेत्ता होता है—'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्' (८ । १३०)।

संहिताके साथ इस वेदके ब्राह्मणग्रन्थोंकी विशाल राशि भी अपनी विपुल संख्या तथा प्रतिपाद्य विषयकी विशिष्टताके कारण महनीय रही है। सायणाचार्यके अनुसार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंकी संख्या आठ है—'अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः' (साम-भाष्य-भूमिका)। वे हैं—ताण्ड्य महाब्राह्मण (यह पञ्चविंश तथा प्रौढमहाब्राह्मणके नामोंसे भी प्रसिद्ध है), षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, छान्दोग्य ब्राह्मण (मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद्को मिलाकर) तथा वंशब्राह्मण। ये सभी कौथुमशाखाके ब्राह्मण हैं। इनके अतिरिक्त पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी, प्रो॰ कालन्द, डॉ॰ रघुवीर, सिमान तथा डॉ॰ बेसिम्कोवु एवं रामचन्द्र शर्मा-सदृश विद्वानोंके प्रयत्नसे जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणोंका भी प्रकाशन हो गया है। इस प्रकार कुल सामवेदीय ब्राह्मणोंकी संख्या अब ११ हो गयी है। अभीतक इतने अधिक ब्राह्मणग्रन्थ किसी भी वेदके प्राप्त नहीं हुए हैं।

इन ब्राह्मणोंमें सोमयागोंके और सामगानविषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। यही इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; किंतु स्थान-स्थानपर इनमें मानवीय चरित्रको ऊपर उठानेवाले (तथा उसे पतित करनेवाले) तत्त्वोंका उपादेय-हेय रूपेण निरूपण भी भूयशः हुआ है। मानवीय चरित्रको गरिमा प्रदान करनेवाले जिन गुणोंकी आवश्यकता सामान्यतः समझी जाती है, उन सभीका इनमें उल्लेख है। इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है—

जीवनकी यज्ञरूपता—सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंके अनुसार वाणी यज्ञपुरुषकी होतृस्थानीय है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र उद्गाता है, अन्य अङ्ग चमसाध्वर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं और चक्षुओंके मध्य विद्यमान आकाश ही सदस्य हैं (षड्॰ब्रा॰ १ । ६ । २)। षड्विंशमें ही एक अन्य स्थानपर प्राणादिको होतृ-अध्वर्यु आदि कहा गया है। यज्ञमय जीवन बितानेका अभिप्राय है, समस्त प्रलोभनोंसे विरत रहकर त्यागपूर्ण जीवनका निरन्तर अभ्यास। जीवनका प्रत्येक कार्य एक यज्ञ—क्रतु है, उसके विधिवत् अनुष्ठानसे ही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त हो सकती है—'ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन् कथं नु वयꣳ स्वर्गं लोकमियाम इति। तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून् प्रायच्छत्। एतैः लोकमेष्यथ' (पञ्चविंश ब्राह्मण—१० । १ । १५)। इस यज्ञकी ज्वाला निरन्तर प्रदीप्त रहनी चाहिये। मानव-जीवन परमात्माकी समिधा है—'अयं ते इध्मः'। ताण्ड्यका वचन है—'पिहिताय दीक्षन्त्यम्' (१ । १ । २)—अर्थात् जैसे यजमान और ऋत्विक् सभी प्रकारके कुकृतियोंको छोड़कर यज्ञशालामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीवनयज्ञके अनुष्ठाताओंको भी दुष्कर्मोंसे विरत होकर सत्कर्मानुष्ठानका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

सत्य, ज्ञान और तपका अनुष्ठान—सामवेदीय-ब्राह्मणोंकी पङ्क्ति-पङ्क्तिमें सत्य ज्ञान और तपस्यापर बल दिया गया है। ताण्ड्यब्राह्मणमें कहा गया है कि—'ऋतधामासि' (१ । २ । १)—सत्य-धारणके पात्र बनो; 'ऋतस्य सदने सीदामि' (१ । २ । २)—

मैं सत्यके आगारमें आसीन होता हूँ, तथा—'ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः'—सत्यके धाम बनो, वह स्वर्गीय सुखका प्रकाशक है। षड्विंश ब्राह्मणमें कहा गया है कि—'त्रिसत्या हि देवाः' (१।१।९) अर्थात् 'उन्होंने ही देवत्व प्राप्त किया, जिनके मन, वाक् और कर्म—तीनों ही सत्ययुक्त रहे हैं।' यज्ञके सर्वस्वभूत अग्निकी पत्नी स्वाहा देवी सत्यसे ही उत्पन्न हुई है—'स्वाहा वै सत्यसम्भूता' (५।७।२)। जब देवगण असुरोंसे भयभीत हुए तो वे प्रजापतिके पास गये। प्रजापतिने उनके भयको दूर करनेके लिये मुख्यरूपसे ऋत, सत्य, ज्ञान, ओंकारोपासना और त्रिपदा गायत्रीके जपको उपाय बतलाया—'तस्य प्रजापतिरेतद् भेषजमपश्यत्। ऋतं च सत्यं च ब्रह्म चोंकारं च त्रिपदां च गायत्रीं प्रणवो मुखमपश्यत्' (षड्० ब्रा० ५।५।३)।

'सामविधान ब्राह्मण'में कहा गया है कि—सत्यं वदेत्। अनार्यैर्न सम्भाषेत (१।२।७)। 'सत्य बोलना चाहिये और असज्जनोंसे संभाषण नहीं करना चाहिये।' 'दैवताध्याय-ब्राह्मण'में प्रार्थना की गयी है कि—ब्रह्म सत्यं च पातु माम् (१।४।५)—'ब्रह्म और सत्य मेरी रक्षा करें।' 'शाट्यायनब्राह्मण'के एक मन्त्रमें देवोंसे मनको तेज, ज्ञान, कल्याण-भावना और सत्यसे संयुक्त करनेकी प्रार्थना की गयी है, जिससे हम आत्मना सत्य बोल सकें—संवर्चसा पयसा संतपोभिरगन्महि मनसा सत्यशिवेन संविज्ञानेन मनसाथ सत्येन योऽहं चाह्नवं यदसाम्यो यो ह्यो भूयासं सूर्यश्चक्षुषे वातः प्राणाय सोमो गन्धाय ब्रह्म क्षत्राय(१।३।९)। वाणीकी शुद्धिके लिये समस्त दोषियोंके पापका कथन भी नहीं करना चाहिये—यो वै दीक्षितानां पापं कीर्तयति तृतीयमेवांशं पाप्मनो हरति अन्यथा उसे तृतीयांश पाप मिल जाता है (वही ५।६।१०)।

वाणीकी यह शुद्धि तभी सम्भव है, जब उसे मनोनिग्रहपूर्वक प्रयुक्त किया जाय अर्थात् सोच-विचारकर बोला जाय, जैसा कि शाङ्खायनब्राह्मण (६।७।८) में कहा गया है—वाचं मनसा ध्यायेत्। तथा—मनस्तत्पूर्वं वाचो युज्यते मनो हि यदि मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति (११।१।१)। वाणी और मनकी एकतापर विचार करते हुए षड्विंश-ब्राह्मणमें कहा गया है कि ये दोनों उसी प्रकार परस्पराश्रित हैं, जैसे रथके दोनों पहिये। एक पहियेके अभावमें रथ गमन नहीं कर सकता—वाचि तन्मनः प्रतिष्ठापयति। तद्यथैकचक्रेण रथेन न कांचन दिशं व्यश्नुते तादृगेतत् (१।५।५)।

जिसपर मिथ्याभाषणका आरोप लग जाता है, उसका मनुष्य ही नहीं, देवगण भी परित्याग कर देते हैं, वे उसके द्वारा प्रदत्त यज्ञाहुतिको स्वीकार नहीं करते—देवता वा एतं परिवृञ्जन्ति यमनृतमभिशंसन्ति (१८।१।११)। इसीलिये ताण्ड्यब्राह्मणमें ऋतपेय नामक एक एकाहके संदर्भमें उल्लेख मिलता है कि ऋषिगण सदोमण्डपमें सत्य वचनोंका उच्चारण करते हुए ही प्रसर्पण करते हैं—सत्यमुक्त्वा प्रसर्पन्त्येतैरेवैनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति (१८।२।९)।

सत्यके साथ ज्ञानकी भी महत्ता है। षड्विंश-ब्राह्मणमें कहा गया है कि ज्ञानके गौरवसे मनुष्य देवत्वकी कोटिमें पहुँच जाता है—अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः (षड्विंशब्राह्मण १।१।२९)। ज्ञानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करनेवालेका यश निर्दोष होता है—एवं विदुषो ह वै यशो न व्यर्णं (२।७।९)। 'सामविधानब्राह्मण'की एक आख्यायिकाके अनुसार मनुष्योंने जब प्रजापतिसे पूछा कि हम स्वर्गलोकको कैसे पहुँच सकते हैं? तो प्रजापतिने उन्हें स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और तपस्याका मार्ग बताया—कथं नु वा स्वर्गं लोकं नियम। तेभ्य एतत्स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत्, तपश्चैतत्

स्वर्गलोकमेष्यथेति—(१ । १ । १७) । स्वाध्यायकी श्रेणीमें ही सावित्री-(गायत्री-)की उपासना भी सम्मिलित है, जिससे मनके राग-द्वेषादि कलुषोंका विनाश हो जाता है—तुषाद् कुरूपयुक्ताम्पूताधिकाच्य सर्वस्मात् स्वस्ति (देवताध्यायब्रा० १ । ४ । २) ।

विद्याकी सब प्रकारसे सुरक्षा करनी चाहिये—यह विधि है। भले ही विद्याके साथ ही मर जाना पड़े, किंतु अनुर्वर स्थानपर कभी भी उसका वपन नहीं करना चाहिये—विद्या सार्धं म्रियेत। न विद्या-मूषरे वपेत्। (संहितोपनिषद् ब्रा० ३ । १०) । किंतु योग्य शिष्यको पाकर उसकी अवहेलना भी नहीं करनी चाहिये अर्थात् उसे विद्याका अध्यापन करना ही चाहिये—समयं न विमानयेत्—(वही ३ । १९) । शिष्यका भी यह कर्तव्य है कि वह कभी उस गुरुसे द्रोह न करे, उसे माता-पिता समझे, जिसने उसे विद्या-जैसा श्रेष्ठ दान दिया है—

> य आवृणोत्यवितथेन कर्णा-
> वदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
> तं मन्येत पितरं मातरं च
> तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥
> (संहितोप० ब्रा० ३ । ११ ।)

यह उल्लेखनीय है कि विद्यादानकी गणना अतिदानोंमें है—ग्रोप्यातुरतिदानानि गावः पृथिवी सरस्वती (वही ४ । २) । इस अतिदानसे समस्त कामनाओंकी पूर्ति हो जाती है—दानेन सर्वान् कामानवाप्नोति—(वही ४ । १) ।

सत्य और ऋतके साथ ही इन ब्राह्मणग्रन्थोंमें तपस्याका भी गौरव भूयोभूयः निरूपित है। इन्द्रोंको सहन करनेकी शक्ति और कष्ट-सहिष्णुता मानवीय व्यक्तित्वको आदर्शोंसे माँजकर चमका देती है। तपोऽनुष्ठानसे मानवीय चारित्र्य नितांत समुज्ज्वल हो उठता है; क्योंकि इस भूतलपर जो कुछ है, वह सब तपस्यासे ही उत्पन्न हुआ है; जैसा कि षड्विंशमें कहा गया है—*देवा वै……तपोऽतप्यन्त। तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति। तेऽभ्यतपन्। तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत* (५ । १ । २); अर्थात्—'देवों अथवा दिव्यगुणयुक्त मनुष्योंकी तपस्या-साधनासे ही समस्त सारभूत तत्त्व (जल, समुद्रादि)-पृथ्वी आदि लोक, ऋग्वेदादि ज्ञानराशि, गार्हपत्यादि अग्नियाँ तथा अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं।' सच ही इस धरतीके अङ्कमें जो कुछ श्रेय और प्रेयोत्पादक पदार्थ हैं, शिव और सुन्दर हैं, रमणीय और कमनीय हैं—वे सब उन्हीं तपस्वियोंके अवदान हैं, जिन्होंने लौकिक जीवनके प्रलोभनोंसे ऊपर उठकर अकर्मण्यताको तिलाञ्जलि देकर अपक साधनाके पथका वरण स्वेच्छया किया। ताण्ड्यके अनुसार—इसीलिये समस्त समृद्धियाँ सदैव तपोरत व्यक्तियोंको ही प्राप्त हुईं—तपस्विनो वै ता सर्वामृद्धिमार्ध्नुवन्—(२५ । ५ । २) ।

चरित्र-विषयक कुछ अन्य गुण—सामविधान ब्राह्मणके अनुसार यजमान या गृहपतिको अपने सेवकों और समागत अतिथियोंकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भोजनके समय सदैव पहले अतिथियों और भृत्योंको भोजन करा देना चाहिये; तत्पश्चात् अवशिष्ट अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये। अतिथियोंकी धनादिकी आवश्यकताको यथाशक्ति पूर्ण करना चाहिये और केवल अपनी पत्नीसे ही शारीरिक सम्बन्ध रखना चाहिये, वह भी मात्र ऋतुकालके समय। उपर्युक्त नियमोंका पालन करनेवाले जनोंका अग्निहोत्र कभी लुप्त नहीं होता, और उन्हें दर्शपूर्णमासके अनुष्ठानका फल प्राप्त होता है—

भृत्यातिथिशेषभोजी काले दारानुपेयात्। यथा-शक्ति चातिथिभ्यो दद्यादभ्युदकमन्नं ॥ ……… तथा अस्याग्निहोत्रमविलुप्तं च सदा हुतं च दर्शपूर्णमासं भवति (१ । ३ । ५) ।

उपर्युक्त चारित्र्य-घटक तत्त्वोंके निरूपणके साथ ही सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें उन दुर्बलताओं और विकृतियोंका विवेचन भी है, जो चारित्रिक स्खलनका प्रतीक हैं। छान्दोग्य ब्राह्मणमें कहा गया है कि स्वर्णके चोर, मद्यप, गुरु-स्त्रीगामी और किसीकी हत्या करनेवाले पतित हैं—इनसे सम्पर्क रखनेवाला भी पतित हो जाता है—'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति' (५।१०।९)।

'षड्विंशब्राह्मणमें चोरको समाजका शत्रु बतलाया गया है—'ये वै स्तेना रिपवस्ते' (४।७।५)। ताण्ड्यमें ही उन लोगोंको निकृष्टतम कहा गया है, जो न तो वेदाध्ययन करते हैं और न ही कृषि या वाणिज्य अथवा कोई अन्य व्यवसाय—'हीना वा एते हीयन्ते ये ……न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं वाणिज्यम्'—(१७।१।२)।

इसी श्रेणीमें उन लोगोंको रखा गया है, जो दूसरोंके अन्नको बलपूर्वक खा जाते हैं, किसीके अच्छे कथनमें भी दोष निकालते हैं तथा निर्दोष और निरपराध व्यक्तियोंपर लाठी-डंडेका प्रहार कर देते हैं। ऐसे दुष्टजनोंको विषभक्षक अर्थात् अपनी आत्माका हनन करनेवाला कहा गया है—'गरगिरो वा एते ये ब्रह्मार्द्य जन्यमन्नमदन्त्यदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्त्यदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति।' (१७।१।९)।

ताण्ड्यमें एक स्थानपर सत्पुरुषके वेशमें घूम रहे उन अराजक और असामाजिक तत्त्वोंका भी उल्लेख है, जो शिष्टाचारसे रहित हैं, वेदान्तके तत्त्वोंका आचरण तो दूर रहा, उच्चारण भी नहीं कर सकते, केवल यज्ञोपवीत और दण्डमात्र धारण करनेवाले हैं—'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्' (१०।४।७) इसपर सायणाचार्यका भाष्य द्रष्टव्य है—'केवल यतयः सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा कषायिणः स्वगुरौ वेदान्तवाक्योच्चारणरहिताः यज्ञोपवीतदण्ड-धारिणो विवेकज्ञानरहिताः यत्र तत्रान्ने ……नरकयोग्या वर्तन्ते।।

'सामविधानब्राह्मण' प्रथम प्रपाठकके पाँचवेंसे आठवें खण्डोंतकमें चारित्रिक पतनके द्योतक कुछ कर्म ऐसे निर्दिष्ट हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—असत्य और प्राणि-मारण, गुरुजनोंसे व्यर्थका वाद-विवाद, अनध्याय ……अपात्रको विद्यादान, अयाज्यको अर्थात् जो …… अधिकारी न हो उसका याजन, अमेध्य (अपवित्र वस्तु) का दर्शन तथा प्राण अभक्ष्यका भोजन, अमेध्य-प्राशन, सुरापान, भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्यादि, सुवर्णादि वस्तुओंकी चोरी, परस्त्री-गमन, राज-प्रतिग्रह (राजासे बिना …… दान लेना), अदत्त-आदान (बिना दिये ही किसी वस्तु ले लेना), रस-विक्रय, योनिभिन्न …… शुक्रपात, असदृश कन्यासे सम्बन्ध करना इत्यादि।

अनिच्छा, विवशता अथवा दुर्बलतासे यदि ये आचरण कभी हो जायँ और व्यक्तिको पश्चात्तापकी अनुभूति सच्चे हृदयसे हो, तो उसके लिये 'सामविधानब्राह्मण' में विभिन्न प्रकारके प्रायश्चित्त-अनुष्ठान दिये हुए हैं। कृच्छ्रादि व्रतोंका विधान है, जिनके अनुष्ठानसे मनुष्य पुनः पवित्र और कर्मण्य बन सकता है। कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और कृच्छ्रातिकृच्छ्र—इन तीनों व्रतोंके विधिपूर्वक पालनसे मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं। 'प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात् प्रमुच्यते। तृतीयं चरित्वा सर्वस्मात्…… मुच्यते' (१।२।५)। शुद्धि-हेतु उपवास …… अयाचित व्रतका भी कह दिया गया है (१।२।१…)।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें दुर्गुणों, प्रवृत्ति, सहज दुर्बलताओं और विकृतियोंको …… रखकर पतित और निकृष्ट जनोंको भी ऊपर उठानेका प्रयत्न किया गया है। सत्यशील चरित्रका निर्…

एक-दो दिनमें नहीं होता, वह एक सतत चलनेवाली क्रमिक साधना है । ऊपर जिन सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों और आदर्श जीवनदर्शनकी रूपरेखा दी गयी है, उन्हें अपने जीवनमें क्रियान्वित करके तथा निषिद्ध कर्मोंका परित्याग कर मानव अपने चरित्रका समुचित और सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है, यह असंदिग्ध है । इस विकसित चरित्रके बल्पर उद्गाताके स्वरमें स्वर मिलाकर वह कह सकता है—

'ॐ मह्यमे योचो भर्गो मे योचो यशो मे स योचः स्तोमं मे योचो मुक्तिं मे योचः सर्वं मे योचस्तन्मायस्तु तन्मा विशतु तेन मुक्तिनीय' (ताण्ड्य ब्रा० १ । १ । १) अर्थात् सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें जो कहा गया है, वह मेरे लिये परम आदरणीय पापनाशक, यशस्कर, स्तुति और मोक्षका साधक तथा सब कुछ प्राप्त करानेवाला है । यह वाणी मेरी रक्षा करे, मुझमें प्रवेश करे और इसके परिपालनसे मैं समस्त भोगोंको प्राप्त करूँ ।

आयुर्वेदशास्त्रमें चारित्रिक शिक्षा

(लेखक—श्रीगुलेल सर्वो शेख, बी० ए०, बी० एड०)

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है । यह ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ सृष्टिके साथ-साथ चलता हुआ उसकी रक्षा कर रहा है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥
(चरकसं० १ । ४१)

'जिस ग्रन्थमें हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु—इन चार प्रकारकी आयुओंके लिये हित (पथ्य), अहित (अपथ्य)—इन आयुओंका मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयुका स्वरूप बताया गया हो, उसे आयुर्वेदशास्त्र कहा जाता है ।'

आयुर्वेदशास्त्रमें चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, सुश्रुत-संहिता, भावप्रकाश आदि प्रमुख ग्रन्थ चारित्रिक शिक्षासे सम्पन्न हैं । मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति है । किंतु मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी कौन है ? वेदान्तके अनुसार मोक्षप्राप्तिके अधिकारीको विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता—इन चार गुणोंसे सम्पन्न होना चाहिये । मुमुक्षुके लिये शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ होना अत्यावश्यक है ।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।'

आयुर्वेद मानवको शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ एवं सबल बनाता है, जिससे वह धर्मके साधन-(शरीर-)को साध्य-(धर्म-)में लगा सके । चरित्रवान् व्यक्तिका ही व्यक्तित्व निखरता है और अपने इस गुणके कारण ही वह अपने समाज, राष्ट्र और विश्वका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है । धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण ही वस्तुतः चरित्रवान् मानवके लक्षण हैं । आयुर्वेदके प्रमुख ग्रन्थमें चरित्र-निर्माणात्मक उपदेश दिये हैं—

चरकसंहितामें चारित्रिक शिक्षा—चरकसंहितामें सद्वृत्तका विस्तृत विवेचन किया गया है, जो सर्वसाधारणके लिये अत्युपयोगी है । तदनुसार—

'सुमुखः दुर्गेष्वभ्युपगन्ता होता यष्टा दाता चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनय-बुद्धि-विद्याभिजनवयोवृद्ध-सिद्धाचार्याणामुपासिता सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसंधः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः प्रशमगुणदर्शी रागद्वेषहेतूनां हन्ता च ।'
(चरकसंहिता, सूत्रस्थान ८ । १८)

प्रसन्नमुख रहना, दूसरेपर आपत्ति आनेपर दया करना तथा हवन और यज्ञ करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, चौराहेको नमस्कार करना, कौवा-कुत्ता आदिको बलि देना, अतिथियोंकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड देना, समयपर हितकर थोड़े और मधुर अर्थवाले वचनोंको बोलना तथा जितेन्द्रिय और धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरोंकी उन्नतिके कारणोंमें ईर्ष्या करनी चाहिये, किंतु उसके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निडर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त, धार्मिक और आस्तिक होना चाहिये तथा विनय, बुद्धि, विद्या, अभिजन (कुल) और अवस्थामें वृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यका सेवक होना चाहिये। सभी प्राणियोंके साथ माईके समान व्यवहार करनेवाला, क्रोधी मनुष्योंको विनयद्वारा प्रसन्न करनेवाला, भयसे युक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देनेवाला, दीन-दुःखी व्यक्तियोंका उपकार करनेवाला, सत्यप्रतिज्ञ, शान्तिप्रधान, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला, क्रोधका नाशक, शान्तिके गुणको देखनेवाला और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये—'ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति।'

(चरक० ८। १९)

ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा और शान्ति इन—क्रियाओंमें तत्पर रहे।'

सुश्रुतसंहितामें चारित्रिक शिक्षणस्रोत—

ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्। कामक्रोधलोभमोहमानाहंकारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादनतत्परेणावश्यं भवितव्यम्। (सुश्रुतसं० १। ६)

'पश्चात् अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा करके अग्निको साक्षी करके शिष्यसे कहना चाहिये कि—(हे शिष्य!) तुम्हें अब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोर वचन, चुगली, मिथ्याभाषण, आलस्य और जिनसे अपकीर्ति हो ऐसे कर्मों प्रवृत्ति—इन सभीका परित्याग करना चाहिये। नख तथा बाल छोटे रखना, पवित्र रहना, काषाय वस्त्र पहनना, सत्यव्रतमें, ब्रह्मचर्यमें तथा मान्यजनोंको अभिवादन करनेमें अवश्य तत्पर रहना चाहिये।'

अष्टाङ्गहृदयमें चारित्र्य-निर्देश—अष्टाङ्गहृदय है आयुर्वेदका चरित्रनिर्माता ग्रन्थ है। इसमें कहा गया है—

सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत् फले न तु।

(अष्टाङ्गहृदय २। ३६)

'सम्पत्ति और विपत्तिमें एकमन होना चाहिये। कारणमें ईर्ष्या करे, उसके फलमें ईर्ष्या न करे'—

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥

(अष्टाङ्गहृदय २। ४६)

'आर्द्र-संतानता (अतिशय करुणा या सब [illegible] दयाभाव) त्याग-दान (अपना अधिकार छोड़कर दूसरेको अधिकार देना), शारीरिक, वाचिक और मानसिक चञ्चलताका निग्रह (शान्ति), दूसरेके कार्योंमें स्वार्थबुद्धि ये चारों सम्पूर्ण सद्व्रत (सज्जनोंके धर्म) हैं।'

भावप्रकाशमें सदाचरण

मैत्री सद्भिः समं कुर्यात्स्नेहं साधुषु तु सर्वथा।
संसर्गं साधुभिः कुर्यादसाधूंश्च परित्यजेत्॥

(भा० प्र० पूर्वखण्ड ४। १८)

'सत्पुरुषोंके साथ मित्रता करे, मन, वाणी तथा कर्मसे सत्पुरुषोंसे स्नेह करे। साधु (सदाचारी) पुरुषोंके साथ मेल-जोल करे और असत् पुरुषों-(दुष्टों-)का साथ छोड़ दे।

गुरूणां संनिधौ तिष्ठेत् सदैव विनयान्वितः।
पादप्रसारणादीनि तत्र नैव समाचरेत्॥

(१। ७)

'बड़ोंके सामने विनीत (नम्र) होकर बैठे, उनके सामने पैर पसारना आदि अशिष्ट कार्य न करे।'

काले हितं मितं सत्यं सांत्वादि मधुरं वदेत्।
भुञ्जीत मधुरप्रायं स्निग्धं काब्बहितं मितम्॥
(४।२६१)

'समयपर हित, मित (नपा-तुला), सत्य, प्रसङ्गानुसार एवं मीठा वचन बोले। समयपर अधिकतया मधुररसयुक्त, स्नेहयुक्त, हित (भरण एवं पोषण) तथा मित (मात्रानुसार) भोजन करे।'

इत्याचारं समासेन भाषितं यः समाचरेत्।
स विन्दत्यायुरारोग्यं प्रीतिं धर्मं धनं यशः॥
(४।२६९)

'यह संक्षेपमें सदाचारका वर्णन किया गया है। इसके अनुसार जो मानव आचरण करता है, वह आयु, आरोग्य, प्रेम, धर्म, धन एवं यशको प्राप्त करता है।' वस्तुतः आयुर्वेद कल्पवृक्षके सदृश है, जो मानवको इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करता है। आवश्यकता है, केवल उन सदाचरणोंको अपनानेकी। आयुर्वेदप्रेमी न केवल दीर्घायु ही प्राप्त करता है, वरन् मोक्षका भी अधिकारी बन जाता है।

आगमोंकी सच्चारित्र्य-प्रेरणा

(लेखक— डॉ० श्रीशियारामजी सक्सेना 'प्रवर')

चरित्र जैसा कि इस शब्दसे ही स्पष्ट है, आचरण-प्रधान है। अतः विशेष आचार-निष्ठा 'चारित्र्य' है। निष्ठा-सम्पन्नताके लिये मनुष्यके परिपुष्ट व्यक्तित्वकी अपेक्षा होती है। व्यक्तित्वमें मनुष्यकी शारीरिक स्थिति, परिधान, रहन-सहन, आचार-विचार और उनकी कर्ममें परिणतिका विचार होता है।

आगमसे यहाँ तन्त्र-ग्रन्थ अभिप्रेत है, जो विशेषतः मन्त्र-पद्धतिसे सम्बन्ध रखते हैं, तथापि उनमें प्रसङ्गानुसार चारित्र्य-सम्बन्धी कथन भी मिल जाते हैं। हम उन्हींका संकलनकर आगमोंका चारित्र्य-विषयक मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं।

'मातृकेश्वर तन्त्रमें कहा है कि धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष सब आचारपर आधृत हैं। सदाचार ही धर्म है और उसीसे सब सिद्धि होती है। यह सब विश्व धर्ममूल है और परमात्मा भी धर्ममूल हैं, अतः धर्मके द्वारा मनुष्य अपने मूलके प्रति ले जाया जाता है।'[1] वसिष्ठस्मृतिका वचन है कि 'आचरणसे पतित व्यक्ति स्वयं अपना, समाजका और विश्वका भी अपकार करता है। वह इतना कलुषित हो जाता है कि वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते— आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः (वसिष्ठ)-अतः मनुष्यको सदा ही सदाचार-परायण रहना चाहिये।'

'महानिर्वाणतन्त्रमें कहा गया है कि चतुर्वर्ग-(धर्मार्थ-कामभोक्ष-)की सम्प्राप्ति मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। इससे इस लोक और परलोकमें आनन्द मिलता है— चतुर्वर्गं करे कृत्वा परत्रेह च मोदते।'[2] शुद्धाचारके द्वारा चतुर्वर्गका साधन करना मनुष्यका कर्तव्य है।

'महानिर्वाणतन्त्र'के वक्ता भगवान् शिव कहते हैं कि 'हे पार्वति! मैं युगधर्मके अनुसार समस्त वेदों, आगमों और विशेषतः तन्त्रोंका सार उद्धृत करके तुम्हें इस उद्देश्यसे सुना रहा हूँ कि सारे लोकोंका उपकार हो, समस्त प्राणियोंका हित हो।'[3] इस प्रकार महानिर्वाण-तन्त्रकी रचनाका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माण है। पार्वतीने

१—धर्ममूलमिदं सर्वं धर्ममूलं जनार्दनः। धर्मेण नीयते तस्मात् स्वमूलं प्रति मानवः॥
(म० तं० ३।७।५)

२—म० नि० तं० १।१७, ३—म० नि० तं० १।२७।२९, महानिर्वाण तन्त्रको सभी लोग आधुनिक मानते पर उसके सदाचारपूर्ण वचन अवश्य महत्त्वके हैं।

वे आनन्द-लक्षण सर्व-स्वरूपी जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहकर उन्हें चैतन्य और कर्मसे युक्त करते हैं।[1] ब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सकल जगत् तन्मय है।[2] विश्व उनके आश्रित है[3], अतः वे जगत्के माता-पिता, विश्वात्मा प्रेम-हितसे प्रसन्न होते हैं।[4] सर्वेश्वरके तुष्ट होनेपर जगत् तुष्ट हो जाता है और उनके प्रसन्न हो जानेसे जगत् प्रसन्न हो जाता है।[5] यह जानकर अर्चा-पूजा-दान आदि तथा लोकोपकारके कार्य उन्हीं परमात्माके उद्देश्यसे करने चाहिये।[6] जिस प्रकार नदियाँ अवश होकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार जीवके समस्त कर्म उन एक ईश्वरमें पहुँच जाते हैं, उन्हें समर्पित हो जाते हैं।[7]

दान, यज्ञ, वेदाध्ययन और योग आदि समस्त कर्म, तथा समस्त काम भी परमेश्वरके बिना सिद्ध नहीं होते।[8] अतः अन्य साधनोंको छोड़कर उन्हींके शरणागत होकर सबमें, परमात्मासे अपने सम्बन्ध की ही भावना करनी चाहिये।[9]

परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य देवोंके पूजनका भी विधान आगमोंमें है। देवता विशेष-विशेष कार्य करनेके लिये उनसे आविर्भूत परमेश्वरकी विभूतियाँ हैं। अतः श्रद्धान्वित किसी भी देवताकी अर्चना करनेसे भी परमेश्वर-पूजनका ही फल मिलता है और अर्चक जिस फलके अभिप्रायसे देव-पूजन करता है, परमेश्वर अध्यक्षरूपसे उन देवताओंके द्वारा वैसा ही फल दिला देते हैं।[10]

देवीकी पूजामें पंद्रह प्रकारके भाव-पुष्प चढ़ानेका विधान है। ये पुष्प हैं—अमाया, निरहंकार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ, परम-पुष्प अहिंसा, दया, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और ज्ञान—ये सच्चारित्र्यके मूलाधार हैं।[11]

परमेश्वरकी उपासना कायिक, वाचिक या मानसिक कैसी भी कर सकते हैं, किंतु चित्त-शुद्धिका सभीमें विशेष प्रयोजन है—

वाचिकं कायिकं चापि मानसं वा यथामति।
आराधने परेशस्य भावशुद्धिर्विधीयते ॥[12]

चित्तशुद्धिसे ही मन्त्रसिद्धि होती है—'चित्तसंशुद्धिरेवात्र मन्त्राणां फलदायिनी।'[13] और, चित्त-शुद्धि होनेपर ही ब्रह्म-ज्ञान होता है—'चित्ते शुद्धे महेशानि ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते।'[14]

चित्त-शुद्धिमें सत्यव्रतका बहुत महत्त्व है। कलियुगमें अन्य सभी धर्म दुर्बल हो जाते हैं, केवल सत्य ही स्थित रहता है। अतः सत्यधर्मका आश्रय लेकर किये कर्म ही सफल होते हैं। सत्यसे बड़ा धर्म नहीं है, झूठसे बड़ा पाप नहीं है। सत्य ही परब्रह्म है, परम तप है और समस्त क्रियाएँ सत्य-मूलक हैं। सत्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अतः सबको सत्यमय होना चाहिये[15]—

प्रकटेऽत्र कलौ देवि सर्वे धर्माश्च दुर्बलाः।
स्थास्यत्येकं सत्यमात्रं तस्मात् सत्यमयो भवेत् ॥
सत्यधर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः।
तदेव सफलं कर्म सत्यं जानीहि सुव्रते ॥

१—कू० म० सं० २।२।४; २—म० नि० तं० २।४१, कू० म० सं० १।८।१०८; ३—म० नि० तं० २।४; ४—म० नि० तं० २।११, कू० म० सं० १।७।९०।

५—जगतः पितरौ लक्ष्मीनारायणौ मतौ। (कू० म० सं० १।१०।५२)

६—म० नि० तं० २।११।

७—कुर्यात् कर्माणि सर्वाणि वासुदेवात्मकानि हि॥ (कू० म० सं० ४।१।१२२)

८—म० नि० तं० २।५०; ९—कू० म० सं० ४।१०।६०—६१।

१०—यो यो यान् यान् यजेद् देवा भक्त्या यत्पदाप्तये। तद् तद् ददाति सोऽध्यक्षस्तैस्तैर्देवगणैः शिवे॥ (म० नि० तं० २।५१)

११—म० नि० तं० ५।१४७—१४९; १२—म० नि० तं० ३।७५; १३—म० नि० तं० ७।९१; १४—म० नि० तं० ७।९४।

१५—म० नि० तं० ४।७१—७३।

किंतु कुलाचार-विहीन, असत्यभाषण, परद्रोह, लम्पटता आदि दुराचरणोंसे युक्त व्यक्ति कलिके दास हो जाते हैं[6]—

कुलाचारैर्विहीना ये सततासत्यभाषिणः।
परद्रोहपरा ये च ते नराः कलिकिंकराः॥

दैनिक जीवन-चर्यामें भी शुद्धि और ब्रह्मार्पणका भाव रहना चाहिये। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर और ब्रह्म-(वेद या मन्त्र-) दाता गुरुको प्रणाम कर परम ब्रह्मका ध्यान तथा गुरुमन्त्रका जप करना चाहिये[7]—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय प्रणम्य ब्रह्मदं गुरुम्॥
ध्यात्वा च परमं ब्रह्म यथाशक्तिमनुं स्मरेत्॥

इस प्रकार प्रातःकृत्य कर फिर प्रातः, मध्याह्न और सायंकी (त्रिकाल) संध्या करें।[8] आराधनामें शरणागति महत्त्वपूर्ण है।[9] ब्रह्मोपासनासे ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है।[10]

स्नान करते समय पवित्र नदियोंका स्मरण इस मन्त्रद्वारा करना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥[11]

इसी प्रकार अशन-वसन-शयन सब भगवत्स्मरणपूर्वक शुभ भावसे करने चाहिये।

'बृहद् ब्रह्मसंहिता' लोक-धर्मके निर्वाहपर बल देती है। उसका कथन है कि लोक-संग्रहसे ही मनुष्य सब कार्यों और कर्तव्योंमें सिद्धि प्राप्त करता है। लोक-धर्मका त्याग करनेसे सब प्रकारसे ग्लानि होती है, अतः विवेकशीलोंको लोकाचार-मार्गमें स्थित रहकर आजीवन प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि यही समस्त आचारों और धर्मोंका आधार है।[12] इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमोंके मतमें लोकाचार किसी भी मनुष्यके चारित्र्यका मुख्य प्रकल्प है।

अशुभ कर्मसे प्राणियोंको तीव्र पीड़ा होती है। शुभ कर्म भी यदि फलासक्तियुक्त हो तो कर्म बेड़ीमें जकड़ देता है। बेड़ी चाहे लोहेकी हो या सोनेकी, बन्धन-कारिणी तो दोनों ही हैं। अतः शुभाशुभ सभी कर्मोंका क्षय होनेपर ही मुक्ति होती है। कर्म-क्षय तो ज्ञानमयी अनासक्तिसे ही होता है[13]। कर्मसे, संतति उत्पन्न करनेसे या धनसे मुक्ति नहीं होती, वह तो आत्मज्ञानसे ही होती है।[14] अतः ज्ञान-पूर्वक कर्माचरणकर, फिर कर्म-संन्यास कर लेना चाहिये; क्योंकि कर्म कुछ भी किया जाय, यदि ब्रह्मज्ञान और कर्म-संन्यास नहीं हुआ तो वह कर्म मोक्षदायक नहीं होता[15]—

ब्रह्मज्ञानादृते देवि कर्मसंन्यसनं विना।
कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः॥

सब कुछ ब्रह्ममय है, ब्रह्मका है—'सर्वं ब्रह्ममयं देवि साधयेद् ब्रह्मसाधकः।'[16] अतः 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'की भावना परम पावन है। ब्रह्मको समर्पित कर फिर प्रसाद-रूपमें ही मनुष्यको किसी पदार्थका ग्रहण करना चाहिये। पक्व हो या अपक्व, द्रव्यको ब्रह्ममन्त्रद्वारा ब्रह्मार्पित करके स्वजनोंके साथ उसका उपभोग करना चाहिये।[17] ऐसे ब्रह्मनैवेद्यके

६—म० नि० तं० ८ । ७०, ७—म० नि० तं० ३ । ११०-१११, ८—म० नि० तं० ३ । १२७, ९—म० नि० तं० ३ । ११०, १०—म० नि० तं० ८ । ४ ।

११—म० नि० तं० ९ । ४६ ।

१२—सिद्धोऽयं लोकधर्मतः ॥ ७१ ॥
त्यागाल्लोकस्य धर्मस्य ग्लानिर्भवति सर्वतः ॥ ७२ ॥
विवेकिभिरतस्तस्माल्लोकाचारपथास्थितैः ॥ ७३ ॥
आदेहपतनाद् रक्षा ... प्रयत्नतः । आचारागमो हि सर्वेषां धर्माणां मुनिसत्तम ॥ ७४ ॥
(बृ० ब्र० सं० ४ । ८ । ७१-७४)

१३—म० नि० तं० १४ । १०७-११३, १४—म० नि० तं० १४ । ११९, १५—म० नि० तं० ८ । २८७, १६—म० नि० तं० ३ । १०, १७—म० नि० तं० ३ । ८१,

सकती। उसे वह ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, जो जीवन्मृत्युके बन्धनसे छुटकारा दिलाता है। चरित्र-रहित व्यक्तिको ईश्वरीय विशुद्ध प्रेमकी मिठासका अनुभव नहीं हो सकता।

चरित्रके बिना व्यक्तिका जीवन उस दिग्भ्रान्त, नाविकविहीन जहाजके समान है, जो दुर्विचारमयी स्थितिमें विस्तृत सागरमें डगमगा रहा हो। चरित्र-युक्त मनुष्यके जीवनका एक निश्चित लक्ष्य होता है; वह है—आत्मज्ञानकी प्राप्ति। आत्मज्ञान-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा रखना ही श्रेष्ठ चरित्रके विकासका रहस्य है। श्रेष्ठ चरित्र एक खिले पुष्पकी भाँति शान्ति और आनन्दका सौगन्ध्य सदैव प्रसारित करता रहता है।

एक प्रसिद्ध कहावत है कि बुद्धिसे विचार, विचारसे क्रिया, क्रियासे प्रवृत्ति (आदतें) एवं प्रवृत्तिसे गुण एवं गुणसे चरित्रका निर्माण होता है तथा चरित्रसे भाग्यका निर्माण होता है। एक बुद्धिमान् मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण विचार, क्रिया, आदत एवं गुणके समन्वयसे कर सकता है, जो आपसमें एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं। चरित्र मनुष्यको दैवी सौभाग्य—आत्मज्ञानके पास पहुँचाता है।

साधारणतया मनुष्य जब अनैतिकता, अविश्वास, धनमद्योलुपता, क्रोध, पाखण्ड आदि मानसिक विकारोंसे ग्रसित रहता है तो उसे चरित्रहीन कहा जाता है। इसके विपरीत मनुष्यमें एकाग्रता, सच्चाई, परोपकारिता, सहिष्णुता, नम्रता आदि महान् गुणोंके होनेपर वह चरित्रका महान् कहलाता है। चरित्रका महान् वास्तविक महान् होता है।

यौगिक दृष्टिसे मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण यमों और नियमोंका पालनकर करता है। चरित्रकी महत्ता अहिंसा, सच्चाई, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंके पालनकी क्षमतापर निर्भर है। जब मनुष्य आदर्श चरित्रका विकास करता है तो उसका व्यक्तित्व निर्भीकता, हृदय-शुद्धता, ज्ञान, योग, दया, इन्द्रियोंको वशमें रखना प्रभृति ईश्वरीय गुणों(दैवी-सम्पदाओं)से युक्त हो जाता है; जैसा कि श्रीकृष्णने गीताके अध्याय १६, श्लोक १–३ में बतलाया है—

'अर्जुन! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्-पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणकी सरलता होती है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने-वालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव होना, तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

प्रत्येक मनुष्य अपने चरित्रका निर्माता स्वयं है। इसलिये वह अपने भाग्यका भी निर्माता है। मनुष्य अपने भाग्यको यहीं रखते हुए भी अपने अंदर संचित असीमित स्रोतोंसे अपने व्यक्तित्वमें परिवर्तन ला सकता है।

रूप हैं। जीवनका मुख्य प्रयोजन ‘स्वयंको समझना है—पाना है, यह मानकर जीवित रहिये।

शुभ वचनों- (शुभाशंसाओं)ने अज्ञानताके प्रभावसे आपका व्यक्तित्व बना दिया है—विशेष लक्षणों एवं सुझावोंसहित। जब आप अशुभ प्रभावोंको शुभ प्रभावों-द्वारा दूर करनेका तरीका सीख जायँगे, तो स्वयं अपने व्यक्तित्वमें एक बड़ा परिवर्तन लायेंगे।

क्रोध, लालच, काम, द्वेष, घृणा, निर्दयता आदि अन्य दोषोंको पकानेके बजाय क्षमा, श्रद्धा, ईश्वरीय प्रेम, नम्रता, प्रसन्नता, मित्रता और इसी तरहके और ईश्वरीय गुणोंका विकास करें। यह सत्संगसे एवं असदाचरणके प्रतिपक्ष या प्रतिकूल भावोंके द्वारा सम्भव है—यानी ऋणात्मक दोषोंको धनात्मक गुणोंद्वारा जीतकर (जैसे अहंको नम्रतासे, क्रोधको प्रेमसे जीतकर आदि)।

विशुद्ध प्रेम-(ईश्वरीय प्रेम-)का विकास करें—ईश्वरीय प्रेम सबसे ऊँचा एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांसारिक वस्तुओंसे प्रेम दैवी प्रेमके लिये ही है—यह सभी भक्तों एवं संतोंकी शिक्षाकी मुख्य बात है।

सांसारिक प्रेममें लिप्त होनेसे समयकी गतिके साथ-साथ सर्वोच्च आनन्द-(ईश्वरीय भक्तिके आनन्द-) की कमी होती जाती है। दैवी प्रेम या ईश्वरीय प्रेमसे आनन्दकी मात्रा (स्फुरणा) बढ़ती जाती है। मानवता-की स्वार्थरहित सेवा, भक्तियोगकी विधाओंका अभ्यास और अपने कर्तव्यका पालन ईश्वर-पूजा समझकर करनेसे हृदयमें विशुद्ध प्रेम या दैवी प्रेमका संचार होता है। जब विशुद्ध प्रेमका संचार हृदयमें होने लगता है तब व्यक्ति उच्चतम संभाव्य चरित्रसे युक्त हो जाता है।

ध्यान कीजिये—ध्यान, चिन्तन एवं मननके लिये कुछ समय निकालिये। जप, स्मरण (ईश्वरका नाम) आध्यात्मिक पूछ-ताछ, (जिज्ञासा-समाधान लेना), चिन्तन और विभिन्न तरहकी उपासना करनेसे ध्यानावस्था आ जाती है। इस अवस्थाके आ जानेपर उत्तम आचरण स्वतः होने लग जाते हैं।

मनुष्य-जीवनको मधुर बनाइये—अपनेको दूसरोंके अनुकूल और उनसे समन्वय भाव रखिये। थोड़ी-सी नम्रता, थोड़ा-सा धैर्य, थोड़ी-सी उदारता, थोड़ी दयालुता, असहायोंके प्रति थोड़ा त्याग—यह सब मनुष्य-जीवनको सुखमय एवं शान्तिमय बनाते हैं। क्रोध, घृणा, लालच, कामना आदि मानसिक विकारों—भावोंको मत आने दीजिये। जब आप विभिन्न अच्छे लोगोंके साथ रह रहे हों तो मित्रता, श्रद्धा और प्रसन्नताका भाव रखिये। बुरे और घृणित विचारवालोंसे दूर रहिये। ऐसा करनेसे आपके मनमें घृणा, क्रोध, द्वेष आदिका अशुद्ध भाव नहीं पनपने पायेगा। संगका प्रभाव अवश्य होता है।

अपने शरीरको स्वस्थ रखिये—शरीर एवं स्वास्थ्य-की उपेक्षा मत कीजिये। स्वास्थ्यके नियमोंका पालन कीजिये। आपका शरीर ईश्वरका मन्दिर है। हठयोग, आसन, प्राणायाम, सात्त्विक भोजन, स्वस्थ आचरण कर आप अपने शरीरको स्वस्थ रख सकते हैं और तभी आप बिना विघ्नके ध्यान, मनन और चिन्तन कर सकते हैं।

इन सभी नियमोंका यथासम्भव पालन करनेसे आपका चरित्र उदात्त एवं आदर्श हो जायगा, जो इस संसारमें सभी सत्य, अच्छाइयों एवं सौन्दर्यका स्रोत है।

ईश्वर आपका चरित्रबल बढ़ाकर कल्याण करें।

तरह यह दैवी शक्तिका विकास करता है, जो उसे आत्मज्ञान या ईश्वर-प्राप्तिकी ओर ले जाता है।

चरित्रयुक्त व्यक्ति कभी भी भाग्यके सामने झुकता नहीं। वह अपने व्यक्तित्वका विकास एवं उसे अखण्डित रखनेकी स्वयं चेष्टा करता है। वह दुर्गुणोंका निवारण करता है और अच्छे गुणोंका विकास करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषि वसिष्ठने योगवासिष्ठमें आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये चारित्रिक आत्म-प्रयासपर विशेष बल दिया है।

भूतका आत्म-प्रयास एवं वर्तमानका आत्म-प्रयास दोनों आपसमें दो लड़ाकू मेढ़ोंकी भाँति लड़ते हैं और उसमें जो मजबूत होता है, वह विजयी होता है। इसलिये कोई यदि वर्तमानके आत्मप्रयासमें सफल नहीं होता है तो उसे अपने आत्मप्रयासकी शक्तिको दोष नहीं देना चाहिये—यह समझकर कि भूतका आत्मप्रयास उदित होकर निखरित हुआ है।

इसलिये एक महत्त्वाकांक्षीको सर्दैव अच्छी संगतियों (सत्सङ्ग) तथा वेदोंके अनुसार या धर्मानुसार आत्म-प्रयास करना चाहिये; ताकि वह भूतके प्रतिबन्धक कर्मोंपर विजय प्राप्त कर सके।

एक मनुष्यको आत्म-प्रयास करने दो—उसकी पूरी शक्तिके साथ, दाँत कटकटाकर और बँधी हुई मुट्ठीके साथ यानी कठोर परिश्रम एवं अदम्य साहसके साथ। उसे भूतके आत्म-प्रयासों-(पूर्व-जन्मके आत्म-प्रयासों-)के सामने झुकने न दो। इस प्रकार किये गये वर्तमान प्रयत्नका फल निश्चय ही भूतके सभी प्रयत्नोंको जीत लेगा। पुरुषार्थकी महत्ता भाग्यपर विजयसे होगी है।

जो आत्म-प्रयासके वर्तमान शक्तिकी उपेक्षा करता है और भूतसे डरा रहता है, वह यह समझकर कि ये दोनों हाथ दो सटकते साँप हैं—अपने दोनों हाथोंसे भी डर सकता है। और जो यह कहता है कि हम भाग्यद्वारा चालित होते हैं, उसका कथ्य केवल समृद्धिकी देवीके लिये घृणास्पद होता है। वह उनसे दूर भगी जाती है—जो भाग्यके सहारे जीते हैं या भाग्यपर विश्वास कर बैठे रहते हैं।'

सभी महान् व्यक्तियोंने अपने आत्म-प्रयासोंद्वारा सफलता प्राप्त की। भाग्यपर विश्वास करना, अपनी अज्ञानताको प्रकट करना तथा असफलताका मुख्य कारण होता है। अतः अपने चरित्रसे भाग्यविजयी बनना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा पथ-प्रदर्शित तथा अच्छी संगतियोंके सहयोगसे सत्य आत्मप्रयास सम्भव होता है। इस तरहका आत्म-प्रयास कम समयमें अपना परिणाम दिखलाता है। लेकिन वह प्रयत्न, जिसमें ज्ञान एवं परिज्ञान-दृष्टिका अभाव हो, नकारात्मक विफलताकी ओर उन्मुख होता है। प्रयासका आधार ज्ञान होना चाहिये।

यदि यह अशुभ आलस्य इस संसारमें नहीं रहता तो कौन नहीं सफलता एवं सर्वोच्च आनन्द प्राप्त कर लेता ! शीघ्रता- (स्फूर्ति-) की कमी है जो कि सुस्ती एवं मानसिक विलम्बसे होती है, और जो मनुष्यको सफलता एवं उपलब्धिसे वञ्चित कर देती है।'

एक आदर्श चरित्रके विकासके लिये योगवासिष्ठ-(मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण ५)की निम्नलिखित बातें ज्ञातव्य हैं—

'स्वभावको प्रवृत्तिको समझिये—आध्यात्मिक गुरुके निर्देशनमें धार्मिक ग्रन्थों या वेदोंका अनुशीलन करिये। श्रवण-मनन एवं निदिध्यासनका अभ्यास करिये। अपनी बुद्धिको यह जानने दीजिये कि आप क्या बन गए हैं। आपका व्यक्तित्व नष्ट होनेवाला नहीं है। आप दिमाग, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और शरीरसे परे हैं। आप जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तावस्थासे परे हैं। आप सच्चिदानन्द हैं। ज्ञान, आनन्द, सत्य एवं अस्तित्वके

रूप है। जीवनका मुख्य प्रयोजन ब्रह्मको समझना है—पाना है, यह मानकर जीवित रहिये।

शुभ वचनों- (शुभशंसाओं)से अज्ञानताके प्रभावसे आपका व्यक्तित्व बचा दिया है—विशेष लक्षणों एवं सुझावोंसहित। जब आप अशुभ प्रभावोंको शुभ प्रभावों-द्वारा दूर करनेका तरीका सीख जायँगे, तो स्वयं अपने व्यक्तित्वमें एक बड़ा परिवर्तन करेंगे।

क्रोध, लालच, काम, द्वेष, घृणा, निर्दयता आदि अन्य दोषोंको बढ़ानेके बजाय क्षमा, श्रद्धा, ईश्वरीय प्रेम, नम्रता, प्रसन्नता, मित्रता और इसी तरहके और ईश्वरीय गुणोंका विकास करें। यह सत्सङ्गसे एवं असदाचरणके प्रतिपक्ष या प्रतिकूल भावोंके द्वारा सम्भव है—यानी ऋणात्मक दोषोंको धनात्मक गुणोंद्वारा जीतकर (जैसे अहंको नम्रतासे, क्रोधको प्रेमसे जीतकर आदि)।

विशुद्ध प्रेम-(ईश्वरीय प्रेम-)का विकास करें—ईश्वरीय प्रेम सबसे ऊँचा एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांसारिक वस्तुओंसे प्रेम दैवी प्रेमके लिये ही है—यह सभी भक्तों एवं संतोंकी शिक्षाकी मुख्य बात है।

सांसारिक प्रेममें लिप्त होनेसे समयकी गतिके साथ-साथ सर्वोच्च आनन्द-(ईश्वरीय भक्तिके आनन्द-) की कमी होती जाती है। दैवी प्रेम या ईश्वरीय प्रेमसे आनन्दकी मात्रा (स्फुरणा) बढ़ती जाती है। मानवता-की सार्वहित सेवा, भक्तियोगकी क्रियाओंका अभ्यास और अपने कर्तव्यका पालन ईश्वर-पूजा समझकर करनेसे हृदयमें विशुद्ध प्रेम या दैवी प्रेमका संचार होता है। जब विशुद्ध प्रेमका संचार हृदयमें होने लगता है तब व्यक्तित्व उच्चतम संभाव्य चरित्रसे युक्त हो जाता है।

ध्यान कीजिये—ध्यान, चिन्तन एवं मननके लिये कुछ समय निकालिये। जप, स्मरण (ईश्वरका नाम) आध्यात्मिक पूछ-ताछ, (जिज्ञासा-समाधान लेना), चिन्तन और विभिन्न तरहकी उपासना करनेसे ध्यानावस्था आ जाती है। इस अवस्थाके आ जानेपर उत्तम आचरण स्वतः होने लग जाते हैं।

मनुष्य-जीवनको मधुर बनाइये—अपनेको दूसरोंके अनुकूल और उनसे समन्वय भाव रखिये। थोड़ी-सी नम्रता, थोड़ा-सा धैर्य, थोड़ी-सी उदारता, थोड़ी दयालुता, असहायोंके प्रति थोड़ा त्याग—यह सब मनुष्य-जीवनको सुखमय एवं शान्तिमय बनाते हैं। क्रोध, घृणा, लालच, कामना आदि मानसिक विकारों—भावोंको मत आने दीजिये। जब आप विभिन्न अच्छे लोगोंके साथ रह रहे हों तो मित्रता, श्रद्धा और प्रसन्नताका भाव रखिये। बुरे और घृणित विचारवालोंसे दूर रहिये। ऐसा करनेसे आपके मनमें घृणा, क्रोध, द्वेष आदिका अशुद्ध भाव नहीं पनपने पायेगा। संगका प्रभाव अवश्य होता है।

अपने शरीरको स्वस्थ रखिये—शरीर एवं स्वास्थ्य-की उपेक्षा मत कीजिये। स्वास्थ्यके नियमोंका पालन कीजिये। आपका शरीर ईश्वरका मन्दिर है। हठयोग, आसन, प्राणायाम, सात्त्विक भोजन, सत्य आचरण कर आप अपने शरीरको स्वस्थ रख सकते हैं और तभी आप बिना विघ्नके ध्यान, मनन और चिन्तन कर सकते हैं।

इन सभी नियमोंका यथासम्भव पालन करनेसे आपका चरित्र उदात्त एवं आदर्श हो जायगा, जो इस संसारमें सभी नय, अभ्युदयों एवं समृद्धियोंका स्रोत है।

ईश्वर आपका चरित्रबल बढ़ाकर कल्याण करें।

धर्मशास्त्रों (मन्वादिस्मृतियों)में चारित्र्य-विधान

(लेखक—श्रीरामदेवजी दुबे, शोध-छात्र)

प्राचीन भारतमें विद्यार्थियोंकी सभी प्रकारकी शिक्षाओंमें सदाचारके उपदेश भरे होते थे। धर्मशास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य सदाचार है। आचार्य शिष्योंको उनका ही उपदेश देते थे। इन सबके अतिरिक्त जिस वातावरणमें ब्रह्मचारियोंको रखा जाता था, वह भी ऐसा होता था, जो उनके चरित्रको इष्ट दिशामें अग्रसर कर सके। वे आचार्यकी देख-रेख और नियन्त्रणमें रहते थे। आचार्य उनके बौद्धिक विकासके प्रति ही नहीं, अपितु उनके आचरणके प्रति भी जागरूक रहते थे। प्राचीन भारतीयोंकी धारणा थी कि चरित्र शिष्टाचार या सदाचारसे पृथक् नहीं है। आचार्यका यह भी कर्तव्य माना जाता था कि वे इसका ध्यान रखें कि उनका ब्रह्मचारी गुरुजनों, बन्धुओं और अनुजोंके प्रति सदाचार और शिष्टाचारके नियमोंका सम्यक्-रूपसे परिपालन करता है या नहीं। शिष्टाचारके उन नियमोंका ब्रह्मचारीके चरित्र-निर्माणपर गहरा प्रभाव पड़ता था। हरिश्चन्द्र, भीष्म, राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान्, सीता, सावित्री और द्रौपदी-जैसी चरित्रवान् महान् विभूतियोंका आदर्श चरित्र उनके सम्मुख बार-बार उपस्थित किया जाता था। इससे उनके चरित्रके निर्माणमें सहायता मिलती थी[1]।

चरित्र या शीलकी परिभाषा महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलायी गयी है। उसके अनुसार मनसा, वाचा, कर्मणा किसीसे द्रोह न करना, वरन् अनुग्रह करना एवं दान देना ही शील है[2]। शीलपर ही सत्य, धर्म, सदाचार एवं बल आश्रित हैं[3]। मनुष्यका चरित्र अथवा आचरण शीलसे ही उन्नत होता है। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये शीलकी अपेक्षा होती है[4]। मनुष्यका भूषण शील है[5]। अतः शीलयुक्त व्यक्ति अपने पवित्र कर्मोंद्वारा लोगोंका प्रिय बन जाता है। चरित्रके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए विदुरजीने कहा है—

> वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
> अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
> (महा० ५। ३६। ३०)

मनुष्यके चरित्रके नष्ट हो जानेपर वह शरीरधारी होते हुए भी मृतकके समान समझा जाता है। अतः चरित्रसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त शिक्षा-पद्धतिका मुख्य उद्देश्य चरित्रका उत्थान करना था। प्राचीन भारतमें चरित्रका इतना अधिक महत्त्व था कि समस्त वेदोंका मर्मज्ञ सच्चरित्रताके अभावमें माननीय नहीं था, किंतु केवल गायत्रीमन्त्रका ज्ञाता अपनी सच्चरित्रताके कारण माननीय हो जाता था[6]। सत्कर्मोंसे ही चरित्रका उत्थान माना जाता था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्योंसे ही संचालित होते थे। शिक्षणकालमें ही मनुष्यके आचरण और चरित्रको उन्नत करनेका प्रयास किया जाता था। समाजके अन्य लोगोंके साथ उसके

१–अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति (वाराणसी, १९६८), पृ० ९, २–महा० शान्ति० १२४। ६६, दिव्यावदान १२९। १२-१३,

३–धर्मं सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्। शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥
(महा० शान्ति० १२४। ६२)

४–महा० शान्ति० १२४। १५, ५–शीलं परं भूषणम्, नीतिशतक ८३,

६–सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ (मनु० २। ११८)

सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थानमें सहायक होती थी। व्यक्ति चाहे किसी वर्ग, जाति, पद, आयु अथवा स्तरका हो, उसे धैर्य, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दान, संयम और अतिथि-सेवा आदि नैतिक मूल्योंका परिपालन करना पड़ता था।[7] इससे व्यक्तिका चारित्रिक उत्थान होता था। जिसमें धर्म और चरित्रका आधिक्य होता था, वही पवित्र समझा जाता था।[8]

गुरुकुलमें ब्रह्मचारियोंको जो शिक्षा दी जाती थी, उससे व्यक्ति अपनी तामसी एवं पाशविक प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखता था तथा सत्-असत्का भेद कर सकनेमें समर्थ होता था। जब शिक्षाकी यथोचित प्राप्ति होती थी, तब चरित्रको तदनुकूल संघटित करनेका अवसर मिलता था।

ब्रह्मचारीका जीवन त्याग एवं तपस्याका जीवन था। ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करनेवाला तेजोमय ब्रह्मज्ञानको धारण करता था। उसमें सम्पूर्ण देवताओंका वास होता था।[9] अपने श्रम, त्याग एवं तपस्यासे ब्रह्मचारी समाज और राष्ट्रका उत्थान करता था।[10] चरित्रके उत्थान और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य था।[11]

ब्रह्मचारीका यह कर्तव्य होता था कि वह भिक्षा माँगकर जो कुछ प्राप्त करे, उसे गुरुके समक्ष लाकर उपस्थित करे।[12] ब्रह्मचर्य-कालमें भिक्षा-वृत्तिका निर्देश इसलिये किया गया था कि वह अमीर एवं गरीबका भेद-भाव भूलकर समताका भाव ग्रहणकर नियम और संयमका परिपालन कर सके। इससे व्यक्तिके चरित्रका उत्थान होता था। चरित्रके उत्थानमें ब्रह्मचर्यका मौलिक अभिप्राय ज्ञानको प्राप्त करना था।[13] तप ब्रह्मचर्य-जीवनका आवश्यक अङ्ग था।[14] शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया, अग्निकार्य और संध्योपासन आदि ब्रह्मचारीके आधारस्तम्भ थे। इनसे उनके चरित्रका उत्थान होता था।[15] ये सब चरित्रके आधारभूत कर्म हैं।

गृहस्थ पञ्चमहायज्ञको सम्पन्न करता और[16] ब्रह्मचारी, संन्यासी एवं भिक्षुकोंको विधिपूर्वक भिक्षा देता था।[17] वह सत्पात्रोंको दान देता था।[18] सभी धर्मशास्त्रकारोंने अतिथि-सत्कार करना गृहस्थका नैतिक कर्तव्य माना है। आये हुए अतिथिका वह जल एवं शक्तिके अनुसार व्यञ्जनादिसे सत्कार करता था।[19] वह अपने आश्रित जनों और अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर स्वयं भोजन करता था। यदि कहीं भोजनकी कमी पड़ जाती तो स्वयं गृहपति, उसकी भार्या और बालक भूखे रह जाते, पर दास या अतिथिको भोजन अवश्य करा देते थे।[20]

स्त्रियोंकी सच्चरित्रताके लिये स्मृतिकारोंने विशेष नियम बनाये। मनुका कथन है कि बचपन, जवानी या

७—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२। १०। ६३)

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहम्। दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
(याज्ञ० १। १२२, ३। ६६, अथर्व० १। ३। ८। ४, (विष्णुधर्मसू० २। १६-१७)

८—(महा०मनु० १२। ३११। ७८)

९—अथर्ववेद ११। ५। २४, १०—वही ११। ५। ४, ११—मनु० २। ८८-९२, गोपथब्राह्मण १। २। १-७, १२—मनु० २। ४९-५१, याज्ञ०, १। २९, ३०, १३—मनु० २। १६५-१६६, अमृतमन्थन १। १। ४५-४८, याज्ञ० १। १५। २। ८३-८३, १४—मनु० २। १७५- १७७, न तप तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया अप्यन्तो महिमानमुपयन्ति प्रश्नो० ५। १, १५—उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ मनु० १। ३९, १७९, २००, २२२, १६—मनु० ३। ६८-७०, याज्ञ० १। १०२-१०३, वही १। १२१, १७—मनु० ६। ९४-९६, याज्ञ० १। १०८, १८—मनु० ३। ९८, १९—वही ३। ९९, १०२, याज्ञ० १। १०९-११३, २०—आपस्तम्ब ध० सू० २। ५। ९। ११, मनु० ३। ११६, याज्ञ० १। ११४,

बुढ़ापेमें भी कोसे अपने घरोंमें भी अपनी इच्छासे क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावकसम्बन्धी सम्मतिसे ही धर्मादिमें कुछ कर्म करने चाहिये।[२१] उन्हें स्वतन्त्र कभी नहीं रहना चाहिये।[२२] याज्ञवल्क्य एवं नारदने भी इसका समर्थन किया है।[२३] विज्ञानेश्वरने अपनी मिताक्षरा-व्याख्यामें शंखके वचनसे कहा है कि वह घरसे बिना बतलाये बाहर न जाये, शीघ्रता-पूर्वक न चले, बनिये, संन्यासी, वृद्ध, वैद्यके अतिरिक्त किसी पर-पुरुषसे बात न करे, अपनी एकांगी कपड़ा पहने, स्तनोंपरसे कपड़ा न हटाये, मुँह ढके बिना न हँसे और पति या उसके सम्बन्धियोंसे घृणा न करे इत्यादि। वह धूर्त, वेश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बतानेवाली, जादू-टोना या गुप्त विधियाँ करनेवाली दुःशील स्त्रियोंके साथ न रहे; क्योंकि इनकी संगतिसे स्त्रियोंका चरित्र गिरता है।[२४] निश्चय ही इस प्रकारके प्रतिबन्ध स्त्रियोंकी सच्चरित्रताके लिये ही थे।

पतिव्रता स्त्रियोंको समाजमें सर्वत्र सम्मान मिलता था।[२५] मनुके अनुसार मन, वचन तथा कर्मसे संयत रहती हुई जो स्त्री पतिके विरुद्ध कोई कार्य (असदाचारादि) नहीं करती, वह पति-लोकको प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग पतिव्रताकी संज्ञासे विभूषित करते हैं।[२६]

कौन किससे अधिक गौरवशाली है? इसको बताते हुए मनु कहते हैं कि दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता तथा सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता अधिक गौरवशाली है।[२७] निःसंदेह माताका सम्मान तथा गौरवशाली स्थान सहस्रों पिताओंसे और अधिक है। माताको त्यागना पाप और अपराध दोनों ही समझा जाता था[२८], चाहे वह पतित ही क्यों न हो[२९]। स्त्रीके मातृस्वरूपको देवकोटिमें रखा गया है। स्त्रीके सत्कारसे देवता प्रसन्न होते हैं।[३०]

राजाओंके आदर्श चरित्रका उल्लेख धर्मशास्त्रोंमें मिलता है। मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें राजाके गुणोंका वर्णन किया गया है। उनके अनुसार राजाको उत्साही, स्थूललक्ष्य, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनययुक्त, सत्-एकरस, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिमान्, कटुवाक्य न बोलनेवाला, धार्मिक, अव्यसनी, पण्डित, शूर, रहस्य जाननेवाला, आत्मविद्या और राजनीतिमें निपुण, शत्रुके उपाय तथा तीनों वेदोंमें प्रवीण होना चाहिये।[३१] वास्तवमें राजा अपनी प्रजाके लिये आदर्श चरित्रकी मूर्ति होता था। राजाका शील प्रजाका शील होता है।[३२]

राजा ब्राह्मणोंको अपार धन दानके रूपमें देता था।[३३] युद्धमें अपहृत धन ब्राह्मणोंको दान करता था तथा प्रजाको अभयदान देता था।[३४] ब्राह्मण भी दानमें अपार धनका त्याग करता था।[३५] अमरकोषमें कहा है कि त्रिलोकमें दानसे बढ़कर कोई पुण्य कर्म नहीं है। इसलिये विद्वान् दानको ही सर्वोत्तम कर्म बताते हैं।[३६] इस प्रकार दान लेनेयोग्य व्यक्तियोंको दान देना राजाकी पवित्रता एवं सच्चरित्रताका द्योतक है।

२१—मनु० ५। १४७, २२—वही ५। १४८-१४९, २३—याज्ञवल्क्य १। ८५। रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्धके। अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः॥ पत्युः पितुः । पत्युर्वोऽभावे तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः। (नारद-स्मृति, २५४।) २४—याज्ञ० १। ८७ पर मिताक्षरा, २५—मनु० ५। मनोरम श्लोक २१, मणिप्रभा, हिंदी व्याख्योपेता (पृ० २८८।) २६—मनु० ५। १६५-१६६, याज्ञ० १। ८७। २७—वही २। १४५, याज्ञ० १। ३५, २८—मनु० ११। ५९, २९—मनु ११। ११। ३०—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनु० ३। ५६) ३१—मनु० ७। ३२, ३६, ३९, ४४, ४६-४९, विष्णुपुराण ११। ५२-५७, याज्ञ० १। ३०९-३११, अर्थ० १। १, पी० वी० काणे, धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग-२ (हिंदी अनुवाद) पृ० ५९७, ३२—अर्थ० ८। १, ३३—याज्ञ० १। ३१५-३१६, ३४—वही १। ३२३। ३२३, ३५—एपिग्राफिका इण्डिका, पृ० १०६, ३६—महा० आश्वमेध० (गीता) २००। १२७-१२९।

प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करना या मर जाना सम्भव था, अतः धर्मशास्त्रके प्राचीन ग्रन्थोंका कहना है कि क्षत्रियका कर्तव्य है—युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है—समराङ्गणमें मर जाना। मनुका कथन है कि आक्रमणमें प्रजाकी रक्षा करते समय युद्ध-क्षेत्रसे पलायित नहीं होना चाहिये। जो राजा जो युद्ध करते-करते मर जाते हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है।[37] याज्ञवल्क्यके अनुसार राजा अपनी प्रजा एवं नौकरोंके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था।[38] महाभारतमें भी इसी तरहका विचार व्यक्त किया गया है।[39] रामायणसे इस बातकी सूचना मिलती है कि राजालोग प्रजाके साथ पितृवत् व्यवहार करते थे। यदि प्रजा दुःखी रहती तो वे दुःखी हो जाते थे, यदि प्रजा प्रसन्न रहती तो उन्हें पिताके समान आनन्द मिलता था।[40]

राजा शास्त्रानुसार अपराधियोंको दण्ड देता था। भाई, पुत्र, आचार्य, श्वशुर और मामा भी यदि अपने धर्मपथसे विचलित होते थे तो राजा उन्हें भी निष्पक्ष भावसे दण्डित करता था।[41] धर्मशास्त्रोंमें वर्णित राजाके विधि-विधानोंसे यह ज्ञात होता है कि राजा सच्चरित्रताकी साक्षात् मूर्ति होता था। वह प्रजाके लिये आदर्श प्रस्तुत करता था।

इन समस्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि समाजमें निरन्तर धर्मकी भावना काम कर रही थी। धर्मशास्त्रोंमें वर्णित चारित्र्य-विधानका यदि विधिवत् परिपालन किया जाय तो निश्चय ही समाजका सर्वाधिक कल्याण हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें चारित्र्योपदेश

(लेखक—डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त उपनिषदोंका सार है। उसमें व्यवहार और परमार्थका समन्वय है, जिसके कारण उसमें श्रुति और स्मृति तथा लोक और परलोक दोनोंके यथोचित निर्वाहके साथ मानवके योग-क्षेम एवं प्रेय तथा श्रेय सबकी सिद्धि सुकर तथा सुलभ हो जाती है। अतएव उसमें जो व्यवहारपक्ष—आचारपक्ष—मिलता है, वह 'चरित्र' ही है। यह बात चरित्र और चारित्र्य शब्दोंके अर्थसे सहजमें ही समझी जा सकती है।

पाणिनिके अनुसार 'चर्' धातुसे 'इत्र' प्रत्यय (पा० ३। २। १८४) करके 'चरित्र' शब्दकी तथा 'चरित्र' शब्दसे भाव अथवा कर्ममें ब्राह्मणादिगणमें ष्यञ् प्रत्यय (पा० ५। १। १२४) करके 'चारित्र्य' शब्द सिद्ध होता है। जिससे मनुष्य समाजमें भलीभाँति चलता है—यथोचित-रूपसे व्यवहार करता है (चरति अनेन) वह 'चरित्र' एक सद्गुण है। उस चरित्रके ही सारतत्त्व—उत्कृष्टता सुन्दरताको चारित्र्य (चरित्रस्य भावः कर्म वा चारित्र्यम्) कहते हैं। एक सयुक्तिक अवधारणाके अनुसार अन्य शब्दोंमें—मनुष्य जिसके द्वारा समाजमें यथोचित आचरणरूप सदाचारका आचरण करता है, उसे 'चरित्र' और उसके द्वारा मानव-हितोंकी जो सुरक्षा होती है, उसके कारण उसके तात्त्विक स्वरूपको 'चारित्र्य' कहते हैं—

> सम्यक् चरति येनासौ चरित्रं व्यवहारतः।
> चरितत्राणशीलत्वाच्चारित्र्यमिति कथ्यते॥

गीतामें इसी पृष्ठभूमिपर आधृत चारित्र्यका उत्तम उपदेश मिलता है, जिसके अनुसार चलनेसे मानवके सब

३७—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग २—(हिंदी अनुवाद) पृ० ६६०–६६२, ३८—याज्ञ० १। ३३४, अथर्व० २। १, ३९—महा० शान्ति० ९९। १०४ से १०६, ४०—रामायण २। ९८-८० तथा ५। ३५। १-३४, १। ६। ११, अभिज्ञान० ५। ५-६। २६ एवं रघुवंश १। २४, ४१—याज्ञ० १। ३५८–३५९, वसिष्ठ० १९। ४०–४४,

चरित्रका निर्माण अपने-आप ही होता रहता है। गीताका चारित्र्योपदेश नरको नारायण बना देनेकी अद्भुत कुंजी है। गीताके प्रारम्भमें पाण्डवों और कौरवोंकी सेनाके अनेक प्रसिद्ध वीरोंका उल्लेख मिलता है। उन दोनों ही सेनाओंमें अनेक ऐसे वीर हैं, जो सचमुच बड़े ही चरित्रवान् हैं और अनेक ऐसे भी लोग हैं, जिनका चरित्र संदेह और विवादका विषय बन गया है। चरित्रवान् लोगोंमें भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, द्रोण तथा भीष्म आदि महापुरुष आते हैं, और उनसे भिन्न लोगोंमें दुर्योधन, कर्ण तथा अश्वत्थामा आदि आते हैं। पाण्डवोंकी सेनाका नेतृत्व चरित्रवान् वीरोंके हाथमें (१। ३, ६) है, जिनकी विशद चर्चा स्वयं दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यसे (१। २–६ में) की है और स्वयं उसीने अपने पक्षमें केवल द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा भूरिश्रवाका (१। ७–९ में) उल्लेख किया है। इसके साथ ही उसने भीमसे रक्षित पाण्डवोंकी सेनाको युद्धमें विजयके लिये पर्याप्त (१। १०) तथा भीष्मसे रक्षित अपनी सेनाको अपर्याप्त (असमर्थ) बताया है।

दुर्योधनके इस व्यथाभरे निवेदनसे आभासित होता है कि भीमके पक्षमें चरित्रपर तथा चरित्रवान् लोगोंकी अधिकता थी और भीष्मके पक्षमें यह अत्यन्त अल्प थी। इस समयको दुर्योधनका दुर्बल मन भीतर-ही-भीतर समझ रहा था; इसीलिये उसके मुखसे ही भावी पराजयकी आशङ्का प्रकट आ गयी। सत्य और असत्यका न्याय और अन्यायका, चारित्रिक सबलता और दुर्बलताका निर्णय स्वयं दुर्योधनकी ही आत्माने इस प्रकार कर दिया कि जिस पक्षमें चरित्रवान्, धार्मिक लोग अधिक होते हैं, उसकी विजयका होना (यतो धर्मस्ततो जयः), उसके ऐश्वर्यकी अभिवृद्धिका होना तथा उसके सुयशका युग-युगान्तरोंतक व्याप्त रहना सुनिश्चित है। वस्तुतः गीताके उपक्रम और उपसंहारका भी यही संदेश है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८। ७८)

गीतामें उदात्त एवं सर्वोत्कृष्ट चरित्रके प्रेरक पात्र मुख्यतया दो हैं—श्रीकृष्ण और अर्जुन। इनके अतिरिक्त अन्य पात्रोंका उल्लेख प्रथम तो गीताके उपदेशकी भूमिका बनानेमें सहायक है और दूसरे वह कतिपय सामान्य चरित्रोंवाले पात्रोंके अधमलिन, अल्पमति एवं धूमिल चरित्रोंकी पृष्ठभूमिमें अर्जुनके धवल स्वच्छ तथा सात्त्विक चरित्रको उदात्त एवं उत्तम प्रमाणित करनेमें उपयुक्त हुआ है। चरित्रकी व्यावहारिकता और चारित्र्यकी पारमार्थिकतामें संतुलन बनाये रखनेके लिये ही भगवद्व्यासजीने गीतामें क्रमशः अर्जुन और श्रीकृष्णको श्रोता-शिष्य एवं वक्ता-गुरुके रूपमें खड़ा किया है। अतएव अर्जुनके सरल एवं सात्त्विक शील, उसके बुद्धिवैषम्य तथा उसके विषादयोगमूलक उद्वेग और व्यामोहमें अनायास ही उस समग्र मानवताके दर्शन मिल जाते हैं, जिसमें मानवके गुणदोषमूलक स्वभाव एवं स्वभावके साथ-साथ तामस, राजस और सात्त्विक अथवा निम्न, मध्यम एवं उच्च—इन तीनों वर्गोंके मनुष्योंका यथायथनित् प्रतिनिधित्व हो जाता है। इस प्रकार सर्वाङ्गीण चारित्र्यके उपदेशकी जैसी सुन्दर एवं उपयुक्त पृष्ठभूमि गीतामें मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है; कारण यह कि पुत्र, धन और यश (सुत, वित्त, लोक) इन तीनों एषणाओंको छोड़कर स्वयं मृत्युसे जूझनेके लिये भी समग्र मानवताकी समस्याओंके उसके अन्तर्द्वन्द्वको तथा उसके दम्भ और निस्पृह भावको जीवनेच्छानेका जैसा सहज स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण गीतामें मिल जाता है, वैसा अन्यत्र असम्भव ही था। माया, मोह और मृत्युके घिरे आवरणोंमें छिपी मानवता, जब मृत्युको निर्भीक सामने आती है, तो अपना रहस्य खोलती है। संक्षेपमें गीतामें यह रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

गीतामें चारित्र्योपदेश मनोवैज्ञानिक सोपानक्रममें मिलता है। 'स्वरूप-बोध' उसका प्रथम सोपान है। मैं कौन हूँ? संसारमें मेरे जन्मका उद्देश्य क्या है? क्या मेरी दृष्टि अपने लक्ष्यमें केन्द्रित है? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये जागे हुए आत्म-अनात्मके विवेकसे स्वरूप-बोधका जो क्रम आरम्भ होता है, वही गीतागत साधनाओंसे परिपुष्ट होता हुआ वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान तथा श्रद्धाकी आध्यात्मिक शक्तिसे समर्थ होकर पहले जीवन्मुक्ति और अन्ततः विदेहमुक्ति- (मोक्ष-)में परिणत हो जाता है।

गीताके अनुसार चारित्र्योपदेशकी योजना और उससे चरित्रनिर्माणकी साधनाका शुभारम्भ यद्यपि स्वरूप-बोध करानेवाले परिचयसे प्रारम्भ होता है और अन्तमें भी स्वरूप-बोध- (आत्मबोध-)में ही होता है, फिर भी उसमें वर्णित समस्त साधनाके आचरण-पक्षपर सविशेष बल दिया गया है। उसके बिना तो चरित्र-निर्माणका कार्य एक पग भी आगे नहीं चल सकता—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
> (२ । ४७)

गीतामें वर्णित समस्त साधनाएँ—फिर चाहे वह चित्तको शुद्ध करनेवाली निष्कामकर्मयोगकी साधना हो, चित्तको एकाग्र करनेवाली भक्तियोगकी साधना हो, अथवा अपने समस्त पर्यायसहित सम्पूर्ण अज्ञानरूप आवरणके भङ्गकी साधना हो—वस्तुतः व्यवहार-पक्षमें चरित्रनिर्माणका और परमार्थतः चारित्र्यके अनुशीलन एवं मननका ही अनुष्ठान है।

चरित्रके इसी स्वरूपबोधात्मक अङ्गकी पूर्तिके लिये महाभारतमें गुरु द्रोणने 'शिष्य-परीक्षा'में अर्जुनको प्रथम स्थान दिया था और गीतामें श्रीकृष्णने उसे आत्माका स्वरूप समझाते हुए आत्माको अजर, अमर, नित्य, अविनाशी, अव्यय एवं सर्वान्तर्गत बताया है (२ । १८)।

स्वरूपपरिचय अथवा उद्देश्य-के बाद निश्चय—लक्ष्य-निष्ठताके अनन्तर—हमारा यह कर्तव्यमार्ग निरापद एवं सुगम बन जाता है, जिसमें मृत्युका भय नहीं है और अनासक्ति होनेसे पतनकी कोई आशङ्का नहीं रहती। उस समय हमारा मनोबल—चरित्रबल बहुत अधिक और ऊँचा हो जाता है। इसी निर्भयता एवं निर्द्वन्द्वतामें गीता हमें अकर्मसे विमुख रहते हुए निष्कामभावसे कर्ममें जुटना सिखाती है, जिससे हमारे शीलके—चरित्रके लोक और परलोक दोनों पक्षोंकी समस्त सुविधाएँ हमें अनायास उपलब्ध हो सकती हैं—

> तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
> असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
> सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
> कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
> (३ । १९, २५)

गीतामें वर्णित चरित्र-साधनामें काम और क्रोध—ये दो दुर्गुण घोर बाधक हैं। चरित्रवान्‌को इनसे सदैव सावधान रहना चाहिये (३ । ३७)। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये तीनों कामके आधार हैं। अतः इनका नियमन भी चरित्रकी सम्पन्नताके लिये परमावश्यक है; अन्यथा ज्ञान और विज्ञान दोनों नष्ट हो जायँगे—

> तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
> पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
> (३ । ४१)

निष्काम कर्मयोगी, भक्त तथा ज्ञानी सभीके लिये काम और क्रोध त्यागने योग्य हैं (५ । २३—२६)। इनके रहते लौकिक, पारलौकिक कोई सुख नहीं मिल सकता। काम, क्रोध और लोभको त्यागकर मनुष्य परम चरित्रवान् बन सकता है (१६ । २१-२२)।

इनके रहते बुद्धिनाश, चरित्र-हानि तथा जीवननाश सुनिश्चित है (२ । ६३-६४)।

काम, क्रोध और लोभसे बचे रहनेसे राग, द्वेष और परिग्रहका भाव निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर अन्तः-करणकी प्रसन्नता के साथ (२ । ६४) वह अपने सहित अपने समाज, जाति तथा राष्ट्र और समग्र मानवताके उद्धारके लिये भगवदाज्ञानुसार अथवा शास्त्रके अनुकूल जो भी कल्याणकारी आचरण करता है, वही उसका उज्ज्वल चरित्र बन जाता है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६ । २२)

इन्द्रियों और इन्द्रियोंके शत्रुओंके जीतनेके अनन्तर भगवद्भावका जागरण—भगवान्‌में प्रेम और विश्वास रखना भी चरित्रका प्रमुख सद्गुण है। इससे साधारणतः लौकिक काम, राग, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह, मात्सर्य, द्वेष, दम्भ, अभिमान, आलस्य, मत्सर तथा मद आदि सभी दुर्गुणोंकी निवृत्ति हो जाती है अथवा इनका भगवद्भावसे परिष्कार हो जाता है, जिससे फिर वे दुर्गुण नहीं रहते। इसका सबसे बड़ा लाभ अहंकारका दमन और विनम्रताकी प्राप्ति है। इससे मनुष्य कुछ देना—समर्पण करना—सीख जाता है। समर्पण और निरहंकारिताके भावसे वह अनायास ही 'मैं'की संकीर्ण भावनासे ऊपर उठकर 'अहम्'में विराजते हुए लोकसंग्रही बन जाता है। अपने समयमें उसकी एकरूपता सधने लगती है (१२ । १३-१४)।

समत्व बुद्धियुक्त ज्ञान गीताकी चरित्र-साधनाका एक असाधारण रूपसे उज्ज्वल अङ्ग है, जिसके द्वारा चरित्रके साधकको अपने उद्देश्यकी प्राप्ति होनेके एक मासके साथ तृप्ति अथवा संतुष्टिके समान अवस्था होती रहती है। कर्मसापेक्ष होकर भी यह परम ज्ञान सुनिश्चित है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४ । ३८)

गीताका चारित्र्योपदेश सच्चिदानन्दपरक है। इसे स्वरूपबोधसे सत्ताका भान, निष्काम कर्मोंसे चेतनाका स्पन्दन, भक्तियोगसे आनन्दका अनुभव एवं ज्ञानयोगसे आत्मा-परमात्माके शाश्वत एकीभावके महाभावके अखण्ड एकरस, अवर्णनीय परमानन्दकी अनुभूति करायी गयी है। यह गीताके उपदेशसे प्राप्त चारित्रिक उत्कर्षका अमृतमय परम मधुर रस है इसीका पान करनेके पश्चात् अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८ । ७३)

इस प्रकार गीता एक चरित्र-निर्माणकारी ग्रन्थ है। इसमें सोपानक्रमसे श्रीकृष्णके माध्यमसे व्यासके शब्दोंमें अर्जुनरूपी समग्र मानवताके चरित्रके उत्कृष्ट रूपका उपदेश किया गया है। इस उपदेशसे न केवल अर्जुनका शिष्यत्व एवं श्रीकृष्णका गुरुभाव धन्य हुआ है, अपितु समस्त मानवोंका शिष्यत्व तथा कृष्ण-मानवताकी चारित्रिक उत्कृष्टताका गुरुत्व भी धन्य हुआ है। ठीक ही है—

पार्थस्तेऽयं गुरुः कृष्णो पार्थशिष्यो नरोऽर्जुनः।
पार्थगीतामयी बुद्धिरुत्कर्षपरिचायकं भुवम्॥

आदिकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

रामायणके समान विश्वसाहित्यमें उच्च कोटिका दूसरा चरित्रकाव्य नहीं है। जैसे समुद्र विविध मुक्ता, मणि, रत्न आदिसे भरा पड़ा है, वैसे रामायण चरित्र-निर्माणके विविध आदर्श एवं प्रेरक प्रसङ्गोंसे भरा पड़ा है। सब प्रसङ्गोंका उल्लेख इस संक्षिप्त लेखमें सम्भव नहीं है। अतः कतिपय प्रसङ्गोंको प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है।

रामवनगमन—महाराज दशरथके आदेशसे श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा था। अयोध्या नगरी तथा कोसल जनपदके नागरिकोंमें अभूतपूर्व उल्लास एवं आनन्द दृष्टिगोचर हो रहा था। बड़ी ही धूमधामसे उत्सवकी तैयारी हो रही थी। चारों ओर नृत्य, गान एवं वादनका कार्यक्रम चल रहा था। सब लोग शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षामें सजधजके तैयार थे। अभिषेकके समय श्रीरामको अकस्मात् माता कैकेयीद्वारा वनवासकी सूचना मिली। श्रीराम चौदह वर्षके वनवासके लिये सहर्ष उद्यत हो गये। उन्हें लेशमात्र भी दुःख न हुआ कि मुझे वनवास क्यों दिया जा रहा है। उन्होंने कहा कि माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका धर्म है। इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है—

नह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

जहाँ राज्यके लिये बराबर युद्ध होते रहे हैं, भाई-भाईका गला कटता रहा है, पिता-पुत्रका सम्बन्ध धूमिल हो जाता रहा है, वहाँ श्रीरामका महान् आदर्श चरित्र एवं त्याग सर्वथा स्पृहणीय है।

जब श्रीरामने अयोध्यासे वनवासके लिये प्रस्थान किया, असंख्य नागरिक आबालवृद्ध उनके रथके पीछे-पीछे रोते-बिलखते दौड़ चले। सब हाथ जोड़कर बोले—'युवराज! आप वन न जायँ। अयोध्या लौट चलें।' दयालु श्रीराम आगे न बढ़ सके। उन्होंने रथ रोककर नागरिकोंसे कहा—'नागरिकगण! आप लोगोंने मेरे प्रति जो असाधारण प्रेम दिखलाया है और मेरा सम्मान किया है, वही प्रेम और सम्मान आपलोग राजकुमार भरतपर दिखलायें। शुभचरित भरत आपलोगोंका सर्वथा प्रिय और हित करेंगे। वे बुद्धिमान्, गुणसम्पन्न तथा सर्वथा योग्य शासक सिद्ध होंगे। मेरे वन चले जानेपर महाराज दुःखी न हों इसपर आपलोग ध्यान देंगे।' जिसके लिये वनवास है, उसपर यह सहृदयता रामके उदात्त चरित्रका अवदात निदर्शन है।

चित्रकूटमें राम-भरत-संवाद—भरतजीने समस्त राजसमाजके साथ चित्रकूट जाकर श्रीरामके चरणोंमें अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'कुल-परम्पराके अनुसार आपका ही राज्याभिषेक होना चाहिये। हमारी माताने जो भूल की है, आप उसे क्षमा करें। मैं अयोध्याका राज्य नहीं चाहता। मैं उसके योग्य भी नहीं हूँ। सबकी हार्दिक इच्छा है कि आपका अभिषेक हो और आप अयोध्याके राजा बनकर सबको आनन्दित करें।'

भरतजीका विशुद्ध प्रेम, भ्रातृ-वात्सल्य, शील और धर्म देखकर सब लोग मुग्ध हो गये। सबने उनके प्रस्तावका समर्थन किया और श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे उसे स्वीकार करें। परंतु दृढ़ प्रतिज्ञ श्रीराम टस-से-मस न हुए। उन्होंने कहा—'शोभा चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाको छोड़ दे, परंतु मैं अपने पिताके आदेशको नहीं छोड़ सकता'—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामको हिमालयके समान दृढ़ देखकर सब लोग आश्चर्य-चकित हो गये और धन्य-धन्य कहने लगे। चरित्रका यह उज्ज्वलतर स्वरूप अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ?

पादुकाग्रहण—जब भरतजीने देख लिया कि उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम कथमपि राज्य-भार ग्रहण करनेको प्रस्तुत नहीं हैं, तब उन्होंने श्रीरामके समक्ष स्वर्णकी चरण-पादुका रख दी और कहा—'आप इसे पहनकर मुझे दे दें। ये ही समस्त लोकका कल्याण करेंगी।' श्रीरामने वैसा ही किया। भरतजीने पादुकाको मस्तकपर चढ़ाकर कहा—'चौदह वर्षोंतक जटा-वल्कल धारणकर मैं मुनिवेषमें रहूँगा और फल-मूल खाकर नगरसे बाहर रहकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। यह पादुका राज्य करेगी और मैं सेवक बनकर राजकार्य देखूँगा। चौदह वर्ष पूर्ण हो जानेपर यदि प्रथम दिन आपका दर्शन न हुआ तो आगमें जलकर अपने प्राण दे दूँगा।' श्रीरामने 'तथास्तु' कहा और आँखोंमें आँसू भरकर भाई भरतको विदा किया।

रामवनगमनमें भरतजीका लेशमात्र भी दोष न था। अपने बड़े भाई श्रीरामको वनसे लौटानेके लिये जो कुछ सम्भव था, सब कुछ किया। जटा-वल्कल धारण कर चौदह वर्षोंतक फल-मूलपर जीवन-निर्वाह करनेका व्रत लिया। भूमिशयन तथा बाहर रहनेका भी व्रत लिया।

श्रीरामके स्थानपर उनकी चरण-पादुका सिंहासनपर रखी गयी। वही राजा थी। भरतजी उसके सेवक थे। राजकार्य पादुकाके समक्ष निवेदित किया जाता था। पश्चात् भरतजी मन्त्रियोंके परामर्शसे कार्य करते थे। उपहार-स्वरूप प्राप्त सुवर्ण आदि सब कुछ पादुकापर चढ़ाया जाता था। यह अलौकिक चरित्रादर्श भरतके सर्वथा अनुरूप था।

भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्में अनुपमेय है। क्या ऐसा कोई दूसरा उदाहरण है ? उन्होंने अनायास प्राप्त राज्यको तृण-सदृश समझा। कुलपरम्परागत मान्यता की और भ्राताकी अनुपस्थितिमें उनकी पादुकाको राजा मानकर सिंहासनपर बैठाया। इसमें भरतके प्रेम और चरित्रकी उत्कृष्टता देखते बनती है।

पञ्चवटीमें भरत-गुणगान—पञ्चवटीमें एक दिन प्रातःकाल भरतजीका गुणगान होने लगा। तभी लक्ष्मणजी बोल उठे—'जिसके पति महाराज दशरथ और पुत्र भरत-जैसा साधु और धर्मात्मा हो, वह माता कैकेयी इतनी क्रूर क्यों हो गयी ?' उक्त वचन सुनते ही परमोदार श्रीराम माताजीकी निन्दा न सह सके और बोले—'भाई लक्ष्मण ! मझली माताकी निन्दा न करो। इक्ष्वाकुनाथ भरतकी ही चर्चा करो'—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

श्रीरामने भाई भरतके शील और स्नेहकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विमाताकी भी निन्दा चरित्रके लिये दुर्गुण है।

गृध्रराज जटायुका दाह-संस्कार—गृध्रराज जटायुके मुखसे रावणद्वारा सीताहरणका वृत्तान्त सुनकर तथा उसे मृत देखकर श्रीराम-लक्ष्मण शोक-विह्वल हो उठे। उन्होंने करुण विलाप किया और अपने हाथोंसे चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया। गोदावरीमें स्नानकर श्रीरामने पिण्डदान किया और उसे सद्गति प्रदान की। इस कार्यसे एक नवीन संस्कृतिका निर्माण हुआ। पक्षी भी ऐसे धर्मात्मा तथा पराक्रमी होते थे। पराये स्त्रीके त्याग यह आदर्श-चरित्र पक्षिरूपमें जटायुने निभाया।

सुग्रीवका राज्याभिषेक—श्रीरामकी कृपासे सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य मिल गया। राज्याभिषेकके अनन्तर सुग्रीव अपने आवासपर विविध रत्नों एवं वस्त्रोंसे श्रीरामकी पूजा करना चाहते थे और इसके अनन्तर

बनाकर यहीं किष्किन्धामें रखना चाहते थे। श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—'पिताजीके आदेशसे मैं चौदह वर्षोंतक किसी ग्राम अथवा नगरमें नहीं जा सकता। अतः तुम्हारा अभिषेक वानरगण किष्किन्धामें यथाविधि सम्पन्न करें। मैं यहीं वनमें रहूँगा।'

शरणागत-पालक—रावणसे अपमानित होकर उसके भाई विभीषण श्रीरामकी शरणमें आये। वानरराज सुग्रीव-प्रभृति मन्त्रियोंने राक्षसोंकी प्रकृति तथा अविश्वसनीय बतलाया और उन्हें दण्डित करनेका सुझाव दिया। श्रीरामने मन्त्रियोंकी बात सुनकर कहा—'हाथ जोड़कर दीन भावसे शरणमें आये हुए शत्रुकी भी रक्षा करनी चाहिये। शरणागतकी रक्षा न करनेसे बड़ा पाप लगता है, अपकीर्ति होती है और बल-वीर्यका नाश होता है। सुना है कि एक कपोतने शरणमें आये हुए व्याधको अपना मांस खिलाकर बचाया था, जब कि वह व्याध उसका शत्रु था और उसने कपोतकी पत्नीका वध किया था। महर्षि कण्डुने शरणागतकी रक्षा करनेका विधान किया है। मैं उससे सर्वथा सहमत हूँ। एक बार भी जो मेरी शरणमें आकर 'तुम्हारा हूँ'—ऐसा कहता है, मैं उसे सर्वथा निर्भय कर देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीरामने विभीषणको अभयदान दिया। तुरंत समुद्रसे जल मँगाकर 'लङ्केश्वर' पदपर उसका अभिषेक कराया। श्रीरामके इस कार्यपर सबने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की और उन्हें साधुवाद दिया।

रावणका दाह-संस्कार—रावणका वध हो जानेपर विभीषण उसके दाह-संस्कारके लिये उद्यत न था। परमोदार श्रीरामने उसे समझाया और कहा—'विभीषण! तुम्हारी सहायतासे मैंने विजय प्राप्त की है। अतः मुझे तुम्हारा हित देखना है। रावण निस्सन्देह, सदा असत्य और अधर्ममें लीन रहता था तथापि वह बलवान्, वीर और तेजस्वी था। इन्द्रादि देवगण भी उसे परास्त न कर सके थे। जबतक प्राणी मर नहीं जाता, तबतक उससे शत्रुता रहती है। मर जानेपर कोई द्वेषभाव नहीं रह जाता है। जैसे वह तुम्हारा भाई है, वैसे हमारा भी है। अतः तुम उसका दाह-संस्कार करो।' विभीषणने तदनुसार दाह-संस्कार किया। चारित्र्यकी व्यापकतामें शत्रु भी शत्रु नहीं रहता।

महाराज दशरथका वरदान—लङ्का-विजयके पश्चात् सीताग्नि-परीक्षाके समय देवगणके साथ महाराज दशरथ भी लङ्कामें आये थे। उन्होंने श्रीरामको अयोध्या जाकर राजसिंहासनपर आसीन हो भाइयोंके साथ राज्य करनेका आदेश दिया। महाराज दशरथकी बात सुनकर श्रीरामने नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आप भाई भरत तथा माता कैकेयीपर प्रसन्न हो जायँ। आपने माता कैकेयीसे कहा था—'मैंने तुम्हें तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है।' आपका यह शाप माता कैकेयीपर न लगे। हाथ जोड़कर खड़े हुए श्रीरामसे महाराज दशरथने 'तथास्तु' कहा। यह श्रीरामके अलौकिक शीलका निदर्शन है।

दयामयी दीनवत्सला सीता—लङ्का-विजयके पश्चात् हनुमान् अशोकवाटिकामें सीताजीके विजयकी सूचना देने आये। सीताजी हनुमान्‌के मुखसे लङ्का-विजयका समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने हनुमान्‌से कहा—'हनुमन्! इस शुभ समाचारको सुनानेके बदलेमें मैं तुम्हें क्या दूँ? संसारका सुवर्ण, रत्न अथवा तीनों लोकोंका राज्य, यदि तुमको दे दिया जाय तो वह भी पर्याप्त न होगा।' हनुमान्‌ने कहा—'देवि! पतिका कल्याण चाहनेवाली आप-जैसी पतिव्रताके मुखसे ही ऐसी बात निकल सकती है। आपके वचन देवराज्य और सम्पूर्ण रत्नोंसे बढ़कर हैं।' पर हाँ! यदि आप आज्ञा दें, तो मैं इन राक्षसियोंको मार डालूँ; क्योंकि

इसी वाटिकामें आपको डराया, धमकाया तथा बहुत दुःख दिया है। इन क्रूर आँखोंवाली राक्षसियोंको मैं घूँसों, लातों, हाथों, जाँघोंसे मारकर दाँतोंसे तथा नाक-कान काटकर, बालोंको नोचकर मार डालना चाहता हूँ।'

इसपर यशस्विनी सीताने कहा—'वानरेन्द्र! ऐसा मत कहो। ये सब राक्षसियाँ तो राजाकी आज्ञाका पालन मात्र कर रही थीं। अब देखो, ये मेरी सेवा कर रही हैं, अतः इनपर तुम्हें क्रोध न करना चाहिये। यह दुःख तो मेरे भाग्य-दोषसे मिला था। अपने कियेका फल सबको भोगना पड़ता है'—

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वतीनां पराज्ञया।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम॥
भाग्यवैषम्यदोषेण पुरस्ताद्दुष्कृतेन च।
मयैतत् प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते॥
(वा० रा० ६। ११३। ३८-४०)

विभीषणकी प्रार्थना—लङ्का-विजयके बाद प्रातः विभीषणने श्रीरामसे कहा—'भगवन्! स्नान करनेके लिये जल, अङ्गराग, सुगन्धित तैल, वस्त्र, आभूषण, चन्दन और अनेक प्रकारकी दिव्य मालाएँ उपस्थित हैं। अलङ्कारकलाको जाननेवाली स्त्रियाँ भी उपस्थित हैं। वे सब आपको उत्तम रीतिसे स्नान करायेंगी।' इसपर श्रीरामने कहा—'सौम्य! तुम सुग्रीव-प्रभृति श्रेष्ठ वानरोंसे स्नान करनेको कहो। सत्यवादी, सुकुमार, महाबाहु भरत सुखभोग त्यागकर मेरे लिये कष्ट भोग रहे हैं। कैकेयीपुत्र भरतको देखे बिना मुझे स्नान, वस्त्र, आभूषण कुछ भी रुचिकर न होगा। मैं अभी अयोध्या जाना चाहता हूँ।'

उपर्युक्त प्रसङ्गोंके अध्ययनसे चरित्र-सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, जो मानवजीवनके संबल एवं समुन्नयनके लिये नितान्त अपेक्षित हैं।

रामायणमें चरित्र-निर्माण

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

'नत्वा रामायणं व्यासः!' परम्परागत समालोचना-प्रथित अनेक निर्विवाद तथ्यों एवं प्रमाणोंके आधारपर अब यह सर्वमान्य हो चुका है कि 'रामायण' भूतलका प्रथम काव्य तथा अति प्राचीन ग्रन्थ है। यदि यह कहा जाय कि रघुकुल-गुरु महर्षि वाल्मीकि-रचित रामायण वेदका ही रूप है तो अतिशयोक्ति न होगी—'रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद् बुधः।' इसी प्राचीनताके समयानुसार मानकर इस महान् ग्रन्थके परिप्रेक्ष्यमें चरित्र-निर्माणके तत्कालीन स्वरूप एवं महत्त्वपूर्ण निर्धारित मानदण्डोंका अवलोकन किया जाय।

नगर एवं नागरिक—दशरथपुत्रकी मर्यादोंका कोसल-पुरी इतिहास भारतीय संस्कृतिको उन्नत बनाता पहरानेमें सर्वदा अग्रणी माना जाता रहा है। इस महापुरुषोंकी आदर्श परम्परामें अद्वितीय कर्म-धर्म-वीर, ज्ञान-दान और शूरवीर हुए हैं। कोसल नामसे प्रसिद्ध जनपदकी प्रमुख अयोध्या नगरी, जो सूर्यवंशियोंकी राजधानी रही, रामायणद्वारा वर्णनसे तत्कालीन नागरिक संस्कृति और सम्पन्नताका आभास मिलता है। प्राचीनकालमें भारतके नगर इस कोटिके होते थे—

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम्॥
(वा० रा० बाल० ५। १९)

'देवलोकमें तपस्याके द्वारा प्राप्त सिद्धोंके विमानकी भाँति सुव्यवस्थित प्रसादोंसे अन्तःपुरोंका निर्माण अलौकिक था। अनेक श्रेष्ठ मनुष्यगण पुरीमें वास करते थे।'

इस पुरीके नागरिकोंके विषयमें आदिकवि कहते हैं—यहाँ समस्त स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्नचित्त एवं शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे—

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥
(वाल्मी० रा० बाल० ६।९)

यहाँतक कि सम्पूर्ण राज्यमें एक भी मनुष्य मिथ्यावादी, दुष्ट, परस्त्री-गामी (लम्पट) न था। सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमें शान्तिका साम्राज्य था—

तेषामासीन्नेकधुरीणानां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्॥
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥
(वा० रा० बाल० ७।१४-१५)

भारतीय संस्कृतिमें चरित्र-निर्माण-हेतु निर्धारित जिन सिद्धान्तों और सद्गुणोंके आचरणमें जनेका निर्देश दिया गया है, उनमें सर्वप्रथम है—अहिंसा।

अहिंसा—चित्रकूटकी पावन धरापर जब रघुवंशके दो नरपुङ्गव विचित्र परिस्थितियोंमें परस्पर मिलते हैं, तब श्रीराम भरतको कुशलक्षेमके बहाने जो विस्तृत उपदेश देते हैं, उसमें यह प्रश्न पूछते हैं—रघुनन्दन-भरत! जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, वह अपना कोसल देश धनधान्यसे सम्पन्न सुखपूर्वक तो रह रहा है न ?'

कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव॥
(वा० रा० अयो० १००।४६)

हिंसाका अर्थ केवल किसीको मौतके घाट उतार देना ही नहीं, वरन् भारतीय दार्शनिक चिन्तन तो मनसा, वाचा भी किसीके हृदयको ठेस पहुँचानेको हिंसा मानता है, इसीलिये तो दशरथ-राज्य मन्त्रिमण्डलके गुणों और नीति-सम्बन्धी विवरणोंमें ग्रन्थकार संकेत देते हैं—

अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम्—
(वा० रा० बाल० ७।११)

'शत्रु भी अगर अपराधी न हो तो उसकी भी हिंसा नहीं करते।' अयोध्या लौट चलनेकी अपनी प्रार्थनापर भरतका समर्थन करते हुए जब ब्राह्मणश्रेष्ठ जाबालि नास्तिक मतका अवलम्बन लेकर रामको अपने तर्कद्वारा समझानेका प्रयास करते हुए इहलौकिक धर्मको अपना-कर पारलौकिक धर्मको विस्मृत करनेको कहते हैं—'प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु'—तब उनके मतकी निन्दा करते हुए मर्यादापुरुषोत्तम घोषणा करते हैं कि—सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, प्रिय-भाषण, देव, अतिथि और ब्राह्मण-पूजाको ही साधु-पुरुषोंने स्वर्गका मार्ग बताया है—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥
(वा० रा० अयो० १०९।३१)

विदेहराजके परम पावन वातावरणमें सुसंस्कृत विद्या-सम्पन्न सीताने प्रथम बार जब विराधका वध और गड्ढा खोदकर उसका वीभत्स अन्त भी अपनी आँखों देखा, तब वे उद्विग्न हो उठीं। सुतीक्ष्णजीसे विदा लेकर जब दोनों भाइयोंने दण्डकारण्यकी ओर आगे प्रस्थान किया, तब विदेहकुमारीने स्नेहयुक्त वाणीमें रामसे अहिंसा-धर्मके विषयमें जो कुछ कहा, वह अत्यन्त भावपूर्ण विचार है। अरण्यकाण्डके ३२ श्लोकोंका सम्पूर्ण नवम सर्ग ही इसपर प्रकाश डालता है।

एक पक्षीकी निर्मम हत्यासे ग्रन्थरचनाकी प्रेरणा पानेवाले महर्षि भगवती सीताके मुखसे अहिंसाधर्मकी जो व्याख्या करवाते हैं, वह स्तुत्य है—

क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥
(वा० रा० अर० ९ । २७)

'कहाँ तो शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास ! कहाँ क्षात्रधर्म और कहाँ हिंसा-जैसा कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दयारूप तप—ये परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं, अतः आर्यपुत्र ! हम लोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये । (इस समय हम तापसी-वेषमें और वनप्रदेशमें हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन ही हमारा कर्तव्य है ।)' यह है भगवती सीताका कान्तासम्मित आदर्श चारित्रिक परामर्श ।

शोकाकुल अवस्थामें भी रावणकी कारामें बंदी बनी सीता जब हनुमान्‌द्वारा श्रीरामको अपना संदेश कहती हैं, तब अन्य बातोंके साथ ही इस बातका भी स्मरण दिलाती हैं कि 'वानरश्रेष्ठ ! भगवान् रामसे कहना कि—'दया करना सबसे बड़ा धर्म है, यह मैंने आपसे ही सुना है; आप मेरी परिस्थितिसे अनभिज्ञ नहीं हैं, आपका बल, पराक्रम और उत्साह महान् है'—

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतम् ।
जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम् ॥

भगवान् राम अहिंसाकी व्याख्याका परोक्ष निर्देश करते हुए स्वयं भी सीताको समाधान करते हैं कि—'देवि ! अहिंसाका अर्थ कायरता नहीं है । ब्राह्मण एवं साधुओंके परित्राणार्थ मुझे स्वयं पास पहुँचनेका उपक्रम करना था, पर वे स्वयं मेरे पास आये यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है । मैं उनके समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि 'अपने स्वजनके पालनार्थ आवश्यक हो तो मैं तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ । यहाँतक कि अपना जीवन भी अर्पित करनेको तत्पर हूँ'—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥
(वा० रा० अर० १० । १८)

बालि-वधके समय भी रामपर दोषारोपण ... जब बाली अपनी मृत्युको धर्म-विरोधी बताता है—'यद्धर्मेण त्वयाहं निहतो रणे'—तब ... पालन करनेवाले श्रीराम कहते हैं—

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्भवः ।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ।
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः ॥
(वा० रा० कि० १८ । २२-२३)

'कपीश्वर ! श्रेष्ठ कुलोत्पन्न क्षत्रियोचित ... अनुसार तुम्हारे अपराध क्षम्य नहीं थे । कन्या, ... अनुजवधूको कामदृष्टिसे देखनेवालेके लिये ... ही उपयुक्त विधान है ।' अहिंसा-धर्मपालनका ... उदात्त और उदाहरण क्या हो सकता है कि वैरीको भाई शब्दसे सम्बोधित किया जाय । जब विभीषण ... भ्राताको अधर्मी, क्रूर, निर्दयी, मिथ्यावादी तथा परस्त्री... कहकर उसका दाहसंस्कार न करनेको ही ... बताता है तब श्रुति-सेतु-पालक राम समझाते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥
(वा० रा० यु० १११ । १००)

'वैर तो मृत्युतक ही होता है । मरनेके बाद उस... भी अन्त हो जाता है । हमारा प्रयोजन सिद्ध हो गया है, अतः जैसे रावण तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी है, इसलिये उसका दाह-संस्कार करो ।' शील, संयम, इन्द्रिय-निग्रह या चरित्र ... संस्कृतिकी अपनी विशेषता है । संयम ही ... संसिद्धिका आधार है । वैसे तो रामायणका हर ... पात्र स्वयंमें शालीनताका उज्ज्वल प्रतीक है, ... रामका चरित्र स्नेह, शील और पराक्रमका ... समन्वय है । एक ओर ज्येष्ठ भ्राताका आदेश है कि—

अथाममता प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिश्रयं सर्वत एव शङ्कितः ॥

और दूसरी ओर परशुराम-जैसे पराक्रमीसे भी टक्कर लेनेमें तनिक भयभीत न होनेवाले सुमित्रानन्दन सीताके अति कठोर वचन 'सुदुष्टस्त्वं'-(तू बड़ा दुष्ट है-)को भी हर्षपूर्वक सहन करते हुए कहते हैं—'देवि! मैं आपकी बातका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराध्या देवीके समान हैं—

उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम।
(वा॰ रा॰ अर॰ ४५। २८)

चारित्रिक उत्कर्षताका सर्वोच्च नायक लक्ष्मण अपने आदर्शसे भारतीय पारिवारिक जीवनको धन्यता प्रदान करते हुए इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं कि देवर होकर भी उन्होंने आजीवन भाभीका मुख नहीं देखा। रावण-द्वारा अपहृत सीताके किष्किन्धामें गिराये आभूषणोंको पहचाननेके अवसरपर लक्ष्मणका प्रत्युत्तर है—'भैया! ये बाजूबंद और कुण्डल तो मेरे अपरिचित हैं, पर मैं इन नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ कि ये भाभीके ही हैं; क्योंकि प्रतिदिन चरणवंदनके समय मैं इन्हें देखता था—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥
(वा॰ रा॰ किष्कि॰ ६। २२)

कर्मद्वारा आचरण-भ्रष्टता तो सर्वविदित निन्दनीय कृत्य है ही, परन्तु रामायणका आदर्श तो मनमें आये कुविचारोंको भी क्षम्य नहीं मानता।

'मानिनमप्रमत्त' पवनपुत्र सीता-अन्वेषणमें संलग्न रात्रिके अन्तिम प्रहरमें जब दशग्रीवके अन्तःपुरमें अचेत एवं अर्धनग्नावस्थित नारियोंको देखते हैं, पर वहाँ श्रीसीताजीका दर्शन नहीं होता, तब धर्मके भयसे भयभीत हो उठते हैं और उनके हृदयमें संदेह उपस्थित हो जाता है कि—'मेरी दृष्टि अबतक कभी परस्त्रीपर नहीं गयी। यहाँ आनेपर मैंने न केवल परस्त्रीको इस रूपमें देखा, पर इस पापी रावणको भी देखना पड़ा।'

अपनी इस शङ्काका समाधान भी हनुमान्‌जी 'न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते' 'तया' तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया' के आधारपर स्वयं करके आश्वस्त हो जाते हैं। दूसरी ओर विरहसे व्याकुल देवी सीताकी अत्यन्त विकल दशा देखकर हनुमान्‌जी जब उनसे कहते हैं—'इतो गच्छ देवि! आप मेरी पीठपर बैठ जाइये, मैं अभी आपको इन राक्षसोंद्वारा हो रहे कष्टसे मुक्त कर भगवान् रामके पास ले चलता हूँ—'अस्मादुद्धृत्य दुःखात् पृष्ठमधिरोह'। तब सदाचारके धर्मका परिपालन करनेवाली विदेह-नन्दिनी पुत्रवत् पवनपुत्रसे कहती हैं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥
(वा॰ रा॰ सु॰ ३७। ६२)

'वानरवीर! (तुम्हारे साथ न चल सकनेका प्रमुख कारण और भी है कि) पतिभक्तिको हृदयंगम कर मैं श्रीरामके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषका स्वेच्छया स्पर्श करना नहीं चाहती।'

शील और सदाचार नारीके आभूषण हैं। संस्कार-मूलक अनुष्ठानका उत्तम-पक्ष मूलतः महिलाओंके हिस्सेमें रहा है। महर्षि वाल्मीकिके कथानकका खल-नायक रावण और उसकी पटरानी तथा राक्षस-परिवारकी महिलाओंका भी तत्कालीन सदाचार देखनेपर ज्ञात होता है कि वह कितना उच्च था। रावण-मरणके पश्चात् मंदोदरीका विलाप-प्रसङ्ग, सदाचार-समुद्भूत अनेक आदर्शोंको परिलक्षित करता है। इन्द्रियाँ यदि मानवके वशमें हों तो वे मित्र होती हैं, परंतु यदि मानव इन्द्रियोंके वशीभूत हो जायँ तो वे शत्रु बन जाती हैं। इसी सिद्धान्तकी परिपुष्टिमें मंदोदरी कहती है—'नाथ! इन्द्रिय-दमनद्वारा ही तो आप त्रैलोक्य विजयी

बने थे और उन्हीं इन्द्रियोंने आपसे प्रतिशोध कर आपको आज धराशायी कर दिया—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ।
स्मरद्भिरिव तद् वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः ।
(वा० रा० यु० १११ । १८, १९)

पातिव्रत—पातिव्रत धर्मके प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए मयनन्दिनी मन्दोदरी अश्रुपूरित नेत्रोंसे कहती है—'महाराज ! पतिव्रताओंके अश्रु इस पृथ्वीपर व्यर्थ नहीं गिरते, यह कहावत आपपर आज पूर्ण चरितार्थ हो रही है'—

प्रवादः सत्यमेवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप ।
पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले ।
(वा० रा० यु० १११ । ६६, ६७)

लज्जा—लज्जा नारीका भूषण है—इस सारगर्भित मन्तव्यको वर्तमानमें असभ्यता कहकर उसका न केवल उपहास उड़ाया जा रहा है वरन् खुलकर उसके सभी अंगोंपर कुठाराघात भी किया जा रहा है, जिसका दुष्परिणाम हमारे सामाजिक जीवनमें स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है । रामायणका आदर्श तो राक्षस-समाजके परिवेशमें रहनेवाली नारियोंकी लज्जाके तत्कालीन गुणोंकी ओर संकेत करते हुए दर्शाता है कि रावणकी सभी स्त्रियाँ कभी लज्जा परित्याग कर बाहर नहीं निकलती थीं—

पश्येष्टदारा दारांस्ते भ्रष्टलज्जानवगुण्ठनान् ।
बहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ।
(वा० रा० यु० १११ । ६२-६३)

मन्दोदरी विलाप करते हुए कहती है—'नाथ ! आप अपनी सभी स्त्रियोंसे अपार स्नेह करते थे, पर आज वे सभी लाज छोड़कर, परदा हटाकर बाहर आ गयी हैं । इन्हें देखकर क्या आपको क्रोध नहीं होता ?'

सत्य—सत्य ही परमेश्वर है, धर्मकी स्थिति सदा सत्यपर आधारित है, सत्य मूल (जड़) है । इससे बढ़कर अन्य कोई परम पद नहीं—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ।
(वा० रा० यु० १०९ । ११)

क्षमा—क्षमा वीरोंका भूषण है । विभीषण शरणागतिके समय अनेक मन्त्रियोंके विभिन्न परामर्शके पश्चात् भक्त-वत्सल श्रीरामका यह निर्णय कि यदि शत्रु भी शरणागत होकर दीनभावसे करबद्ध दयाकी याचना करे तो उसपर भी प्रहार अनुचित व्यवहार है—

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥
(वा० रा० यु० १८ । २७)

वाल्मीकिरामायणका सम्पूर्ण वृहद् कथानक चरित्र-निर्माण-हेतु किया गया अद्भुत प्रयोग है ।

तप—जो पुरुष स्वयं तपसे ही बनकर महर्षि वाल्मीकि कहलाये और तपहीके आधारपर जो ऐसा अनुपम काव्य जगत्को दे सके, भला वे इस प्रयासमें तपकी महत्ताको कैसे अछूता रखते । कथाका सम्पूर्ण श्रेय तपः प्रदान करते हुए महर्षि अपने ग्रन्थका शुभारम्भ 'तप' शब्दसे ही प्रारम्भ करते हैं; बल्कि प्रथम अर्धालीमें ही दो बार 'तप' शब्दका प्रयोग कर चरित्र-निर्माणके आधारभूत गुणकी ओर विशेष संकेत करते हैं—

'ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्'

और फिर इस ग्रन्थके महानायककी घोर तपस्या क्या कम है । इन्द्रके लिये भी जो समृद्धि दुर्लभ विषय हो, उस वैभवशाली राज्यको ठुकराकर वनवासी वेशमें नंगे पाँव घूमनेवाले तपःशिरोमणि तपस्वी रामको हमारा वन्दन । जिन्होंने उत्तम चरित्रके निर्माणका पथ प्रशस्त कर चरित्र-धर्मको महत्त्व दिया ।

संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधान

(लेखक—पं० श्रीमायाचरणजी झा)

वैदिक वाङ्मयसे लेकर सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय 'चारित्र्य-विधान'से परिपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा समग्र संस्कृत-काव्य-साहित्य एवं दर्शनके ग्रन्थ जीवनयात्राके कण्टकाकीर्ण पथपर—पग-पगपर—खड़े होकर मार्गदर्शन करा रहे हैं और उन कठिन, दुर्गम तथा वक्र मार्गोंको मङ्गलमय बना रहे हैं। यदि कहा जाय कि संस्कृत-वाङ्मयके सभी अङ्ग, सिद्धान्त एवं तर्क-वितर्क विभिन्न रूपोंमें चरित्र-विधानके ही पोषक हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। जितने भी उपदेश दृष्टान्त हैं, वे सभी अन्तिम रेखापर पहुँचकर केवल उदात्त चरित्रकी ओर इङ्गित करते हैं, उसीको चरम उपलब्धि समझते हैं। चारित्र्यविधान अतीत और अनागतके विस्तृत कालकी एकमात्र सुदृढ सोपान है। यहाँ इस संक्षिप्त निबन्धमें संस्कृतके कुछ विभिन्न ग्रन्थोंसे दो-चार मात्र उदरणोंके द्वारा यह प्रमाणित करनेका प्रयास किया जा रहा है कि समस्त संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधानको ही किस किसी रूपमें रचनाका चरम लक्ष्य माना गया है।

हम पहले मङ्गलाचरणके रूपमें 'वेद' तथा 'उपनिषद्' के दो-चार वाक्योंको उद्धृत कर संस्कृत-वाङ्मयमें प्रवेश करेंगे। वेदमें—(क) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः—अर्थात्—'कानोंसे भद्र बातोंको सुनें, आँखोंसे भद्र बातोंको ही देखें, 'यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः'—'समस्त लोकों एवं पशुओंका कल्याण हो' प्राणिमात्रकी कल्याण-भावनाद्वारा क्या यह चरित्र-निर्माणका मूलमन्त्र है! 'भरेयाम सुमेमहि, याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिस्म कंचन। एता सत्याशिषः सन्तु'—'हमें अतिथि प्राप्त हों, याचक मिलें, हम किसीसे याचना न करें; ये सत्य-आशीष प्राप्त हों' उदात्त चरित्रका यह महान् दिग्दर्शन है। भावनाको व्यापक बनानेकी यह मङ्गल-कामना है। इससे अपना चरित्र और समाजका कल्याण निर्मित होता है।

२—उपनिषदोंमें—'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य-स्विद्धनम्'—ये आर्ष-वाक्य डंकेकी चोटपर 'चारित्र्य-विधान' का दिव्य सन्देश प्रसारित कर रहे हैं। अब हम आदिकाव्य वाल्मीकिरामायणसे लेकर प्रमुख काव्य-ग्रन्थोंमें 'चारित्र्य-विधान'की उदात्त भावना देखें।

३—वाल्मीकीय रामायणमें—

(क)—यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव।
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति॥
(सुन्दरकाण्ड १ । २०१)

समुद्र-लङ्घनके अन्तमें हनुमान्‌जीको कहा गया है कि 'जिसे धैर्य, दूर-दृष्टि, स्थिरमति और दक्षता है वह किसी कार्यमें परेशान नहीं होता है एवं सदा सफल होता है।'

(ख)—नहि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न हि मे मनसा किंचिद्वैकृत्यमुपजायते॥
(सुन्दरकाण्ड २ । ११, ४१)

लङ्काके विशाल भव्य शृङ्गारमय राजमहलमें भ्रमण करते हुए हनुमान्‌जीको सहसा: स्वर्गीय सुन्दरियोंको देखनेपर कोई विकार मनमें नहीं हुआ और परनारीपर नजर नहीं गयी।

(ग)—क्रुद्धः पापं न कः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुष्यया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
(सुन्दरकाण्ड)

अर्थात्—क्रुद्ध व्यक्ति उपर्युक्त कोई भी कुकर्म कर सकता है, अतएव—

(घ) यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते॥

'जो व्यक्ति उत्पन्न क्रोधको क्षमासे निरस्त कर देता है, जैसे सर्प अपनी केंचुलको छोड़ देता है—उसे ही 'पुरुष' कहते हैं, वही पुरुषार्थयुक्त है।' क्रोधको छोड़ देना ही मानवता है, चारित्र्य-विधानकी इससे उत्तम विधि हो क्या सकती है!

(ङ) षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषान् विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
अथ मङ्गलवादानां शब्दान् श्रोत्रमनोहरान्।
प्राबुध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः॥
(सुन्दरकाण्ड १८।१-२)

यहाँ हनुमान्‌जीद्वारा लङ्कामें रावणके जागनेके समयका वर्णन करते हुए आदि कवि महर्षि वाल्मीकिने कहा है कि 'ब्राह्ममुहूर्तमें रावण सभी छः अङ्गोंके साथ वेदज्ञ विद्वानों एवं याज्ञिकोंके मन्त्रोच्चारण सुनता तथा कर्णप्रिय माङ्गलिक वेद-वाक्योंको सुनकर जगता था।' राक्षस रावणका भी यह दैनिक अद्भुत चरित्र था। क्या आजके भौतिकवादी भारतीय चरित्रके इस आदर्शकी ओर भी ध्यान देना चाहेंगे?

४-हनुमन्नाटकमें—स्वयं श्रीहनुमान्‌जीद्वारा रचित 'हनुमन्नाटक'के कुछ अद्भुत चारित्रिक वर्णन देखें—

(क) कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

लक्ष्मणजी रामचन्द्रसे कहते हैं कि 'सीताके आभूषणोंमेंसे मैं कानके कुण्डलों और हाथके कंगनको नहीं पहचानता हूँ, केवल प्रत्येक दिन चरणस्पर्श—पादाभिवन्दनके समय पैरके दोनों नूपुरों—पायलोंको पहचानता हूँ; सीताके ही ये हैं।' चरित्रके इस उ
पपर टिप्पणी अनावश्यक है।

(ख) [illegible]पि दुर्धर्षा लङ्का नाम महापुरी।
कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने।

लङ्का-दहनके प्रसङ्गमें भगवान् रामचन्द्रके
प्रश्नके उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं—

(ग) निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेन
पूर्वंदग्धाप्यियं लङ्का निमित्तोऽभवत् कपिः

'सीताजीके शोकोच्छ्वाससे तथा आपके क्रोध
लङ्का तो पहलेसे ही जल चुकी थी, यह वानर (
तो निमित्त मात्र हुआ।' स्वाधीनता-विनम्रता तथा
चारित्र्यका यह कितना मार्मिक विधान है, यह
भी चारित्र्यवान् समझ सकता है।

हनुमान्‌जीकी विनम्रताकी दूसरी उक्ति—

(घ) शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्र
यत्पुनर्लङ्घितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो त
(७।५

'वानरका पराक्रम तो एक डालसे दूसरी डा
कूदनामात्र है; इतने बड़े समुद्रलङ्घनमें तो केवल प्र
(आप रामचन्द्रजीका) ही प्रभाव है।'

५-श्रीमद्भगवद्गीतामें—वैसे तो सम्पूर्ण
चरित्रमय है, प्रत्येक पङ्क्ति उत्कृष्ट आचरण, संय
निष्कपट कर्म, कर्मसे प्राप्त भक्ति और भक्ति
उपलब्ध ज्ञानकी गरिमा प्रतिपादित करती है, जि
वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है, तथापि केवल एक
उदाहरणमात्र यहाँ देना आवश्यक है।

(क) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२।६१

अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें करके ही प्रज्ञा
सकते हैं, यह बिना उच्च चरित्रके सम्भव नहीं है

(ख) क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(२।६३)

क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मरणशक्तिका ह्रास, उससे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशके बाद सर्वनाश हो जाता है।' अतएव बिना क्रोध-मुक्त हुए चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता। यह गीताका संदेश है।

६—अब कविकुलगुरु कालिदासके कुछ काव्योंका सौरभ लें।

कुमारसम्भवमें—

(क) क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।
(१।१२)

अर्थात् नीचके भी शरणागत होनेपर उसे अपना लेना महत्ता है।'

(ख) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।
(१।५९)

'सभी विकारों, पथभ्रष्ट होनेके साधनोंके रहते हुए भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते हैं वे ही धीर हैं।' बिना शुद्ध चरित्रके क्या यह सम्भव है?

(ग) न केवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।
(५।८३)

'अपशब्दोंका प्रयोग तो दूर रहे, उनके श्रवण भी पापके कारण हैं।' अतः अपशब्दका प्रयोग न करे।

७—रघुवंशमें—गो-सेवाका चरम आदर्श उपस्थित किया गया है। दिलीपने गौकी आदर्श-सेवा की है। आज गोवंश उपेक्ष्य हो गया है।

(क) आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां
कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैश्च तस्याः
सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥

महाराज दिलीपके वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्र-निर्माणका इससे उत्कृष्ट क्या उदाहरण हो सकता है?

अभिज्ञानशाकुन्तलमें—नाटकके आदि भागमें ही महाराज दुष्यन्तको कण्वके आश्रममें प्रवेश करते समय वैखानस कहता है—'एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः तत् प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथ्यसत्कारः' अर्थात् मालिनी नदीके तटपर कुलपति कण्वका आश्रम है, अतएव बड़ी शालीनता, बड़ी विनयके साथ प्रवेश करके आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करें जिससे वहाँ किसी भी कार्यमें जरा भी विघ्न-बाधा न हो। आश्रममर्यादाकी रक्षामें चारित्रिक शीलताका यह निदर्शन आजके विद्यार्थियोंके लिये अनुकरणीय आदर्श है।

(ख)—भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः—(५।१२)

फल होनेसे वृक्ष नम्र होते हैं, इत्यादि वाक्य चरित्रोन्नायक हैं। चरित्र-विधानके लिये नम्रता आवश्यक गुण है।

८ मेघदूतमें—तो कविकुलगुरुने 'अर्थान्तरन्यास' अलंकारके चमत्कारमें चारित्रिक दिग्दर्शनसे चमत्कृत कर दिया है। यथा—

(क)—'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा',
(पूर्वमेघ)

'गुणवान् व्यक्तियोंसे याचना निष्फल होना श्रेष्ठ है, लेकिन नीचसे याचना सफल होना भी निकृष्ट है।'

(ख)—'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः'
(पूर्वमेघ)

'मित्रोंके कार्यको अपना समझ महान् व्यक्ति मन्द नहीं होते हैं।'

(ग)—न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।
(पूर्वमेघ)

'नीच व्यक्ति भी मित्रके पूर्वकृत उपकारको स्मरण करके विमुख नहीं होते हैं, जो महान् हैं उनका तो क्या कहना है।'

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

कामिनी-काञ्चनपर विजय और समदर्शी होनेका इतने स्वल्प शब्दोंमें इतना बड़ा उपदेश शायद ही अन्यत्र कहीं हो । यह पद्य गायत्रीमन्त्रके समान पवित्र है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

सारांश यह कि यदि अच्छा फल चाहते हैं तो कर्म भी वैसा ही करें । ऐसा नहीं कि पुण्यका फल चाहें और पापकर्म करें, जैसा कि सामान्यतया देखा जाता है—जब कि पापका फल वाञ्छनीय नहीं है ।

'क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।'

संसारके सभी आभूषण तुच्छ हेय या नाशवान् हैं, केवल 'वाणी' ही सच्चा आभूषण है । फलतः चारित्र्यनिर्माण-हेतु सत्य-प्रिय-मधुरभाषी बनें ।

'योऽर्थे शुचिः स हि शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः'

साबुन-शैम्पूसे 'काय' स्नेनेसे पवित्रता नहीं होती, पवित्रता तो अर्थ-धनके आदान-प्रदान, उसके प्रति अनासक्तभाव होनेसे ही सम्भव है ।

एकेनापि सुपुत्रेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥

'एक सुगन्धित पुष्पसे भी जैसे सम्पूर्ण वन सुरभित होता है, वैसे ही एक ही सुपुत्रसे वंश उज्ज्वल होता है ।' चारित्र्य-सम्पन्न पुत्र ही सुपुत्र है ।

१२—महाकवि 'माघ'के 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें शालीन व्यवहारका दिग्दर्शन कराते हुए नारदजी श्रीकृष्णके यहाँ पहुँचते हैं तो भगवान् ... कहते हैं—

हरत्यघं सम्प्रति ...
... शुभस्य ...
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥
(१ । २६)

(आप नारदजीके) दर्शन अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालोंके मेरे पुण्योंके परिणाम हैं ।'

त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः
किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि ।
(१ । ११)

नारदजी कहते हैं कि आप ही (श्रीकृष्ण ही) सभीके लिये साक्षात्करणीय हैं—दर्शनके उद्देश्य हैं, इसके अतिरिक्त योगियोंके लिये भी कौन-से महान् कार्य हैं ? अर्थात् आपके दर्शनसे मोक्ष भी न्यून है ।

स्वाभिमानिताका उपदेश देते हुए 'माघ' कहते हैं—अपमानित जीवनसे धूलि ही श्रेष्ठ है, जो पैरके ठोकरसे ऊपर उठती है ।

१४—महाकवि 'श्रीहर्ष'ने अपने अति प्रसिद्ध नैषधीयचरितम्‌में विद्याकी व्यावहारिक प्रक्रियाका निर्देश किया है—

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर मां यदत्यजस्तव धर्मः सदयो दयोज्ज्वलः ॥

'निगमागमनिष्णात राजा भी शिकारसे विमुख नहीं होते, फिर भी आपने जो मुझ हंसको छोड़ दिया है, वह तो आपकी उज्ज्वल दया-धर्मका ही उदाहरण है । दया चरित्रका उत्कृष्ट गुण है ।

१५—अन्तमें हम यहाँ महाकवि बाणभट्टकी 'कादम्बरी'से 'शुकनासोपदेश'की कुछ पङ्क्तियोंको उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं । यदि महाभारतमें सारभूत आप्तवत् 'भगवद्गीता' है तो ... [illegible] ...शोपदेश है, जिसे मनीषिगण ... [illegible] ...हैं ।

[illegible] प्राप्त करना यदि ...[illegible]...नो स्वदेशका बना

बचाना तो अवश्य है। अपने दीर्घकालीन अध्यापन-कालमें छात्रोंके विश्लेषणके क्रममें शाश्वत सत्यके रूपमें स्थित सूक्त मेरी पङ्क्तियाँ बहुचर्चित रहीं। इसमें भी काञ्चनकी प्रभुता ही कामिनीके प्रति संलग्नताकी मुख्य जड़ी है—यह स्पष्ट है। संस्कृत-वाङ्मयकी प्रत्येक रचना इन दोनों (कामिनी-काञ्चन)से बचने—सतर्क रहने, सावधानतासे उपयोग करनेकी शिक्षा देती है। यही चरित्र-निर्माणका मूलाधार है। जो इससे बचा, वह चरित्रवान् बना।

'शुकनासोपदेश'में बाणभट्टने कुमार चन्द्रापीडको राज्याभिषेकके बाद ही वृद्ध विद्वान् 'शुकनास'के द्वारा लक्ष्मी-मदसे बचनेके उपाय लक्ष्मीके प्रबल अमेय-आहरिमेय प्रभावका जो वर्णन किया है, वह न केवल संस्कृत-वाङ्मय या भारतीय वाङ्मय अपितु विश्ववाङ्मय-का अद्भुत अद्वितीय उदाहरण है जो परम कटु होते हुए भी परम सत्य है। उसीका कुछ मात्र अंश 'चारित्र्य-विधान'के मूल स्रोतके रूपमें मैं उद्धृत कर रहा हूँ। शुकनासका कथन है—

'अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः, न क्षे-ममपरिचितमिव जगति किञ्चिद् यथेयमनार्या। लब्धाऽपि खलु दुःखेन परिपाल्यते, दृढगुणपाश-संदाननिष्पन्दीकृताऽपि नश्यति। न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रममनु-वर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति।'

तात्पर्य—यह अनार्या लक्ष्मी सबकी अपरिचित है, युक्तिसे रखनेपर भी नष्ट होती है तथा इसके लिये कोई गुण, कोई धर्म, कोई योग्यता, कोई भी उदात्त चरित्र हेय है, त्याज्य है, अग्राह्य है। यह देखते-देखते गंधर्वनगरके समान अदृश्य हो जाती है।

'कुमार, महामोहान्धकारिण्यपि राज्यतन्त्रे तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः न निन्द्यसे साधुभिः न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः न शोच्यसे विद्वद्भिः।'

'ईश्वराणां दधानाप्यविधेयप्रकृतिं दधाना, अमृत-सहोदराऽपि कटुविपाका, संवर्धनवारिधारा तृष्णा-विषवल्लीनाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरःपताका सर्वा-विनयानाम्, प्रस्तावना कपटनाटकस्य—इत्यादि।'

अर्थात्—सर्वथा मोहान्धकारके गर्तमें ढकेलनेवाली यह लक्ष्मी अकल्याणकारिणी, सभी दुर्गुणोंकी खान, सभी अविनयोंकी विजयपताका तथा सभी कपट-छद्म नाटकोंकी प्रस्तावनास्वरूपा है।

अतएव कुमार! ऐसा प्रयत्न करो कि साधु, विद्वान् तुम्हारा उपहास-निन्दा न करें। मित्रगण उपालम्भ न और कोई भी व्यक्ति तिरस्कार नहीं करे। चरित्र ऐसा आदर्श बनना और बड़ोंकी संगतिसे निर्मित हो सकता है।

उपसंहार—

इन संक्षिप्त उपर्युक्त कुछ उदाहरणोंसे ही यह स्पष्ट है कि समग्र संस्कृत-वाङ्मय 'चारित्र्य-निर्माण' प्रक्रियासे परिपूर्ण है। क्या भारतीय प्रशासन और राष्ट्रके नीतिनिर्धारक व्यक्ति इस ओर अब भी ध्यान देंगे जब कि भारतसे चरित्रका ह्रास होता जा रहा है!

भगवान् इस राष्ट्रकी रक्षा करें यही प्रार्थना—मङ्गलकामना है।

महाकवि कालिदासकी चारित्रिक उद्भावनाएँ

(लेखक—श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय)

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वोंको, प्रकृतिकी अवस्थाओंको एवं मानव-मनके चाञ्चल्य स्थैर्यादि भावोंको अपनी सूक्ष्म अनुभूति एवं ज्ञान-चक्षुसे अत्यन्त समीपसे परखते हैं। कालिदासका लोक-सामञ्जस्य अपने-आपमें अनूठा है। कालिदास पूरे विश्वके कवि हैं। अतः इतनी लम्बी युगयात्राके बाद भी उनकी काव्यामृतधारा शिथिल होती नहीं दीखती। फलतः कालिदास नाम अब भारतीय संस्कृति, शास्त्र, तत्त्वज्ञ चिन्तन आदिका पर्याय बन चुका है।

कालिदासकी विशेषता उपमाके साथ जुड़ी हुई है। उपमालंकारका सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें तीव्र अनुभूति और गहरी संवेदना होती है। यह अनुभूति उपमेय और उपमानके बीच सादृश्यको याथातथ्य रूपमें चित्रित करती है। इसमें अतिशयोक्ति आदिकी तरह मात्र कोरी कल्पना नहीं होती। अतः कालिदास अपने काव्योंमें सर्वत्र मानवीय किंवा प्राकृतिक गुणोंकी ही अन्वेषणा करते हैं। प्रकृतिके विशेष पूजक होते हुए भी महाकवि कालिदास आदर्श मानवताके स्रष्टा हैं।

चरित्रको सदासे ही प्रधानता प्राप्त हुई है। अतः मानवके चारित्रिक गुणोंकी परिकल्पना कालिदासने अत्यन्त प्रौढ़ता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकताके साथ की है। महाकविने चरित्रके प्रत्येक पहलूपर अपना विचार प्रकट किया है। रघुवंश महाकाव्यमें उन्होंने रघुवंशियोंके गुणोंका क्रमशः आख्यान किया है—आजन्मशुद्धता, फलप्राप्तिपर्यन्त कार्यसंलग्नता, यथाविधि यजन, दानशीलता, अपराधकी कठोर दण्ड-व्यवस्था, त्याग, सत्यता, मृदु-भाषिता, यशके लिये विजय करना, प्रजाका पालन करना, शैशवकालमें विद्यार्जन करना, यौवनकालमें विषय-सेवन, वृद्धावस्थामें वानप्रस्थवृत्तिका परिपालन एवं योगद्वारा इस शरीरका परित्याग करना इत्यादि।[1]

भारतीय संस्कृतिकी मूल विचारधाराओंके अनुकूल एक मानवमें इससे अधिक चरित्र-निर्माणकी और क्या कल्पना हो सकती है! दिलीप एवं रघु आदिमें ये सभी गुण विद्यमान थे। इतना ही नहीं, इनके अतिरिक्त भी महाकविने रघुमें अन्य चारित्रिक गुणोंको दर्शाया है। बुद्धिके सात सूक्ष्मभेद होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

> शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

इन्हीं गुणोंसे व्यक्ति महान् होता है।

महाकवि कालिदासके अनुसार यहाँ कतिपय चारित्रिक गुणोंका उल्लेख किया जा रहा है।

संयम—संयम मानव-जीवनको देवत्वकी ओर ले जाता है। संयमी व्यक्ति संसारमें प्रतिष्ठित होता है। संयमद्वारा मृत्युपर विजयकी परिकल्पना भारतीय संस्कृतिमें प्राप्त होती है। रघुवंशियोंमें कालिदासने इसी वैशिष्ट्यको दिखाया है। कालिदासका प्रत्येक प्रधान पात्र संयमी है। कविने महाराज दिलीपके जीवनमें संयमके स्थायी भावको दिखाया है—

> अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
> तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥
> (रघु० १।२२)

'विषयवासनापर संयम होनेके कारण राजा दिलीप यौवनकालमें भी वृद्धके महत्त्वको प्राप्त थे।' महाकवि कालिदास कामवृत्तिसे विमुख हो मान-

---

[1] सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्। आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
......................................रघूणामन्वयं वक्ष्ये..........॥ (रघु० १।५)

उनकी ऊर्ध्वगामिनी यात्रामें विश्वास करते हैं। काम-संतप्त होकर प्रेमके लिये पैर उठानेको वे तुच्छ एवं गर्हित समझते हैं। उनके कुमारसम्भवमें माता पार्वती शंकर भगवान्‌को धर्मभावनासे प्राप्त करना चाहती हैं। वे शिवको अशुभ, योगी एवं अकिंचन जानते हुए भी तपस्यामें संलग्न दीखती हैं—

ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं
न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते।
(कुमा० ५।८२)

मनुष्य अपने जीवनमें पारमार्थिक धनकी प्रेरणा, सदाचरण आदिसे संतुष्ट एवं सुखी रहता है।

त्याग—मनुष्यमें त्यागकी भावना, लोकोपकारिता एवं सद्भावनाकी इच्छा होनी चाहिये। दीन-हीन-संतप्त जनोंकी हित-कामनामें संलग्न मनुष्य ही मानवताका सबसे बड़ा आदर्श प्रमाण होता है। महाराज दिलीप अपने राज्यमें प्रजासे जितना कर ग्रहण करते थे, उससे अधिक वे उन्हें प्रदान भी करते थे। यह त्यागकी ही भावना है। त्यागके लिये संग्रहकी प्रवृत्ति मनमें उत्पन्न होनेसे मनुष्य त्याग नहीं कर सकता। अतः राजा दिलीप या दुष्यन्त प्रजा-हितमें ही संलग्न रहना अपने जीवनकी चरम-परिणति मानते हैं; यथा—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥
(रघु० १।१८)

× × ×

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥
(शा० ५।७)

अन्तःशुद्धता—मनुष्यका मन पावन होना चाहिये। अन्तर्बोध चेतना एवं आत्मामें पवित्रताकी मन्दाकिनी अजस्र प्रवाहित होती रहनी चाहिये। मानसकी शुद्धताका महाकविने सर्वत्र ध्यान रखा है। माँ सीता परित्याग-दुःखसे दुःखित होकर माता वसुंधरासे प्रार्थना करती हैं—'यदि मैंने वाणी, मन एवं कर्मसे पतिके विपरीत आचरण न किया हो तो हे विश्वम्भरे! माते, आज तुम्हारी बेटी तुम्हारी गोदमें सदाके लिये प्रविष्ट हो जाना चाहती है।'

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि॥
(रघु० १५।८१)

हुआ भी यही—उस विशुद्धात्मा सतीके करुण क्रन्दनसे धरित्रीकी छाती फट गयी—

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात्॥
(१५।८४)

राजा दुष्यन्त कण्वाश्रममें प्रविष्ट हो शकुन्तलाको देखते हैं और प्रथम दर्शनमें ही उसके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं। अपनी अनुरक्तिका कारण सोचते हुए वे कहते हैं—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

'मेरे आर्य मनमें अयोग्य कन्याके प्रति अनुराग उत्पन्न हो ही नहीं सकता।' ऐसा आत्मविश्वास उसी व्यक्तिको हो सकता है जिसकी चित्तवृत्ति अत्यन्त सात्त्विकी, स्वच्छ एवं संशयविमुक्त हो।

सेवाभावना—अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्ति या आराध्यके प्रति मनुष्यके मनमें सहज सेवाभाव होना चाहिये। सेवाकी जितनी दिव्य निदर्शना महाकवि कालिदासने रघुवंशमें प्राप्त होती है, सम्भवतया वैसी [illegible] अन्यत्र

विश्वके किसी भी साहित्यमें विरले ही समुपलब्ध होगी। महाराज दिलीप गो-सेवामें निरत हैं। जब नन्दिनी चलती है तब वे भी चलते हैं, जब वह खाती है तब वे भी भोजन करते हैं, जब वह आराम करती है तब वे आराम करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरहसे छाया अपने आश्रयका अनुसरण करती है।* नन्दिनीके सिंहसे आक्रान्त हो जानेपर राजा दिलीप अपने प्राणोंका भी उत्सर्ग करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। वे सिंहसे अपने शरीरका भक्षण कराकर बदलेमें गायको छोड़नेके लिये कहते हैं—

> सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण
> न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
> न पारणा स्याद् विहता तवैवं
> भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥
> (रघु० २। ५५)

शुश्रूषा मानवका नैतिक कर्तव्य है। शाकुन्तल-नाटकमें महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको शुश्रूषाका दिव्य मन्त्र दिया है। मानव-जीवनकी सफलता अपने चतुर्दिक् प्रेम उत्पन्न करनेमें ही है। प्रेम सेवासे पुष्ट होता है। अतः महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको संदेश दिलाया है—

> शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
> भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
> भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
> यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
> (शा० ४। १८)

नारी-शरीर भोगेप्सु-लोकका आधारमात्र ही नहीं है। महाकविने नारीके कार्यगौरवका उल्लेख करते हुए उसके चरित्रको अतिविस्तृत दिखलाया है। रूपाश्रयी रचनाएँ भी उनमें अवश्य हैं, लेकिन उस प्रचण्ड काम-प्रवाहमें वे बहते नहीं हैं। वहाँ भी उन्हें नारीके अनेक विशुद्ध स्वरूप दिखायी पड़ते हैं। अतः उनका अज इन्दुमतीके पार्थिव शरीरके लिये नहीं, अपितु उसके आन्तरिक सौन्दर्य, शील, लज्जा, सहयोग आदिके दारुण विप्रयोगसे दुःखित हो चीत्कार कर उठता है।

> गृहिणी सचिवः सखी मिथः
> प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
> करुणाविमुखेन मृत्युना
> हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥
> (रघु० ८। ६७)

निरभिमानिता—क्षुद्र अहंकारसे प्रेरित किया हुआ सभी अनुष्ठान तामसी माना जाता है। तामसी दानसे सात्त्विक ग्रहण उत्तम होता है। महाकविके प्रत्येक प्रधान पात्रमें निरभिमानिता और निरभिलाषिता झलकती है। द्वारपर आये हुए अतिथिका स्वतः दौड़कर स्वागत करना रघुवंशी राजाओंको कुलक्रमसे प्राप्त है। वे अतिथि-को देवता मानते हैं, अतः उनकी पूजा करते हैं। कौत्स और रघुका प्रथम मिलन और सत्कार कितना श्लाघ्य और अनुकरणीय लगता है—

> तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञ-
> स्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
> विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्
> कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच॥

भारतवर्ष दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले समुचित पात्रोंका देश है। यहाँका याचक अपनी आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता और दाता उसे अधिक देना चाहता है। आज हमारा यह पूर्व चरित्र न जाने भूलके किस अन्तरालमें सिमटकर दग्ध हो गया। आज भी हमें अपने आचरणको लोकविश्वासी बनानेकी आवश्यकता है, जैसा कि रघु और कौत्सके प्रति अयोध्याकी जनता विश्वस्त थी, यद्यपि दाता राजा है, याचक वनवासी साधारण अध्येता।†

---

* स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ (रघु० २। ६)

† जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ। गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी …

छल-कपटका वर्जन—अपने किसी भी कर्मसे किसी अन्य व्यक्तिको छलना एक अधम वृत्ति है। इस वृत्तिसे व्यक्तिका अधःपतन होता है। महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके संवाहक कवि हैं। उन्होंने छल-कपट विधायक कर्मोंकी अत्यन्त तीक्ष्ण शब्दोंमें भर्त्सना की है। राजा दुष्यन्त शकुन्तलासे अपने ऐकान्तिक सम्बन्धको स्वीकार न कर उसे लाञ्छित करते हैं। इसपर शकुन्तलाका पवित्र चित्त आहत होकर विक्षुब्ध हो उठता है। वह कहती है—अनार्य! अपने हृदयके ही समान दूसरेके हृदयको समझते हो। तुम्हारी धर्मकञ्चुकयुक्त आकृति ठीक उसी तरह की है, जिस तरह तृणच्छन्न-कूपकी प्राणघातक भयंकरता अदृष्ट होती है। एक राजाको एक साधारण नागरिक राजसभामें इस तरह तभी कह सकता है, जब उसके अन्तरमें सात्त्विक तेजस्वी चमचमाती अप्रतिहत दीप्ति दमकती हो। यही नहीं शार्ङ्गरव राजाको अत्यन्त तिरस्कृत भी करता है—

आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यः
तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यैः
विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥
(अभि० शाकु० ५।२५)

अतः छल-कपट, परापकार-वृत्तिका दूसरोंको ठगनेवाला व्यवहार वर्जित होता है, उसे सर्वत्र पददलित और अपमानित होना पड़ता है।

महाकवि कालिदास शारीरिक सुन्दरताको निरर्थक तो कहते ही हैं, रूप-सौन्दर्य आभ्यन्तरिक एवं आत्मिक ऐश्वर्यका भी प्रदर्शन करते हैं। सच्चरित्र, आत्म-शुद्धि, बुद्धि-शुद्धि आदि चारित्रिक गुणोंसे मानव देवत्वको प्राप्त ही नहीं करता अपितु उसे अतिक्रमण कर और ऊपर उठता है। कालिदासने कतिपय श्लोकोंमें मर्यादाओंसे भरे भारतीय मानव पुरुषके धैर्य, वीर्य एवं गुणोंसे हमें अवगत कराया है। महाकवि दीर्घकाल् सात्त्विकके गुण पुरुषको तैयार करनेमें अनवरत संलग्न रहते हैं। उनका नायक धीर, गम्भीर एवं संयमी होता है। यथा—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥
(रघु० १।२२)

आजके इस अर्थप्रधान युगमें द्रव्यके लिये मनुष्य अनैतिक कार्य करनेके लिये उद्यत है। उसकी मनोवृत्ति धन-लोलुप है। ऐसी स्थितिमें कालिदासके मनुष्य यदि अपने सात्त्विक अभियानमें सत्यको पकड़ता है तो वह पूज्य है, नमस्य है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थोंका सामञ्जस्य सेवन समाजको स्थिरता प्रदान करता है। अतः चारित्रिक शिक्षाका महत्त्व ऐसे युगमें अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रकृति हम सबके लिये सुलभ है। उपवन पुष्पित हैं, पुष्प अभिराम हैं, धरती सौरभसे मधुसे परिपूर्ण है। मात्र आवश्यकता है शुद्धि-बुद्धिकी जो सत् और असत्को विवेकसे जाननेमें लगे, ताकि आनन्द ले सके। कालिदासकी कविता प्रकृतिको प्रत्यक्षकर मन-प्राणका अभिषेक करनेमें महाकवि तत्पर बैठे हैं।

अभिज्ञानका स्वर वैशिष्ट्य, क्योंकि कालिदास् स्वयं भी अभिज्ञानदीप्त हो संसारका मार्गदर्शन करते हैं। वही हमें सन्मार्गके प्रति प्रेरित करेंगे—

[illegible]।
[illegible]॥

जैनदृष्टिमें चारित्र

(लेखक—डॉ० श्रीरञ्जन सूरिदेव, एम्० ए० (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत-हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी-एच्० डी०, साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-जैन-दर्शन-शास्त्राचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

चरित्र मानव-जीवनके उदात्तीकरणका सर्वसामान्य मूलमन्त्र है। इसीलिये ब्राह्मण और श्रमण सभी सम्प्रदायोंके भारतीय शास्त्रकारोंने एक स्वरसे प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रपर ध्यान रखनेका आदेश दिया है—'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः' (शार्ङ्गधर प०)। चरित्र-बल सबसे बड़ा बल माना गया है। भगवान् महावीरने तो 'चारित्र'को मोक्षमार्गके प्रधान अङ्गके रूपमें स्वीकृत किया है। ज्ञातव्य है कि जैनाचार्योंने प्रायः 'चरित्र'की जगह सर्वत्र 'चारित्र' शब्दका व्यवहार किया है।

जैनियोंकी बाइबिल—आचार्य उमास्वाति (ई० प्रथम शती) रचित 'तत्त्वार्थसूत्र'का पहला ही सूत्र है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्गके निर्देशक उपायभूत तत्त्व हैं। 'पञ्चाध्यायी', (श्लोक सं० ४१२-४१३)में भी कहा गया है कि तत्त्वार्थकी प्रतीतिके अनुसार क्रिया करना 'चरण' या 'आचरण' कहलाता है; अर्थात् मन, वचन और कायसे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त रहना चरण है—

'चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु।'

'तत्त्वार्थसूत्र'की टीका 'सर्वार्थसिद्धि'-(१। १। ५। २)में इसी चरणको चारित्र माना गया है—'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्।' अर्थात् जो आचरण करता है या जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र 'चारित्र' है।' 'भगवती-आराधना' (८। ४१। ११)में कहा गया है कि 'जिससे हितको प्राप्त करते हैं और अहितका निवारण करते हैं, उसे 'चारित्र' कहते हैं' अथवा सज्जन पुरुष जिसका आचरण करते हैं, उसे ही 'चारित्र' समझना चाहिये—चरति याति येन हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति तच्चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम्। जैनलोग प्रायः निवृत्तिमार्गी होते हैं, इसलिये वे मूलतः संसारकी कारणभूत बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओंसे निवृत्त होनेको ही 'चारित्र' मानते हैं।

व्यवहारनय (व्यापक दृष्टिकोण) तथा निश्चयनय-(आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण)के अनुसार चारित्र दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। इन्द्रिय-संयम बाह्य चारित्र है और प्राणसंयम आभ्यन्तर चारित्र—यद्यपि विविध निवृत्तिमूलक परिणामोंकी दृष्टिसे चारित्रके असंख्य भेद होते हैं। महाव्रतों, ईर्या (परिभ्रमण)* आदि पाँच समितियों, मन, वचन और काय—इन त्रिगुप्तियोंका पालन करना तथा क्षुधा, तृष्णा आदि बाईस परीषहोंको सहन करना—ये चारित्रकी भावनाएँ हैं। चारित्रमें 'सम्यक्' विशेषणका प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरणके लिये ही किया गया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद ही सम्यक्चारित्र सम्भव होता है।

'आत्मानुशासन'-(श्लोक सं० १२०-१२१) में उल्लेख है कि साधु पुरुष पहले दीपकके समान प्रकाश-प्रधान होते हैं, तदनन्तर वे सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे सुशोभित होते हैं। पुनः वे बुद्धिमान् साधु पुरुष मिथ्यात्वके त्याग और सम्यक्त्वके ग्रहणरूप दीपज्योतिके समान ज्ञान और चारित्रसे स्वपरप्रकाशित होते हैं। उसके बाद वे कर्मरूप काजलको वमन (निःसृत) कर दें और परको प्रकाशित करते हैं—

* इसकी व्याख्या इसी लेखमें आगे की गयी है।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी ।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥
भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः ।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमत्कर्मकज्जलम् ॥

पूर्वोक्त महाव्रत, समिति, गुप्ति और परीषहजय चारित्र-रूप चारित्र शुद्धात्माकी प्राप्तिका कारण है और बाह्य-शुद्धि (शरीरशुद्धि) तथा आभ्यन्तर-शुद्धि-(मनःशुद्धि-) का सहायक कारण । 'चारित्रप्राभृत'-(गाथा सं० ९)के अनुसार—जो ज्ञानी अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरणरूप चारित्रसे शुद्ध होते हैं, वे यदि संयमाचरणरूप चारित्रसे भी शुद्ध हो जायँ तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं । 'बृहद् नयचक्र'-(गाथा सं० २०४)के अनुसार, सराग अवस्थामें भेदोपचाररूप जिस चारित्रका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग-अवस्थामें अभेद और अनुपचारसे आचरण करना चाहिये । सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओंका विकल्प रहता है और वीतराग-अवस्थामें उनका विकल्प नहीं रहता । सराग चारित्रमें दृष्टि बाह्य-त्यागके प्रति जाती है और वीतराग-अवस्थामें अन्तरङ्ग-त्यागके प्रति ।

इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टिमें चरित्र केवल सदाचार या शिष्टाचारतक ही सीमित नहीं, अपितु संयमका ही पर्याय है, जो निर्वाण-प्राप्तिके कारणभूत तत्त्वोंसे जुड़ा हुआ है । यहाँ मोक्षमार्गकी प्राप्तिके कारणभूत चारित्रके सामान्य तत्त्वोंका विवरण उपस्थित किया जा रहा है ।

महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे मन, वचन और कायद्वारा निवृत्त होना व्रत है । दूसरे शब्दोंमें, दोषोंको समझकर उनके त्याग या उनसे विरतिकी प्रतिज्ञा करनेके बाद पुनः उनका सेवन न करनेको व्रत कहते हैं । इसी व्रत अल्पांशमें विरति होनेसे 'अणुव्रत' (गृहस्थोंके लिये) और सर्वांशमें विरति होनेसे 'महाव्रत' (साधुओंके लिये) कहलाता है ।

समिति—चारित्रकी वृद्धिके तथा मनोंको स्थिर करनेके लिये, चलने-फिरने, बोलने-चालने, आहार ग्रहण करने, वस्तुओंको उठाने-रखने तथा मल-मूत्रके निक्षेपण करनेमें विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त होते हुए जीवोंकी रक्षा करना 'समिति' है । दूसरे शब्दोंमें, सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति या आचरणका नाम 'समिति' है । इसके पाँच भेद हैं—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेपण-समिति और प्रतिष्ठापन-समिति ।

अपने या दूसरेको क्लेश न हो, इस प्रकार यत्नपूर्वक चलना-फिरना 'ईर्यासमिति' है । हितपूर्वक सत्य और प्रिय बोलना 'भाषा-समिति' है । ध्यातव्य है कि जीव-हिंसाकी अपेक्षा सत्य भी असत्य हो जाता है और जीव-रक्षाकी अपेक्षा असत्य भी सत्य हो जाता है । जैसे 'लाटीसंहिता' में कहा गया है—

सत्यं ह्यसत्यतां याति जीवहिंसानुबन्धतः ।
असत्यं सत्यतां याति सर्वजीवदयानुरक्षणात् ॥

वस्तुको ढूँढ़ने, उसके उपयोगके लिये उसे रखने और उपयोगके बाद उसे रखनेमें दोष न लगने या हिंसा (शारीरिक या मानसिक आघात) न होनेका ध्यान रखना 'एषणा-समिति' है । वस्तुको लेने और रखते समय सावधानीसे उसे उठाना और रखना 'आदान-निक्षेपण-समिति' है । एकान्त, जीवरहित, दूरस्थित, लोगोंकी दृष्टिसे मुक्त छिद्र या छेदविहीन, अविरोधी तथा विरोधरहित चौड़े स्थानमें मल, मूत्र आदि देहके मलका क्षेपण करना 'प्रतिष्ठापन-समिति' है । मुनि विशेषतः शारीरिक उपसर्गके लिये हिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि रक्षा करना 'समिति' है । ध्यान देनेकी बात है कि आजके मानव-जीवनमें समितिरूप चारित्रका सर्वथा अभाव-सा हो गया है, जिससे समग्र उत्तम सुव्यवस्थित संसार ही दुःखका घर होता जा रहा है ।

गुप्ति—आचारगत जिस बलके बलद्वारा संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन या रक्षण होता है, वह 'गुप्ति' है। दूसरे शब्दोंमें, मन, वचन और काय—इन तीनोंके द्वारा मिथ्या प्रवृत्तिका निरोध ही 'गुप्ति' है। मनको अशुभ ध्यानसे बचाकर शुभ ध्यानमें लगाना 'मनोगुप्ति' है; अर्थात् सम्यक् प्रकारसे राग-द्वेष आदि कषायोंके कारणभूत योगका निरोध करना 'मनोगुप्ति' है। दूसरे प्राणियोंको जिस भाषणसे कष्ट होता है अथवा जिस भाषणमें आत्मा अशुभ कर्मोंसे आवृत होती है, वैसे भाषणसे पराङ्मुख होना 'वचनगुप्ति' है। मौनव्रत 'वचनगुप्ति'का अपर पर्याय है। कर्मबन्धके कारणभूत सभी कायिक क्रियाओंसे गुप्ति या रक्षा तथा कायगत ममताका त्याग 'कायगुप्ति' है। कुछ मिलाकर मनकी एकाग्रताके साथ अशुभ कायिक चेष्टाओंका निरोध भी 'कायगुप्ति' है। राग आदि विकारोंसे रहित होकर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना भी 'मनोगुप्ति' है तथा दुर्वचनका त्याग या मौन धारण करना भी 'वचनगुप्ति' है।

परीषह—साधना-मार्गसे च्युत न होना तथा कर्मोंकी निर्जरा-(आत्यन्तिक क्षय-)के लिये क्षुधा, तृष्णा आदिकी पीडाओंको सहन करना 'परीषह' है। दूसरे शब्दोंमें क्षुधा, तृष्णा आदिकी वेदना होनेपर कर्मोंकी निर्जराके लिये उसे सहन करना 'परीषह' है। 'परीषह' मुख्यतया बाईस प्रकारका है—क्षुधा, तृष्णा, शैत्य, उष्णता, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री-कामना, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध (हिंसा), याचना, अलाभ, रोग तृणस्पर्श (तृणदंश), मल, सत्कार-पुरस्कार-कामना, ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन (अशुभ दर्शन)। इन परीषहोंको सहन करनेवाले मोक्षमार्गके पथिकोंका अपने मार्गसे स्खलन या च्युति नहीं होती।

लोकरूढिकी दृष्टिसे शुभोपयोग ही चारित्रका पर्याय है। 'मन्त्रविधानसंग्रह'-(पृ० ५९)में बताया गया है कि चारित्रशुद्धिके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह—'ओं ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्र शुद्धिप्रभेभ्यो नमः' इस मन्त्रका अधिकाधिक जप करे।

जैनदृष्टिसे चारित्रमीमांसाकी सारभूत बातोंमें विशेष विचारणीय तथ्य ये हैं कि जीवनमें कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है तथा हेय प्रवृत्तियोंको अङ्गीकार करनेवालोंके जीवनकी परिणति क्या होती है, हेय प्रवृत्तियोंका त्याग शक्य हो तो वह किन उपायोंसे सम्भव है, हेय प्रवृत्तियोंके स्थानपर किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ अङ्गीकार की जायँ और उनका जीवनमें क्या परिणाम आता है। चारित्रगत ये सब विचार जैनदर्शनकी सर्वथा अलग परिभाषा और साम्प्रदायिक पद्धतिके कारण आपाततः किसी भी अन्य दर्शनसे साम्य नहीं रखते। पर बौद्ध, सांख्य एवं योग-दर्शनके सूक्ष्म अध्येताको यह ज्ञात हो जाता है कि जैन चारित्रमीमांसाका विषय चारित्रप्रधान उक्त तीनों दर्शनोंके साथ थोड़ा-बहुत एवं अद्भुत रूपसे साम्य रखता है।

चरित्रशीलकी विजय

दान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन च। अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
सप्त षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

'चरित्रनिर्माताको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, ब्रह्मवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितैषी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

(महाभारत)

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्याद् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥
भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्यत्कर्मकलङ्कम् ॥

पूर्वोक्त महाव्रत, समिति, गुप्ति और परीषहका पालन-रूप चारित्र शुद्धात्माकी प्राप्तिका कारण है और बाह्य-शुद्धि (शरीरशुद्धि) तथा आभ्यन्तर-शुद्धि-(मनःशुद्धि-)का सहायक कारण। 'चारित्रपाहुड'-(गाथा सं० ९)के अनुसार—जो ज्ञानी अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरणरूप चारित्रसे शुद्ध होते हैं, वे यदि संयमाचरणरूप चारित्रसे भी शुद्ध हो जायँ तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। 'बृहद् नयचक्र'-(गाथा सं० २०४)के अनुसार, सराग अवस्थामें भेदोपचाररूप जिस चारित्रका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग-अवस्थामें अभेद और अनुपचारसे आचरण करना चाहिये। सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओंका विकल्प रहता है और वीतराग-अवस्थामें उनका विकल्प नहीं रहता। सराग चारित्रमें वृत्ति बाह्य-त्यागके प्रति जाती है और वीतराग-अवस्थामें अन्तरङ्ग-त्यागके प्रति।

इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टिमें चरित्र केवल सदाचार *या शिष्टाचारतक ही सीमित नहीं, अपितु संयमका* ही पर्याय है, जो निर्वाण-प्राप्तिके कारणभूत तत्त्वोंसे जुड़ा हुआ है। *यहाँ मोक्षमार्गकी प्राप्तिके कारणभूत चारित्रके सामान्य तत्त्वोंका विवरण उपन्यस्त किया जा रहा है।*

महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे मन, वचन और कायद्वारा निवृत्त होना व्रत है। दूसरे शब्दोंमें, दोषोंको समझकर उनके त्याग या उनसे विरतिकी प्रतिज्ञा करनेके बाद पुनः उनका सेवन न करनेको व्रत कहते हैं। यही व्रत अल्पांशमें विरति होनेसे 'अणुव्रत' (गृहस्थोंके लिये) और सर्वांशमें विरति होनेसे 'महाव्रत' (साधुओंके लिये) कहलाता है।

समिति—चारित्रकी दृष्टिसे तथा व्रतोंको स्थिर करनेके लिये, चलने-फिरने, बोलने-चालने, आहार ग्रहण करने, वस्तुओंको उठाने-रखने तथा मल-मूत्रके निक्षेपण करनेमें विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त होते हुए जीवोंकी रक्षा करना 'समिति' है। दूसरे शब्दोंमें, सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति या भावनाका नाम 'समिति' है। इसके पाँच भेद हैं—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेपण-समिति और प्रतिष्ठापन-समिति।

अपने या दूसरेको क्लेश न हो, इस प्रकार यत्न-पूर्वक चलना-फिरना 'ईर्यासमिति' है। विचारपूर्वक सत्य और प्रिय बोलना 'भाषा-समिति' है। ज्ञातव्य है कि जीव-हिंसाकी अपेक्षा सत्य भी असत्य हो जाता है और जीव-रक्षाकी अपेक्षा असत्य भी सत्य हो जाता है। जैसेकि 'लाटीसंहिता' में कहा गया है—

सत्यं ह्यसत्यतां याति जीवहिंसानुबन्धतः।
असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवानुरक्षणात् ॥

वस्तुको ढूँढ़ने, उसके उपयोगके लिये उसे उठाने और उपयोगके बाद उसे रखनेमें दोष न लगने या हिंसा (शारीरिक या मानसिक आघात) न होनेका ध्यान रखना 'एषणा-समिति' है। वस्तुको लेते और छोड़ते समय सम्यग्दृष्टिसे उसे उठाना और रखना 'आदान-निक्षेपण-समिति' है। एकान्त, जीवरहित, दूरस्थित, गोपनीयता-युक्त बिल या छेदविहीन, अनिन्दनीय तथा विरोधरहित चौड़े स्थानमें मूत्र, विष्ठा आदि देहके मलका क्षेपण करना 'प्रतिष्ठापन-समिति' है। कुल मिलाकर, चारित्रिक उत्कर्षके लिये हिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतकी रक्षा करना 'समिति' है। कहना न होगा कि आजके मानव-जीवनमें समिति-रूप चारित्रका सर्वथा अवमूल्यन हो गया है, जिससे समग्र उन्नत सामाजिक संस्कार ही पूर्णतः नष्ट होते जा रहे हैं।

गुप्ति—आचरण जिस बलके सहारे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन या रक्षण होता है, वह 'गुप्ति' है। दूसरे शब्दोंमें, मन, वचन और काय—इन तीनोंके द्वारा मिथ्या प्रवृत्तिका निरोध ही 'गुप्ति' है। मनको अशुभ ध्यानसे बचाकर शुभ ध्यानमें लगाना 'मनोगुप्ति' है; अर्थात् सम्यक् प्रकारसे राग-द्वेष आदि कार्योंके कारणभूत योगका निरोध करना 'मनोगुप्ति' है। दूसरे प्राणियोंको जिस भाषणसे कष्ट होता है अथवा जिस भाषणमें आत्मा अशुभ कर्मोंसे आवृत होती है, वैसे भाषणसे पराङ्मुख होना 'वचनगुप्ति' है। मौनव्रत 'वचनगुप्ति'का अपर पर्याय है। कर्मबन्धके कारणभूत सभी कायिक क्रियाओंसे गुप्ति या रक्षा तथा कायका ममत्वका त्याग 'कायगुप्ति' है। कुल मिलाकर मनकी एकाग्रताके साथ अशुभ कायिक चेष्टाओंका निरोध भी 'कायगुप्ति' है। राग आदि विकारोंसे रहित होकर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना भी 'मनोगुप्ति' है तथा दुर्वचनका त्याग या मौन धारण करना भी 'वचनगुप्ति' है।

परीषह—साधना-मार्गसे च्युत न होना तथा कर्मोंकी निर्जरा (आत्यन्तिक क्षय-)के लिये क्षुधा, तृष्णा आदिकी पीड़ाओंको सहन करना 'परीषह' है। दूसरे शब्दोंमें क्षुधा, तृष्णा आदिकी वेदना होनेपर कर्मोंकी निर्जराके लिये उसे सहन करना 'परीषह' है। 'परीषह' मुख्यतया बाईस प्रकारका है—क्षुधा, तृष्णा, शैत्य, उष्णता, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री-कामना, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध (हिंसा), याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श (तृणदंश), मल, सत्कार-पुरस्कार-कामना, ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन (अशुभ दर्शन)। इन परीषहोंको सहन करनेवाले मोक्षमार्गके पथिकोंका अपने मार्गसे स्खलन या च्युति नहीं होती।

व्यवहारदृष्टिकी दृष्टिसे शुभोपयोग ही चारित्रका पर्याय है। 'मन्त्रविधानसंग्रह' (पृ० ५९)में बताया गया है कि चारित्रशुद्धिके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह—'ओं ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्र शुद्धियन्त्रेभ्यो नमः' इस मन्त्रका अधिकाधिक जप करे।

जैनदृष्टिसे चारित्रमीमांसाकी सारभूत बातोंमें विशेष विचारणीय तथ्य ये हैं कि जीवनमें कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है तथा हेय प्रवृत्तियोंको अङ्गीकार करनेवालोंके जीवनकी परिणति क्या होती है, हेय प्रवृत्तियोंका त्याग शक्य हो तो वह किन उपायोंसे सम्भव है, हेय प्रवृत्तियोंके स्थानपर किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ अङ्गीकार की जायँ और उनका जीवनमें क्या परिणाम आता है? चारित्रगत ये सब विचार जैनदर्शनकी सर्वथा अलग परिभाषा और साम्प्रदायिक पद्धतिके कारण आपाततः किसी भी अन्य दर्शनसे साम्य नहीं रखते। पर बौद्ध, सांख्य एवं योग-दर्शनके सूक्ष्म अध्येताको यह ज्ञात हो जाता है कि जैन चारित्रमीमांसाका विषय चारित्रप्रधान उक्त तीनों दर्शनोंके साथ थोड़ा-बहुत एवं अद्भुत रूपसे साम्य रखता है।

चरित्रशीलकी विजय

दान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन च। अदुर्बलेन धीरेण मोक्षरोषरपादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना प्रियवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

'चरित्रनिर्माताको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चपलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सत्यवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितैषी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

जैन-आगमोंमें चरित्र-निर्माणके सूत्र

(लेखक—मुनि श्रीसुमेरमलजी)

चरित्र शब्द व्यक्तित्वकी आन्तरिक बनावटके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिससे व्यक्तित्वका निर्माण हो, उसे चरित्र कहा जाता है। चरित्रकी भित्तिपर ही अध्यात्मका भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति अध्यात्मका रसास्वादन कभी नहीं कर सकता।

जैन-आगमोंमें चरित्र-सम्बन्धी सूत्र व्यापकरूपमें प्राप्त होते हैं। सभी धर्म चरित्रप्रधान हैं। एक दृष्टिसे धर्म ही चरित्र है और चरित्र धर्म है। धर्मकी व्याख्या करते हुए जैन आचार्योंने कहा है—'आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः'—जिससे आत्माकी शुद्धि होती हो, परम तत्त्वकी अनुभूति होती हो, उसे धर्म कहा जाता है। चरित्रको भी आन्तरिक व्यक्तित्वके निर्माणमें साधनभूत तत्त्व कहा जाता है। नाम-भेदके सिवा परिणाम प्रायः दोनोंके समान हैं।

चरित्रका व्यावहारिक जीवनपर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'चरित्र' शब्द धर्म और नीतिके क्षेत्रमें प्रयुक्त होता रहा है। नैतिकताका तात्पर्य आज सम्बे-रूपसे चरित्र ही हो रहा है।

जैन आगम-सूत्रोंमें चरित्र-विषयक वचन बहुतेरे हैं। प्रायः ऐसे ही वचनोंपर विचार प्रस्तुत करना ही इस निबन्धका विषय है। 'उत्तराध्ययन' सूत्रके बीसवें अध्ययनमें आया है कि अहिंसा—विचार, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन पाँचोंका अनुशीलन जीवनके लिये जरूरी है। इन्हें यम-नियम कहें या महाव्रत कहें—ये व्यक्तित्व-निर्माणके सहायक सूत्र हैं। जैन-आगमोंमें अहिंसाको 'जगद्धितकारिणी' और सत्यको 'भगवान्' बतलाया गया है। 'उपासकदशाङ्ग' तथा आवश्यक सूत्रोंमें गृहस्थ-जीवनमें धर्म करनेवाले व्यक्तिका चरित्र कैसा होना चाहिये—इसका विशद विवेचन शास्त्रकारोंने किया है। चरित्रको स्थिर अधिक

नियम और उसके अतिचार भी बतलाये हैं। भगवान् महावीरका कथन था कि गृहस्थ-जीवन चरित्रयुक्त होनेसे ही धार्मिक बनाया जा सकता है। चरित्रके लिये क्षमा, सत्य, संतोष, शील, करुणा, प्रेम, सौहार्द आदि गुणोंकी अनिवार्यता है। इन गुणोंके आत्मसात्करणका ही नाम चरित्र है। इन अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतोंके अनुशीलनसे सद्गुणोंको अपने भीतर जगाया जा सकता है।

भगवान् महावीरने गृहस्थ-जीवनमें रहनेवाले लोगोंके लिये कुछ अतिचार भी बतलाये हैं, अर्थात् जिन्हें करनेसे गृहस्थके धर्मच्युत होनेकी सम्भावना बन जाती है। ये अतिचार गृहस्थके लिये अनाचरणीय हैं। इनसे धार्मिक जीवन धूमिल हो जाता है, व्यक्तिका चरित्रबल टूटने लगता है। ये अतिचार इस प्रकार हैं।

क्रूरतासे सम्बन्धित अकरणीय अनाचार—

१–अपने आश्रित प्राणियोंका—नौकर-चाकर अथवा पशुओंका—क्रोध या लोभके वशीभूत होकर भोजन या पानी बन्द कर देना।

२–किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर लाठी अथवा शस्त्र आदिसे कठोर प्रहार करना।

३–किसी भी प्राणीका क्रोध या लोभके वशीभूत होकर अङ्गच्छेद करना या दाग देना अर्थात् गर्म लौह-शलाकासे शरीरको दागना।

४–किसी भी प्राणीको क्रोध या लोभके वशीभूत होकर कठोर बन्धनमें बाँधना।

५–किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर उसकी क्षमतासे अधिक भार लादना।

असत्यसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१–बिना विचारे किसीपर मिथ्यारोप (कलंक) लगाना।

*

२–किसीकी गुप्त बातको प्रकट करना ।

३–पति-पत्नीमें भेद डालनेके लिये एक-दूसरेकी गुप्त बात एक-दूसरेसे कहना ।

४–एक-दूसरेको लड़ानेके लिये मिथ्या उपदेश देना।

५–झूठा लेख—सौ रुपये देकर हजार लिख लेना अथवा मिथ्या साक्षी देना ।

अस्तेय कर्मसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१–चुराई हुई वस्तुको खरीदना ।

२–चोरको चोरी करनेमें सहयोग देना । चोरको चोरीके लिये मन्त्रणा देना, उसे आवश्यक सामग्री देना अथवा चोरको प्रश्रय देना ।

३–राज्यके नियमोंके विरुद्ध कार्य करना, राज्य-निषिद्ध वस्तुओंका आयात-निर्यात करना ।

४–कम तौल-माप करना ।

५–वस्तुओंमें मिलावट करके बेचना ।

ब्रह्मचर्यसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१–परस्त्रीके साथ एक कमरे-(कक्ष-)में शयन करना ।

२–पर-स्त्रीके साथ एकान्तमें आलाप-संलाप करना ।

३–स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको चेष्टापूर्वक देखना ।

४–वासनावर्धक आहार करना ।

५–भुक्त भोगोंका बार-बार स्मरण करना ।

परिग्रहसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१–धन-धान्य-संग्रहकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

२–क्षेत्र, मकान, दुकान आदिकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

३–गृहोपयोगी वस्तुओंकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

४–नौकर-चाकर तथा पशुओंके बारेमें बनायी गयी मर्यादाओंका उल्लङ्घन करना ।

५–सुवर्ण, चाँदी आदिके संग्रह निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

इनके अतिरिक्त प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें चारित्रकी रक्षाके लिये सात दुर्व्यसनोंका त्याग करना अनिवार्य बतलाया है । ये सात दुर्व्यसन इस प्रकार हैं—

> द्यूतं च मांसं मदिरा च वेश्या
> मृगयार्यचौर्ये परदारसेवा ।
> एतानि सप्त व्यसनानि लोके
> घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥

अर्थात्—१–जुआ, २–मांस, ३–शराब, ४–वेश्या-गमन, ५–शिकार खेलना, ६–चोरी, ७–परस्त्री-गमन—ये लोकमें सात व्यसन हैं । इन सबसे घोरातिघोर नरक प्राप्त होता है । परंतु जो इनसे बच कर रहता है, वह चारित्रका अनुशीलन कर अध्यात्मका विकास करता है । मानवीय दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त कर चरित्रशील बना व्यक्ति ही समाज और राष्ट्रके लिये उपयोगी हो सकता है । अतः मानवीय दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये सतर्कतासहित साधनाकी नितान्त अपेक्षा है । तभी चरित्रका निर्माण सौष्ठव और सरलतासे सम्भव है ।

चरित्रशील सुपुत्र

> पुत्र सुपुत्र वही जो करता, नित्य पिता-माताका मान ।
> तन-मन-धनसे सेवा करता, सदय सदा करता सुख-दान ॥
> भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सज्जन, धीमान् ।
> जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, प्राणि-मित्र हित-कारी, विद्वान ॥
> धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्ययी, दाता, धृतिमान् ।
> पुत्र वही होता कुल-तारक, करता कुल-कीर्ति महान ॥

चरित्रकी परिभाषा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

चरित्रकी परिभाषा करते समय मुझे फ्रांसके प्रसिद्ध संत बर्नार्ड (ई० सन् १०९१–११५३)की वह उक्ति स्मरण हो जाती है, जिसमें उन्होंने कहा था—'दूसरोंके चरित्रका चित्रण करनेवाला व्यक्ति अपने ही चरित्रका चित्रण करता है।' निश्चयतः इसका अर्थ यही हुआ कि हम अपने चरित्रमें दूसरेका चरित्र आँकते हैं। पर यह कितनी बड़ी भूल है। अपने जीवनमें, जबतक सौभाग्यसे किसी साधु-संतकी छाया या छाप न पड़ जाय, तबतक हम अपने चरित्रसे बुरी तरह जकड़े हुए हैं। पहाड़ अपनी जगहसे भले हट जाय, पर व्यक्तिका चरित्र बदलना बड़ा कठिन है।

'चरित्र' क्या है? 'चरित्र' वैदिक शब्द नहीं है। इसका सूचक प्राचीन शब्द 'आचार' ही है। इस पुँल्लिङ्गीय शब्दका प्राचीन प्रयोग सद्व्यवहार या व्यवहारके अर्थमें होता था। याज्ञवल्क्य, मनु, व्यास आदिने इसका इसी अर्थमें प्रयोग किया है। बौद्धोंने 'आचार'का अर्थ किया है—'गुरुद्वारा प्राप्त उपदेशसे सम्पन्न होना।'

ऐसे तो आचार शब्द (आङ्+चर्+घञ्)का अर्थ है व्यवहार, चरित्र, शील, विचार इत्यादि। कालिदासने रघुवंशमें (२। १०) इसका प्रयोग किया है—'आचारलाजैरिव पौरकन्याः'। व्यवहार-तत्त्वमें प्रयोग है—'आचारेणापसस्तोऽपि'। हाँ, कथासरित्सागरमें चरित्र शब्दका प्रयोग मिलता है—

'अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरितं कुलयोषिताम्।'

इस प्रकार चरित्र और आचार एक ही हैं। आचारका भारतीय धर्मशास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व है। मनुस्मृति-(१। १०९)के अनुसार आत्मानुभूति-जन्य वस्तु आचार है, जिसका पालन करना चाहिये। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति है—'आचारप्रभवो धर्मः'। एक पक्ष कहता है कि श्रुति और स्मृतिके बाद आचारका जीवनमें तीसरा स्थान है। दूसरा पक्ष कहता है कि लोकमतमें आचारका प्रथम स्थान है, द्वितीय व्यवहारका और तृतीय प्रायश्चित्तका। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिके इसी प्रकारसे तीन विभाग बनाये हैं।

याज्ञवल्क्यके अनुसार मानव-जीवनकी कार्यप्रणाली आचारमें भी प्रथम स्थानका संस्कार है। फिर वेदपाठी ब्रह्मचारियोंके चरित्रके नियम, पठन-पाठन समाप्त होनेपर विवाह तथा पति-पत्नीके कर्तव्य, चारों वर्णोंके कर्तव्य, गृहपतिके कर्तव्य, विद्यार्थी-जीवनके समाप्तिके बाद कुछ पालनीय नियम, उचित पवित्र भोजन करना तथा निषिद्ध भोजन न करना, वस्तुओंकी धार्मिक पवित्रता, श्राद्ध, गणपतिपूजन, ग्रहोंकी शान्ति कैसे की जाय तथा राजाके कर्तव्य ये उसके बाद आचार-प्रकरण हैं। यदि हम अपनेको चरित्रवाला कहते हैं तो अपने भीतर पैठकर सोचें कि हम इनमेंसे कितना पालन करते हैं। हाँ, जो लोग प्राचीन शास्त्रकारोंको मूर्ख समझते हैं, श्राद्ध आदिको पागलपन समझते हैं, गुरुजनोंका आदर एक ढकोसला समझते हैं, उनके लिये ये पंक्तियाँ व्यर्थ हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि धर्मशास्त्रोंके अनुसार श्रुति, स्मृति तथा आचार—ये चरित्रकी तीन श्रेणियाँ हैं। श्रुति तो वेद हुए। इनकी जानकारी बिना जीवन निरर्थक है। स्मृतिके अनुसार आचारके तीन अङ्ग हैं—१–देशाचार, २–जात्याचार और ३–कुलाचार। प्रत्येक मानव इनसे बँधा है। हरेक देशकी अपनी आनिगत आचारशीलता भी होती है; जैसे ऐस्किमो जाति (उत्तरी साइबेरियाके निवासी) के एक वर्गमें—घरमें जो बूढ़ा अशक्त हो जाता है, उसे घरसे निकाल देते हैं। पड़ोसी भी नहीं पूछता और भूख-प्याससे मुक्त भी मर जाते हैं। आज जो घरसे निकाल रहे हैं, कल उनकी भी यही दशा होगी। भारतमें वृद्धजनोंकी सेवा परम कर्तव्य

है। तीसरा है—कुलाचार। अपने कुलमें जो आचार चला आया हो, उसका पालन करना। इस प्रकार आचरणका अर्थ व्यवहार हुआ। इनका पालन न करना चरित्रसे गिर जाना कहा जायगा।

आचरणके कुछ मौलिक नियम हैं, जो सभी धर्मोंमें व्याप्त हैं। हिंदू-धर्मने स्पष्ट कुछ मौलिक तत्त्व कह दिये; जैसे—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः'

अहिंसा-व्रत, सत्यका पालन, किसीका माल न हड़प लेना, पवित्रतासे रहना तथा अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना इत्यादि। बौद्धोंने भी 'सत्यं वद, धर्मं चर' आदि कहा है। जैन-धर्मने भी आचरणके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उन्हें लोक-व्यवहारके रूपमें कहा है—'जैसे क्रोधसे प्रीति नष्ट होती है। अभिमानसे विनयशीलता जाती रहती है। मायामें पड़ा तो मित्रता नष्ट हुई और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।'

आचार हो या चरित्र इसके साथ विशेषण नहीं होता। आचार, चरित्र स्वयं विशेषण है। अंग्रेजीमें चरित्रवान् पुरुषके लिये कहते हैं, 'ही इज ए मैन ऑव करेक्टर।' जिसका चरित्र गिर जाता है, उसे प्रकट करनेके लिये 'दुश्चरित्र' शब्द बना लिया गया है। अंग्रेजीमें इसका पर्यायवाची एक शब्द भी नहीं है। बुराके लिये 'बैड' शब्द जोड़ देते हैं। आचार या चरित्रके साथ 'सदाचार' या 'सच्चरित्र' कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

धर्म-सदाचार और चरित्र—धर्मकी पहली परिभाषा जैमिनिके सूत्रमें मिलती है। उसकी व्याख्या कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमें की है। 'सदाचार' शब्दका प्रयोग याज्ञवल्क्यस्मृतिमें है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
(१।७)

तन्त्रवार्तिकामें इसका सार भी समझाया गया है। श्रुतिके विरुद्ध काम न करना, उनके अनुसार काम करना, धर्मको समझना तथा इनका पालन किसी कामनासे नहीं, फलकी आकाङ्क्षासे नहीं, पर अपना कर्तव्य समझकर करना, स्वेच्छासे पालन करना—इस प्रकार आचारका पालन करनेवाला शिष्ट कहलायेगा। परम्परागत आचार (देशाचार, जात्याचार जो भी हो) पालन करनेवालेके लिये कुमारिल भट्टकी सम्मति है—

'यत् परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव।' (तन्त्रवार्तिक)

धर्मके अतिरिक्त परम्परागत (पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे) प्राप्त प्रथाओंका शिष्टोंद्वारा इस बुद्धिसे पालन किया जाना कि वे धर्मके अङ्ग हैं, वास्तवमें धर्म है, समर्थित है। इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।'

सदाचारको धर्मसूत्रोंके अनुसार शील, समयाचारिक तथा शिष्टाचार भी कहा गया है। शिष्टाचारका पालन करनेवाला शिष्ट हुआ। आजकल हमलोग शिष्टाचारको केवल व्यावहारिक विनम्रता मानते हैं। समयाचारिककी परिभाषा 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें निर्दिष्ट है। वहाँ हरदत्तके (१।१।१) अनुसार—पौरुषेयी व्यवस्थाको 'समय' कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं। वे हैं—(१) विधि, (२) नियम तथा (३) प्रतिषेध। इन तीन प्रकारके आचारोंका पालन 'समय' होता है, इसलिये समयमें उत्पन्न होनेके कारण वे 'सामयाचारिक' कहलाते हैं। अर्थात् इस प्रकारके उत्पन्न हुए धर्म-कर्ममें उत्पन्न अभ्युदय-निःश्रेयसका कारण अपूर्व नामक आत्माका गुण धर्म है।'

'पौरुषेयी व्यवस्था समयः। स च त्रिविधः। विधिर्नियमः प्रतिषेध इति। समयमूला आचाराः समयाचाराः। तेषु भवाः सामयाचारिकाः। एवं भूतान् धर्मानिति कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः।'

किंतु देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार—ये देश, काल तथा जातिके अनुसार भिन्न हो सकते हैं। ...

यदि वे स्मृति और शास्त्रके विरुद्ध हों, तब भी उनका पालन करना चाहिये। इस सम्बन्धमें स्मृतिकारोंमें मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि चिरकालसे चला आनेवाला और अधिकांशको मान्य आचारका पालन धर्म-विरुद्ध नहीं समझना चाहिये। पर आचार्य बृहस्पतिका मत है कि ऐसे आचारके पालनसे लोग प्रायश्चित्त या दण्डके भागी नहीं होते—'अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्त-दण्डार्हकाः'

मनुने आचार तथा शीलमें भेद किया है। शील नैतिक गुण है। शीलवान् वह है, जिसमें नैतिक गुण हों। हमलोग शीलवान् शब्दका प्रयोग केवल विनम्र पुरुषके लिये करते हैं। मनु आदिकी परिभाषाके अनुसार विद्याप्रेम, दयाभक्ति, पितृभक्ति आदि नैतिक गुण हैं। जो इनका पालन करता हो, वह शीलवान् है, शीलयुक्त है। अब रहा आचार। वह परम्परागत होता है। आचार भारतीय-परम्परामें सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि हैं। इनका पालन न करना आचार या चारित्रहीनता होगी। आचारवान् शिष्ट ही शिष्टाचारी हुआ। शिष्टकी व्याख्या 'वसिष्ठधर्मसूत्र'में की गयी है। उसके अनुसार स्वार्थ-युक्त कामनाओंसे रहित व्यक्ति ही शिष्ट है—'शिष्टः पुनरकामात्मा।'

आचार धर्मका अङ्ग है, यह निर्विवाद है। हमारे धर्मके मूलमें वेद हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें स्पष्ट कहा गया है कि-

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। (१।१)

किंतु धर्म क्या है, यह प्रश्न भी कठिन है। मनु तथा याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि 'श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्माको प्रिय, यह चार प्रकारका साक्षात् धर्मका लक्षण कहा गया है'—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २।१२, याज्ञ० १।७)

शङ्का होगी कि अपनेको, अपनी आत्माको प्रिय लगनेवाली बात यदि आचार है तो हत्या करना या चोरी करना जिसे प्रिय हो, वह सदाचारी है। पर शुद्धात्माको हत्या या चोरी प्रिय नहीं हो सकती। उसे बुरा अच्छा लगे, यह आत्मतत्त्वको न जाननेवाला ही कहेगा। आत्माको अनुचित वस्तु प्रिय हो नहीं सकती। एक भक्त कहता है—

देहबुद्ध्या तु दासोऽस्मि जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

अर्थात्—'शरीरकी दृष्टिसे प्रभो! मैं आपका दास हूँ। जीवकी दृष्टिसे अंश हूँ। आत्माके रूपसे मैं आपमें मिल गया हूँ—आत्मा-परमात्मा एक हैं—यही मेरा निश्चित मत है।' इसलिये यदि बुरी वस्तु अपनेको प्रिय है, तो वह केवल मनोविकार है। आत्माको प्रिय नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि 'सदाचार' आचार क्या होगा? मनुने इस 'सदाचार'की व्याख्या कर दी है। उनके अनुसार 'देवनदी सरस्वती और दृषद्वतीके बीचमें जो भूमि-भाग है, वह देवताओंसे बनाया गया ब्रह्मावर्त कहलाता है। इस देशके परम्परामें जो चारों वर्णोंके लोगोंका आचार है, वही सदाचार है'—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

चरित्रका निर्णय—ब्रह्मावर्तके रहनेवालोंका चरित्र तथा रहन-सहनका पूरा ब्योरा हमें इतिहास-पुराणों तथा स्मृतियोंमें मिलता है। भागवत, पद्मपुराण आदिने सदाचारकी व्याख्या कर दी है। फिर भी शङ्का हो वहाँ युधिष्ठिरका यक्षको दिया गया उत्तर याद रखना चाहिये। यक्षने पूछा था कि धर्मका तत्त्व क्या है? युधिष्ठिरने कहा था कि 'धर्मका तत्त्व बड़ा गूढ़ है। महापुरुष जिस मार्गसे चले वही पथ है।' यह भी ध्यान रखना होगा कि महापुरुष या साधु-संत संसारके मोहबन्धन आदिसे बहुत ऊपर उठ गये हैं। उनके लिये नियम-

नैमित्तिक कर्मका बन्धन नहीं होता। उन्होंने जो कहा है, वह करो। गौतमने अपने धर्मसूत्रमें स्पष्ट किया है कि साधु-संतके कार्योंका अनुकरण न करो। अस्तु।

जब चरित्रकी परिभाषा उलझनी मालूम पड़े तो साधु-संतों तथा विद्वानोंकी बातें सुनकर अपना चरित्र उसी ढंगसे चलाना ही हमारे कल्याणके लिये आवश्यक है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌का वाक्य है—'अथ ते यदि कर्म-विचिकित्सा ··· स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः ··· अलूक्षाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।' (१।११)

कबीरके अनुसार दूसरेकी पीड़ाको जाननेवाले, उसे हरनेका प्रयास करनेवाले असली साधु हैं और इसके विपरीतवाले विधर्मी—

> कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
> जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥

तीर्थंकर महावीरने कहा था कि जीवोंकी रक्षा करना ही धर्म है—'जीवाणं रक्खणं धम्मो'। एक महावाक्य है कि साधु वह है, जो दूसरेकी सम्पत्ति या वैभवको देखकर प्रसन्न हो तथा दुष्ट वह है, जो दूसरोंकी विपत्ति देखकर प्रसन्न हो—

'साधवः परसम्पत्तौ खलाः परविपत्तिषु।'

जोशिया गिल्बर्ट हिलण्ड नामक एक अमेरिकन शिक्षकने (जन्म १८२४) लिखा था कि यह बड़ी घातक भूल होगी कि यदि हम यह सोचें कि बिना धार्मिकताके चरित्र बन सकता है। चरित्र-निर्माणके लिये अनिवार्य तत्त्व हैं—धर्म, नैतिकता तथा ज्ञान। हिलण्डके ही समकालीन थे—अमेरिकन अंग्रेजी अध्यापक आस्टिन फेल्प्स। उन्होंने लिखा है कि ईश्वरने मानवकी रचना इसलिये की कि वह महान् चरित्रवान् बने। प्रसिद्ध लेखक एमर्सनके अनुसार चरित्र बुद्धिसे कहीं अधिक महान् है। अमेरिकन पादरी हेनरी वार्ड बीचरने (१८१३–१८८७) बड़े महत्त्वकी बात कही है कि कोई व्यक्ति जीवनभर सफल हो सकता है, पर मरनेके समय वह बिल्कुल खोखला तथा निकम्मा होगा। एक व्यक्ति जीवनभर असफल और पराजित हो सकता है, पर मरनेके समय वह अपने अन्तरमें साम्राज्यका स्वामी होगा। मनुष्यकी सम्पत्ति, वैभव, शक्ति, उसके भवन, धन, समाजमें आदरके पदमें नहीं हैं, ये सब वास्तवमें उसके भीतर हैं जो उसका वास्तविक चरित्र है, अच्छा चरित्र है। यदि उसे अच्छा धर्म-पुरुष बनना है तो वह अपने भीतर उत्तम चरित्रका राजा बने।'

आस्टन ओ मेलीने लिखा था कि अच्छा चरित्र एक फुटबालकी तरह है। जितना ऊँचे फेंको, जमीनपर गिरकर उतना ही ऊपर उछलेगा। पर लौकिक मान-मर्यादा एक अंण्डेकी तरह है। उसे जितना ऊपर फेंको, जमीनपर गिरते ही उतना ही जल्दी नष्ट हो जायगा। राष्ट्रपति रूजवेल्टकी पत्नीने कहा था कि व्यक्तित्वका निर्माण जन्मसे शुरू होकर मृत्युतक होता रहता है।' जेम्सलेन डेविसके अनुसार यदि शुरू जवानीमें ही सत्यको, सच्चाईको अपने चरित्रका आधार नहीं बना दिया गया तो मानवके चरित्रमें सदा कमजोरी रहेगी। डेविसने यह बात आजसे सौ वर्ष पहले कही थी। थियोडोर पार्करने (१८१०–१८६०) लिखा है कि यह संसार धनसे नहीं, चरित्रसे शासित होता है। नैतिकता और बुद्धिमत्ता दोनों मिलकर संसारका उज्ज्वलतम चरित्र बनाते हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि आचरणमें परम्परागत व्यवहार भी आते हैं। मन्वर्तकके अनुसार एवं बृहस्पति तथा नारदस्मृतिके अनुसार यदि जात्याचार अथवा लोकाचार, धर्मशास्त्रमें वर्णित आचार अथवा लोकाचारके प्रतिकूल पड़े—शास्त्र-विधिसे भिन्न होते हों

तो सच्चरित्रताकी ओर पहले ध्यान देना पड़ेगा। आपस्तम्बने इसे स्पष्ट कर दिया है कि धर्मशास्त्रमें सभी बातें नहीं आ सकतीं—ऐसा कुछ शास्त्रकारोंका मत है। अतएव जो आचार नहीं आ सका है, उसकी जानकारी सभी वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंसे करनी चाहिये। कौटिल्यका मत है कि जहाँ लोकाचार और धर्मशास्त्रमें भेद प्रतीत हो, वहाँ राजा 'धर्मके अनुसार' निर्णय करे। आचरणके निर्णयमें पूरा तर्क तथा बुद्धिसे काम लेना पड़ेगा, अन्यथा अनर्थ हो सकता है; जैसा भारतमें माण्डव्यका उदाहरण है कि उसे अनायास चोर समझ लिया गया था।

आचार अथवा चरित्रसे गिर जानेवालेको प्रायश्चित्त करनेका विधान—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ आदिकी स्मृतियोंमें अथवा विष्णुपुराणमें विस्तारसे मिलता है। गौतम-धर्मसूत्र २५०० वर्ष पुराना माना जाता है। भवदेवभट्टका 'प्रायश्चित्त-प्रकरण' या आधुनिक कालमें बंगालमें स्मार्त काशीनाथ तर्कालंकारका 'प्रायश्चित्त-व्यवस्था-संग्रह' (सन् १८५२ में प्रकाशित) बहुत ही महत्त्वके निबन्ध हैं। प्रायश्चित्तकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है। मेधातिथि इसे स्मृतिके अनुसार नैमित्तिक कर्म मानते हैं। आङ्गिरसके अनुसार 'प्रायस्'का अर्थ तपःसाधना तथा 'चित्त'का अर्थ निश्चय होता है—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयमुच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

भावार्थ यह कि चरित्रसे गिरनेवालोंको निश्चय प्रायश्चित्त करना चाहिये। हम सब गृहस्थोंके लिये अपने धर्मका मूल लक्ष्य याद रखना होगा। महाभारतने धर्मको जीवनका विधान माना है। जो समाजको एक साथ रखे वह धर्म है—

'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।'
(महा० ८।६९।५०)

शान्तिपर्वमें भीष्मने कहा है कि जो कर्म समाजके कल्याणके विपरीत हो और जिसे करनेमें लज्जा व ग्लानिका आभास होता हो, वह कदापि न करे। *महाभारत ही यह भी कहता है कि सत्य, आत्मसंयम, तपश्चर्या,* उदारता, अहिंसा तथा अपने धर्म (आचरण-)में स्थिरता सफलताके (जीवनमें-) साधन हैं, न कि जाति या कुल (महा० ३। १८१।८२)। हमारे लिये चरित्र, सदाचार, आचरणके लिये यही मूल मन्त्र है और हमारे-जैसे मायामोहमें जकड़े हुए लोगोंको तो यह भी याद नहीं रहता कि मृत्यु सामने खड़ी है—

लोग बात बात में करते हैं कल की बात।
कल हो भी सकेगा यह किसी को खबर नहीं
—राम जैनपुरी

जापानके वर्तमान प्रसिद्ध कवि रासेन्नु लिखते हैं—

हितो हा चिरु होत्सु हितो हा चिरु
कजे नो न क।

यानी 'एक पत्ता झरता है, एक और पत्ता झरता है हवासे। वृक्षके पत्ते एकके बाद दूसरे झड़ते चले जाते हैं। क्या इसी प्रकार काल भी एक-एक कर हर प्राणीको संसार-वृक्षसे बटोरकर नहीं ले जाता?'

अस्तु, अपने जीवनका पत्ता झरनेके पहले यदि हम इतना ही कर सकें कि दूसरेको दुःख न दें, दुष्टके सामने झुकें नहीं, धर्मका मार्ग छोड़ें नहीं, यदि इतना थोड़ा भी कर लिया तो बहुत है।'

अरुन्धती परसंतापमगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद् बहु॥
(चाणक्यराज० शा० पर० ११११)

—:o:—

चरित्र-लक्षण एवं परिभाषा

(लेखक—प्रो० डॉ० रेवतीरमणजी पाण्डेय, डी० फिल्०)

कुछ लोग व्यक्तिमें रहनेवाले आचरण और उसके सम्पूर्ण कुलरूप या गुणसमुदायको समेटकर बोले जानेवाले व्यक्तित्वको एक समझते हैं, किंतु चरित्र एवं व्यक्तित्व एकार्थक नहीं हैं। दोनोंमें पर्याप्त भेद है। चरित्रके अन्तर्गत मात्र ऐच्छिक क्रियाएँ एवं स्वभावजन्य क्रियाएँ आती हैं, जबकि व्यक्तित्वके अन्तर्गत ऐच्छिक, अनैच्छिक सभी क्रियाएँ, भावनाएँ, संवेग एवं सभी प्रकारकी ज्ञान-क्रियाओंका समावेश है। व्यक्तित्वके निर्माणमें परिवेश एवं वंशानुक्रमकी महती भूमिका होती है, किंतु चरित्र स्वयमेव अपना कारण होता है। व्यक्तित्व कार्य-कारण-नियमसे बद्ध है तो चरित्र मुक्त। व्यक्तित्व मनोविज्ञानका विषय है तो चरित्र नीतिशास्त्रका। इस प्रकार चरित्र ऐच्छिक क्रियाओंकी समष्टि है। जिन व्यक्तियोंमें स्वतन्त्रेच्छाका अभाव होता है, उनमें चरित्र नहीं होता, जैसे पागलोंमें। किंतु उनमें व्यक्तित्व होता है। जिन व्यक्तियोंकी इच्छाशक्ति अत्यधिक विकसित होती है, उनके प्रत्येक कर्म सुविचारित होते हैं; उनमें व्यक्तित्व न होकर चरित्र होता है; जैसे संतोंमें। हमारे यहाँ प्रसिद्ध है—'सन्तश्चारित्र्यलक्षणाः।' साक्षात्कार व्यक्तित्वका होता है, चरित्रका नहीं। व्यक्तित्वका मेगोगापन होता है[1]।

चरित्र (Character) एवं आचरण या वृत्त (conduct)में भी भेद है। चरित्र शब्दकी निष्पत्ति 'चर्'+'इत्र'से होती है, जिसका अर्थ होता है, कर्मका प्रेरक। इसीको (will power) संकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति भी कहते हैं। वृत्त शब्दकी निष्पत्ति 'वृ' धातु-क्त प्रत्ययसे होती है। हम इसे 'चयन' कह सकते हैं। वृत्त या आचरण ही ऐच्छिक कर्म (conduct) है। 'वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्' इसीको व्यापकरूपमें कहा गया है।

चरित्र आचरणका आभ्यन्तर पक्ष है तो आचरण चरित्रका बाह्य पक्ष है। आचरण दो प्रकारके होते हैं—सदाचरण (Right Action), दुराचरण (Wrong Action)। सत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उन्हें सद्गुण (Virtue) कहा जाता है। सद्गुणका कर्ता सद्गुणी कहा जाता है। इसी प्रकार असत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उसे दुर्गुण (vice) कहते हैं। दुर्गुणोंके कर्ताको दुर्गुणी कहते हैं। सदाचरण करनेवाला सदाचारी और दुराचरण करनेवाला दुराचारी कहा जाता है। सदाचारी चरित्रशील होता है।

भगवद्गीता १६। १के अनुसार, सद्गुण निम्न हैं[2] इन्हें दैवी सम्पद्की संज्ञा दी गयी है—अभय, मन-शुद्धि, ज्ञान और योगमें स्थिति, दान, दया, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निष्कपटता, प्राणियोंमें दया, अस्तेय, मृदुता, लज्जा, चंचलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौर्य, अद्रोह, अनभिमान आदि। गीता-(१६। ४)के अनुसार दम्भ, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ही आसुरी सम्पद् है। आसुरी सम्पद्वाला सदाचारी नहीं होता।

दैवी सम्पद् अथवा सद्गुणोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; जबकि आसुरी संपद् अथवा दुर्गुणोंसे बन्धन होता है—

'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता॥'
(गीता १६। ५)

१—संगमलाल पाण्डेय, नीतिशास्त्रका सर्वेक्षण, पृ० ७८ २—धर्मिमधुसूदनलालका इससे इन मतपर होता है। (कल्याण—१९८४)

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥

चाणक्यका यह निर्णय समर्थनीय नहीं लगता है। धार्मिक दृष्टिकोणसे आचरण अथवा वृत्त ही नैतिक निर्णयका विषय हो सकता है।

'जो शूद्र इन्द्रिय-दमन, सत्य तथा धर्ममें प्रयत्नशील है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ; क्योंकि वृत्तसे ही लोग ब्राह्मण होते हैं—'

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः॥
(महाभारत ३ । १८ । ७५)

वस्तुतः ये गुण ही शीलका निर्माण करते हैं। कुल आदिसे चरित्रका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है।

वृत्तकी सम्यक् रक्षा करनी चाहिये। अंग्रेजोंकी कहावत प्रसिद्ध है—धन गया तो मानो कुछ नहीं गया; क्योंकि धन तो आता-जाता रहता है। हाँ, स्वास्थ्य (हेल्थ) गया तो अवश्य कुछ चला गया; किंतु यदि चरित्र या शील नष्ट हो गया तो फिर सब कुछ चला गया—'वृत्ततस्तु हतो हतः।'

इसलिये धनकी अपेक्षा स्वास्थ्यकी और उससे भी बढ़कर चरित्रकी रक्षा करनी चाहिये। चारित्र्यशील व्यक्ति शक्तिमान होता है और वह सर्वत्र विजय पाता है। चरित्र स्वयं अनुपम उपलब्धि है।

चरित्र, आचार और धर्म

(लेखक—डा० भोलानाथजी तिवारी)

हिंदीमें 'चरित्र' और 'आचार' या 'आचरण' लगभग समान अर्थमें व्यवहृत होते हैं। लोग कहते हैं—उसका चरित्र अच्छा नहीं है, उसका आचार या आचरण या चरित्र भला नहीं है। अंग्रेजी शब्द कैरेक्टर (Carecter) का पर्याय चरित्र माना जाता है। कैरेक्टरके दो अर्थ हैं—चाल-चलन और पात्र या चरित्र। शेक्सपियरके 'मर्चेंट आफ वेनिस' नाटकमें शाइलाक एक अत्याचारी चरित्र है।

चरित्रका अर्थ आचार, चाल-चलन, कथा-कहानी, जीवन-चरित्र एवं आत्म-चरित्र भी है। 'महावीरचरितम्' 'उत्तर रामचरितम्' आदिके रूपमें चरित्रका अर्थ कथा, जीवन-चरित्र या इतिहास है। चरित्रका सम्बन्ध मनुष्यके समग्र जीवन एवं व्यवहारसे होता है।

रामचरितमानस गोस्वामीजीका प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ है, जिसमें रामके सम्पूर्ण जीवनका चित्रण है।

संस्कृत और हिंदीमें आचार या सदाचार शब्दको अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। प्रतिदिन जीवनमें हम मनुष्यके आचारको देखते हैं, आँकते हैं और उसपर टीका-टिप्पणी करते हैं। चरित्रकी ही तरह आचार भी सदसद्-भेदसे दो प्रकारका होता है। व्यक्तिका सद्-आचार ही दूसरोंको प्रेरणा देता एवं समाज और राष्ट्रको उठानेमें सहायक सिद्ध होता है।

भारतमें सदाचारको ही धर्म माना गया है। धर्मका अर्थ मजहब, रिलीजन (Religion) या सम्प्रदाय नहीं है। मनुस्मृतिका मत है—'आचारः परमो धर्मः।' महाभारतका कथन है—आचारः प्रथमो धर्मः। वसिष्ठस्मृतिका भी उद्घोष है—आचारपरो हि धर्मः॥ महाभारतमें व्यासजीने धर्मका लक्षण आचार ही माना है—'आचारलक्षणो धर्मः'।

भगवद्गीतामें कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३ । २)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है वैसा ही दूसरे मनुष्य भी करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषद्वारा किये कर्म-समुदायको प्रमाण या उदाहरण मानकर इतर जन पीछे चलते हैं।' सदाचार और दुराचारके दो उत्कृष्ट उदाहरण हैं—(१) त्रेतायुगीन राम और (२) रावण। राम धर्म या सदाचारके उदाहरण हैं तो रावण अधर्म या दुराचारका। राक्षसलोग रावणका अनुगमन करते थे। रावणके आचरणको सामने रखकर जीवनयापन करते रहे थे तो अयोध्यावासी रामके सदाचारी जीवनके पीछे चल रहे थे। रामने राज्यका त्याग किया तो भरत क्यों ग्रहण करें? विष्णुपुराणमें महर्षि पराशर कहते हैं—

श्रूयतां पृथिवीपाल सदाचारस्य लक्षणम्।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि॥
(३ । ११ । २)

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥
(३ । ११ । ३)

'सदाचारमें सद् शब्द सज्जन या साधुका वाचक है। सज्जन पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है।' सज्जन या साधु पुरुष कौन है? जो दोषों या बुराइयोंसे बचकर चलता है। आचारके आधारपर पुरुषोंके दो वर्ग हैं—सदाचारी और कदाचारी। साहित्य, शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थोंमें सदाचारीकी प्रशंसा की गयी है और कदाचारी या दुराचारीकी निन्दा। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि यदि कोई पुरुष सब प्रकारके लक्षणोंसे हीन हो, किंतु श्रद्धालु हो, ईर्ष्यालु न हो और सदाचार-सम्पन्न हो तो वह प्रशंसनीय है तथा वह सौ वर्षोंतक जीता है'—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(मनुस्मृति ४।

इसके साथ ही दुराचारीकी निन्दा करते हुए मनु महाराज कहते हैं कि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
(मनु० ४। १५

'दुराचारी पुरुष संसारमें निन्दनीय बनता है, दुःख भोगता है, सदा रोगसे घिरा रहता है और अल्पायु होता है।' विष्णुपुराणकारका तो यहाँतक कहना है कि यह पृथ्वी सदाचारी पुरुषोंके ऊपर ही टिकी हुई है—

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥
(वि० पु० ३ । १२ । ४

यह बात सत्य भी है। दुराचारी पुरुषोंके कारण देश, समाज, जातिको हानि ही पहुँचती है। संसार गुण-दोषमय है। अतः थोड़े-बहुत कदाचार रहते ही हैं। किंतु जब इनकी संख्या बढ़ जाती है तो समाज और देश त्रस्त तथा पीड़ित हो जाते हैं, पृथ्वी व्याकुल हो जाती है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य इस प्रकारके वर्णनोंसे भरा पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने दुराचारसम्पन्न मनुष्योंका लक्षण लिखते हुए उन्हें राक्षसोंकी संज्ञा दी है—

कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका॥
कृपा रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं बिस्व परितापी॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

गोस्वामीजीका उद्घोष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि जिन मनुष्योंमें ये दुराचार भी हों, वे निश्चय राक्षस हैं। जो हिंसा करनेमें नहीं सकुचाते, पर-दारा-परधनका अपहरण करते हैं; जो चोर, तस्कर, जुआरी हैं; जो माता-पिता, पूज्य पुरुषोंको नहीं मानते; जो नगर, गाँव, पुर, मन्दिर, घरमें आग लगानेमें नहीं संकोच करते हैं, जो निष्करुण, क्रूर, कुटिल, लंपट, स्वार्थमूर्ति, अभिमानी, द्वेषी और दूसरोंके हितकी उपेक्षा करनेवाले हैं, वे सभी राक्षसके समान हैं।

गोस्वामीजी पुनः उत्तरकाण्डमें मनुष्यरूपमें राक्षसोंका अङ्कन करते हुए कहते हैं—जिसमें निम्न आचरण दिखायी दे, उन्हें राक्षस समझ लेना चाहिये—

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

'देह-धरे मनुजाद'से गोस्वामीजी अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देते हैं। मनुजादका अर्थ है, मनुष्योंको खानेवाला, अर्थात् राक्षस। वे चाहे दूकान करें या व्यापार, उद्योगरत हों या उच्च अधिकार प्राप्त, बड़े पण्डित हों या बड़े धनी, पर कामी, क्रोधी, तस्कर, भ्रष्टाचारी, सज्जनोंकी हँसी उड़ानेवाले, देश, समाजके हितका ध्यान न करें, परद्रोह, परदार, परधन, परनिन्दामें लीन रहते हैं तो नरभक्षी राक्षस ही हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि जब ऐसे दुराचारियोंका दुराचार अर्थात् अधर्म बढ़ जाता है, तब किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌का अवतरण होता है। जब भी दुराचारकी, जो अधर्म है, मात्रा बढ़ जायगी—तो उस शक्तिको संसारमें आना पड़ता है जो सबका नियन्त्रण करती है। वह राम, कृष्ण, दुर्गा, परशुराम आदि किसी भी रूपमें आकर दुष्ट-दमन और शमन करती है। दुराचार अधर्म है, सदाचार धर्म है। सदाचार अर्थात् धर्मकी जब हानि होती है, तब भगवान्‌की कोई विभूति अवतरित होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

भगवद्गीतामें भगवान् कृष्णका भी कथन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४। ७-८)

'अर्जुन! जब धर्मकी हानि होती है तो मैं उसके उत्थानके लिये अपनी शक्ति भेजता हूँ। सदाचाररत साधुओंके रक्षार्थ और दुराचारलीन दुष्टोंके विनाशार्थ तथा सब जनोंके धर्माचार-स्थापनार्थ मैं युग-युगमें किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होता हूँ।'

सद्-आचारके अपरिमित रूप हैं। इनमें कुछ प्रमुख हैं—प्रणाम करना अथवा हाथ मिलाना, मृदुभाषण, विनय, दूसरेसे यथा समय उसका दुःख पूछना, किसीको मार्ग बता देना, गिरेको उठा देना, अँधेरेमें किसीको प्रकाश दिखाना, किसी बीमारको अस्पताल पहुँचा देना, अन्न-धनसे यत्किंचित् यथाशक्ति सहायता कर देना, सत्परामर्श देना, दान देना, किसी तस्कर, हिंसकसे किसीकी रक्षा कर देना, अन्यायीको दण्ड दिलाना, किसीको शिक्षा देना या विद्याध्ययनमें सहायता देना, भूखेको भोजन और प्यासेको पानी देना, जो कहा उसे करना, समयपर पहुँचना, अपना कार्य तन-मनसे पूर्ण करना, [illegible] न करना, न करने देना, सत्य

बोलना आदि। शास्त्रकारोंने इनमेंसे कुछ शाश्वत सामाजिक आचारोंको प्रमुखता देकर कहा है कि ये धर्म हैं। मनु महाराजने ऐसे दस आचारोंको गिनाकर उन्हें धर्मका अङ्ग बताया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु॰ ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, तनमनकी पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धिपूर्वक कार्य-सम्पादन, विद्या, सत्य, क्रोध न करना—ये सब धर्मके दस अङ्ग हैं।' याज्ञवल्क्यस्मृतिमें आचारोंकी संख्या नौ बतायी गयी है और उन्हें धर्मका साधन माना गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

मनुके पाँच गुण—धृति, सत्य, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहके साथ अहिंसा, दान-दयाको स्वीकार धर्मके साधन गिनाये गये हैं। वामनपुराणके अनुसार निम्नसूचित गुण आचार-धर्मके अन्तर्गत हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च।
अकार्पण्यमनायासो दयाहिंसाक्षमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते।
... ... धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥
(वा॰ पु॰ ११। २३-२४)

'स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, अकृपणता, सरलता, दया, अहिंसा, क्षमा, जितेन्द्रियता, शौच, सर्वत्र मङ्गल-भावना, विष्णु-भक्ति—ये सब मनुष्यके धर्मके अन्तर्गत हैं।'

विष्णुपुराण इन सदाचार-अङ्गोंको और बढ़ाता है। अतः तदनुसार धर्मके अन्तर्गत क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थयात्रा, सरलता, निर्लोभता, देवब्राह्मणपूजन, अनसूया गिनाया गया है—

क्षमा सत्यं दया शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं ...।
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥
(वि॰ पु॰ ३। ११।...)

'किसीसे शत्रुता न करना, निर्लोभता, दम, प्रीति, दया, तप, ब्रह्मचर्यसे रहना, सत्य बोलना, दम, धैर्य—ये धर्मके सदासे आधार माने गये हैं।'

उपर्युक्त सभी आचारोंको धर्मका अङ्ग माना गया है, कि कुछ मनीषियोंने एक-एक धर्माचारको प्रधान दिया है। महर्षि वाल्मीकि धर्मका सुन्दर लक्षण बताते हुए कहते हैं—जो कार्य परिणाममें अनर्थकारी न हो और प्रीति उपजानेवाला हो, वही धर्म कहा जाता है—

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते॥
(वा॰ रामा॰ ६। ...)

एक धर्म विशिष्ट धर्म या परम धर्म कहकर अपने विशिष्ट वर्णीय सदर्भमें उल्लिखित किया गया है—

१-अहिंसा परमो धर्मः।

(महा॰ अनुशा॰ ११५ तथा ...)

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा॥ (तुलसी ...)

२-धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः।
(ब्रह्मपुराण ...)

धर्म तो एक ही है, वह है मनुष्योंकी सहायता करना—

संक्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
(...)

'विस्तारसे क्या लाभ? संक्षेपमें सभी मनुष्योंके लिये एक धर्म बताता हूँ। वह है—परोपकार; परोपकार पुण्यके लिये और परपीड़ा पापके लिये होता है।' और—

श्रुति कह परम धरम उपकारा॥ (तुलसी ...)

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(तुलसी ...)

३-आचार परमो धर्मः। (... १। १११)

'सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ॥'

(वा॰ रा॰ २ । १०९ । ७)

धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥

(तुलसीदास)

सत्य बोलना, परहितनिरत रहना, मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसासे विरत रहना, दूसरोंसे द्वेष, द्रोह न करना, इन्द्रियोंके वशमें न रहना, लोभ-राक्षसको गर्दन-सवार न होने देना, नियमबद्धता, स्वराष्ट्रप्रेम, घोर श्रम, पवित्रता आदि सदाचार हैं। इन्हें ही धर्मका अङ्ग माना गया है। जो सदाचारी है, वही धर्ममय है। महाभारतकार ठीक ही कहते हैं—आचारप्रभवो धर्मः। आचारसे ही धर्मकी उन्नति होती है। आचार और चरित्र मूलतः अभिन्न हैं और धर्म है लोक-परलोकका उत्कर्ष साधक—अभ्युदय एवं निःश्रेयस-सम्पादक।

चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ॰ श्रीसोमनाथजी गुप्त, एम॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, डी॰ लिट्॰)

'चरित्र-निर्माण'-सम्बन्धी तत्त्वोंपर विचारनेके लिये चरित्रके स्वरूप, उसके विभिन्न प्रकार और उन्हें विधिवत् निर्मित करनेके उपायोंपर चिन्तन आवश्यक है। चरित्रके अन्तर्गत, व्यक्तिगत चरित्र, सामाजिक चरित्र, दैहिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चरित्र सभी संगृहीत हो जाते हैं। इन सभीको मिलाकर व्यक्तिका पूर्ण स्वरूप बनता है और इनके पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक निर्माणसे व्यक्तिको पूर्णता प्राप्त होती है।

भारतवर्षमें व्यक्तिके निजी चरित्रपर अधिक बल दिया जाता है और उसीके आधारपर उसको चरित्रवान् अथवा चरित्रहीनकी संज्ञा प्रदान की जाती है। यदि कोई व्यक्ति अपने घरमें, परिवारमें अथवा समाजमें कटा-कटा रहता है और किसी अन्य व्यक्तिसे सम्बन्ध नहीं रखता तो उसे चरित्रवान् कहा जाता है और यदि किसी प्रकार मलिनता प्रदर्शित करता है तो उसे चरित्रहीन माना जाता है तथा उसी आधारपर समाज, परिवार, घर एवं आस-पासमें उसका आदर-सम्मान या अपमान होता है। यहाँ किसी व्यक्तिकी चरित्र-सम्बन्धी विशेषता मानी जाती है और उसमें पूर्णताका निर्माण करना अर्थात् आरोपक ही सीमित रूपमें चरित्र-निर्माण कहा जाता है। प्रसिद्ध लोकोक्ति भी है कि 'हाथका सच्चा और लँगोटका पक्का'। इसमें भी दूसरे अर्थपर अधिक बल दिया जाता है। किंतु हमारी परिभाषाके अनुसार यह व्यक्तिके एक रूपका—चरित्रके एक अंशका मूल्याङ्कन है और इसे पूर्णरूपसे चरित्र-निर्माण कहनेमें संकोच होता है। पूर्व और पश्चिमकी विचारधारामें यही प्रमुख अन्तर है। इसका स्पष्ट रूप सम्भवतः विभिन्न व्यवहारोंमें देखा जा सकता है। इसी एक आदर्शको आधा अङ्ग मानकर हमारे देशके कुछ लोग पश्चिमपर आरोप लगाते हैं कि वहाँके लोग नितान्त असभ्य और चरित्रहीन हैं तथा हमारे देशमें चरित्र-निर्माणकी उत्तम परम्परा अनादि कालसे रही है एवं अब भी है। परंतु इसका सम्यक् निराकरण इस बातसे हो जाता है कि यह चरित्रका कितना भी उपयोगी क्यों न हो, एक अङ्ग मात्र है और हमें उसके पूरे स्वरूपपर विविध पक्षोंसे विचार करना चाहिये तथा चरित्र-निर्माणकी पूरी क्रियापर ध्यान देना चाहिये।

चरित्रके वैयक्तिक मूल्याङ्कनके अतिरिक्त और भी कई ऐसे पहलू हैं, जिनसे चरित्रको माना जा सकता है। सामान्यतः मानव-क्रियाकी पूर्णता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके जीवनका अधिकांश भाग समाजके [शेष पृष्ठमें]

लेनेसे पूर्व कुछ प्रतिज्ञाएँ, संविधान और जनताको पूर्ण करनी पड़ती हैं तथा भगवान्‌को साक्षी बनाया जाता है। यदि प्रभु-कृपासे संविधानकी रक्षा होती है और सार्वजनिक जीवनमें सफलता मिलती है तो चरित्रकी उत्कृष्टता स्वतः प्रतिपादित होती जाती है और यदि उनसे विपरीत स्थितिका सामना करना पड़ा तो चरित्र धूमिल होता जाता है। अतः चरित्रको नापनेका एक प्रमुख मापदण्ड राजनीतिक जीवन भी है। इसी प्रकार शैक्षिक, पारमार्थिक आदि जीवन हैं जिनका विधिवत् पालन करना चाहिये।

इस प्रसङ्गमें एक शब्द 'निर्माण' आता है। वह यद्यपि निर्माणकारी प्रभुके हाथ है, परंतु व्यक्तिविशेष भी इस ओर अपनी क्रियात्मकता प्रदर्शित कर सकता है। इसमें सबसे अधिक उपयोगी व्यक्तिकी ईमानदारी है और यदि विभिन्न क्षेत्रोंमें ईमानदारीके साथ अपने कर्तव्योंका निर्वाह किया जाय तो बहुत अंशोंमें चरित्रकी रक्षा सम्भव है। कुछ भी असावधानी होनेपर दोष-वृत्तिका आना सम्भव है। चरित्र-निर्माणका एक सुगम मार्ग है कि सावधानीसे अपनी शक्तिसे परिस्थितियोंका सामना किया जाय तथा किसी भी स्थितिमें प्रेम अथवा मोहके वशीभूत होकर मार्गच्युत न हुआ जाय। यह चरित्र-निर्माणकी एक सामान्य प्रक्रिया है और अपेक्षा की जाती है कि सभी विचारशील लोग इस ओर सजग रहेंगे। अन्य देशोंमें ईमानदारी व्यवहारका एक लक्षण बन गयी है। वहाँ कुछ दृष्टियोंसे हमें चरित्रकी गिरावट दिखायी दे तो भी कुल मिलाकर वहाँ उदात्त चरित्रके दर्शन होते हैं।

चरित्र-निर्माण क्यों और कैसे ?

(लेखक—श्रीराजेन्द्रबिहारी लालजी)

भारतीय धर्मग्रन्थ धर्म या सदाचारकी महिमा गाते हुए थकते नहीं थकते। मनुस्मृतिका आदेश है कि जिस प्रकार दीमक वल्मीकका संचय करती है, उसी प्रकार परलोकमें सहायताके लिये किसी भी जीवको पीड़ा न देते हुए धीरे-धीरे धर्मका संचय करे; क्योंकि परलोकमें माता-पिता, पुत्र, स्त्री और ज्ञाति सहायताके लिये नहीं रहते, केवल धर्म ही रहता है। वाल्मीकीयरामायणके अनुसार धर्मसे सम्पत्तिका उद्भव होता है, धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है और सदाचारसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' महाभारतमें भी कहा गया है कि सदाचारसे सुख मिलता है। शास्त्रोंमें यह भी बताया गया है कि मनुष्य पाताल, स्वर्ग या कहीं और जाकर छिप जाय पर उसके किये हुए पाप और पुण्यके फल उसे खोजकर मिल जाते हैं। वस्तुतः रामायण और महाभारत—दोनों प्रकारान्तरसे सदाचार-संहिता ही हैं।

धर्मका सच्चा अर्थ भी सदाचार है। मनुस्मृतिके अनुसार समस्त कर्तव्योंका ठीक-ठीक, उचित समयपर, उत्साह तथा कुशलतापूर्वक सम्पादन करना धर्म या सदाचार है। गीतामें भी धर्म और कर्तव्य शब्द सदाचारके लिये हुए प्रयुक्त हैं। कर्तव्यमें मनुष्यके सारे जीवनोपयोगी कर्म आते हैं, चाहे वे धार्मिक हों या सांसारिक।

धर्मके चार चरण—भारतीय ऋषि-मुनियोंने धर्मके सत्य, शौच, तपस्या और दान—ये चार चरण या स्तम्भ बताये हैं। किंतु प्रचलित विचारधाराके अनुसार धर्मका सार-तत्त्व पूजा, पाठ, ध्यान, जप या कथा-कीर्तन ही है। इन्हीं धार्मिक क्रियाओंमें सारे पाप धुल जाते हैं तथा सुख-सम्पत्ति और मोक्षतककी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान, जप और नामस्मरणसे मनुष्य स्वतः और अनिवार्यरूपसे पवित्र और मोक्षका अधिकारी बन

जाता है, बल्कि इन क्रियाओंमें इतनी प्रबल शक्ति है कि उनका अवलम्बन लेनेवालेके पास पाप फटक भी नहीं सकते। इस प्रौढ़ विश्वासके फलस्वरूप जीवनमें सदाचार, देशभक्ति, परोपकार और संयम आदि-जैसे सद्गुणोंका स्थान प्रायः गौण हो जाता है।

धर्मका क्षेत्र जिसे पकड़नेके लिये चार पैरोंकी आवश्यकता है, केवल आधे चरणपर खड़ा भी कैसे रह सकता है। जब ध्यान, जप तथा कीर्तन सारे पापोंको भस्म कर देते हैं और ये भगवत्प्राप्तिके एकमात्र उपाय हैं तो परोपकार, संयम, देशसेवा और कर्तव्यपालनमें समय बरबाद करनेसे क्या फायदा! यह आजकल बाद है, तर्क-प्रधान लोगोंका विचार है। उनका कहना है कि इसी कारण हमारे देशमें चरित्र या सदाचारका बहुत ह्रास हो गया है। नैतिक मूल्य प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं। प्राचीनकालमें तो हिंदू राजा परस्पर लड़ते ही रहते थे और विदेशी आक्रमणकारियोंसे मिलकर अपने ही भाइयोंसे विश्वासघात करते थे। स्वतन्त्रता पानेके बाद आचरणमें सुधार होनेके बजाय और भी गिरावट आ गयी है; अनाचार, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, अनुशासनहीनता, आत्महत्या-जैसी बुराइयोंका बोलबाला है; क्योंकि चारित्र्यकी प्राचीन परम्परा लुप्त हो गयी है।

उपासना और सदाचार—निःसंदेह उपासनाका जीवनमें बड़ा महत्त्व है। किंतु यह कहना कि उपासना ही जीवनका सर्वस्व है और उसके सिवा सारे काम निरर्थक हैं, आज समाजके लिये कुछ हानिकारक हो रहे हैं। उपासनाके फल संयम, परोपकार और सेवा मिलानेसे ही जीवन पूर्ण होता है। वास्तवमें इन बातोंमें विरोध न होना चाहिये; क्योंकि इनके क्षेत्र अलग-अलग हैं। किंतु यदि इनको इस तरह बढ़ाया जाय कि बाकी सब कर्मकाण्ड गौण बन जायँ तो मनुष्यका जीवन अधूरा और पंगु ही रह जायगा। जीवनमें संतुलन नहीं हो सकेगा, अतः इन सबको प्रश्रय देना जीवनका लक्ष्य होना चाहिये।

यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जब अच्छे लोग, अच्छे सिद्धान्त, अच्छी संस्थाएँ और अच्छे विचार परस्पर सहयोगसे काम करते हैं तो समाजका बड़ा कल्याण करते हैं, किंतु जब वे एक दूसरेका विरोध करने लगते हैं, तब बड़ा अनर्थ हो जाता है। हवा, पानी, भोजन और कपड़ा सब ही जीवनके लिये आवश्यक हैं। जबतक ये एक दूसरेकी सहायता करते हैं, मनुष्यको सुख देते हैं, किंतु यदि वायु या प्राणायामका प्रचार इस तरह किया जाय कि मानव-जीवनमें भोजन, पानी, कपड़ा और मकानकी कोई आवश्यकता नहीं, तो बड़े हुए अतिमात्रामें जीवनको नष्ट-भ्रष्ट करने लगेंगे।

हमारे शास्त्रकार इस खतरेको अच्छी तरह समझते थे। इसके विरुद्ध चेतावनी देनेके लिये उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी, अनेक दृष्टान्त और सिद्धान्त रखे। किंतु हम उन सबकी अवहेलना करके केवल परम्परागत आराधनाको ही मुक्तिकी कुञ्जी बताते हैं। हमारी दृष्टिमें दुनियाके काम, परोपकार, आत्मबलिदान, देशभक्ति आदिका जीवनमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया है। यही तो साधनाके वास्तविक स्वरूपके समझनेमें भूल है।

घोर तपस्या या लंबी पूजा या पाठ, जपतप, ध्यान करनेवाले, किंतु चरित्रहीन लोगोंकी क्या गति होगी? इसके अनेक दृष्टान्त हमारे धर्मग्रन्थोंमें मिलते हैं। हिरण्यकशिपु, रावण, भस्मासुर आदि राक्षसोंकी कथाएँ यह पुकार-पुकारकर कह रही हैं कि लंबी और कठोर तपस्या, वरदान तथा दर्शन और वरदानके पानेपर भी सब निष्फल साबित हो गये; क्योंकि उनमें सदाचार और चरित्रका अभाव था तथा उन्होंने अपनी तपोशक्ति

शक्तिको परहितमें ही नहीं, वरन् पर-पीड़नमें लगाया । आज भी ऐसे लोगोंकी भरमार है, जो सबेरे-शाम नियमितरूपसे ध्यान, जप या पूजा करते हैं और बाकी समय दुराचारमें लगते हैं एवं धार्मिक क्रियाओंसे भी अपनी दुर्वृत्तियोंका ही पोषण करते हैं ।

समाजमें यह विश्वास फैला हुआ है कि ध्यान, जप, भक्ति और पूजा करनेवाला सदा चरित्रवान् होता है । किंतु जब हम तथ्योंकी ओर दृष्टि डालते हैं, तब हमें इस कटु सत्यको मानना पड़ता है कि ऐसे कुछ लोग दुराचारी भी होते हैं; क्योंकि वे अपनेको सिद्ध महात्मा मान बैठते हैं और अपने आचार-व्यवहारको सुधारनेके लिये कोई प्रयास ही नहीं करते । गोस्वामीजीने भी ऐसा संकेत किया है—

पर त्रिय लंपट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर । देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥
(मानस ७ । १०० । २)

कलियुगके ये बनावटी लोग समाजका अहित करते हैं—

आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं । जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं ॥

गीता ७ । १६के अनुसार भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी । ये सभी उदार तथा चरित्रवान् भी होते हैं । यहीं 'माया-द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको धारण किये हुए नीच, पापाचारी और मूढ़ोंकी भी बात आयी है—जो ईश्वरको नहीं भजते । इसके विपरीत 'निष्काम-भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष ही मुझ भगवान्‌को सब प्रकारसे भजते हैं'(गी० ७) । तात्पर्य यह कि सदाचारी लोगोंकी पूजा ही वास्तवमें पूजा है । दुराचारियोंकी पूजा तो केवल ढोंग है और वह उन्हें दुर्गतिसे नहीं बचा सकती ।

भागवतमें भगवान् कपिलने स्पष्टरूपसे कहा है-कि 'मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँगमात्र है । मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है । जो भेद-दर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती । जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुत-सी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता' (स्कन्ध ३) ।

भक्तोंका वर्गीकरण—भागवतमें नारद मुनिने श्रीवसुदेवजीसे कहा है कि 'जो प्रत्येक चेतन या जड़ वस्तुमें ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करता है, उसका ही रूपान्तर देखता है और सब वस्तुओंको ईश्वरका ही अंश समझता है, वही पूर्ण भक्त है तथा भगवान्‌के उपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ है । जो अपनेको समस्त प्राणियोंमें और समस्त प्राणियोंको अपनेमें —परमेश्वरमें स्थित देखता है, वह सर्वोत्तम भक्त है । जो केवल मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करता है, किंतु अन्य प्रकारकी पूजा करनेवालोंके प्रति सहनशील नहीं है और सर्वत्र ईश्वरकी सत्ता नहीं देख पाता, वह प्रारम्भिक कोटिका भक्त है' (११ । २ । ४५-४८) ।

चरित्र ही धर्मका प्राण है । चरित्रहीन मनुष्य भगवान्‌का प्यारा या जीवन-मुक्त तो क्या होगा, वह

शास्त्रोंमें एक और भी सार्वभौम सिद्धान्त मिलता है जो मानवके समस्त कर्मोंपर लागू होता है—चाहे वे धार्मिक हों या सांसारिक। भागवतमें एक स्थानपर भगवान् कृष्णने कहा है—'जो भी काम मेरे लिये या फलेच्छा छोड़कर किये जाते हैं, वे सात्त्विक हैं। जो काम फलेच्छा रखकर किये जाते हैं, वे राजसी हैं और जो पर-पीड़नके लिये किये जाते हैं, वे तामसी होते हैं। गीतामें भी यही शिक्षा दूसरे शब्दोंमें दी गयी है (८। २३—२५)।

दैवी और आसुरी गुणोंका भेद समझानेके लिये गीतामें तो एक पूरा अध्याय ही दिया है और उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि दैवी सम्पदा मुक्ति दिलानेवाली और आसुरी सम्पदा बाँधनेवाली होती है (१६।५)। आसुरी सम्पदाके लोगोंमें अर्थात्—अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं। ऐसे द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको बारम्बार आसुरी योनियोंमें ही गिरना पड़ता है (१६। १८-१९)।

जीवनमें पूजा, ध्यान, जप, कीर्तन आदिका बड़ा महत्त्व है। उनसे अनेक लाभ हैं। उनका स्थान कोई दूसरा काम नहीं ले सकता। किंतु उनके साथ धर्म और नैतिकताको भी महत्त्व देना है।

उपर्युक्त सारे नियम भगवान्के बनाये हुए हैं, अटल, अमिट, शाश्वत और सार्वभौमिक हैं। हम उनकी अनदेखी कर सकते हैं, अपने प्रवचनों और पुस्तकोंमें उनका बहिष्कार कर सकते हैं; किंतु वे नियम तो सदा-सर्वदा (यद्यपि चुपके-चुपके और धीरे-धीरे) अपना काम करते ही रहेंगे। कोई दुराचारी, परपीड़क या कमजोर व्यक्ति बहुत पूजा या जप करके ईश्वरकी समाधि तो लगा सकता है, भगवान्के राजसिक और तामसिक दर्शन भी कर सकता है (जैसा रावण, दुर्योधन, कंस आदिने किया), कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकता है, किंतु संत, भगवान्का प्यारा या जीवन-मुक्त कदापि नहीं बन सकता।

चरित्रकी कसौटी—अब यह विचारना है कि चरित्रकी कसौटी क्या है? चरित्रका निर्माण सदाचार तथा बहुत-से सद्गुणोंको अपनानेसे होता है—जैसे सत्य, अहिंसा, दया, मैत्री, समता, निर्भयता और निरभिमानिता। वैसे दैवी गुणोंकी सूची बहुत लम्बी है, किंतु यदि सच्चरित्रकी कुञ्जीको एक शब्दमें रखा जा सके तो वह शब्द है निःस्वार्थता, निरपेक्षता या निःस्पृहता, जिसका अर्थ है सारे कर्तव्योंका तत्परतासे पालन करना, किंतु दूसरोंकी भलाईके लिये, न कि अपने किसी निजी लाभ या पुरस्कारके लिये।

इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि परोपकार धर्मका सार है। गोस्वामी तुलसीदासजीका कथन है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥

बिल्कुल यही विचार एक दूसरे भक्त कविने यों व्यक्त किया है—

चार वेद षट् शास्त्रमें बात मिली है दोय।
दुख दीन्हे दुख होत है सुख दीन्हे सुख होय॥

भक्त नरसी मेहताने अपने प्रसिद्ध (तथा गाँधीजीके प्रिय) भजनमें बताया है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे।

भगवान् कृष्णने भी यही सारगर्भित उपदेश दिया है—सब प्राणियोंमें केवल उसीका जीवन सफल है जो अपने जीवन, धन, ज्ञान और वचनद्वारा

सम्मिलित हैं। जब भगवान् कृष्ण अपनी अथवा परमपुरुषकी आराधनापर जोर देते हैं तो उनका आशय यही है कि उनके विशिष्टतम स्वरूप, अर्थात् विश्वकी पूजा की जाय, तभी मनुष्यका सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। विराट् स्वरूपमें भगवान् कृष्ण सदा और सर्वत्र, किंतु परोक्षरूपसे विराजमान हैं। इसलिये परम्परागत तरीकोंसे उनकी पूजा तो करनी ही चाहिये, किंतु बाकी समयको सभी जीवोंकी सेवामें, विशेषकर मनुष्यमात्रकी सेवामें लगाना चाहिये। गीताके प्रसिद्ध वाक्य—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (८।७)-का भी यही तात्पर्य है। ध्यान, जपसे वैकुण्ठ-निवासी भगवान्की सेवा तथा कर्तव्यपालनसे घटघटवासी परमेश्वरकी पूजा होती है। यह दोनों ही प्रकारकी आराधना मनुष्यके लिये आवश्यक है। दोनोंके मेलसे ही गीताका नित्ययोग या सतत्योग बनता है और उसीसे मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है।

हम भगवान् कृष्णकी धातुकी बनी मूर्तिकी पूजा बड़े चावसे करते हैं; उसे स्नान कराते हैं, उसपर फूल चढ़ाते हैं, उसका शृङ्गार करते हैं, उसकी आरती उतारते हैं। यह सब बहुत अच्छा है, किंतु उनकी जीती-जागती विराट् और चेतन मूर्ति, अर्थात् संसार जो सदा हमारे साथ है, जो हमारा पालन-पोषण करता है, जीवनको सुखमय बनाता है और हमसे भी सेवाकी आशा करता है, उस विश्वरूपकी हम अवहेलना करते हैं, तिरस्कार करते हैं और उसको अपने कर्मों तथा निष्क्रियतासे पीड़ा पहुँचाते हैं। दूसरे शब्दोंमें सुदूर स्वर्गमें रहनेवाले भगवान्की तो हम ध्यान, जप, भजन आदिद्वारा पूजा करते हैं, किंतु उसके चैतन्य और विराट्स्वरूपकी हम तनिक भी परवाह नहीं करते। यही अनैतिकता, अधर्म, चरित्रहीनता और पापका मूल कारण है।

विष्णुसहस्रनाममें भगवान्का सबसे पहला नाम विश्व है। विश्व ईश्वरका सर्वप्रथम नाम ही नहीं, उनका सर्वश्रेष्ठ और परमात्मस्वरूप भी है। इसी गूढ़ तत्त्वको समझानेके लिये भगवान् कृष्णने गीतामें अर्जुनको अपना विराट्रूप दिखाया। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि सारी सृष्टिको, विशेषकर मानव-मात्रको सदा कृष्णमय और कृष्णस्वरूप देखे और उसीके अनुरूप सबसे प्रेम, मैत्री और आदरपूर्वक उचित व्यवहार करे। तभी श्रीकृष्णकी मूर्तिका पूजन वास्तविक सात्त्विक पूजन होगा।

परमेश्वरकी परम्परागत पूजासे बचे हुए सारे समयको उनके विराट् रूपकी अर्चना, वन्दना, शृङ्गार तथा आरतीमें अर्पित करना चाहिये। मानव-शरीर और उसके ऊपर भारतकी पुण्य भूमिमें जन्मको भगवान् कृष्णका महान् वरदान समझकर हम सदा उनका आभार मानें और उनका गुणगान करते रहें। साथ-साथ हमारा यह भी कर्तव्य है कि अपने देशकी, इसकी भूमिकी, इसके प्रत्येक पदार्थ और जीवकी, इसके खेतों, कारखानों, दफ्तरों, नगरों और बाजारोंकी प्रेमपूर्वक सेवा करें, उन्हें सँवारें, सजाएँ, सुव्यवस्थित और उन्नत करें। विशेष आवश्यकता यह है कि हम अपने देशवासियों और सारे राष्ट्रको ज्ञान-विज्ञानों सत्कर्मों तथा सद्गुणों-जैसे आभूषणोंसे अलंकृत करें। भगवान्के विराट्रूपकी यही सच्ची उपासना और शृङ्गार है।

जो सज्जन सदाचारी और सेवापरायण हैं, जिनके मन, वाणी और कर्म एकरूप हैं, वे ही विराट् भगवान्के सच्चे आभूषण हैं और वे ही उनको प्रिय हैं।

सबका एक ही ध्येय—सब धर्मों, मतों और सम्प्रदायोंका एक ही उद्देश्य होता है या कम-से-कम होना चाहिये कि अधिक-से-अधिक संख्यामें सत्पुरुष और महापुरुष, अच्छे गृहस्थ, अच्छे नागरिक, अच्छे प्रशासक,

चरित्र-निर्माणके लिये जो पुरुषार्थ आवश्यक है, वह निरन्तर चलता रहना चाहिये। चरित्रको ऊँचे स्तरपर स्थिर रखनेके लिये एक सुदृढ़, स्थायी और विश्वव्यापी संस्थाकी आवश्यकता है; क्योंकि ज्यों-ही हम सदाचारकी ओरसे जरा भी प्रमाद करेंगे, त्यों-ही दुराचार चुपके-चुपकेसे हमारे भीतर घुस आयेगा और हमपर हावी हो जायगा।

जैसे सदाचार सिखानेका काम समाजके वर्गमें विशेषकर साधुओं, मनीषियों और धर्माचार्योंका है, उसी तरह संसारमें सदाचारोपदेशका काम भारतवर्षका रहा है। हमारे पास ज्ञान, वैराग्य और विवेककी जो अनुपम निधि है, उसका लाभ उठानेके लिये सारा संसार हमारी ओर टकटकी लगाये है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो शताब्दियोंसे जगद्गुरुका स्थान भारतके लिये पुनः रिक्त है। किंतु हम अब इस पदके योग्य तभी होंगे; जब वेदान्त और गीताको ठीक-ठीक समझ लें, उनके अनुरूप लोगोंके चरित्रका निर्माण करें और अपने देशको स्वर्गका नमूना बना लें।

विभिन्न प्रसङ्गोंमें चारित्र्य

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी नायक, एम्० ए० (हिन्दी, राजनीतिविज्ञान), राष्ट्रभाषा-रत्न, एल्० टी० टी० सी०, बी० एड्०, पीएच्० डी०)

मनुष्य-जीवनमें चरित्रका स्थान बड़े महत्त्वका है। एक अंग्रेजी कहावतके अनुसार 'धन चले जानेपर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्यहानिपर कुछ नष्ट होता है, परंतु चरित्रके नष्ट होनेपर सब कुछ नष्ट हो जाता है।'

चरित्र एवं शीलकी परिभाषा व्यापक है। अमरकोशमें कहा गया है—'शुचौ तु चरिते शीलम्'—शुद्ध आचरणका नाम शील है (३।२६)। विभिन्न शब्दकोशोंमें शीलके लिये उत्तम स्वभाव, आचरण, करनी, चालचलन, चरित्र, जीवन, सदाचार, विनयपूर्वक शिष्ट-शुद्ध वृत्ति, आचरण आदि पर्याय मिलते हैं। निर्दोष, स्वच्छ, निर्विकार, निष्कलङ्क, पवित्र अथवा उज्ज्वल शुद्ध आचरण शील है। सामान्य अर्थमें वही व्यक्ति चरित्रवान् कहा जा सकता है, जिसकी भावनाएँ मनुष्यत्वसे युक्त हों, जो प्रत्येक कार्यमें दूसरोंके सुख एवं हितका ध्यान रखे तथा प्रत्येक कार्यसे दूसरोंको सुख एवं लाभ पहुँचाये।

प्राचीन युगोंमें चरित्रपर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था; क्योंकि मुक्तिकी प्राप्तिके लिये मोक्षसाधन भी आवश्यक था। इसकी प्राप्तिके बिना शरीर-प्राप्ति दुष्कर थी। त्यागपरायणता, जनानुराग उच्चकोटिकी नैतिकतासे ही प्राप्त हो सकती है। अतः सभी सम्पदाओंसे बड़ी सम्पदा थी—सच्चरित्रता। इसी तथ्यको लेकर ही सभी मनीषियोंने मानवको सच्ची मानवतातक ले जानेका मार्गदर्शन किया है। इसी भावको लक्ष्य कर कबीरने कहा था—

> सीलवन्त सबतें बड़ो, सबै रतनकी खान।
> तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आन॥

उन्होंने और भी कहा है—

> ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
> जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोई एक॥

प्राचीन युगोंका समाज निश्चय ही सच्चरित्रता 'शील'-की दृष्टिसे एक आदर्श समाज था; क्योंकि उस समाजमें शीलवन्त व्यक्तिकी माँग थी। आर्यत्व प्राप्त कर लेना किसी भी अर्थमें देवत्वसे कम महत्त्वपूर्ण न था। 'अनार्य' शब्द गालीके तुल्य हो गया था। भगवान् बुद्धने सत्यको 'आर्य' विशेषणसे भूषित कर दिया था। वह आर्य सत्य दूसरे सत्योंसे श्रेष्ठ माना गया है। बुद्धके अनुसार आर्यसत्यके चार प्रकार हैं—

अच्छे वैज्ञानिक, इंजीनियर और डॉक्टर तथा अच्छे नेता बनावें जिनके द्वारा नेक, सुव्यवस्थित, प्रगतिशील और सुखी समाजका निर्माण हो ।

स्वामी विवेकानन्दने लिखा है—'वह समय आनेवाला है, जब संसारके प्रत्येक नगरकी हर गलीमें संत घूमेंगे और हम यह समझने लगेंगे कि धर्मका रहस्य केवल इतना ही नहीं है कि पुरानी बातोंको सोचा और समझा जाय, बल्कि उन्हें जीवनमें उतारा जाय और उनसे भी श्रेष्ठतर विचारोंका अन्वेषण, प्रतिपादन और अभ्यास किया जाय ।' सन्तोंके बनानेके लिये प्रशिक्षण होना चाहिये । स्कूलों और कालेजोंका भी यही उद्देश्य होना चाहिये । सज्जनोंको तैयार करनेके लिये प्रशिक्षण वे दें जो स्वयं सदाचारी सच्चरित्र हों ।

जैसी बातपर अधिक जोर दिया जाता है, वैसा ही धर्म, व्यक्ति और समाज बन जाता है । यदि हमें देशमें चरित्रका अभाव खटकता है तो हमें सदाचार, कर्तव्य-पालन, संयम, सादगी, ईमानदारी-जैसे दैवी गुणोंपर जोर देना होगा । यह प्रकृतिका नियम है कि सारे प्राणी पतन, बिगाड़, गड़बड़ी, अस्त-व्यस्तताकी ओर तो स्वतः ही आप-से-आप चले जाते हैं, किंतु ऊपर उठने और उन्नति करनेके लिये उन्हें पुरुषार्थ करना पड़ता है । चरित्र-निर्माणकी ओर यदि ध्यान नहीं दिया जायगा तो लोगोंका, समाजका चरित्र गिरता ही जायगा । यदि चरित्रको ऊपर उठाना है, यदि सत्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा-जैसे सच्चे भक्तके लक्षणोंको समाजमें स्थापित करना है तो उसके लिये सभी लोगोंको मिलजुलकर भगीरथ-प्रयत्न करना होगा । सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्पुरुषों और धर्मजनोंका कर्तव्य है कि उपदेश और आचरण दोनोंके ही माध्यमसे उदात्त आदर्श जनताके सामने स्पष्टरूपसे रखें । यह काम राजनेताओं, प्रशासकों, पूँजीपतियों, शिक्षकों, मिलमालिकों तथा हर विभागके वरिष्ठ अधिकारी इत्यादि सभीको करना चाहिये । किंतु मुख्य जिम्मेदारी है साधु-संतों, धर्माचार्यों, कथावाचकों तथा अन्य धर्मात्माओंकी । वे ही धर्मके प्रहरी हैं । घरमें, समाजमें, राष्ट्रमें नैतिक मूल्योंको बनाये रखनेके लिये उन्हें सदा सजग और सक्रिय रहना चाहिये । उन्हें हर घर, हर पाठशाला, हर विद्यालय, हर दफ्तर और कारखानेमें सदाचारका प्रचार करना चाहिये और सदा अपने शिष्यों, भक्तों और अनुयायियोंको सन्मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करना चाहिये ।

चरित्र-निर्माण केवल एकान्तमें नहीं होता, बल्कि यह घरों, पाठशालाओं, दफ्तरों, कारखानोंमें, जहाँ अनेक लोग साथ रहते और मिलकर काम करते हैं, जहाँ प्रलोभन-आलस्य, संघर्ष, कपट और झूठके अवसर बारबार आते रहते हैं, वहाँ भी हो सकता है । अतः हर गुणको अपनानेके लिये अलग प्रयास करना होगा । कड़ी मेहनत कर परिश्रमी, सच बोलकर सत्यवादी और दान करके परोपकारी बनना होगा । केवल सत्यवादी, ईमानदार या अहिंसक होकर भी कोई स्वतः परोपकारी नहीं बन जाता । यह भी आवश्यक नहीं कि ध्यान या जप करनेवाला सदाचारी हो या कोई विद्वान् ईमानदार या उदार ही हो । ऐसा कोई चमत्कार आसानीसे नहीं मिला, जो मनुष्यको बिना प्रयासके सभी सद्गुणोंसे सम्पन्न कर सके । हमें यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि चरित्रनिर्माणका काम या सत्-गुणके प्रचारका काम एक-दो दिन या कुछ वर्षोंका नहीं वरन् सदा-सर्वदाका है । चरित्रको ऊपर उठाना एक बात है, उसे ऊँचे स्तरपर बनाये रखना दूसरी बात है ।

चरित्र-निर्माणके लिये जो पुरुषार्थ आवश्यक है, वह निरन्तर चलता रहना चाहिये। चरित्रको ऊँचे स्तरपर स्थिर रखनेके लिये एक सुदृढ़, स्थायी और चिरस्थायी संस्थाकी आवश्यकता है; क्योंकि ज्यों-ही हम सदाचारकी ओरसे जरा भी प्रमाद करेंगे, त्यों-ही दुराचार चुपके-चुपकेसे हमारे भीतर घुस आयेगा और हमपर हावी हो जायगा।

जैसे सदाचार सिखानेका काम समाजके वर्गोंमें विशेषकर साधुओं, मनीषियों और धर्माचार्योंका है, उसी तरह संसारमें सदाचारोपदेशका काम भारतवर्षका रहा है। हमारे पास ज्ञान, वैराग्य और विवेककी जो अनुपम निधि है, उसका लाभ उठानेके लिये सारा संसार हमारी ओर टकटकी लगाये है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो शताब्दियोंसे जगद्गुरुका स्थान भारतके लिये पुनः रिक्त है। किंतु हम अब इस पदके योग्य तभी होंगे; जब वेदान्त और गीताको ठीक-ठीक समझ लें, उनके अनुरूप लोगोंके चरित्रका निर्माण करें और अपने देशको स्वर्गका नमूना बना लें।

विभिन्न प्रसङ्गोंमें चारित्र्य

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी नायक, एम्० ए० (हिन्दी, राजनीतिविज्ञान), राष्ट्रभाषा-रत्न, एल्० टी० टी० सी०, बी० एड्०, पी-एच्० डी०)

मनुष्य-जीवनमें चरित्रका स्थान बड़े महत्त्वका है। एक अंग्रेजी कहावतके अनुसार 'धन चले जानेपर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्यहानिपर कुछ नष्ट होता है, परंतु चरित्रके नष्ट होनेपर सब कुछ नष्ट हो जाता है।'

चरित्र एवं शीलकी परिभाषा व्यापक है। अमरकोशमें कहा गया है—'शुद्धौ तु चरिते शीलम्'—शुद्ध आचरणका नाम शील है (३।२६)। विभिन्न शब्दकोशोंमें शीलके लिये उत्तम स्वभाव, आचरण, करनी, करतूत, चरित्र, चलन, सदाचार, विनयपूर्वक शिष्ट-शुद्ध वृत्ति, आचरण आदि पर्याय मिलते हैं। निर्दोष, स्वच्छ, निष्पाप, निष्कलङ्क, पवित्र अथवा उज्ज्वल शुद्ध आचरण शील है। सामान्य अर्थमें वही व्यक्ति चरित्रवान् कहा जा सकता है, जिसकी भावनाएँ मनुष्यत्वसे युक्त हों, जो प्रत्येक कार्यमें दूसरोंके सुख एवं हितका ध्यान रखे तथा प्रत्येक कार्यसे दूसरोंको सुख एवं लाभ पहुँचाये।

प्राचीन युगोंमें चरित्रपर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था; क्योंकि मुक्तिकी प्राप्तिके लिये [illegible] भी आवश्यक था। इसकी प्राप्तिके बिना मोक्ष-प्राप्ति दुष्कर थी। लोकप्रियता, जनानुराग उच्चकोटिकी नैतिकतासे ही प्राप्त हो सकती है। अतः सभी सम्पदाओंसे बड़ी सम्पदा थी—सच्चरित्रता। इसी सत्यको लेकर ही सभी मनीषियोंने मानवको सच्ची मानवतातक ले जानेका मार्गप्रदर्शन किया है। इसी भावको लक्ष्य कर कबीरने कहा था—

सीलवन्त सबसे बड़ो, सबै रतनकी खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आन॥

उन्होंने और भी कहा है—

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोई एक॥

प्राचीन युगोंका समाज निश्चय ही अपनी 'शील'-की दृष्टिसे एक आदर्श समाज था; क्योंकि उस समाजमें शीलवन्त व्यक्तियोंकी माँग थी। आर्यत्व प्राप्त कर लेना किसी भी अर्थमें देवत्वसे कम महत्त्वपूर्ण न था। 'अनार्य' शब्द गालीके तुल्य हो गया था। भगवान् बुद्धने सबको 'आर्य' विशेषणसे भूषित कर दिया था। यह अर्थ सब दूसरे रूपोंमें ले लिया गया है। बुद्धके अनुसार आर्यत्वके चार प्रकार हैं—

१—दुःख—आर्यसत्य ।

२—दुःख-समुदाय—आर्यसत्य ।

३—दुःखनिरोध—आर्यसत्य ।

४—दुःख-निरोधकी ओर ले जानेवाले मार्ग—आर्यसत्य । आर्यसत्यका अर्थ है—श्रेष्ठ सत्य । सदाचारी, धार्मिक आर्यव्यक्ति ही मुक्तभवनसमर्थ होता है । महाभारतमें कहा गया है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(महा० १२ । १७४ । ५२, १७५ । २७)

आर्यधर्मके स्वरूपमें मनुने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६ । ९२)

समाजके संरक्षण-हेतु धर्मका आविर्भाव हुआ है । जो धारण कर लेनेपर समाजकी रक्षा करनेमें समर्थ है, वही धर्म है । धर्म स्वयं माना जाता था । पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—'जीवनमें सद्गुणोंकी प्राप्ति मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्यकी प्राप्ति लगातार प्रयत्नों एवं प्रयोगोंसे होती है ।' गीताके अनुसार अनेक जन्मोंतक प्रयत्न एवं प्रयोगोंसे ही यह दुर्लभ मोक्ष प्राप्त होता है ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
(गीता ६ । ४५)

जातककथाओंमें उन्नतिके छः द्वार बतलाये गये हैं—

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं
सीलं च बुद्धानुमतं सुतं च ।
धम्मानुवत्ती च अलीनता च
अत्थस्स द्वारा पमुखा छ एते ॥*

नीरोगता, सदाचार, ज्ञान-वृद्धोंका उपदेश और बहुश्रुतता, धर्मानुकूल आचरण एवं अनासक्ति—ये छः सफलताके द्वार हैं ।

सीलं किरेव कल्याणं सीलं लोके अनुत्तरम् ।†

शरीर, वाणी तथा मनसे सदाचारके नियमोंका पालन करना ही आचार—शील है । भगवान् बुद्धने इसके चार प्रकार बतलाये हैं—‡

१—चातुपरिशुद्धिसील ('पातिमोक्खसंवरसील')

२—इन्द्रिय संवरसील ।

३—आजीवनपारिशुद्धि संवरसील ।

४—पच्चयसन्निस्सित संवरसील§ ।

धम्मपदमें कहा गया है—'धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति'—कुशल मनुष्य भलीभाँति उपदिष्ट धर्मके पदोंको पुष्पकी भाँति चयन करेगा । 'शीलसे प्राप्त होनेवाले लाभकी गणना करते हुए भगवान् बुद्धने पाटलिपुत्रके उपासकोंको सम्बोधित कर कहा था—१—पाप-विषयमें लिप्त न हों, सदाचारी बनें और अप्रमादी रहकर कर्तव्यका पालन करनेसे धन भोग-वस्तुओंकी अनायास प्राप्ति होती है । शील-पालनका यह पहला लाभ है । २—शीलवान्का सुयश चारों ओर फैलता है । यह दूसरा लाभ है । ३—शीलवान् पुरुष निर्भय रहता है । यह तीसरा लाभ है । ४—मरते समय शीलवान् अपना ज्ञान नहीं खोता, होशमें रहता है । यह चौथा लाभ है । ५—मरनेके बाद सुन्दर गति प्राप्त होती है, स्वर्गमें जन्म ग्रहण करता है, यह पाँचवाँ लाभ है ।×

चरित्र केवल चरित्रके लिये नहीं है । जीवनको ऊपर उठानेके लिये, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखके लिये, भय, अशान्ति, सन्ताप, दुराचारसे दूर रहनेके लिये शील ही एकमात्र शक्ति है जो अमरत्व प्रदान करती है । 'सदाचार ही जीवन है ।' धम्मपदमें सदाचारके महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा गया है—

* आयस्सद्वारजातक । † सीलवीमंसजातक । ‡ मज्झिमनिकाय । § धम्मपदं, पुप्फवग्गो, ४४ । १ ।

× विनयपिटक राहुल सांकृत्यायन १९३५ पृ० २९९

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो॥

'चन्दन, तगर, कमल या जुही—इन सबकी सुगन्धोंसे सदाचारकी गन्ध उत्कृष्ट होती है।'

'धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च।'

धर्मका आचरण करनेवाला इस लोकमें तथा दूसरे लोकमें सुखपूर्वक रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी सत्य एवं धर्मके विषयमें कहा है—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मुनि गाए॥
धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

ऐतरेय-ब्राह्मणमें शीलका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि वैराग्यकी स्थिति तभी पैदा हो सकती है, जब समाजका प्रत्येक व्यक्ति शीलवान् हो, वह दुर्गुणों एवं विकारोंसे ग्रस्त न हो। किंतु बड़े दुःखकी बात है कि ऐसे गौरवमय चरित्र-प्रधान देशमें इस समय दुराचारकी ऐसी हवा फैली है कि हम सबोंकी आँखें फूट चुकी हैं, चाहे जो जहाँ भी है। यह कैसी बुराई है अनर्थकी! 'धम्मपद'में कहा गया है—

सेय्यो अयोगुळो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यं चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥
(लोकवग्ग १५८।२)

'दुराचारी तथा असंयत मनुष्यके लिये राष्ट्रका अन्न खानेकी अपेक्षा अग्निकी शिखाके समान जलता हुआ लोहेका गोला खाना श्रेयस्कर है।' वहीं आगे कहा गया है कि जहाँ दुराचार है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं है—

यस्स अच्चन्त दुस्सील्यं मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं [illegible]॥
(अत्त० १६२।१)

'दुराचारी मनुष्य शत्रुकी इच्छाके अनुसार कार्य करता है, जिस तरह मालुवा लता साल-वृक्षको काटनेके योग्य कर देती है।' और भी कहा गया है—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो॥

'दुराचारी और असंयत रहकर सौ वर्षतक जीवित रहना निरर्थक है। पर सदाचारी और संयत रहकर एक दिनका जीवित रहना श्रेष्ठ है।' ऋग्वेदमें कहा गया है—

'ऋतस्य पंथां न तरन्ति दुष्कृतः।'
(९।७३।६)

जो व्यक्ति जातिसे पतित है, जो संस्कार, कुल, संगति अथवा किसी भी दृष्टिकोणसे गिर चुका है, वह सत्यके मार्गको पार नहीं कर सकता। असत्पुरुष-(दुराचारी-)का किया हुआ उपकार भी नष्ट हो जाता है। इसी बातको बुद्धने इस प्रकार कहा है—

यथा बीजं अग्गिस्मिं डहति न विरूहति।
एवं कतं असप्पुरिसे दहति न विरूहति॥

रहीम कविने भी कहा है—

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून॥

भारतीय संस्कृति गौरवमय चरित्रोंसे भरी गयी है, जो चिर-परम्परित [illegible]-सभ्यताको दिग्दर्शन कराती रही है। एक विद्वान्के कथनानुसार चरित्रमें सामान्य आचार, व्यक्तिगत आचार, कुटुम्ब-आचार, जातिपरक आचार, राष्ट्रपरक आचार, विश्वपरक आचार, विशिष्ट आचारके अन्तर्गत—वर्णके विशिष्ट आचार, आश्रमके विशिष्ट आचार, स्त्रियोंके विशिष्ट आचार, दैनिक आचार, नैमित्तिक आचार आदि भी [illegible] हैं। वस्तुतः इन सभीकी ओर ध्यान दिया जाना [illegible] है।

चरित्रकी आदर्शभूत चरितार्थता

(लेखक—पं० श्रीगदानन्दजी द्विवेदी, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, साहित्यरत्न, एम० ए०, डिप्० एस० एड्०)

वेदशास्त्रोंके अध्ययन एवं सत्पुरुषोंकी सत्संगतिद्वारा मनुष्य विवेक प्राप्त करता है। फिर वह अपनी सत्प्रवृत्तियोंको जाग्रत कर तदनुकूल आचरण करता है। ये प्रवृत्तियाँ जब जीवनका अङ्ग बन जाती हैं, तब चरित्र-संज्ञासे अभिहित होती हैं। वेदोंके सारतत्त्व 'वेदमाता गायत्री'-महामन्त्रमें भी विवेकके लिये ही प्रार्थना की गयी है—'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'—'उस सविता देवताके वरेण्य भर्ग प्रकाशका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सत्कर्मके लिये) प्रेरित करे'। इस चौबीस अक्षरके लघुमन्त्रमें सविता देवतासे बुद्धिको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करनेकी प्रार्थना की गयी है। निश्चय ही यह प्रेरणा चरित्रविधायक सत्कर्मोंके लिये प्रार्थित है।

उपनयन-संस्कार एवं गायत्री-मन्त्रका उपदेश पाकर भारतीय विद्यार्थी गुरुकुलमें प्रवेश करते थे और पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर लगभग पचीस वर्षोंतक आश्रमका पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। चरित्र-निर्माण एवं ज्ञानार्जनके साथ ही तपःपूत जीवन समाप्त करनेपर उन्हें गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश करनेकी अनुमति मिलती थी। समावर्तनके समय वे आजीवन इन कर्तव्योंके पालनके लिये प्रतिज्ञा-बद्ध होते थे। उनके लिये गुरुके उपदेश थे—'सत्य बोलो, धर्मका पालन करो। सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो। सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये। धर्ममें कभी प्रमाद न करना, शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये। देवकार्यसे और पितृ-कार्यमें कभी नहीं चूकना चाहिये। माताको देवता मानो; पिताको देवता मानो। आचार्यको देवता मानो; अतिथिको देवता मानो। जितने अनिन्दित (अच्छे) कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिये, इतर अर्थात् निन्दित कर्मोंका नहीं; हमारे आचरणोंमें जो-जो अच्छे चरित्र हैं, उन्हींका सेवन तुमको करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

विद्यार्थी गुरुकुलमें प्राप्त इन उपदेशोंका पालन गृहस्थ-जीवनमें करते थे। इससे समाजमें आदर्शउदात्त उपस्थित होता था। फलतः चरित्रपर विशेष बल पड़ता था। चरित्र-निर्माण ब्रह्मचर्य-आश्रमीय जीवनका मुख्य लक्ष्य था। इसीलिये ये विद्यार्थी विश्वभरके चरित्रशिक्षणके लिये ललकार कर कहते थे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

'इस देश- (भारत-)में उत्पन्न अग्रजन्मा (ब्राह्मण-)से पृथ्वीके सभी लोग अपने-अपने चरित्र सीखें।' (हम चरित्रके प्रयोक्ता आचार्य हैं।)

इस सम्बन्धमें तक्षशिला गुरुकुलके स्नातक चाणक्यका निदर्शन अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। एक बार उनकी पर्णकुटी (झोंपड़ी) पर एक विदेशी उनसे मिलने आया। द्वारपालने उसके आनेकी सूचना दी। आचार्य चाणक्य उस समय मगध साम्राज्यके महामन्त्रीके रूपमें राजकीय कार्यसम्पादनमें व्यस्त थे। उन्होंने थोड़ी देरके बाद मिलनेकी स्वीकृति दे दी। कुछ देर बाद उन्होंने जलते हुए दीपकको बुझा दिया और एक दूसरा दीपक जलाकर विदेशी यात्रीको बुलाकर बातें कीं। लौटते समय उस यात्रीने मिलनेमें अधिक विलम्ब होनेका कारण जानना चाहा। उसने एक जलते हुए दीपकको बुझाने तथा उसके स्थानपर दूसरा दीपक जलानेका रहस्य भी जानना चाहा। वह अतएव झोंपड़ीमें होनेवाले कार्यकलापके देख चुका था।

महामन्त्री चाणक्यने कहा—'महाशय ! मैं राज्यके आवश्यक कार्योंके सम्पादनमें व्यस्त था और उसे पूरा करके ही मैंने मिलना उचित समझा, अतः थोड़ी देर हो गयी। पहला दीपक राजकीय था, अतः उसका उपयोग केवल राजकीय कामके लिये किया गया। आपसे मिलना यह स्वकीय काम था, अतः मैंने स्वकीय दीपक जलाकर अपना काम किया।' आचार्य चाणक्यके इस उत्तरसे यात्री विस्मित हुआ। काश ! आजके पदाधिकारी चाणक्यसे प्रेरणा लेते।

पुराणोंमें भी चारित्रिक प्रसङ्गोंका उल्लेख करके चरित्र-निर्माणपर बल दिया गया है। महाभारतके 'शान्ति-पर्व' में वर्णित कपोतदम्पतिका आख्यान कितना प्रेरणा-प्रद है। शरणागत हुए शत्रु व्याधेको कष्ट-मुक्त करनेके लिये उस कपोतने सूखे पत्ते इकट्ठे किये। आगका प्रबन्ध किया और उसे ठंडकसे मुक्त किया। अन्तमें स्वयं अग्निमें जलकर उसकी भूख भी मिटायी। आतिथ्य सत्कारका यह चरित्र और कहाँ है?

जटायुने रावणके अनाचारके विरुद्ध संघर्ष किया और अपनी जान गँवायी। बन्दर-भालुओंने दुराचारीके दमनमें भगवान् रामका साथ दिया। इस प्रकार मानवचरित्रसे पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए और अपने दिव्य चरित्रोंसे अमर बन गये। रामचरित-मानसके नायकपक्षीय सभी पात्रोंके चरित्र आदर्शभूत थे। प्रतिनायक रावणके सभी पात्र चारित्र्यशक्तिसे रहित थे, अतः वह पराजित हुआ—चरित्रं जयति।

महर्षि व्यासने श्रेष्ठताका आधार चरित्रको माना है, यक्षने जनके लिये समागत युधिष्ठिरसे श्रेष्ठताका आधार जानना चाहा—

राजन् ! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम्॥

'राजन् ! यह सुनिश्चित कर बतलायें कि ब्राह्मण्य किससे प्राप्त होता है—कुलसे, चरित्रसे, स्वाध्यायसे अथवा बहुश्रुत (अधिक अध्ययन) होनेसे !' युधिष्ठिरने स्पष्ट शब्दोंमें चरित्रकी महत्ता बतलायी और कहा—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

यक्ष ! सुनो, श्रेष्ठताका कारण कुल, स्वाध्याय या ख्याति नहीं, निःसन्देह चरित्र ही है। इसलिये यत्नपूर्वक चरित्रकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मण-(श्रेष्ठ-)को तो विशेष रूपसे; क्योंकि चरित्र क्षीण नहीं होनेपर मनुष्यका कुछ भी क्षीण नहीं होता और चरित्र क्षीण होनेपर तो सब कुछ नष्ट ही समझना चाहिये। स्मृतिकार मनुने धर्मके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेदोंका अध्ययन, शास्त्रोंका चिन्तन, सदाचारका पालन तथा अपनी आत्माका प्रिय करना—ये चार धर्मके प्रत्यक्ष लक्षण हैं। वेदों एवं शास्त्रोंका अध्ययन सदसद्विवेक उत्पन्न करता है और उससे हम कर्तव्य तथा अकर्तव्यको पहचानकर अपनी आत्माके प्रिय करनेके लिये सत्य, अहिंसा इत्यादि सत्प्रवृत्तियोंका सेवन करते हैं। इस प्रकार धर्म एवं चरित्र एक दूसरेके पूरक बन जाते हैं। विवेक चरित्रकी आधार-शिलापर ही निर्भर रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्संगतिको विवेकका मूल कारण माना है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

रामकी कृपा होती है तो चरित्रकी मूर्ति संत मिलते हैं और तब फिर विवेक होता है। अतः है चरित्र ही विवेकका जनक है। चरित्रके बिना कोई संत हो भी कैसे सकता है! साधुके चरित्रके सम्बन्धमें गोस्वामीजी लिखते हैं—

साधुचरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय स्पष्ट है । राजर्षि मनुके विचारमें दुराचारी पुरुष निन्दित, दुःखी, रोगी एवं अल्पायु होता है । चरित्रहीन और हिंसक व्यक्ति कभी सुखी नहीं होता । भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने कहा था—'शरीरमें चरित्र ही मुख्य वस्तु है, बचपनसे उपदेशक और क्रियादिसे कैसा ही धर्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो वह लोगोंमें टकसाल न समझा जायगा ।'

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकनसे किसीने पूछा—महानता-(महत्ता-) का सर्वप्रधानलक्षण क्या है ? उन्होंने झट कहा—'सच्चरित्रता' । इतिहास लिंकनके इस उत्तरकी पुष्टि करता है । अब्राहम लिंकनका चरित्र राष्ट्रके लिये आदर्श था । संतोंको त्याग एवं चरित्रके कारण ही समाजमें सदैव आदर मिलता रहा । वे समाजको समर्पित होकर 'महात्मा' कहलाये । गौतम बुद्ध एवं महावीरने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपनेको न्योछावर कर दिया था । उनके सत्य एवं अहिंसाका संदेश विश्वके कोने-कोनेमें पहुँचाया गया । अङ्गुलिमाल-जैसे बर्बर दानवके चरित्र सुधारनेमें उन्हें सफलता मिली । अशोक-जैसे सम्राट्ने उनके विचारोंके प्रचारमें अपनेको तथा अपने पुत्र एवं पुत्रियोंको लगा दिया । चरित्रबलपर उन्होंने समाजमें बहुत सम्मान प्राप्त किया ।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य, असंग्रह, बुद्धि, विद्या, अक्रोध, वितृष्णा, परोपकार आदि सद्गुणोंको जीवनका अंग बनाना ही तो चरित्र-निर्माण करना है । मा-बहनोंको श्रद्धामयी दृष्टिसे देखना, आर्थिक शुद्धि अपनाना, परिश्रमकी सम्पत्तिपर भरोसा रखना, सेवाभाव अपनाना, सबोंके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार रखना तथा विश्वबन्धुत्वकी भावना जगाना ही मनुष्यको देवता बनाता है ।

चरित्रकी आभा व्यक्तित्वको निखारती है । म[illegible] सर्वदा स्वार्थके धरातलपर नहीं रह सकता । [illegible] सुख-दुःख भी उसका अपना सुख-दुःख होता [illegible] चरित्रद्वारा मानव इन्द्रिय-निग्रही बनकर निर्लिप्त भी बन सकता है और इस प्रकार वह इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों सुखोंको प्राप्त कर सकता है । [illegible] चरित्रका संबल चाहिये ।

आर्य सभ्यताके युगसे लेकर आजतक देशने कि[illegible] उत्थान-पतन देखे । विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृ[illegible] भारतीय संस्कृतिको प्रभावित किया, फिर भी [illegible] आचरणकी पवित्रताको महत्त्व देते रहे । 'प्रभ[illegible] प्रभवो धर्मः' हमारा सिद्धान्त बना रहा । तभी [illegible] धर्म सनातन या शाश्वत कहलाया ।

सम्प्रति कुछ लोग चरित्रको छोड़ते जा रहे हैं । [illegible] मोहन, चलचित्रोंका नग्नप्रदर्शन, लक्ष्य-विहीन शि[illegible] अंग्रेजी भाषा एवं सभ्यताके प्रति आकर्षण तथा [illegible] परतानें आज मनुष्यको अन्धा बना दिया है । बच्चे [illegible] 'मम्मी' एवं पिताको 'पप्पा' कहने लग [illegible] दुर्घटनाग्रस्त लोगोंको सहायता देनेके बदले [illegible] सम्पत्ति हथियानेमें तत्परता देखी जा रही है । [illegible] ग्रस्त लोगोंको दी जानेवाली सहायता-सामग्री [illegible] चली जाती है । राम, कृष्ण, सीता, सावित्री [illegible] देशमें चरित्र उन्नयनकी चिन्ता नहीं है । शि[illegible] एवं अशिक्षितोंका आचरण एक-जैसा हो गया । चरित्रहीन व्यक्ति समाजमें आज माथा ऊँचा [illegible] चलता है । पथ-निर्देशक ही पथभ्रष्ट हो गये [illegible] मनुष्य पैसेके पीछे पागल है । मानव मानवके रक्त[illegible] प्यासा बन गया है । चारों ओर संघर्ष एवं [illegible] वातावरणका साम्राज्य है । शिक्षालयोंका [illegible] सुधारपूर्ण है । वैज्ञानिक लोक-कल्याणसे अधिक [illegible] संहारके उपकरण एकत्र करनेमें लगे हुए हैं । [illegible] भारतीय परिवार टूटता जा रहा है ।

इन विषम परिस्थितियोंसे समाजको बचानेके लिये आदर्शात्मक चरित्र-निर्माणकी अत्यन्त अपेक्षा है । यह तभी सम्भव है, जब शिक्षाप्रणालीमें आमूल परिवर्तन किया जाय और उसे भारतीय परम्पराके अनुकूल बनाकर उद्योगोन्मुखी बनाया जाय; आदर्श और व्यवहारका समन्वय उपस्थित किया जाय; चरित्र-शिक्षा अनिवार्य की जाय ।

चलचित्रोंने समाजको पूर्णरूपसे प्रभावित किया है । खान-पान, रहन-सहन सबपर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव है । अतः उसमें अपेक्षित सुधार करके उत्तेजक चित्रों-पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये तथा चरित्रको उन्नत बनानेवाले चित्रोंका प्रदर्शन होना चाहिये । श्रमकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये तथा गर्हित कर्म करके धन कमानेवालोंकी सामाजिक उपेक्षा होनी चाहिये । अर्थार्जनकी पुनीत पद्धतिका आदर्श स्थापित हो, तभी स्पर्धावाली धन-लोलुपता समाप्त होगी और तब चरित्र पनपेगा । अर्थार्जनकी होड़ तथा विलासिताकी प्रवृत्ति राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणमें बाधक बनी हुई है ।

पाठ्यक्रममें महान् पुरुषों एवं उत्तम आचरणवाली महिलाओंके जीवन-चरितको स्थान मिलना चाहिये । भद्दे साहित्यके प्रकाशनपर नियन्त्रण रखना होगा तथा सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार करना होगा । गंदे साहित्यसे चरित्र गिरता है, गिरता जा रहा है । चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी धार्मिक सद्ग्रन्थों —श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानससे दिव्य विचारोंको लेकर चल-चित्रोंद्वारा तथा समाजसुधारक संतोंद्वारा प्रचार कराना होगा । माता-पिता अपने बच्चोंको चरित्रशील नागरिक बनानेके लिये अपेक्षित गुणोंके विकासमें हाथ बटायें, तभी देशका अधिक कल्याण होगा । प्रारम्भसे ही पारिवारिक वातावरणको भारतीय परम्पराके अनुकूल तथा शिक्षालयके वातावरणको स्नेहपूर्ण गुरुकुलके अनुरूप बनाकर हम आनेवाली संतानके चरित्रको उत्तम बना सकते हैं । प्रारम्भसे ही बच्चोंपर मात्र अर्थोपार्जनकी कामनासे अंग्रेजी सिखलानेपर बल दिया जाता है; इसपर नियन्त्रण करना होगा । अगर माता-पिता उसी अवस्थासे संस्कृत या हिन्दी भाषामें आये सुन्दर विचारोंसे बच्चोंको अवगत कराते तो निश्चय ही देशमें चरित्रवान् व्यक्तियोंकी संख्या अधिक होती । चरित्रसे उनका भी जीवन आनन्दमय होगा और राष्ट्रका भी परम कल्याण होगा ।

चरित्र-शिक्षाकी दिशा

बाल्यकाल चरित्र-शिक्षाका समुपयुक्त समय है । बालकका चरित्र-निर्माण बाल्यावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है । चरित्रकी नींव माता-पिताकी संस्कृति होती है और उसकी भित्ति-सामग्री सामाजिक परिवेश होता है । माता-पिताकी संस्कृति जैसी होती है, बालकका चरित्र भी वैसा ही बनता जाता है । दयाशील, सहृदय, सौहार्द-सम्पन्न व्यक्तिका बालक संकोची, विनयी एवं सुशील बनता है, पर क्रूर-कुटिल कठोर एवं हृदयकी संतान क्रुद्धशील निर्दयी और निर्मोही निकलती है । अतः यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी संतान सुसंतान बने, सदय, सहृदय और सुसंस्कृत हो तो आप भी वैसे सद्गुण अनपाय गुणोंका आत्मसाधान कीजिये । संतानोत्पत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये । हमें भावना करनी चाहिये कि हमारी संतान देश-धर्मकी सेवामें रत, मन लगानेवाली और प्रभुभक्त हो । तभी हम चरित्रशील पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर अपना तथा देशका कल्याण और विश्वका मङ्गल कर सकते हैं । चारित्र्यसे युक्त राम-जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले देशमें रावण उत्पन्न न हों, इसके लिये एक दिशाका पथिक बनना चाहिये । पर प्रश्न यह होता है कि क्या हम इस दिशामें बढ़ रहे हैं ?

स्वाध्यायसे चरित्रनिर्माण

(लेखक—श्रीनागोराव पावरकरजी एडवोकेट)

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (योग २ । ४४)

अर्थात् वेदादि ग्रन्थों एवं प्रणवादिके जपपरायण व्यक्तिको इष्ट देवताका साक्षात्कार होता है।' व्यासभाष्य और योगवृत्तिमें कहा गया है कि 'पवित्र ईश्वरीय शक्तिके दिव्य प्रभाव रखनेवाले देवता, ऋषि और सिद्ध, जो अदृश्य-रूपसे जगत्‌में संचार करते रहते हैं, वे सब अभ्यास और वैराग्ययुक्त साधन करनेवालोंको प्रत्यक्ष होकर इष्ट-सिद्धिके लिये मार्गदर्शन कराते हैं।' सद्ग्रन्थों और सत्पुरुषोंका नियमपूर्वक पठन तथा श्रवण-मनन, निदिध्यासन एवं नाम-जपको स्वाध्याय कहा जाता है। यही सत्सङ्ग है। ऐसे स्वाध्यायीको उसके उद्दिष्ट और अभीष्ट चरित्र-निर्माणमें यह सत्सङ्ग अलौकिक सहायक होगा—इसमें क्या संदेह !

मनुष्यका अपने जीवनको उन्नत और श्रेष्ठ बनाना ही चरित्र है। समुद्रका खारा जल आकाशमें उन्नत होकर अमृततुल्य जीवनप्रद बनता है, परंतु उस स्थितिको पहुँचनेके लिये जिस प्रकार सूर्यके प्रकाश और उष्णताकी आवश्यकता है, वैसे ही मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये ज्ञान और पावित्र्य आवश्यक हैं। इन दोनोंकी प्राप्ति स्वाध्यायसे होती है। सच पूछें तो मनुष्यका अपना चरित्र बनानेमें न कोई दुःख है और न सुख है। यह उसका एक पवित्र कर्तव्य है, जिसको साहस और निःस्वार्थभावसे तथा भगवत्कार्य समझकर पूर्ण करना चाहिये।

केवल दीर्घकालतक जीना ही बड़ी चीज नहीं। कालके पृष्ठभागपर अपना विशेष चिह्न छोड़ना चरित्र है। प्रत्येक मनुष्य अपने अदृष्टका निर्माता नहीं, बल्कि अपने चरित्रका कर्ता है। चारित्र्य एक हीरा है, जो हर किसी अन्य पत्थरपर लकीर बना सकता है। चारित्र्यका ही दूसरा नाम व्यक्तित्व है, जिससे हर कोई प्रभावित हो जाता है। चारित्र्य व्यक्तिके निजी प्रयत्नोंसे बनता है, वह किसीकी देन नहीं। चरित्रनिष्ठ व्यक्तिके स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आचरणसे बनता है। शरीरशक्तिसे मन और बुद्धि शक्ति निःसंशय बड़ी हुई होती है, परंतु आत्मबल इन सबसे बढ़कर होता है। यही व्यक्तिका चारित्र्य है, जिसके आगे हर तरहकी शक्तियाँ झुक जाती हैं। ऐसी महती शक्तिके निर्माता स्वयं हम ही हैं—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'
(गीता ६।५)

चरित्र बननेपर कीर्ति उसके पीछे स्वयं आती है। कोई ग्रन्थ, काव्य, चित्र, कला या साहित्य तब तक जाग्रत्, सजीव तथा परिणामकारी न होगा, जबतक कि व्यक्तियोंका चारित्र्य बनानेवाला आत्मबल उसके पीछे न हो। यही आत्मबल व्यक्ति, समाज और राष्ट्रको ऊँचाई प्राप्त करा सकता है। यही आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार करानेमें समर्थ होगा। सेनाका बल सिपाही और उसका शौर्य होता है, वैसे ही चरित्रका मूल व्यक्तिका आत्मबल होता है।

यह सच है कि प्रारम्भिक युगमें इस आत्मशक्ति-सम्पन्न भारतीय ऋषि-मुनियोंने—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा देकर जगत्‌को चरित्र-बलके पाठ पढ़ाये। पर आज भारतीयोंकी तथा आर्य-संस्कृतिका गुणगान करनेवालोंकी अथवा अन्य देशोंकी स्थिति देखनेपर दुःख होता है। आज सर्वत्र अनाचार, दुःख, दारिद्र्य, पाखण्ड, छल, कपट, दैन्य, वैमनस्य तथा भयका साम्राज्य छा गया है और अशान्ति, दैन्य और अत्याचारका

फैलता जा रहा है। आर्य तत्त्वज्ञान और दर्शनशास्त्रोंका प्रदत्त यह आत्मबल तथा जगत्के सुख-समृद्धिका यह मूल स्रोत चरित्र-निर्माण कहाँ लुप्त हो गया ? और क्यों ? ऐसी स्थितिमें विश्व-कल्याणका विचार करनेवाले 'कल्याण' मासिक पत्रमें वर्ष १९८३ ई० के विशेषाङ्क चरित्र-निर्माणके रूपमें प्रकाशित करनेका जो संकल्प किया है, वह हर प्रकार समयोचित स्तुत्य और अभिनन्दनीय है।

यदि भारतवर्षपर ही विचार करें तो उसकी सर्वाङ्गीण अवनति और दास्यका कारण, अस्मदेशीय विद्वान् तथा यहाँके कुछ पदवीधर पण्डित जो केवल पाश्चात्य पण्डितोंके विचारको ही दुहरानेमें अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, यह बतलाते हैं कि भारतके वेदान्त-शास्त्रने ही यहाँकी जनताको निरुत्साही, विरक्त, दैववादी, हतबल, आलसी, ी और भिखारी बना दिया; उसीके फलस्वरूप त हीन-दीन बना और दूसरोंकी दासतामें फँस गया; : यह वेदान्त-दर्शन सर्वतोपरि निरुपयोगी और ाज्य है। ऐसा बुद्धिभेद उनकी तरफसे बुद्धि-:सर किया जा रहा है अथवा उनकी मान्यता ही ी है, यह तो हम नहीं कह सकते, परंतु इस प्रकारके चारोंको योगशास्त्रमें 'अविद्या' नाम दिया गया है। त्यको असत्य, दुःखको सुख, मलिनको निर्मल, शवान्को अविनाशी समझना 'अविद्या' है। यही विद्या भविष्यके सारे दुःखपरम्पराका मूल हुआ करती है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन आत्मिक बल प्रदान करनेवाला, पुरुषार्थके लिये प्रेरित-प्रवृत्त करनेवाला तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका मार्ग बतलानेवाला है। इसके स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आचरणसे प्रत्येक व्यक्ति आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धारतक प्राप्त कर सकता है। परंतु हमारे वेदान्तशास्त्री पण्डित केवल वेदान्त शास्त्रोंको रटते रहनेमें ही कृत-कृत्यता मानते हैं। उसके अर्थको आत्मसात् करनेका प्रयत्न नहीं करते, तब मनन, निदिध्यासन और आचरण तो दूर ही रहा। वेदान्त विषयपर विद्वत्ताप्रचुर व्याख्यान करना ही वे पर्याप्त समझते हैं और इसे एक जीविका समझते हैं। इसीलिये कहा गया है—'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव'।

ऊपर वेदान्तशास्त्रकी आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार करनेकी क्षमता बतलायी गयी है तथा उसका मूल आत्मज्ञान और चरित्र-निर्माणमें समर्थ होना बतलाया गया; यह केवल कहने-सुननेकी बात नहीं, बल्कि हम जब चाहें, तब उसका प्रयोग कर उसकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं। वेदान्ततत्त्व आचरणमें लानेसे स्वतः प्रतीतिदायी सिद्ध होता है।

वेदान्त आत्मशक्ति जाग्रत् करनेका उपाय बतलाता है; यही चारित्र्य-निर्माणका मार्ग है। आत्मबल सब प्रकारके बलोंको जगाता और बढ़ाता है। यही सभी अलौकिक और दैवी कार्योंका मूल है। प्रत्यक्ष प्रयोग करके आत्मशक्तिको प्रकट करनेवाला तत्त्वज्ञान वेदान्त है। यह वेदान्त मनुष्यका चारित्र्य किस प्रकार बनाता है और यह साधकको आत्महित, समाजहित और विश्वहित साधनके योग्य किस प्रकार तैयार करता है, अब यह देखना चाहिये।

वेदान्तदर्शनका मुख्य और प्रसिद्ध सिद्धान्त है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंशरूप कहा जाय तो उसकी सदैव यही इच्छा होगी कि वह परमात्मा-जैसा ही सत् अर्थात् सदाके लिये पूर्णरूप कायम रहे, चित् अर्थात् सारी चेतन-शक्तिका मूलस्रोत बने और आनन्दरूप अर्थात् सदा प्रेमास्पद आनन्दरूप बने। ऐसा बन जाना उसका आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार है।

१—सत्स्वरूप आत्मोद्धार—हर-एक मनुष्य जीव अपने दुःखोंसे बचने हुए कहता है कि कोई मन भी

इच्छाके अनुसार नहीं होती। मेरा बस किसीपर नहीं चलता, मेरा शरीर ही मेरे स्वाधीन नहीं है। मैं दुःखी हो रहा हूँ, इत्यादि-इत्यादि। इसपर वेदान्तदर्शन कहता है, तू अपने आपको प्रथम जान ले—'Know thyself' तब तुझे ज्ञान होगा कि यह शरीर और उसके सारे अङ्गोंमेंसे कोई भी 'तू' नहीं है। यह बात स्वयं तेरे ही कहनेसे सिद्ध होती है। 'मेरा हाथ', 'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरी बुद्धि', 'मेरे प्राण' इत्यादि तेरे शब्द क्या बताते हैं? 'मेरा घोड़ा' कहनेसे स्पष्ट होता है कि 'तू' स्वयं घोड़ा नहीं, अपितु उस घोड़ेका तू मालिक और घोड़ेसे अलग है।' इसी दृष्टिसे 'मेरा शरीर' कहनेसे स्पष्ट है कि आप स्वयं शरीर नहीं, बल्कि आप उसके मालिक और स्वामी हैं। देह और उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि इत्यादि सारे-के-सारे आपके सेवक हैं। आप उन सबके स्वामी और वे आज्ञाकारी सेवक।' ऐसे विनम्र, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। आप उन सबके अकेले ही स्वामी हैं, कोई अन्य है, भी नहीं। फिर उनकी शिकायत कैसी? इन सारे आपके सेवकोंमें अनेक सद्गुण हैं, विचार करके देखिये।

१—यह सारे सेवक केवल आपकी ही आज्ञा मानते हैं।

२—हुक्म होते ही तत्काल कामर्में लग जाते हैं।

३—कामके होते ही फौरन आपको इत्तला देते हैं।

४—उन्हें अपने कामके सिवा दूसरा काम करने भी नहीं आता।

५—एक दूसरेके काममें दखल नहीं देते।

६—काम करनेमें अपना कोई स्वार्थ नहीं साधते।

७—अपना काम दूसरोंको नहीं सौंपते।

८—आपसमें एक दूसरेसे नहीं झगड़ते इत्यादि-इत्यादि।

ऐसे स्वामिभक्त, निश्छल, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। परंतु फिर भी आपके इच्छानुसार काम नहीं हो पाता हो तो उसका दोष इन सद्गुणी सेवकोंपर हरगिज लादा नहीं जा सकता। फिर दोष कहाँ है?

दोष तो स्वयं आपका ही दीखता है। जब आप इन्द्रियको हुक्म देते हैं, तो तत्काल वह अपने काममें लग जाती है। परंतु उसका काम पूर्ण होने भी नहीं पाता कि बीचमें ही आप कोई दूसरा हुक्म दे देते हैं अथवा उसका काम किसी दूसरेके सुपुर्द कर देते हैं। वह आज्ञातत्पर सेवक काम छोड़नेपर मजबूर हो जाता है। इसी कारण आपका हर काम अधूरा रह जायगा, इच्छानुसार न होगा। अतः प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं शरीर या नाम-रूपादि और कुछ नहीं, केवल आत्मा हूँ। सम्पूर्ण शरीर और उसकी सारी-की-सारी इन्द्रियों और शक्तियोंका स्वामी हूँ। अब मेरी कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी और हर काम होकर रहेगा।

मान लीजिये कि आप यहाँ बैठे हैं और अपने पाँवको हुक्म देते हैं कि बाजार चलो। आप कुछ मत कीजिये। एक ही काम आपको करना होगा; वह यह कि अपने दिये हुए हुक्मको न बदलें। देखिये, पाँव आपको बाजार पहुँचाये बिना न रहेंगे। यही हाल सारे शरीरका है।

इस स्वामित्व अधिकारके साथ-ही-साथ आपपर एक जिम्मेदारी भी आयेगी कि नित्यशः इन सेवकोंकी हाजिरी और परेड भी लिया करें; जिससे ये सारे निरोगी, कार्यक्षम और सजग बने रहें। इन्हें योग्य खुराक (आहार विश्रान्ति आदि) देकर सुस्थितिमें रखें, वरना ये निरुपयोगी और आलसी बनेंगे। गीताका वचन है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६।१७)

इस प्रकार आप शरीरके केवल जाग्रदवस्थाके ही नहीं, स्वप्न और सुषुप्तिके भी स्वामी बने रहेंगे। एक दिन नहीं, युग-युगान्तरतक स्वामी बने रहेंगे। बाल्य, तारुण्य, वृद्धत्वकालमें—जैसा आपका स्वामित्व कायम रहते आया है, उसी प्रकार मृत्युके पश्चात् भी आपका स्वामित्व सदाके लिये कायम रहता है—ब्रह्मस्वरूप आत्मा एकरूप कायम रहेगा।—'अयमात्मा ब्रह्म'

२-चित्से समाजोद्धार—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे जब कोई व्यक्ति अपने आत्मा और स्वामी होनेका निश्चय करके उसका आचरण करने लगे तो वह जैसा बनना चाहता है, अपने शरीर, मन, बुद्धि और सारी इन्द्रियोंको वैसा ही बना लेता है। तब बाह्य जगत्‌की सारी वस्तुएँ भी उसके समीप आकर सम्बन्धित हो जाती हैं और वैसे ही गुणवाली हो जाती हैं; या यों कहिये कि उस व्यक्तिके स्वभावके सदृश और समान गुणवाले पदार्थ ही उसके अतराफ जमा होकर एक समाज बना लेते हैं तथा भिन्न गुणोंके इतर पदार्थ घबराकर भाग जाते हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् भी उस व्यक्तिके अनुकूल बन जाता है। कारण उस व्यक्तिका अन्तर्यामी आत्मा और बाह्य जगत्‌का चालक आत्मा दोनों एक हैं। फिर तो वह पूर्ण समाज भी सामर्थ्यवान् बन जाता है।

शङ्का—जब ये दोनों आत्मा एक हैं तो इनमें कभी अनुकूलता और कभी विरोध क्यों? गाय दूध देती है, शेर उसे फाड़कर खा जाता है। तब एकत्व कहाँ रहा?

समाधान—लेखक पुरुष तो एक ही है, उसीने सफेद, कागज पर कलमी, स्याहीसे काम लेकर लेखन-कार्य किया। लेखन-कार्यकी पूर्तिके लिये ये दोनों पदार्थ एक-दूसरेके अनुकूल हैं, परंतु अन्य समयमें विरोधी। साधक उनसे अनुकूलतासे ही काम लेगा। विरोध-गुणसे उनका संरक्षण करेगा। इस युक्तिसे व्यक्तिको समाजमें कैसे रहना चाहिये, यह बात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन यमोंके द्वारा सिखायी गयी है। यम समाजके तथा शौच, समाधान, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान व्यक्तिके जीवन-यापन करनेकी पद्धति सिखानेके उद्देश्यसे बताये गये हैं। ऐसा योगी अथवा साधक पुरुष जगत्‌के पुण्यकर्ताओंसे आनन्द, दुःखी लोगोंपर दया और पापकर्ताओंसे उपेक्षाका व्यवहार करके जगन्मित्र बनकर समाजहितको साधता है। यह आत्मा तो अभेदरूप है; क्योंकि उसके कोई अलग-अलग हाथ-पाँव-जैसा स्वगत भेद नहीं है। उस-जैसी कोई अन्य सजातीय वस्तु भी नहीं है। सभी वस्तुएँ उसीसे सम्बन्ध रखती हैं, अतः कोई विजातीय भेद भी नहीं है। इन बातोंका ज्ञान और निश्चय हो जानेपर वह पुरुष समाजसे एकरूप होकर समाजका उद्धारकर्ता बन जाता है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'।

३-आनन्दसे जगदुद्धार—अब यहाँ इस आत्माके आनन्दरूपको देखिये। आत्मोद्धार और समाजोद्धारके साधनेपर साधकको ज्ञात हो जाता है कि इच्छा, श्रद्धा और प्रयत्नके बाद होनेपर इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति होती है। इच्छा और श्रद्धाके कायम रहनेपर उस समयतक उसका अस्तित्व भी कायम रहता है। श्रद्धा कम हो जानेपर उसका नाश आरम्भ हो जाता है और इच्छाके खत्म हो जानेपर उसका विनाश हो जाता है। तब इस तरह हमारे इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय आत्माके अधीन नहीं तो और क्या है? यह सब समझकर वेदान्ती कहता है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'
(शंकराचार्य)

"फिर मैं जनककी तरह राजा हुआ तो क्या, तुलाधार वैश्य बनूँ तो क्या? मैं कोई-सा धंधा कर लूँगा। मैं आत्मा और नित्य-तृप्त आनन्दस्वरूप हूँ।"

पुत्रार्थी या धनार्थी प्रयत्न करते हैं, मुझे क्या करना है? स्वर्गेच्छा रखनेवाले यज्ञ करते हैं, मुझे स्वर्गसे क्या

चरित्र-निर्माणके चौबीस सूत्र

(अवधूत दत्तात्रेयद्वारा इङ्गित)

(लेखक—कुँवर श्रीकृष्णकुमारसिंहजी)

श्रीमद्भागवत महर्षि व्यासरचित लोकोत्तर कल्याणकारी कृति है। महात्मा गान्धीको उनके इक्कीस दिनोंके ऐतिहासिक उपवास-कालमें पूज्य महामना पं० मदनमोहनमालवीयके मुखसे भागवतके कुछ अंश सुननेका अवसर मिला था और उन्होंने उद्गार प्रकट किया था कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। जिन्होंने महात्मा गान्धीजी रचनाओंका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि गान्धीजी 'धर्म' का अर्थ 'करणीय कार्य' अथवा 'व्यक्तिगत्वमूलक चारित्रिक उपादानोंका समन्वय' लगाते थे।

उसी श्रीमद्भागवतमें राजा यदुका अवधूत-शिरोमणि दत्तात्रेयसे अचानक भेंट होनेका प्रसङ्ग आता है। दत्तात्रेयजीके व्यक्तित्वसे अभिभूत होकर राजा यदुने उनकी भरपूर स्तुति की और कहा—'भगवन्! आप कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ विद्वान् और निपुण हैं। संसारके अधिकतर लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परंतु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती। आप कृपापूर्वक इसका रहस्य बतलाइये।'

सांसारिक कर्मोंकी गहनतासे पूर्णतया अवगत ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने राजा यदुसे जो कुछ कहा, वह चरित्रोत्थानकी दृष्टिसे अनुपम और सर्वथा उपादेय है। दत्तात्रेयजीने यदुको बतलाया कि उन्होंने अपने जीवन-यापन-क्रममें पञ्चभूतों तथा छोटे-बड़े प्राणियोंकी स्वाभाविक चेष्टाओंमें गुणकी उपयुक्तताको लक्ष्य किया और उन्हें तत्काल ग्रहण कर लिया। इस प्रकार उन्होंने अपना जीवन सँवारनेमें सफलता प्राप्त की।

आज जब संसार चारित्रिक पतनकी ओर द्रुतगतिसे अग्रसर हो रहा है और प्राणिमात्र इसके दुष्परिणामस्वरूप विनाशके कगारपर आ खड़े हुए हैं तो दत्तात्रेयजीद्वारा इङ्गित चौबीस सूत्रोंकी ओर बरबस ध्यान चला जाता है। प्रतिक्षण दुर्दान्त कालसे हमारा सामजिक साक्षात्कार होता चला जा रहा है; उसमें अपने उद्धारके लिये इन सूत्रोंका अविकल भावसे ग्रहण करना अनिवार्य हो गया है। तो आइये हम उन्हें समझें।

दत्तात्रेयजीने पृथ्वीको देखकर धैर्य और क्षमा-जैसे गुणोंकी महत्ता समझ ली और इन दोनों गुणोंको अपने चरित्रका अङ्ग बना लिया। देखने तो सभी हैं, परंतु इसका कार्य-व्यापारका गूढार्थ दत्तात्रेयजीकी ही समझमें आया। पृथ्वी अपनी छातीपर अनेकानेक निर्माण करनेवाले और उसपर अनेक आघात करनेवाले किसी प्राणीसे बदला कभी नहीं लेती; न तो अपना धैर्य खोती है, न कभी क्रोध ही करती है। दत्तात्रेयजीकी समझमें यह बात आ गयी कि प्राणीके अस्तित्वकी सार्थकता इसीमें है कि वह दूसरोंका हित करनेमें सदा-सर्वदा संलग्न रहे। क्षमाके लिये तो पृथ्वी अद्वितीय आदर्श ही है। आदर्श चरित्र श्रीरामके लिये—'क्षमया पृथिवीसमः' [illegible] है।

वायुकी गति सर्वत्र है। सद्-असद्—सभी प्रकारकी वस्तुओंसे उसका सम्पर्क होता है, पर वह किसीके प्रति आसक्त नहीं होती। गन्ध भी वायुका गुण नहीं है, वह तो मात्र उसकी वाहक है। निरालम्ब, निर्लिप्त रहते हुए गतिशील रहना ही वायुके समान हमारी स्थिति होनी चाहिये।

[illegible] हुए मानवके लिये उचित है कि [illegible] एवं [illegible]

टुकड़ोंके रूपमें नहीं देखे। आजगरका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपनेको क्षुद्र सीमाओंमें न बाँधे।

जलकी भाँति शुद्धिकारक, स्निग्ध और शीतल रहकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी प्राणियोंको इन गुणोंसे युक्त करनेका हमारा ध्येय होना चाहिये।

अग्निकी भाँति शुभ कर्मोंको उत्तेजित करने तथा अशुभ कर्मोंको भस्म कर देनेकी हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिये। दत्तात्रेयजीको यह बात समझमें आयी।

चन्द्रमाकी घटती-बढ़ती कलाओंको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक्रममें एकरूपता अथवा एकरसता नहीं है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जीवधारियोंके आकार और शक्तिमें जो वृद्धि और ह्रास परिलक्षित होता है, उसे समझनेके लिये चन्द्रमाको देखना चाहिये और साधनकी न्यूनता या वृद्धिके अनुसार सतत कार्यरत रहना चाहिये। घटती-बढ़तीको समान धर्मके रूपमें लेना चाहिये।

सूर्य जैसे जलको सोखकर समयपर पुनः उसे प्राणियोंके कल्याण-हेतु वर्षाके रूपमें दान कर देता है, उसी प्रकार ग्रहणकी सार्थकता तभी है, जब गृहीत वस्तुके त्यागकी प्रवृत्ति भी साथ ही जुड़ी रहे। दत्तात्रेयजीने उपर्युक्त दोनों तथ्योंको चन्द्र और सूर्यके माध्यमसे हृदयङ्गम किया। हमें भी हृदयङ्गम करना चाहिये। तभी चरित्रकी शृङ्खला बनेगी।

एक कबूतरको अपने पारिवारिक मोह-जालमें पड़कर अपने प्राण गँवाते देख तो दत्तात्रेयके ध्यानमें यह बात आयी कि अतिशय स्नेहसे विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है; अतः आत्यन्तिक मोहसे बचनेमें कल्याण है। मोह-ममतासे सर्वथा नहीं तो उसकी अत्यन्तिकतासे तो बचना ही चाहिये।

अजगर-जैसे प्राणीसे अयाचकवृत्ति दत्तात्रेयजीने सन्तोष-वृत्तिकी सीख ली। समुद्रको देखकर उन्होंने सदा प्रसन्न-गम्भीर, अपरिमित स्नेहका भाव अपनाया। समुद्रका गाम्भीर्य भी उदात्तचरित्र श्रीरामकी गम्भीरताका उपमान बना है—'समुद्र इव गाम्भीर्ये।'

फिर दत्तात्रेयजीने पतिङ्गेको दीप-शिखापर आकृष्ट होकर जलते-मरते देखा तो वे जान गये कि विषय-भोगोंके आकर्षणमें पड़नेसे विनाश निश्चित है। अतः वह त्याज्य है।

मधुप-वृत्तिसे भी दत्तात्रेयजीने सीखा कि भौंरोंकी तरह जहाँ भी उपादेय कल्याणकारी तत्त्व मिलें, उन्हें बटोर लेना चाहिये। उन्होंने देखा कि अतिशय संचयके कारण भौंरोंका मधु छूट जाता है। उसी तरह घोर परिश्रमसे बटोरा धन भी बचपनोंके हाथ लग जाता है, संचयकर्ताके काम नहीं आता। मधुसंग्राहकोंद्वारा सत्वर उतारे गये मधुरसके भोगका पूर्वाधिकार अतिथियों-अभ्यागतोंको मिलता है। अतः अपने चरित्रके निर्माणमें अतिवस्तु-संग्रह नहीं करना चाहिये।

हाथी-जैसे विशाल जीवको विषय-भोगके क्षणिक सुखकी आशामें बन्धनग्रस्त होते देख ऐन्द्रिक वासनाओंके त्यागकी शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली। ऐन्द्रिय-वासना अतिमात्रमें विष बन जाता है। गोस्वामीजीने कहा है—

'तुलसी हाय न चाहिये, कहे विषय-रस मीन'

कर्णेन्द्रियको प्रिय, मधुर ध्वनि सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होनेवाले हिरण सहज ही शिकारीके वाणसे विद्ध हो जाते हैं; अतएव ऐन्द्रिय सुखकी लम्पटतासे बचनेकी एक और शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली।

जिह्वाको वशमें न रखनेके कारण मछली काँटेमें लगे मछलेकी ओर लपकती है और अपने प्राण गवाँ बैठती है। स्वाद-लोलुपतासे बचकर आत्मरक्षा करनेकी सीख दत्तात्रेयजीको इस प्रकार मिली।

वैराग्य दुष्करा गोबरमें दबकर उसका गुण अभी अन्य समर्थ पक्षियोंद्वारा कष्टकर छीन-झपटका दुःख

सहता रहा। त्रस्त होकर जैसे ही उसने अपने मुँहका ग्रास नीचे गिराया कि उसे मानसिक शान्ति मिल गयी। सुख-शान्तिकी कुंजी अपरिग्रहमें है; दत्तात्रेय-जीने कुरर पक्षीसे यह मन्त्र सीखकर गाँठ बाँध ली। गीता कहती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'

राग और विरागका भेद तो विदेह-नगरीकी वेश्याने विस्तारसे बताया। रूपका व्यापार करनेवाली उस भाग्यहीनाको अन्ततः इन्द्रियोंका संयम करनेपर ही शान्ति मिली, सच्चा सुख मिला। जब वेश्याको संयत हो जानेपर शान्ति मिल जाती है तो साधारण व्यक्तिको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। पर चरित्र सबेरे बनाया जाय तो उत्तम हो। साँझमें चरित्र क्या बनेगा।

वरपक्षके लोग एक कुमारी कन्याको देखने गये। परिवारके लोग उस समय बाहर गये थे। अतिथि-परायणा कुमारी उनके सत्कार-हेतु अपने आँगनमें बैठकर जब ओखलमें चावल कूटने लगी तो उसकी कलाईकी चूड़ियाँ बजने लगीं। आवाज बाहर न जाय, यह विचारती हुई कन्याने अपनी दोनों कलाइयोंमें एक-एक चूड़ी छोड़कर बाकी सब तोड़ डालीं। सूक्ष्मद्रष्टा दत्तात्रेयजीके मनमें विचार आया, बहुसंख्यकका एक स्थानपर एकत्र होना कलह-कोलाहलका कारण बनता है। भीड़ अनर्थका मूल हो जाती है। भीड़की कोई आचारसंहिता भी नहीं है। अतः व्यक्तिका चारित्र्य साधनीय होता है।

बाण बनानेवाले एक कारीगरको आत्मकेन्द्रित होकर अपने काममें तल्लीन और सामनेसे धूम-धामके साथ निकलती राजाकी सवारीकी ओरसे बेखबर देखा तो दत्तात्रेयजीने तन्मयताकी कीमत आँक ली। ऐसी अवस्थामें सत्त्वगुणका उदय होनेके साथ ही रजोगुण और तमोगुणका क्षय स्वतः हो जाता है, यह बात सहज ही उनके सामने प्रत्यक्ष हो गयी। इसकी साधना मनोनिग्रहसे हो सकती है।

साँपको निःशब्द सरकते देखा तो मौन रहनेके गुण स्पष्ट हो गये। बहुत कम बोले, यथाशक्ति किसीकी सहायता न ले और निरुद्यमोंसे बचकर स्वान्तःसुखाय विचरण करे, दत्तात्रेयजीने सर्पसे यह शिक्षा चटपट ग्रहण कर ली।

मकड़ेको जाल बुनते-बिगाड़ते देखा तो दत्तात्रेयजीको जन्म-मरणके चक्कर और माया-मोहके ताने-बानेका स्मरण हो गया। दैहिक नश्वरताके साथ ही सर्वनियामक शक्तिके मूलाधार परमात्माकी लीलाकी झलक उन्हें मिल गयी। अतः अहंमूलक अहंकारको और जड़वादको परिहेय समझ लिया। इस तथ्यको समझनेसे जीवनको संयत करनेकी प्रेरणा मिलती है।

आत्माका परमात्मामें समाहित होने—एकाकार होनेकी प्रक्रियाका उदाहरण दत्तात्रेयजीको भृङ्गी कीटके कार्यकलापोंमें मिल गया। भृङ्गी जिस प्रकार एक नाम-रूपहीन कृमिको अपने बिलमें कुछ समयतक बन्दकर उसे अपने ही-जैसा बना देता है, उसी प्रकार परमात्माका एकान्त चिन्तन करनेसे मनुष्य भी तद्रूप हो जाता है। अवधूत विवर्त विश्व तत्त्वतः ज्ञात हो गया।

अब दत्तात्रेयजीने स्वयं अपने शरीरको ध्यानसे देखा और पाया कि उनकी इन्द्रियाँ अपने-अपने अभीष्ट पदार्थोंको लेकर आपसमें बराबर खींचा-तानी करती रहती हैं। आसक्ति और अहंकारके झंझावात झकोरोंसे झकझोरते हैं। शरीर नश्वर तो है ही। ऐसी स्थितिमें प्रमाद त्याग-कर मनुष्यको अविनश्वर तत्त्वकी खोजमें प्रवृत्त होना चाहिये। संकुचित स्वार्थोंका त्याग करते हुए सार्व-कालिक परमार्थमें मनको केन्द्रित करना चाहिये, जिसके अन्तमें है शाश्वतशान्ति एवं मुक्ति। जीवनके चारित्र्यकी यह सीढ़ी बहुत उपयोगी है।

परम तत्त्वज्ञानी दत्तात्रेयजीने राजा यदुके सामने सारे तथ्य इस प्रकार उँड़ेलकर रखे कि मानव-जीवनके उद्देश्य तथा आदर्श जीवन-यापनके लिये सर्वाधिक उपयुक्त आचारण-पद्धति बतानेकी तरह उनके सामने प्रकट रही।

तरसते रहते हैं।' विष्णुपुराणमें इससे भी बढ़कर इस भूमिका महत्त्व इस रूपमें प्रतिपादित हुआ है कि—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि
संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते
तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति ॥
(२।३।२४-२५)

'देवता भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्गके मार्गभूत भारतमें जन्म लिया है तथा जो इस कर्मभूमिमें जन्म लेकर अपने फलाकांक्षासे रहित कर्मोंको भगवान् श्रीविष्णुको अर्पित करनेसे निर्मल होकर उन अनन्तमें ही विलीन हो जाते हैं, वे मनुष्य हम देवताओंकी अपेक्षा कहीं अधिक बड़भागी हैं।'

भारतवर्षकी इसी विशेषताके कारण भगवान् नर-नारायणने इसे अपनी तपोभूमिके रूपमें स्वीकार किया है। 'भग' शब्दको पूरक छहा विशेषताओं तथा आत्मस्वरूपका ज्ञान करानेवाले इस भारतके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें यह वर्णन प्राप्त होता है कि—

'भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य आकल्पान्त-मुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भन-मनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति' (५।१९।९)।

इस विशेषतासे सम्पन्न इसी भारतकी देन है—आचार और चरित्र। आचारका सम्बन्ध आचरणसे है तथा चरित्रका सम्बन्ध स्वभावगत गुण- Basic charalteristics से। आचरणद्वारा हम अपनी विशेषताओं-का प्रभाव इतर सामाजिकोंपर डालकर एक ओर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा दूसरी ओर उन्हें भी अपने समान बनानेकी प्रेरणा देते हैं एवं चरित्रगत विशेषताओंद्वारा हम अपने विचार और दृष्टिकोणको उदात्त बनाते हैं। चरित्रके अन्तर्गत अधोलिखित विशेषताओंका समावेश किया जाता है। मौन—विविध प्रकारकी जानकारी होनेपर भी चुप रहना, अपने ज्ञानका प्रदर्शन न करना, क्षमा—प्रतिकारकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीके प्रति क्षमापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना, दानशीलता—दूसरे अभाव-ग्रस्तजनोंको इच्छित वस्तुका दान देकर भी आत्मप्रशंसासे दूर रहना, विषय-वासनासे दूर रहना, धर्ममें आस्था रखना, शास्त्र और लोक-व्यवहारका पूर्ण ज्ञान रखना, विनयशील रहना आदि। महर्षि याज्ञवल्क्यने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम और शान्तिको चारित्रिक विशेषताओंमें परिगणित किया है और इन्हीं विशेषताओंको धर्मका साधन प्रतिपादित किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृ० १।१२२)

'अहिंसा—मन, वचन, कर्मसे किसी प्राणीको दुःख न देना, सत्य व्यवहार रखना, दूसरोंकी वस्तु न चुराना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सुपात्रको सात्त्विक दान देना, प्राणिमात्रपर कृपाभाव रखना, मनको वशमें रखना, सहनशील होना; ये सभी गुण सर्वसाधारणके लिये धर्मके साधन हैं।'

अहिंसाकी व्यवस्था पात्र-अपात्रके भेदसे की गयी है। निरपराध प्राणियोंकी हत्या करनेवाले आततायी व्यक्तियोंके लिये अहिंसा धर्मके पालनका निषेध करते हुए उनके वधकी आज्ञा शास्त्रोंमें दी गयी है—

इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् ।
मायया शाशदानाम् ॥ (ऋग्० ७।१०४।२५)

'जो व्यक्ति छलपूर्वक सम्पत्तिका नाश करनेवाले हों और जो यातुधान निरपराध मनुष्योंको दुःख देते हों, उनका नाश करो।' आततायीकी परिभाषा शुक्रने इस प्रकार की है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥

आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर अपने ऊपर चढ़ आनेवाला, धन लूटनेवाला, पराई जमीन दबानेवाला, स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला—ये आततायी हैं।

भारतके प्राचीनकालका इतिहास इस बातका साक्षी है कि तत्कालीन नरेश स्वयं चरित्रवान् होते थे और अपनी प्रजाको अपने आदर्श चरित्रसे अपने समान ही बनानेका प्रयत्न किया करते थे और इसीके परिणामस्वरूप 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति प्रचलित हुई थी। इसका चरमोत्कर्ष महाकवि कालिदासने अपने रघुवंशमें राजा दिलीपके चरित्रमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥
(१।२४)

'अर्थात् राजा दिलीप अपनी प्रजाको समुचित शिक्षा देने, उसकी रक्षा करने उसका पालन-पोषण करने, उसे भयसे विमुक्त करनेके कारण उसके सच्चे पिता थे, उसके जन्मदाता पिता तो केवल जन्म देनेवाले कारणमात्र थे।'

इस श्लोकसे सुनय तथा परलोकमें कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये निम्नलिखित आचार-विचारोंके पालनका विधान किया गया है

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। श्रद्धया देयम्। (तैत्तिरीय० ७।११।१-४)

अर्थात् सदा सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, प्रमादरहित होकर यथाशक्ति धर्मग्रन्थोंको पढ़ो। देवपूजा और पितृकार्यमें (श्राद्धादिमें) प्रमाद मत करो। माता, पिता, गुरु तथा अतिथिकी सेवा करो एवं श्रद्धापूर्वक दान दो। (श्रुति)

इसके साथ ही निम्नलिखित बातोंसे दूर रहनेका निर्देश भी शास्त्रोंने दिया है—

१—अक्षैर्मा दीव्यः। (ऋग्वेद १०।३४।१३) जुआ मत खेलो।

२—न परस्त्रियमुपेयात्। (तैत्तिरीय० १।१।८।९) पर-स्त्रीका संग न करो।

३—मा हिंसीः पुरुषान्पशूंश्च। (अथर्व० ६।२८।५) मनुष्य और पशुओंको मन, कर्म, वाणीसे कष्ट न दो।

४—मा गामनागामदितिं वधिष्ट। (ऋग्वेद ।१।८७।४) निरपराध, उपकारी गौकी हिंसा न करो।

५—न मांसं समश्नीयात्। (तैत्तिरीय० १।१।९।७) मांस न खाओ।

६—न सुरां पिबेत्। (तैत्तिरीय० १।१।९।७) मद्यपान न करो।

७—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (यजुर्वेद ४०।१) परायेधनका लालच न करो।

इसके साथ इन-इन बातोंको सदैव स्मरण रखनेका निर्देश मनुष्यमात्रके लिये शास्त्रोंमें दिया गया है—

'क्रतो स्मर। कृतं स्मर॥'
(यजुर्वेद ४०।१५) स्मरण रहे कि यज्ञादि कर्मोंको स्मरण रखो। अपनी सामर्थ्य एवं दूसरेके उपकारको याद रखो। साथ ही—दमस्तपः। शमस्तपः। दानं तपः। यज्ञस्तपः। भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः। (तैत्तिरीय० १०।८)।

अर्थात् 'बाह्य इन्द्रियोंको वशमें रखना तप है। सुपात्रको दान देना तप है। यज्ञ करना तप है। भूर्भुवः स्वः तीनों लोक ब्रह्ममय हैं—यह समझकर सब जीवोंका हित करना चाहिये; क्योंकि यही सबसे बड़ा तप है।'

चरित्र और आचार कितना महत्त्वपूर्ण है, स्कन्द-पुराण आचार-खण्डके आधारपर उसके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं सदाचारो हरिप्रियः॥
सदाचारो हि सर्वार्हो नाचारस्य विच्युते पुनः।
तस्मात् विप्रेण सततं भाव्यमाचारशालिना॥
विद्वेषरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने।
विद्वांसः तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः॥
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु कर्मसु निष्ठितम्।
सदाचारं निषेवेत धर्ममूलमतन्द्रितः॥
दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चापि पूयेत सदाल्पायुः सुदुःखभाक्॥
यस्मिन् कर्मण्यन्तरात्मा क्रियमाणे प्रसीदति।
तदेव कर्म कर्तव्यं विपरीतं न तत् क्वचित्॥

सामान्य स्थितिमें आचारकी जो सीमाएँ निर्धारित की गयी हैं, विशेष स्थितिमें देश, काल, अवस्थाके अनुरूप उन्हें उचित अंशतक परिशोधित किया गया है, जिससे प्रत्येक दशामें व्यक्ति स्वधर्मकी रक्षा कर सके। हमारे सनातनधर्मकी यही सबसे प्रमुख विशेषता है कि इसमें किसी भी पातकको सर्वथा और सर्वदा ही पाप या पुण्य नहीं बताया गया है; बल्कि परिस्थितिके अनुसार ही एक सीमातक उसका औचित्य स्थिर किया गया है; जैसे—सत्य बोलना परमधर्म है, परंतु यदि कोई कसाई अपने सामनेसे भागी हुई गौके भागनेकी दिशा जानना चाहे और आप उसे सच-सच बता दें तो आप भी गोहिंसा पापके भागी बनेंगे। इस स्थितिमें सत्य कथनकी अपेक्षा मौनावलम्बन श्रेयस्कर होगा। वेदादि शास्त्रोंमें धर्म-संकटके समय मनुष्यके करणीय कर्तव्योंका निर्णय किया गया है। रामायण, महाभारत एवं पुराणादि ऐसे समयमें स्वधर्म (कर्तव्य) निर्णयोंमें विशेषतः सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिये 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्मका रहस्य अतीव गूढ़ है—ऐसा कहा जाता है। निम्नलिखित बातें परिस्थितिके अनुसार उचित मानी गयी हैं—

१–गोकुले कन्दुशालायां तैलयन्त्रेक्षुयन्त्रयोः।
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च॥
(१८१)

२–गोदोहने चर्मपुटे च तोयं
यन्त्राकरे कारुकशिल्पहस्ते।
स्त्रीबालवृद्धाचरितानि यानि
प्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि॥२२८॥

३–आकारदोषे भुवनस्य दाहे
सेनानिवेशे विषमप्रवेशे।
आयास्य यज्ञेषु महोत्सवेषु
तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः॥
(अत्रि० स्मृ० २१०)

४–चर्मभाण्डैस्तु धाराभिस्तथा यन्त्रोद्धृतं जलम्।
आकरोद्गतवस्तूनि नाशुचीनि कदाचन॥
(अत्रिस्मृति २२९)

अर्थात्—गोशालामें, भड़भूजे अथवा हलवाईकी दुकानपर, तेल निकालनेके यन्त्रमें, गन्नेका रस निकालनेके यन्त्रमें, स्त्रियों और रुग्णके विषयमें शौचाशौचका विचार यथासम्भव ही रखना चाहिये। दूध दुहनेके पात्रमें, घी आदि डालनेके लिये चर्मनिर्मित कुप्पे आदिमें, कूपसे जल निकालनेके लिये चर्मनिर्मित चरसमें, कोल्हू आदि यन्त्रोंमें, कारखानोंमें निर्मित होते हुए द्रव्योंमें तथा स्त्री, बालक और वृद्धोंके आचरणके एवं नेत्रोंके लिये प्रत्यक्ष पदार्थोंमें पवित्र दृष्टि ही रखनी चाहिये; अर्थात् वे सब पदार्थ पवित्र ही हैं। इसी प्रकार जब शत्रुने नगरका घेरा डाल रखा हो, मकान जल रहे हों, छावनीमें तथा इसी प्रकारके

कांधार सब भारतके ही अंग थे। यात्रा करते हुए ह्वेनसांग पाटलीपुत्र पहुँचा और तभी उसके मनमें भारत-जैसे विशाल देशके प्रधानमन्त्री महामति चाणक्यके दर्शनका विचार आया। वह गंगा-तटपर एक घाटपर जा पहुँचा। वहाँ बैठे-बैठे वह किसी उपयुक्त व्यक्तिसे प्रधानमन्त्रीके आवासका पता-ठिकाना पूछनेका विचार करने लगा। अनेक व्यक्ति वहाँ स्नानार्थ आये और स्नानकर चले गये, परन्तु वह किसीसे अभिप्रेत विषय पूछनेका साहस न जुटा सका। देखते-देखते एक जरा-जीर्ण कृष्णवर्णीय ब्राह्मणको छोड़कर सारा घाट रिक्त हो गया। वह ब्राह्मण भी जब स्नान, सन्ध्यादिसे निवृत्त धोती धोकर घड़ा भर चलनेके लिये तैयार हुआ तब यात्री ह्वेनसांगने सामने पहुँच हाथ जोड़कर कहा—'महाशय! मैं आपके देशके लिये सर्वथा अपरिचित हूँ और आपके देशके प्रधानमन्त्रीके दर्शन करना चाहता हूँ। कृपया मुझे उनके आवासतक पहुँचनेका मार्ग निर्दिष्ट कीजिये।'

वृद्ध ब्राह्मणने धैर्यपूर्वक उसके कथनको सुना और अपने साथ चलनेके लिये कहा—आगे-आगे वृद्ध ब्राह्मण और पीछे-पीछे ह्वेनसांग नगरके एक ओर छोटी बस्तीकी ओर जानेवाली पगडंडीपर बढ़े। ह्वेनसांगके मनमें शंका उठी कि कहीं यह गलत स्थानपर तो नहीं ले जा रहा है? परन्तु वह बिना उसे व्यक्त किये उसके पीछे-पीछे चलता रहा। थोड़ी दूरपर एक कुटियाके द्वारपर पहुँचकर ब्राह्मण रुका और द्वार खोलकर भीतर प्रविष्ट हुआ। ह्वेनसांग बाहर ठहरकर यह विचार करता हुआ उसकी प्रतीक्षा करने लगा कि यह बाहर आयेगा और उसका मार्गदर्शन करेगा। परंतु जब ब्राह्मण बाहर नहीं आया तब ह्वेनसांगने आवाज लगायी और कहा—'महाशय! क्या मेरी याचना भूल गये?' तत्काल वृद्ध ब्राह्मणने कुटियाके बाहर आकर अत्यन्त विनीत भावसे मुस्कराकर कहा—'नहीं। बन्धु! मैं भूला नहीं हूँ, इस कुटियामें भारतका प्रधानमन्त्री चाणक्य आपका स्वागत करनेके लिये प्रस्तुत है।' यात्रीने चकपकाकर उसे देखा और डरते-डरते उसकी कुटियामें प्रविष्ट होकर देखा कि साधारण-सी कुटिया है, जिसमें एक ओर जलका घड़ा रखा है, दूसरी ओर उपलों-समिधाओंका ढेर है। अन्न आदि पीसनेके लिये सिल-बट्टा रखा हुआ है। एक बाँस वस्त्र सुखानेके लिये ऊपर टँगा हुआ है और एक चटाईके सामने चौकीके ऊपर लिखने-पढ़नेकी सामग्री तथा दीपाधार रखा हुआ है। आतिथेयके आग्रहपर वह चटाईपर जा बैठा; परंतु बार-बार उसके मनमें यही भ्रम रहा कि हो-न-हो वह किसी पागलके घर आ गया है। परंतु उसी समय सीमान्तसे चन्द्रगुप्त अपने कुछ सैनिकोंके साथ वहाँ पहुँचा और गुरुके चरणोंमें दण्डवत् लेटकर प्रणाम किया और आनेका उद्देश्य बताया।

वृद्ध ब्राह्मणने, जो वास्तवमें चाणक्य ही थे, उनसे कहा—'वत्स! तुम सायंकाल आना, तब तुम्हारी समस्यापर विचार करेंगे; अभी तो यह देखो, एक विदेशी अपने देशके अतिथि बनकर पधारे हुए हैं, इन्हें साथ ले जाकर ससम्मान राजकीय अतिथिशालामें ठहराओ और जब ये पूरी तरह आराम कर चुकें, तब कल सायंकाल इन्हें मेरे पास लाओ। तब हम इनसे चर्चा करेंगे।' चन्द्रगुप्तने गुरुदेवके आज्ञानुसार उस विदेशी यात्रीको राजकीय अतिथिशालामें ठहराया और दूसरे दिन सायंकालके समय जब सूर्यास्त हो चुका था, तब उसे साथ लेकर गुरुकी कुटियापर पहुँचे। वहाँ जाकर देखा महामति चाणक्य गम्भीर भावसे एकाग्र होकर कुछ लिखते हुए दिख रहे हैं। सामने दीपक जल रहा है। दोनों मौन भावसे सामने चटाईपर जा बैठे। कुछ समय पश्चात् कार्य समाप्त कर चाणक्यने दृष्टि ऊपर उठायी और आगन्तुकोंको यथोचित सम्मान देते हुए अपना एक

दीपक बुझा दूसरा दीपक जला दिया और ह्वेनसांगको सम्बोधितकर पूछा—'कहो मित्र ! कैसा लगा यह देश ?' 'बहुत ही विचित्र'—ह्वेनसांगने उत्तर दिया । 'क्या विचित्रता देखी आपने ?'

सबसे पहली तो यही कि 'एक जलते हुए दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक जलाना क्या कम विचित्र बात है ! क्या इस पहेलीका अर्थ समझानेका कष्ट करेंगे महामति चाणक्य ! जिसके बुद्धि-बलका डंका विश्वमें बज रहा है, वह व्यक्ति एक जलते दीपकको बुझा दूसरा दीपक जलाये यह कुछ समझमें नहीं आया ।'

चाणक्य विदेशी यात्रीका कथन सुन मुस्कराये और गंभीर स्वरमें बोले—'बन्धु ! मैंने एक दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक सोच-समझकर ही जलाया है । बात सामान्य है, पर तुम समझ नहीं सकोगे । वास्तवमें जब आपलोग आये तो मैं राजकार्य कर रहा था । अतः उस समय जिस दीपकके प्रकाशमें मैं कार्य कर रहा था उसमें राजकोषका तेल जल रहा था । परंतु अब जो बात-चीत होगी, वह हमारी निजी होगी, इसीलिये मैंने राजकोषसे सम्बद्ध दीपकको बुझाकर अपनी कमाईके तेलसे जलनेवाला यह दीपक जलाया है ।'

यह सुनते ही ह्वेनसांग दंग रह गया । बरबस उसके मुखसे निकल पड़ा कि क्यों न ऐसा देश महान् और विश्वगुरु हो, जिसका प्रधानमन्त्री इतना जागरूक तथा देशके धनके अपव्ययके प्रति पूरी सावधानी बरतनेवाला हो । यह है उस समयके राष्ट्रके मन्त्रीका आदर्श चरित्र ।

पर आज क्या स्थिति है, इसका कटु अनुभव उन सबको यत्किंचितरूपमें है ही जिनका जरा-सा भी सम्पर्क राजकीय कार्यालयोंसे रहा हो ।

जहाँ प्राचीनकालमें सामान्य आदमी आवश्यक द्रव्य अंश पुरस्कार ईमानदारीके साथ तिजोरी, तलाब, कूप आदिके पास रख आते थे वहीं आज सही आयको छिपानेके लिये उन्हें अनेक उपाय खोजने पड़ते हैं । आयकर-विभाग झूठे और सच्चे दोनोंको एक नजरसे देखनेमें विवश है और उन्हें चोर समझता है । आज-कलके देन-लेन-कर्ममें निपुण व्यक्ति कुछ 'दे-लेकर' आसानीसे जब मुक्ति पा लेते हैं, तब दूसरोंको भी प्रेरणा देते हैं; परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार दोनों दिशाओंमें पनपने लगता है जो देशकी, राष्ट्रकी समृद्धिके लिये अभिशाप है । आज शिक्षाके क्षेत्रतकमें दोष आ गये हैं । बिना निश्चित राशि दिये प्रवेशतक सम्भव नहीं रहा है । योग्यतानुक्रमसे केवल गिने-चुने व्यक्तियोंको ही प्रवेश मिल पाता है । अपनी रुचिके विषयमें प्रवेश पा लेना प्रतिभाशाली छात्रोंके लिये भी दुर्लभ हो गया है । फिर राष्ट्रमें योग्यतम, योग्यतर ही नहीं, योग्य व्यक्तियोंकी कमी क्यों न होगी ? आज मूर्खता पनपती जा रही है ।

चिकित्सालयोंमें कैसी व्यवस्था है; कैसी चिकित्सा होती है, यह भी किसीसे छिपा नहीं है । हर पगपर पैसेकी बात होती है और जो नहीं दे पाता, वह कितनी उपेक्षाका शिकार होता है, यह कोई भी भुक्तभोगी बता सकता है । प्राणरक्षक दवाइयोंकी दुर्लभता हो गयी है । आतुरोंकी स्थिति चिन्तनीय है ।

खाद्यान्नों और किरानेमें कितनी मिलावट की जाती है, यह सबपर प्रकट है । कई स्थानोंपर तो चावलके आकार-प्रकारके पत्थर काटकर चावलोंमें मिलाये जानेके लिये तैयार किये जानेकी भी बात कही जाती है । दूध, घी, तेलमें क्या कुछ मिलाया जाता है, ईश्वर ही जाने । परिणामतः ऐसे नये-नये रोगोंकी सृष्टि हो रही है जिनका नाम भी आयुर्वेदमें उपलब्ध नहीं है । नकली ओषधियोंके कारण इनपर काबूको रोक पाना और भी कठिन हो रहा है । कैसी विषम स्थिति है ।

चरित्र-निर्माणकी शाश्वत उपयोगिता एवं सामयिक उपादेयता

(लेखक—निम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

गत्यर्थक 'चर्' धातु और 'इत्र' प्रत्ययके संयोगसे निष्पन्न 'चरित्र' शब्द चरित्र एवं वृत्त अर्थात् छन्द या पद्य अर्थका द्योतक है—'वृत्तं पद्ये चरित्रे च' (अनेकार्थसंग्रहकोश)। वृत्त शब्द 'वृतु वर्तने' धातुसे निष्पन्न होता है। यहाँ अनेकार्थक-कोशकारोंने चरित्रको 'वृत्त' कहा है। पद्यको भी 'वृत्त' कहा जाता है। चरित्रमें भी पद्यवत् सुनियोजित व्यवहार होता है। स्वच्छन्द या स्वेच्छाचारमय जीवनसे चरित्रका हनन होता है। सुनियोजित जीवनचर्या ही चरित्र है, यही मानवकी सही गति है, उसीसे परलोकमें सुगति सम्भव है।

चरित्रकी सँभाल सद्विचार और सदाचारकी परिधिमें ही हो सकती है। प्रायः शास्त्रोंमें इन्हें ही ऋत और सत्य कहा गया है। ये सृष्टिके समय ब्रह्माको तपसे प्राप्त हुए थे। ब्रह्माको सृष्टिकी सामर्थ्य तपसे ही प्राप्त हुई है। अनादिकालका सृष्टि-प्रवाह जड-चेतनका छन्दोमय वृत्त ही है। सृष्टिके समस्त कार्यकलाप अनादिकालसे एकसे ही चले आ रहे हैं। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प आदि कालानुसार एवं स्वतः स्वभावानुसार घटित होते रहते हैं, रत्तीमात्र भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। समस्त जड-चेतन कालकी गतिमें छन्दोमयरूपसे अनुस्यूत हैं। वेदान्तदर्शनने इसीलिये चिदचिद् और ब्रह्म—इन तीन तत्त्वोंको ही स्वीकार किया है। इन्हीं तीनोंका वृत्तान्त निगमागमपुराणेतिहासोंमें संगृहीत है। इन चिरंतन सत्योंका विचार कर धर्माचरण करना ही ऋत तथा सत्य है; और यही चरित्र है।

पुराणोंके सृष्टिक्रममें कर्दम ऋषिका दिव्य चरित्र आता है। जीवन-गतिके संचालनके लिये यहाँ उनके विवाहकी चर्चा आती है। आदिराज मनुने उनके अन्तिम विवाहके अवसरपर अपनी कन्या देवहूतिको उन्हें समर्पित करते हुए प्रार्थना की थी—

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान्॥
(श्रीमद्भा० ३। २२। २)

'ब्रह्माजीने अपनी आत्मरक्षा-(सृष्टिविस्तारकी इच्छा-)की पूर्तिके लिये अपने मुखसे आप ब्राह्मणोंको प्रकट किया है, आप लोगोंका वेदज्ञानमय जीवन तप, विद्या, भक्तियोगसे सम्पन्न तथा वासना रहित है।' वेदविज्ञानमय जीवन तप, ज्ञान और भक्तिसे ही सँभलता है। तपका जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको बतलाया है, वह अनूठा है। वहाँ शारीरिक, वाचिक, मानसिक ये त्रिविध तप कहे गये हैं। देव, द्विज, गुरु और विद्वज्जनोंका सत्कार, पूजन करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंमें सरलता रखना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, हिंसा न करना ये शारीरिक तप हैं। इसी प्रकार अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय, हितकर वाणी, बोलना शास्त्राभ्यास और मन्त्रजप करना वाणीके तप हैं। मनको प्रसन्न रखना, मौनभावसे मनको शान्त रखना, भावोंको शुद्ध रखना मानस-तप हैं (गीता १७। १४-१६)। प्राणिमात्रसे सौहार्द रखते हुए सारे विश्वको भगवद्रूप मानते हुए व्यवहार करना सही ज्ञान है। इससे मनुष्य कष्ट नहीं पाता, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा था—

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥
(श्रीमद्भा० ११। ७। १२)

भक्तियोगसे सम्पन्न तप और ज्ञान ही सभीके साधार हैं। 'योगयुक्तान्' विशेषणका यही तात्पर्य है, जैसा कि भगवान् उद्धवसे स्पष्ट कहते हैं—

'मायारचित गुणोंकी आसक्ति छोड़नी चाहिये, यह मेरी भक्तिसे ही सम्भव है। उसीसे मनके मैल स्वच्छ होते हैं। जैसे कि ठीक ढंगकी चिकित्सा न होनेसे रोग पुनः-पुनः अंकुरित हो जाता है, वैसे ही भक्तिरहित तप आदि साधनोंसे मनका मैल पूर्णतः स्वच्छ नहीं होता।'

इस विवेचनसे जगत् और जीवकी गतिका यथार्थ चित्रण हो गया। मायाकी आसक्ति चरित्रका हनन करती है और भगवान्‌की भक्ति चरित्र-निर्माण करती है, यह भी निर्णय हो गया। इसलिये मनुष्यको भगवद्भक्तिके आश्रयसे अपना उद्धार करना चाहिये और निर्भय होकर जीवन-यापन करना चाहिये। कपिलमुनिका भी उपदेश है—

तस्मान्न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह॥
(श्रीमद्भा० ३।३१।४७)

'मनुष्यको जीवनमें हताश न होना चाहिये, न घबड़ाना चाहिये और न व्याकुल होना चाहिये। जीवकी चिन्तन गतिको जानकर धैर्यके साथ अनासक्त होकर जीवनयापन करना चाहिये।' प्रश्न होता है कि क्या किसी सम्प्रदाय-विशेषमें दीक्षित होकर ही भक्ति करनी चाहिये अथवा भक्तिका कोई सामान्य मार्ग भी है जो कि सामान्य व्यक्तिके लिये ग्राह्य हो। यह तो सम्भव नहीं है कि प्राणिमात्र किसी सम्प्रदाय या धर्ममें सम्मिलित हो ही जाय। पर चरित्रोत्थान तो प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। इसका समाधान भी हमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलके निम्न वचनमें मिल जाता है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

प्राणिमात्रके अन्तर्यामी परमात्माकी भक्ति चरित्रोत्थान-का कल्याणमय मार्ग है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस कथनका तात्पर्य जीवमात्रके कल्याणकी भावना ही भक्ति है, किसीको किसी प्रकारका कष्ट प्राप्त न हो—ऐसा आचरण करना ही भक्ति है। ऐसा करनेवाले ही महान् हैं। वे स्वयं कष्ट उठाकर भी लोगोंकी भलाई करते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।२१)

'जो सहनशील, प्राणिमात्रसे प्रेम करनेवाले, दयालु और काम-क्रोधादि अपनी दुर्भावनाओंसे रहित शान्त परोपकारी हैं, वे ही महान् हैं।'

यही चरित्रका मापदण्ड है, पर यह ईश्वरकी सत्ता मानकर ही सहीरूपसे सम्भव है, जबतक यह नहीं माना जायगा कि जीवमात्रका अन्तर्यामी ईश्वर है, तबतक उक्त धारणा नहीं बनती। भक्तिका यह सामान्य रूप है। यह किसी भी सम्प्रदाय या धर्ममें आबद्ध नहीं है। इस मार्गमें विकार-राहित्य, अहंकार-शून्यता होती है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिका आश्लेष भी सम्भव नहीं है। मनुष्य जगत्‌में रहता हुआ भी निर्द्वन्द्व और सुखी रह सकता है—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥
(श्रीमद्भा० ३।२७।१, २९।२७)

'उक्त प्रकारके आचरणसे मनुष्य प्रकृतिमें रहता हुआ भी प्राकृत गुणोंमें आसक्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसके विचारोंमें विकार नहीं होगा, कर्तृत्वाभिमान नहीं होगा, गुणोंकी दुर्विपाक आश्लेष नहीं होगा। ऐसे चरित्रवान् व्यक्तिको सदा ऐसा ही विचारना चाहिये कि प्राणिमात्रमें भगवान्‌का निवास है। अतः बिना किसी भेदभावके सभीसे मित्रताका भाव रखते हुए सभीका समादर करते रहना चाहिये।'

पुष्पवत् कोमल एवं वज्रवत् कठोर होता है। अनेक विपत्तियोंसे घिरकर भी वह अपने कर्तव्य-पथसे उस विशाल वटवृक्षकी तरह विचलित नहीं होता, जो प्रचण्ड वायुसे प्रताड़ित होकर भी मिट्टीके कठोर किनारोंकी तरह लहरोंके प्रवाहमें प्रवाहित नहीं होता।

दम, दान एवं यम—इन तीनोंके पालनको हमारी पुरातन वैदिक संस्कृति अत्यधिक महत्त्व देती रही है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (इन्द्रिय-दमन) भारतीय तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंका सनातनधर्म है। इन्द्रिय-दमन आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। दमके अभ्याससे तेज बढ़ता है एवं दमका प्रयोग चरित्र-निर्माणका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसका आत्मिक उन्नति तथा ज्ञानसे गहरा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यह शारीरिक, मानसिक एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी तीनों उन्नतियोंका कारण है।

वैदिक साहित्यमें जितेन्द्रियता-(ब्रह्मचर्य-)का अतुल महत्त्व प्रतिपादित है। ऋग्वेदमें दो ब्रह्मचर्य सूक्त हैं तथा अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवाँ सूक्त 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इसमें २६ मन्त्र हैं। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् तथा विश्व-संचालन-परम्पराका आधार माना है—

ब्रह्मचारी'''स दाधार पृथिवीं दिवं च।
(अथर्व० ११।५।१)

वृद्धगौतमस्मृति-(२।१६)में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यसे आयु, तेज, बल, प्रज्ञा, लक्ष्मी, विशाल यश, परम पुण्य तथा भगवत्कृपा-प्रसाद, प्रीतिकी प्राप्ति होती है—

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभ्यते ब्रह्मचर्यया॥
(२।१६)

वस्तुतः जितेन्द्रियता ही चरित्रता है। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मदका शिकार नहीं होता, निःसंदेह वही चरित्रवान् है। सच्चरित्रता उत्तम भावों और भावोंकी प्रेरक शक्ति है, अतः इसमें सभी मानवोचित गुणों—हृदयकी विशालता, औदार्य, त्याग, सेवा, क्षमा, शक्ति, विनय, सत्य, ईमानदारी, धैर्य, कर्तव्य-परायणता, आत्म-संयम आदिका समावेश है। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न एवं सच्चरित्र मनुष्यकी प्रशंसा उसके शत्रु भी करते हैं—

ॐ उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥
(ऋक्० १।४।६)

नेपोलियन बोनापार्टकी शिक्षा थी—कर्मशील और सदाचारी बनो—Be a man of Action and character. अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है—वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें बेईमानी और बुरा कर्म नहीं किया तथा जिसका मन अभिमानसे रहित है—

The man of upright life,
Whose guiltless heart is free,
From all thoughts of vanity,
Is a real man indeed.

भारतीय धर्मग्रन्थोंमें हृदय-परिवर्तन और चरित्र-निर्माणपर विशेष बल दिया गया है और इन दोनोंसे ही मानवताका उदय माना गया है। प्राचीन भारतीय परम्परामें वही शासन सुखद और श्रेष्ठ समझा जाता था, जिसमें नागरिक जीवन सच्चरित्र-सम्पन्न और सद्भावनाओंसे भरा हुआ रहा हो। इसी सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध विद्वान् रॉस्किनने कहा है—

'True criterion of good government is not the increase of wealth and population, it is the creation of character and personality.'

'श्रेष्ठ और महान् शासनका अर्थ सम्पत्ति और मनुष्य-संख्याकी वृद्धि नहीं, प्रत्युत चरित्र-बल एवं व्यक्तित्व-निर्माण है।' यजुर्वेदके ऋषिने भी इस

चहिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पापसहायक दुष्ट—इन्हींका नाम सप्त मर्यादा है। इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-घातक है, यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव (चारित्र्य-शील) बनकर रहता है।

सम्प्रति इन सर्वदा अनुकरणीय वैदिक मान्यताओंको व्यवहारमें स्पष्ट सतत समन्वय करना आवश्यक है। इसीसे चिरसुख, असीम शान्ति, तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यथार्थ अनुभव करानेवाले ज्ञानयुक्त, शील-चारित्र्य-युक्त, धर्मनियन्त्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकार्यसम्पन्न मानव-समाजका निर्माण होगा और उससे सुखकी परम सीमा प्राप्त हो सकेगी।

चरित्र-निर्माणकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथजी, बी॰ ए॰, एल्॰ एल्॰ बी॰)

मनुष्यने बुद्धि और विवेकसे जिस उत्कृष्ट कोटिकी जीवन-प्रणालीका निर्माण किया, उसे चरित्र कहा जाता है। ऐसी जीवन-प्रणालीकी रूप-रेखा हमें ऋग्वेदकी एक ऋचामें देखनेको मिलती है। उसमें यह कहा गया है कि 'सब लोगोंके संकल्प, निश्चय, अभिप्राय समान हों, सबके हृदयमें समानताकी भव्य भावना जागरित हो और सब लोग पारस्परिक सहयोगसे मनोनुकूल सभी कार्य करें।'[1] चरित्र-निर्माणकी जो दिशा ऋग्वेदमें निर्धारित है, वह आज भी अपने मूलरूपमें मानवके लिये कल्याणकारी है। मानव-समाजको प्रगतिके पथपर आगे बढ़नेहेतु ऐसे ही उपयोगी गुणोंकी आवश्यकता है। समाजमें सह-अस्तित्वकी भावना जागरित करनेके लिये यह आवश्यक है कि इन नीतियोंका प्रतिपादन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरोंपर निरन्तर किया जाता रहे। यजुर्वेदमें निवास, अर्थोपार्जन एवं पराक्रमके क्षेत्रोंमें प्रीतियुक्त, रुचिकर और अन्य लोगोंके कल्याणका संकल्प लेकर एक साथ चलनेका निर्देश इसी उद्देश्यसे किया गया है[2]। समाजका गठन बिना किसी ठोस आधार और निश्चित नीतिके सम्भव नहीं है। दिशाविहीन प्रगतिसे न तो समाज लाभान्वित होता है, न मनुष्यमें चारित्रिक विकास ही हो पाता है। आधुनिक कालमें समाज और व्यक्तिका स्वरूप ऐसा ही (दिशाविहीन ही) निर्मित हो रहा है। आर्थिक प्रगतिके साथ-साथ नैतिक मूल्योंकी प्रगति भी आवश्यक है। नैतिक मूल्योंको तिलाञ्जलि देकर मानसिक या आर्थिक क्षेत्रमें जो भी प्रगति होती है, उसकी कोई दिशा नहीं हुआ करती। ऐसी स्थितिमें चारित्रिक ह्रास अवश्यम्भावी है।

धर्मनीतिके आदि प्रणेता मनु नैतिक मूल्योंके प्रति अधिक जागरूक थे। उनकी यह धारणा थी कि नैतिक मूल्योंका दृढ़तासे पालन किये बिना ऋग्वेद तथा यजुर्वेद-द्वारा प्रतिपादित सामाजिक और आर्थिक प्रगतिकी उच्च नीतियाँ प्रभावी नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्यसे मनुने सत्य, धर्म, आर्यवृत्ति और शौचके पालनपर अधिक बल देनेके साथ ही यमोंके पालनको अनिवार्य बताया है।

१—समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ॰ १०।१९१।४)

२—समितं सं कल्पेथां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ॥ (यजु॰ १२।५७)

३—सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा। (मनु॰ ४।१७५)

४—यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः। (मनु॰ ४।२०४)

चरित्र मानव-समुदायकी अमूल्य निधि है । इसके अभावमें व्यक्ति पशुवत् व्यवहार करने लगता है । आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी वृत्ति सभी जीवोंमें विद्यमान रहती है, मनुष्यमें धर्म अर्थात् आचारकी ही एक विशेषता होती है, धर्महीन अर्थात् चरित्रहीन मनुष्य पशुके समान है ।[12] चरित्रहीन मनुष्यमें मनुष्यत्व नहीं रह जाता । अतएव यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने जीवनमें उन यम-नियमोंका पालन नित्यप्रति करता रहे, जिनका सम्बन्ध उसके चरित्रसे है । मनु इसपर बल देते हुए कहते हैं कि 'नियमोंका पालन नित्य न कर सकनेपर भी यमोंका पालन सदा करे; अन्यथा व्यक्ति नीचे गिर जाता है ।'[13] जिन यमों और नियमोंकी ओर मनुने संकेत किया है, उनका विस्तृत विवरण पातञ्जल-योगदर्शनमें देखनेको मिलता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको यम[14] कहते हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानको नियम[15] कहते हैं । मनुने यमोंके पालनको इसलिये अनिवार्य घोषित किया कि इनके पालनसे व्यक्तिका चरित्र समाजमें ऊँचा उठता है । व्यक्ति पवित्र, संतोषी, तपःशील, स्वाध्यायी और ईश्वरको माननेवाला ही क्यों न हो, यदि वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका व्यवहारमें पालन नहीं करता अथवा इनके विरुद्ध व्यवहार करता है तो निश्चित-रूपसे उसका चरित्र नीचे गिरता है और वह दूसरोंके लिये अनुकरणीय नहीं रह जाता । जो व्यक्ति नियमतः नित्य उक्त पाँचों यमोंका पालन करता रहता है, उसका चरित्र महान् होता है ।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रतिपादित योगके पाँचों नियमोंके पालनकी भी व्यावहारिक जीवनमें बड़ी उपयोगिता है । हाँ' उनके विभिन्न समय निर्धारित हैं । महर्षि पतञ्जलिने नियमोंके पालनकी उपयोगितापर भी अपने विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं; वे इस प्रकार हैं—शौचके पालनसे व्यक्तिमें शारीरिक पवित्रताके प्रति रुचि विकसित होती है ।[16] साथ-ही-साथ अन्तःकरणकी शुद्धि, प्रसन्नता, चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रिय-विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता आती है[17] एवं संतोषसे उत्तम सुख प्राप्त होता है ।[18] तपसे मन शुद्ध होता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण स्थापित होता है ।[19] स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात्कार अर्थात् दर्शन होता है ।[20] दूसरे शब्दोंमें जिस देवताको लक्ष्य करके तपस्यापूर्वक स्वाध्याय किया जाता है, उसके दर्शन होते हैं; और अन्ततः प्रणिधानसे (साष्टाङ्ग दण्डवत् एवं सर्वसमर्पणकी भावनासे) समाधिकी सिद्धि होती है ।[21] इष्टदेवका दर्शन हो जानेपर ही व्यक्ति अपनेको उसे समर्पित करके समाधि

१२–आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥　(भर्तृहरि, महाभारत आदि)

१३–यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥
(मनु० ४ । २०४)

१४–पातञ्जलयोगदर्शन (२ । ३०) । १५–वही २ । ३२ ।

१६–शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । (उपरोक्त २ । ४०)

१७–सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । (उपरोक्त २ । ४१)

१८–संतोषादनुत्तमसुखलाभः । (पातञ्जलयोगदर्शन २ । ४२)

१९–कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (उपरोक्त २।४३)

२०–स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । (उपरोक्त २ । ४४)

२१–समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (उपरोक्त २ । ४५)

आयुर्वेदमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता एवं उपादेयता

(लेखक—वैद्यरत्न श्रीप्रद्युम्नाचार्यजी निम्बीकर)

तपःपूत विशुद्धबुद्धि त्रिकालदर्शी महर्षियोंने तथा विद्वान् आचार्योंने चरित्र-निर्माणको प्रधानता प्रदान की है; कारण, देशका वैभव एवं गौरव चरित्रपर ही प्रतिष्ठित है—

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
(चरकसंहिता)

इस सूक्त्यनुसार उन्होंने मानवमात्रके कल्याणार्थ शाश्वत सुखैकसाधनभूत सच्चरित्र-निर्माणोपादेय सदाचार एवं पालनीय नियमोंका निर्देश दिया है। 'शब्दरत्नावली'के अनुसार स्वभाव, चरित, चरित्र—ये शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं।

चरित्रं द्विविधं प्रोक्तं सदसल्लक्षणात्मकम्।

सत् और असत्के भेदसे चरित्र दो प्रकारका है। इनमेंसे प्रथम पूर्वजन्मार्जित कर्मोंसे प्राप्त और श्रुति-स्मृति-पुराणादि प्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट परिपालनीय; दूसरा, नियमाचारसे संस्कृत। 'गुणान्तराधानं संस्कारः' (चरकसं०) कहा जाता है। वैदिक संस्कारसे विशिष्ट गुणोंका निर्माण होता है, अतः सच्चरित्र-निर्माणमें संस्कार भी आवश्यक है।

कुचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
(स्कन्दपु०)

चरित्रहीन व्यक्ति व्यवहारमें घृणाका पात्र होता है और देश एवं देहको नष्ट-भ्रष्ट करता है तथा सदाचार-सम्पन्न मानव चिरायन्य होता है। वह देश एवं देहका गौरव तथा वैभव बढ़ाता है—

सदाचारो हि सर्वोर्हो भवपाशाद् विमुच्यते पुनः।
तस्मान्नरेण सततं भाव्यमाचारवर्तिना॥
(स्कन्दपु०)

सच्चरित्रका निर्माण सदाचारसे होता है और सदाचार सद्धर्माचरणसे। श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य स्व-स्व धर्मानुष्ठान ही मानवमात्रका कर्तव्य है—

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु कर्मसु निष्ठितम्।
सदाचारं निषेवेत धर्ममूलमतन्द्रितः॥
(स्कन्दपुराण)

व्यवहारका यह नियम है कि वह केवल व्यक्तिका चरित्र ही प्रधान गुण मानता है और चरित्रकी प्रशंसा करता है; इतर गुणोंका मूल्य व्यवहारकी दृष्टिसे प्रायः नगण्य ही है—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते॥
(हितोपदेश, मित्रलाभ)

अतः मानवमात्रका प्रथम कर्तव्य है कि वह श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट सदाचारका नियमपूर्वक परिपालन करे और अपना चरित्र उपयोगिता निर्मित करे। यह सच्चरित्र-निर्माण-कार्य आर्षप्रणीत भारतीय शिक्षा-दीक्षासे ही सम्भव है। सच्चरित्र-निर्माणार्थ आयुर्वेदशास्त्रकारोंने परिपालनीय महत्त्वपूर्ण नियमाचरणका निर्देश दिया है; वह मननीय एवं आचरणीय है। धर्म-मूल सदाचारके परिपालनीय महत्त्वपूर्ण नियम ये हैं—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
संभिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥
(अष्टाङ्गहृदय सू० स्था० अ० २ श्लोक २१-२२)

१—हिंसा—प्राणिमात्रका वध, २—स्तेय—चोरी करना, ३—अगम्यागमन—ये तीन प्रकारके त्याज्य कायिक कर्म हैं। १—पैशुन्य—परनिन्दा करना, २—परुष—कठोर एवं मर्मस्पर्शी वचन बोलना, ३—अनृत—

असत्य भाषण, ४—सम्भिन्नालाप—परस्पर भेदक एवं पक्षमूलक भाषण—ये चार प्रकारके वाचिक निन्द्य कर्म हैं। १—व्यापाद—परानिष्ट-चिन्तन, २—अभिध्या—पर-द्रव्यादि हरण करनेकी इच्छा, ३—दृग्विपर्यय—श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपाद्य अनुष्ठेय नियममें अविश्वास—ये तीन प्रकारके मानसिक निन्द्य कर्म हैं। इस प्रकार दशविध निन्दनीय एवं पाप कर्मोंका परित्याग ही चरित्र-निर्माण करनेका प्रशस्त मार्ग है। यह नियम मानवमात्रके लिये सर्वथा परिपालनीय एवं धर्मशास्त्राचार्य-सम्मत है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्योंने भी सदाचरणीय नियमोंका निर्देश दिया है—

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।
(अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय २, श्लोक २१)

जीवनोपायहीन, व्याधिग्रस्त, शोकाकुल व्यक्तिकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये—

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन्।

'देवद्विज, गौ, वृद्धत्रयी (वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध), जनहितरक्षक, शासक एवं अतिथिका सम्मान करना चाहिये। किसी समय भी गृहागत एवं अर्थार्थी व्यक्तिसे कठोर भाषण और उनका निरादर नहीं करना चाहिये।'

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।
आत्मवत् सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्।
(वही १८)

जीवमात्रको अपने समान ही समझना चाहिये एवं उनको उपेक्षा तथा द्वेष दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ [illegible]।

'अपकार-कारक शत्रुका भी उपकार ही [illegible] चाहिये।'

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥
(अष्टाङ्गहृदय १।२।४६)

'उदार एवं विशाल अन्तःकरणसे उत्साहित रहकर यथाशक्ति सत्पात्रको दान देना, कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य संयमपूर्वक करना तथा इतर व्यक्तियोंके कार्यको अपना ही कार्य समझकर उनकी कार्यपूर्तिमें सहायता करना चाहिये।' इस उच्च कोटिके भारतीय जन-चरित्रको दृष्टिगत करके ही भारतेतर (पाश्चात्त्य) देश-वासियोंने हमसे ही शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी और भारतको गुरुवत् सम्मान दिया था। इस विषयमें भारत-गौरव-निदर्शक यह पद्य है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

परंतु यह दैव-दुर्विलसित है कि पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित एवं मोहित भारतीय ही चिरन्तन भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं सदाचारको सर्वथा एव विस्मृत करके कुमार्गका समाश्रय ले एवं अन्धानुकरण कर रहे हैं—

पाश्चात्त्यशिक्षादीक्षायाः प्रभावान्मोहमागताः।
भारतीया भारतत्वं विस्मृत्य कुपथंगताः॥
(स्वरचित)

मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक भारतके शासक एवं इसके कर्णधारोंसे निवेदन करता हूँ कि वे आत्मगौरव भारतीय शिक्षा-दीक्षापर विशेष ध्यान देकर भारतका उच्चकोटिका चरित्र फिरसे समस्त प्रसारित करनेका प्रयत्न सम्पन्न करें। [illegible] सत्-चरित्र बनना है—

[illegible] सर्वतो[illegible] पुनः पुनः।
[illegible] देवगोचरम्॥
[illegible])

वैदिक सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीनन्दकिशोरजी गौतम (उपाध्याय) निर्मल एम० ए०, पी-एच० डी०, सा० आयुर्वेदाचार्य)

समस्त विश्वमें ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें धर्मकी कोई स्थिति न हो। सर्वथा जातिविशेष अथवा सम्प्रदायविशेषको लेकर कुछ धार्मिक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इस प्रकार सभी धर्मोंके हजारों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंतु संसारके मूर्धन्य विद्वानोंने इस बातको एक मतसे स्वीकार किया है कि वेद जगत्‌के प्राचीनतम सर्वविधा-निधानके ग्रन्थ हैं। राजर्षि मनुने वेदके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट ही उद्‌घोष किया है कि—

> वेदोऽखिलं धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
> आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
> (मनुस्मृति २। ६)

धर्मजिज्ञासुओंके लिये वेद समस्त धर्मोंके मूल हैं। साथ ही स्मृतियाँ, शील, महापुरुषोंका चरित्र आदि भी धर्मजिज्ञासुके लिये अनुसंधेय हैं। इस बातको प्रायः सभी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सदाचारसे रहित मानवका कहीं कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः जिसने अपने आचरणको नष्ट कर दिया, वह तो नष्ट ही हो गया—'वृत्ततस्तु हतो हतः।' सदाचारके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए ही भारतीय धर्मके प्रथम मर्यादा-व्यवस्थापक मनुने आचारको ही प्रथम धर्म माना है—'आचारः प्रथमो धर्मः।' फिर उन्होंने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, संयम, बुद्धिमत्ता, विद्या, सत्य और क्रोध न करना आदि उसके अङ्गस्वरूप बताये हैं—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
> (मनुस्मृति ६। ९२)

पर विस्मय है कि इस कालमें वर्तमानमें आधुनिक लोग ईश्वरकी सत्ता तथा उपासनाकी बात भी स्वीकार नहीं करते, फिर सदाचारकी तो बात ही क्या! प्राचीनकालमें भारतवासियोंमें चरित्रकी वह उत्कट शक्ति थी, जिसके कारण यह देश समस्त विश्वका गुरु था और इस भूमण्डलपर विश्वके इतर देश इस देशवालोंसे ही चरित्रकी शिक्षा लेते थे—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
> (मनुस्मृति २। २०)

वर्तमान शिक्षापद्धतिमें धार्मिक शिक्षा तो दी ही नहीं जाती है, सदाचारकी शिक्षाकी ओर भी ध्यान दिया जाता है। पर सायं-प्रातः प्रभुका गुणगान, संध्यावन्दन, गुरुजनोंका चरणस्पर्श इत्यादि सदाचरण उनके लिये आवश्यक कर्तव्य हैं जिन्हें अपने जीवनको सफल बनानेके लिये यदि वे इनका पालन करें तो जीवन सार्थक हो सकता है; क्योंकि सदाचारके बिना किसी भी जाति, देश अथवा राष्ट्रका उत्थान असम्भव है।

व्यक्ति जाति, देश अथवा राष्ट्रकी इकाई है। मानवजाति मननशील व्यक्तियोंका एक समुदाय है। अतः सभी व्यक्ति यदि अपने-अपने आचरणके विषयमें सावधान हो जायँ तो सारी मनुष्यजाति ही निष्पाप एवं सुखी हो सकती है। आयुर्वेदमें शरीर, बुद्धि और आत्माके संयोगको व्यक्तित्व कहा गया है। अतः जबतक चित्त ज्ञानयुक्त नहीं, शरीर स्वस्थ नहीं और आत्मा निर्मल नहीं, तबतक मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। महाकवि कालिदासने भी—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—शरीर धर्मका प्रथम साधन है—यह कहकर शरीर तथा मन दोनोंका स्वस्थ होना आवश्यक बताया है। आयुर्वेदका यह सूत्र कितना मार्मिक है—

> पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्

अर्थात्—'पथ्यसे रहनेवाला, व्यायाम करनेवाला और ब्रह्मचारी मनुष्य रोगी नहीं होता।' अथर्ववेदमें कहा गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
(अथर्व० १०।२।३१)

देवोंकी नगरी अयोध्या ८ चक्रों एवं ९ द्वारोंकी है। उसमें हम ज्योतिस्वरूप परमात्माका दर्शन करते हैं; अतः इसकी हमें कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

मनुष्यमें बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा उसका विकास होना सम्भव है। ऋग्वेदका कथन है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव
स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥
(ऋग्० १०।७१।७)

समाजमें देखा जाता है कि मनुष्योंका आकार-प्रकार तो प्रायः समान है, किंतु बुद्धिमें महान् अन्तर है।

व्यक्ति बुद्धिके अनुसार ही ज्ञानसरोवरमें गोते लगा सकता है। अतः बुद्धिको प्रधान मानकर ऋषिने उसकी श्रेष्ठताके लिये संध्या तथा स्वाध्यायादि नित्य कर्मोंकी योजना बनायी। अब भी द्विजलोग प्रतिदिन तीन बार संध्योपासन कर सूर्यदेवसे याचना करते हैं कि वे हमारी बुद्धियोंको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करें—'धियो यो नः प्रचोदयात्।' सत्य मनुष्य भी आत्मविश्वासहीन, चोर, डाकू, असत्यवादी और क्रूरकर्मा हो सकता है, किंतु सदाचारी और धर्मात्मा ऐसा नहीं। मनुष्य जब कोई भी अनुचित कार्य करनेके लिये उद्यत होता है, तब उसे न करनेके लिये उसके अन्तःकरणमें एक ईश्वरीय प्रेरणा होती है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा निर्मल है। शास्त्रोंमें आत्मशुद्धिके बहुतेरे उपाय बताये गये हैं, किंतु सत्य उनमें सर्वोपरि है। एक बार बोला गया असत्य भी आत्माको मलिन बना देता है और उस असत्यको छिपानेके लिये कई बार असत्य बोलना पड़ता है। इसलिये वेद भगवान्‌ने कहा है—सदाचारसे हीन, महान् अन्धकारावृत लोकोंको प्राप्त होता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(यजु० ४०।३)

पापोंसे मनुष्य कैसे बचे इसका भी बड़ा सरल उपाय वेदमें प्रस्तुत है—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि
रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्म कृत्याकृता
कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥
(अथर्व० १०।१।३२)

'जिस प्रकार सूर्य अन्धकारसे मुक्त होता है, रात्रि उषाकालीन प्रकाशको छोड़ देती है, हाथी धूलको झाड़ देता है, उसी प्रकार मैं भी सब पापोंके कृत्यसे सम्बद्ध हिंसक कर्मोंका त्याग करता हूँ।'

मनुष्यका पहला विकासस्थल उसका परिवार होता है। प्रारम्भिक जीवनमें उसपर जो संस्कार पड़ जाते हैं, उन्हींपर उसका जीवनभवन निर्मित होता है। मनुष्यका अधिक समय परिवार या घरमें ही व्यतीत होता है। यदि परिवार या घरमें शान्ति न हो तो कोई भी सुखी नहीं रह सकता। अतः परिवारमें जीवन व्यतीत करनेकी सुव्यवस्था मानवके लिये आवश्यक है। हम देखते हैं कि परिवारके मुखियाका सम्बन्ध उसके माता-पितासे, भाई-बहनोंसे, पत्नी तथा संतानसे कैसा होता है? यदि परिवारके नेताका परिवारके साथ सुसामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार न हो तो वहाँ शान्तिका दर्शन दुर्लभ रहेगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर अथर्ववेदमें कहा गया है कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व० ३।३०।१)

'आपके हृदय तथा मन द्वेषभावसे रहित होकर समभावको प्राप्त रहें। आपलोग आपसमें इस प्रकार स्नेहका प्रदर्शन करें, जैसे गाय अपने बछड़ेके लिये दिखाती है। मैं आपलोगोंके लिये सांमनस्य कर्म करता हूँ।'

इसी सूक्तमें अग्रिम मन्त्रोंमें पुत्र, कलत्र तथा भाई-बन्धुओंके कर्तव्योंका भी उपदेश दिया गया है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
(अथर्व० ३।३०।२-३)

पुत्र माता-पिताका अनुगत हो, पत्नी पतिके साथ मीठी वाणी बोलकर मधुर व्यवहार करे—'वचने का दरिद्रता' (मधुर बोलनेमें कंजूसी क्या) इसको ध्यानमें रखकर हमें सबके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये।

जब हम अपने परिवारको छोड़कर बाहर जाते हैं तो समाज सामने आता है। इस समाजमें स्वदेशी-परदेशी, स्वधर्मी-विधर्मी, सुहृद्-मित्र, तटस्थ, गुरु, अतिथिजन सभी आते हैं—यद्यपि परदेशियोंकी अपेक्षा स्वदेशियोंमें परस्पर स्नेहाभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है। यहाँ भोजन-विषयक श्रुतिका उपदेश देखने योग्य है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः॥
(अथर्व० ३।३०।६)

यहाँ वेद हमें खान-पान तथा यज्ञादिमें एक साथ मिलकर ही कर्म करनेका उपदेश देता है। यह भी स्मरणीय है कि वेद दुष्टोंके प्रति प्रेमोपदेश नहीं है। दुष्ट तो प्रताडनीय एवं संहारणीय ही बताये गये हैं। इस विषयमें अथर्ववेद ६५-६७ सूक्तोंमें स्पष्ट प्रतिपादन करता है।

सृष्टि संसरणशील है। इस धराधामपर केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु अगणित प्राणी रहते हैं। हम उनकी उपकारी और अपकारी ये दो श्रेणियाँ कर सकते हैं। उपकारी पशुओंकी प्राप्ति और रक्षाके लिये वेदमन्त्रोंमें बहुत-सी प्रार्थनाएँ दिखायी देती हैं; जैसे—

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः॥
(साम० उ० १।२।१)

'ईश्वर हमारे गाय, अश्व आदि पशु और ओषधियोंके कल्याणकारक बनें।'

किंतु अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डके तृतीय सूक्तमें सिंह, सूअर तथा सर्पादि हिंसक जन्तुओंके विनाशके लिये भी आदेश दिये गये हैं। अतः सार यही है कि उपकारी पशुओंकी रक्षा की जानी चाहिये और हिंसक पशुओंको दूर कर देना चाहिये। प्राचीनकालसे ही भारतीय गृहस्थजन दरिद्रतासे दूर रहकर सुखसे रहना चाहनेवाले रहे हैं, अतः वैदिक साहित्यमें इस प्रकारके उपदेश प्राप्त होते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
(यजु० ४०।२)

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
(अथर्व० ३।२४।५)

इन सूक्तियोंका अभिप्राय यह है कि 'मनुष्य जबतक जीवित है कर्ममें संलग्न रहे और उत्साहके साथ धनोपार्जन कर हजारों उत्साहके साथ उस धनको लोकोपकारक कार्यमें व्यय कर दे।' वेदमें द्यूतादिके द्वारा अर्थार्जनकी निन्दा की गयी है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
(ऋग्० १०।३४।१३)

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।
(यजु० ४०।१)

मनुष्यको अर्थोपार्जन व्यापार तथा कृषि आदि उपायोंसे करना चाहिये न कि अविश्वसनीय द्यूतादि

गृहस्थ अपने ही परिश्रमसे उपार्जित द्रव्यका भोग और त्याग करे, दूसरोंके द्रव्यकी वाञ्छा नहीं करे, अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यसे केवल अपने परिवारका ही भरण-पोषण न करे, अपितु निराश्रित अन्य व्यक्तियोंकी सहायता भी अवश्य करे। वेदके मतमें वह व्यक्ति पापीकी श्रेणीमें ही गिना जाता है, जो केवल अपना ही भरण-पोषण करता है—

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।
(ऋग्० १०।१७।६)

संक्षेपमें वैदिक सदाचारका सार भी यही है कि हमें इस प्रकारका उद्योग करना चाहिये जिससे हमारे शरीर स्वस्थ रहें, बुद्धियाँ समुज्ज्वल रहें तथा हमारी आत्मा निर्मल रहे। परिवारके जनोंमें हमारा स्नेह रात-दिन बढ़े।

मानव-समाजमें कोई भी केवल जन्म लेनेमात्रसे ऊँचा और नीचा न समझा जाये, अपितु सभी मनुष्योंके साथ धर्मपूर्वक और प्रीतिपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। उच्चतर प्राणियोंका वध सर्वथा त्याज्य है और उसका प्राणी दण्डके या अपराधके भागी हैं। मनुष्योंको जीवनयात्राके लिये धनादिका उपार्जन न्यायानुकूल साधनोंसे करना चाहिये, पापपूर्ण साधनोंसे नहीं। यह संसार दुःखरूप नहीं है, अपितु अपने आत्मविकासका विशाल क्षेत्र है। इस प्रकार मानव शुभकर्मोंका आचरण एवं चराचरमें व्याप्त उस परमपिता परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ लोकयात्राको पूर्ण करे। इसीमें जीवनका साफल्य है। यही चरित्रकी वास्तविकता है।

वेदोंकी चरित्र-शिक्षाके सप्त सोपान

(लेखक—डॉ० श्रीसियाराम सक्सेना 'प्रवर')

व्यक्तिका समाजसापेक्ष सर्व-हितकारी आचरण उसका सच्चरित्र है। चरित्रको क्रम-क्रमसे उत्तर बनानेकी प्रक्रिया 'चरित्र-निर्माण' है। यह चरित्र-निर्माण मनुष्यकी धर्मशीलताको विश्व-हितानुग होनेकी अपेक्षा रखता है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' मन्त्रका एवं वेदके प्रादुर्भावका भी यह एक श्रेष्ठ उद्देश्य है। वेदोंमें शाश्वत सत्यका स्वरूप है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने उसे अपनी आलोकित बुद्धिमें ग्रहण किया था। ऋषिको 'कवि' भी कहा गया है। कवि वे द्रष्टा हैं, जो दिव्य सत्यका श्रवण करते हैं—'कवयः सत्यश्रुतः' (ऋग्वेद ५।५७।८)। जो सहज सुनायी देती है, साक्षात् अनुभूतिका विषय बनती है, वह है श्रुति। ऋषि, कवि, श्रुति और मन्त्रके इन अर्थोंसे स्पष्ट है कि ये सत्यके परम संगत हैं। इस सत्यको महाभारतमें धर्मका और आचरणका अर्थात् चारित्र्यका मूलाधार कहा गया है।* सत्य त्रिकालमें एकरस रहता है। निर्विकार और परिवर्तन-हीन शाश्वत तत्त्वका नाम सत्य है। इस दृष्टिसे सत्य परमात्माका नाम है। यह सत्य या परमात्मा कूटस्थ—अविनाशी रहते हुए अनेक रूपोंमें व्यक्त होता है—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।' जितने भी कुछ भी व्यक्त है, उसके मूलमें अव्यक्त 'परमात्म सत्य' या 'परमात्मा' ही है। इन्द्रादि विश्वकी संचालक महान् शक्तियाँ भी उसी एक अरूप परमात्मके रूप हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्-
त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

* न सत्यात् विद्यते परम्॥ (महाभारत, शान्तिपर्व १०९।४) सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ (वही १६२।५)

परमात्माको सत्, चित् और आनन्दमय कहा गया है। उनके सत्-स्वरूपकी अनुभूति हमें प्रतिष्ठा अर्थात् सत्स्थानके रूपमें होती है। श्रुतिमें प्रतिष्ठाको 'ब्रह्म' कहा है। चित्की अनुभूति ज्योतिके रूपमें होती है। ज्योतिके तीन स्वरूप होते हैं, नाम, रूप और कर्म। ये पदार्थोंका भेद-द्योतन करते हैं, वस्तुओंका पृथक्-पृथक् रूपमें परिचय कराते हैं; अतः ये प्रकाश (ज्योति) हैं। 'आनन्द'की अनुभूति यज्ञ-रूपमें होती है। यज्ञ अर्थात् विश्वहितका श्रेष्ठ कर्म। यज्ञके दो स्वरूप हैं—अन्न और विकास। श्रुतिमें अन्नको भी 'ब्रह्म' कहा है। अन्न विकासका मूलाधार है, अर्थात् वह उपचय-अपचयकी समन्वित क्रिया है। नाम, रूप और अन्न सत्यके प्रकट रूप हैं। श्रुतियोंमें कहा गया है—'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नाम-रूपे सत्यम्'। आशय यह कि ये तीनों (नाम-रूप-अन्न) सत्यसे अर्थात् अव्यय पुरुषसे आविर्भूत हुए हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

जगत्में प्रकट सत्यके इन स्वरूपोंकी—नाम, रूप और अन्नकी—उपासना करना, अर्थात् यज्ञके—सर्वहित-कारिणी क्रियाओंके—अनवरतरूपसे होनेमें इनके सहायक बननेकी प्रक्रियामें सहकारी होनेकी प्रेरणा प्राप्त करना वैदिक चारित्र्य-शिक्षाका मूल सूत्र है। तात्पर्य यह कि वेदके चारित्र्यविधानका मूलाधार (नींव) 'सत्य' है; शासन 'सत्य' है और आचरण भी 'सत्य' है। वेदोंकी चरित्र-शिक्षाका सर्वस्व भी यही 'सत्य' है। अन्य समस्त गुण सत्य-संजात और इसीके धारक होनेसे चारित्र्यके अङ्गीभूत हो जाते हैं।

इस सत्यके दो रूप हैं—निरपेक्ष (परम) सत्य और सापेक्ष सत्य। निरपेक्ष सत्य अपने-आपमें परिपूर्ण है, उसकी पुष्टिके लिये किसी अन्य तत्त्वकी विचारणाकी आवश्यकता नहीं। यही विधान और यही विवेक है। सापेक्ष सत्य जीवनकी अपेक्षामें व्यवहार्य बनता है, जीवनका सम्यक् धारण-पोषण उसका संरक्षक है। ये क्रमशः 'सत्य' और 'ऋत' कहलाते हैं। ये दोनों ही तपस्यासे उपलब्ध होते हैं।[1] सत्य और ऋत दो नेत्र हैं,[2] जो मनुष्यको देखने-पहचाननेकी शक्ति देते हैं; उसे विवेक-सम्पन्न करते हैं। सत्यकी प्राप्ति एक उपलब्धि है। सत्य श्रद्धासे प्राप्त होता है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते'[3]। श्रद्धा स्वयं एक तपस्या है। श्रद्धा दिव्य गुणोंमें सर्वोपरि है, समस्त उपलब्धियाँ श्रद्धासे ही होती हैं और दानादिक समस्त कर्मोंमें श्रद्धालु मनुष्यका सदा कल्याण एवं प्रिय होता है।[4] श्रद्धा जगत्की धारिका है। श्रद्धा-जैसे दिव्य गुणोंको तपसे प्राप्त करके ही जीव ऊपर (दिव्यलोकको) उठता है तथा इस लोककी भी समस्त बाधाओंको दूर कर लेता है।[5] श्रद्धासे प्राप्त सत्यसे विश्वका संधारण होता है। अतः कहा है—भूमि सत्यसे ही टिकी हुई है—'सत्येनोत्तभिता भूमिः।' (ऋ० १०। ८५। १, अथर्व १४। १। १०) व्यक्तिशः भी मनुष्यका परित्राण सत्य कथनसे ही होता है। इसी लिये कहा जाता है—'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।' (ऋ० १०। ३७। २) अतः सत्पुरुषको अपनी वाणी सत्यमयी करनी चाहिये—'वाचः सत्यमशीमहि।' (यजु० ३९। ४) इतना ही नहीं, अपने मनोरथों और संकल्पोंको सत्यनिष्ठ करना होगा। इसके ऐसे मंत्रकार जिनकी उनका सच्चाई प्रोक्त है—'सोऽविद् सत्या धारयः।' जीवनके प्रत्येक आचार-व्यवहारमें सत्यका अनुसरण होना चाहिये। यही 'ऋत'का मार्ग है। सत्य उच्च देवोंके समान ध्रुव तपस्

१-ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। (ऋ० १०। १९०। १) २-सत्ये च ऋते च चक्षुः। ३-श्रद्धया सत्यमाप्यते। ४-श्रद्धा भगस्य मूर्धनि। वचसा वेदयामसि। ५-[illegible] मासी। तस्मा सुधा दिवि गमन्।

पर बारंबार बल दिया गया है। गायत्रीमन्त्रमें भी ज्योति-(भर्ग-) के धारण करनेकी प्रार्थना है।

सत्य-ज्योतिसे युक्त होना ही आध्यात्मिक युद्धमें विजय-प्राप्ति है; क्योंकि सत्यसे ही यज्ञरूप धर्म पुष्ट होता है। अश्वमेधयज्ञका आध्यात्मिक भाव है—अश्व अर्थात् आवेगमयी प्राण-शक्ति और मेधका अर्थ है—कामोप-भोगोंकी अभिलाषा एवं ऐसे ही अन्य आवेगोंसे भरी प्राण-शक्तिको परमात्माके प्रति समर्पित कर देना। इस समर्पणसे 'प्राणमय' पुरुष स्वयं अश्वमेध अर्थात् ज्योतिर्मय द्रष्टा बन जाता है; क्योंकि यज्ञकी अग्निशक्ति प्राणिक स्तरपर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कराती है—

> यो मे इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
> दददृचा सनिं यते ददन् मेधामृतायते॥
> (ऋक्० ५। २७। ४)

'जो मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है, वह अश्वमेधयज्ञके इस ज्ञान-प्रदीप्त दाताके लिये प्रकाशपूर्ण स्तुति-वचनके द्वारा उसकी जीवन-यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि प्रदान करे और सत्यके अभिलाषीके लिये मेधाशक्ति प्रदान करे' (वेदरहस्य, उत्तर० १२०)।

श्रीअरविन्दके विचारसे जीवन एक अश्वके समान है। हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ सरपट दौड़ती हुई हमारे जीवनको दिव्यताके क्षेत्रमें आगे बढ़ाती हैं और ऊपर चढ़ाती हैं। सत्य-ज्योति धारण ही आर्यत्व है। 'आर्य' (या अर्य)का अर्थ है—यज्ञकर्ता। यज्ञके तीन प्रमुख अर्थ हैं—(१) श्रम करना या संघर्ष (प्रयत्न) करना, (२) आरोहण करना और (३) यात्रा करना। आर्य मानवीय निर्बलताओंको, अचेतनकी तिमिरपूर्ण भौतिक क्रियाओंको हटाकर उसके स्थानपर दिव्य कार्योंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये संघर्ष करता है, भरपूर प्रयत्न और परिश्रम करता है, फिर वह 'स्वः' की उच्चतम चोटियोंपर आरोहण करता है और असीम सत्तामें प्रवेशके लिये आध्यात्मिक यात्रा करता है। सभी सत्कर्म ईश्वरके प्रति एक हैं। यज्ञकृतिकी समस्त कर्म-प्रक्रिया इसीके द्वारा साध्य होती है। ईश्वरको समर्पित सत् कर्म ही यथार्थतः यज्ञ है। सतत यज्ञनिरत रहनेका स्वभाव बनाना चरित्र-विधानका तृतीय सोपान है। इस प्रकार दान या त्याग करनेसे अनन्तकी प्राप्ति होती है। इससे जीवन उन्नत होता है। इस कर्मके योगसे अनन्तता, अमरत्व और पारमार्थिक आनन्दकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिके बन्धनसे उद्धार होता है, मुक्ति होती है। यज्ञ एक सहज शाश्वत कर्म है। यह आत्माकी पवित्रताका, दिव्यताका प्रकाशन है, उद्बोधन है। वेद बतलाते हैं कि सतकी दिव्य क्रियाएँ ही शुद्ध सत्कर्म हैं। वैदिक कर्म-विधान 'अज्ञान' नहीं, आत्म-ज्ञानकी आधारशिला है। कर्मके दो रूप हैं। आत्म-प्रसादकी भावनासे किये जानेवाले कर्म 'यज्ञ' हैं, और आत्म-दर्शनके विचारसे किया हुआ आन्तरिक कर्म 'योग' है। यज्ञ आत्म-समर्पण या आत्म-बलिदान है, जो अपने भूत, वर्तमान और भविष्यमें अर्जित और अर्ज्य सर्वस्वको अमृतमय परमात्माको लक्ष्य कर तपोऽग्निमें हविरूपमें क्षिप्त करता है।

सर्वहितभावना वेदमें 'भद्रम्' शब्दद्वारा व्याख्यात हुई है। भद्रभावनाका आधार 'ऋत' है और ऋतसे ही इसका विकास भी होता है। कहा है—'भवा ह्यग्ने क्रतो-र्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ।' 'अग्ने! तू सुखमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेकका, विशाल सत्यका रथी होता है।' (ऋ० ४। १०। २)। इस मन्त्रमें 'क्रतु' और 'दक्ष' अर्थात् बल और ज्ञानको, अथवा संकल्प और विवेकको बृहत् सत्यकी पूर्णताको साधक कहा गया है। क्रतु संकल्प-शक्ति है और दक्ष विवेक शक्ति। सम्बन्धियोंमें इन दोनोंका योग रहता है। भद्र भावनाकी अभिव्यक्ति 'सौमनस्य'में होती है। परस्पर साथ रहने और एक-दूसरेके विचारोंका आदर करनेसे

† सायणादिके अनुसार यहाँ ५। २७। ४-६में यह यहीं भरतकुलमें उत्पन्न अश्वमेध नामका राजर्षि अभिप्रेत है; यथा—'अस्मै अश्वमेधाय राजर्षये मे मह्यं वेदीति''''''।

पतने हैं—'ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु'। (ऋ० १० । १२ । २) ऋतके धारणसे पाप नष्ट होते हैं, अतः सज्जन संसारके अनृतसे ऊपर उठकर सत्यतक पहुँचता है—'अहमनृतात् सत्यमुपैमि'। यह बोलचाल-व्यवहारमें सत्य-परायण रहता है, अनृतसे लिप्त नहीं होता—ऋतका यह मार्ग जीवनको सफल और सुगमतर बनाता है—'सुगा ऋतस्य पन्थाः।' इस प्रकार सत्य, ऋत, श्रद्धा और तपस्यासे मनुष्य पवित्र बनता है। ऋषिकी प्रार्थना है कि पवित्रकारी देव, मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और अमरत्वके लिये पवित्र करें।' वैदिक ऋषि भगवान्से प्रार्थना करते हैं—'हमें पवित्र बनायें, हमारे मन, वाणी, नेत्र, आयु सबमें पवित्रताका संचार हो।' हमारा भौतिक जीवन अनृत, असत् या मिथ्यात्वसे आवृत है। इस अनृतको हटाकर सत्यका संवरण करना है—'असतो मा सद् गमय।' सरस्वतीकी कृपासे सत्य-दर्शन, सत्संकल्प, सद्भाव और सत्क्रियाका प्रवाह चलता है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
......यज्ञं दधे सरस्वती। (ऋक्० १ । ३ । ११)

यही सच्चा जीवन है। इस सत्य-जीवनके लिये सचेत और सक्रिय रहना वैदिक चरित्र-निर्माणका प्रथम सोपान है। चारित्र्य-शिक्षा-साधिकाका सुमेरु है—परमात्मा-(सत्य-) का ज्ञान। सत्यका ज्ञान हो जानेपर सत्योपलब्धिकी कामना एवं सहज उपक्रम है। 'विद्' धातु जानने और प्राप्त करने दोनों अर्थोंमें है। परमात्माको ठीकसे जान लेना उसे पा लेना है। प्राप्ति भावात्मक होनेपर सान्निध्यस्पर्शी हो जाती है। अतः जब हमारा मन भक्तिभावसे आप्लावित होता है, तब हम परमात्माके सान्निध्यके आकाङ्क्षी होते हैं। सत्य या परमात्माके सान्निध्यमें रहना वैदिक चरित्र-शिक्षाका द्वितीय सोपान है। इससे हमारे अन्तःकरण और कर्म सब सत्यको समर्पित हो जाते हैं, उनकी सत्ता अपने लिये नहीं, परमेश्वरके लिये हो जाती है।

परमात्माके सान्निध्यमें पहुँचनेके लिये साधना करना आवश्यक है। यह साधना वैयक्तिक स्तर और सामाजिक स्तरपर—दो स्तरोंपर होती है। व्यक्तिगत साधनामें व्यक्ति सत्यकी ज्योतिको अपनेमें धारण करता है। ज्योतिर्मय परमात्माको 'अग्नि' नामसे जाना जाता है। वेद कहते हैं कि अग्निका घर सत्य है। अग्निको, प्रकाशको, ज्ञानको उपलब्ध करना और उसकी उपासना करना परमात्माके सान्निध्यमें रहना है (ऋ० १० । ७५ । ५)। यह चरित्रके उदात्तीकरणका प्रमुख साधन है। सत्यकी ज्योतिको धारण करनेपर मनुष्य 'आर्य' हो जाता है। यह आर्य-ज्योति वह आनन्दमय शिखर है, जो देवोंके साथ मनुष्योंकी सुखद सम्प्रीति मित्रता स्थापित करता है। सत्य-ज्योतिसे युक्त होना 'अमरता'की प्राप्ति है (ऋ० १० । ४३ । ४)।

ज्योति-धारणकी कामना ही 'धी' या सत्स्वरूपी 'सुमति' है। धी वह समझ है, जो प्रत्येक वस्तुका यथार्थ निर्धारित करती है और उस वस्तुको वैश्विक व्यवस्थामें उचित स्थानपर रखती है। धीके द्वारा हमारे विचारोंकी क्रिया निर्दिष्ट होती है। इससे सतका सत्य-चेतनाके साथ अबाध संसर्ग होता है। अतः चरित्रको उदात्त, उज्ज्वल और विश्व-श्रेय-साधक बनानेके लिये 'धी' का धारण अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि वेदोंमें सत्यदर्शिता या धीकी प्रार्थना

६-ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा...। ऋक्० ४ । २३ । ८

७-परमात्मा पुनातु मा ऋते... । ... ॥—अथर्व० ६ । १९ । २

८-देव सवितः पवित्रेण ... पुनीहि ... । ... पुनातु ... । ... । वाक् च ... । ... ॥

पर बारंबार बल दिया गया है। गायत्रीमन्त्रमें भी ज्योति- (भर्ग-) के धारण करनेकी प्रार्थना है।

सत्य-ज्योतिसे युक्त होना ही आध्यात्मिक युद्धमें विजय-प्राप्ति है; क्योंकि सत्यसे ही चतुष्पाद धर्म पुष्ट होता है। अश्वमेधयज्ञका आध्यात्मिक भाव है—अश्व अर्थात् आवेगमयी प्राण-शक्ति और मेधका अर्थ है—उपभोग-भोगोंकी अभिलाषा एवं ऐसे ही अन्य आवेगोंसे भरी प्राण-शक्तिको परमात्माके प्रति समर्पित कर देना। इस समर्पणसे 'प्राणमय' पुरुष स्वयं अश्वमेध अर्थात् ज्योतिर्मय द्रष्टा बन जाता है; क्योंकि यज्ञकी अग्निशक्ति प्राणिक स्तरपर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कराती है—

यो मे इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
दददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते ॥
(ऋक्० ५ । २७ । ४)

'जो मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है, वह अश्वमेधयज्ञके इस ज्ञान-प्रदीप्त दाताके लिये प्रकाशपूर्ण स्तुति-वचनके द्वारा उसकी जीवन-यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि प्रदान करे और सत्यके अभिलाषीके लिये मेधाशक्ति प्रदान करे' (वेदरहस्य, उत्तर० १२०)।

श्रीअरविन्दके विचारसे जीवन एक अश्वके समान है। हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ सरपट दौड़ती हुई हमारे जीवनको दिव्यताके क्षेत्रमें आगे बढ़ाती हैं और ऊपर चढ़ाती हैं। सत्य-ज्योति धारण ही आर्यत्व है। 'आर्य' (या अर्य)का अर्थ है—यज्ञकर्ता। यज्ञके तीन प्रमुख अर्थ हैं—(१) श्रम करना या संघर्ष (प्रयत्न) करना, (२) आरोहण करना और (३) यात्रा करना। आर्य मानवीय निर्बलताओंको, अवचेतनकी तिमिरपूर्ण भौतिक क्रियाओंको इसप्रकार उसके स्थानपर दिव्य कार्योंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये संघर्ष करता है, भरपूर प्रयत्न और परिश्रम करता है, फिर वह 'स्वः' की उच्चतम चोटियोंपर आरोहण करता है और असीम सत्तामें प्रवेशके लिये आध्यात्मिक यात्रा करता है। सभी सत्कर्म ईश्वरके प्रति यज्ञ हैं। यज्ञकृतिकी समस्त कर्म-प्रक्रिया इसीके द्वारा साध्य होती है। ईश्वरको समर्पित सत् कर्म ही यथार्थतः यज्ञ हैं। सतत यज्ञनिरत रहनेका स्वभाव बनाना चरित्र-विधानका तृतीय सोपान है। इस प्रकार दान या त्याग करनेसे अनन्तकी प्राप्ति होती है। इससे जीवन उन्नत होता है। इस कर्मके योगसे अनन्तता, अमरत्व और पारमात्मिक आनन्दकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिके बन्धनसे उद्धार होता है, मुक्ति होती है। यज्ञ एक सहज शाश्वत कर्म है। यह आत्माकी पवित्रताका, दिव्यताका प्रकाशन है, उद्बोधन है। वेद बतलाते हैं कि सत्की दिव्य क्रियाएँ ही शुद्ध सत्कर्म हैं। वैदिक कर्म-विधान 'अज्ञान' नहीं, आत्म-ज्ञानकी आधारशिला है। कर्मके दो रूप हैं। आत्म-प्रसादकी भावनासे किये जानेवाले कर्म 'यज्ञ' हैं, और आत्म-दर्शनके विचारसे किया हुआ आन्तरिक कर्म 'योग' है। यह आत्म-समर्पण या आत्म-बलिदान है, जो अपने भूत, वर्तमान और भविष्यमें अर्जित और अर्थ्य सर्वस्वको अमृतमय परमात्माके लक्ष्य पर तपोऽग्निमें हविरूपमें क्षिप्त करता है।

सर्वहितभावना वेदमें 'भद्रम्' शब्दद्वारा व्याख्यात हुई है। भद्रभावनाका आधार 'ऋत' है और ऋतसे ही इसका विकास भी होता है। कहा है—'अभवा अग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ।' 'अग्ने! तू शुभमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेकका, विशाल सत्यका रथी होता है।' (ऋ० ४ । १० । २)। इस मन्त्रमें 'क्रतु' और 'दक्ष' अर्थात् बल और ज्ञानको, अथवा संकल्प और विवेकको बृहत् सत्यकी पूर्णताका साधक कहा गया है। क्रतु संकल्प-शक्ति है और दक्ष विवेक शक्ति। सत्चारित्र्यमें इन दोनोंका योग रहता है। भद्र भावनाकी अभिव्यक्ति 'सौमनस्य'में होती है। परस्पर साथ रहने और एक-दूसरेके विचारोंका आदर करनेसे

† सायणादिके अनुसार यहाँ ५ । २७ । ४-६में यज्ञ नहीं भरतकुलमें उत्पन्न अश्वमेध नामका राजर्षि अभिप्रेत है; यथा—'अस्मे अश्वमेधाय राजर्षये मे मह्यं देहीति……।'

शान्ति[१४]के भावोंके द्वारा वेद अहिंसा एवं प्रेमका प्रसार करते हैं। इन भावोंसे युक्त होना वैदिक चारित्र्य-शिक्षाका पञ्चम सोपान है। सत्यके विपरीत असत्य है। सत्य प्रकाश-रूप है, असत्य तिमिररूप। अन्धकार अज्ञानका नाम है। अतः असत्य पाप-तापका आमन्त्रक है। सत्यसे सद्गुण जन्मते हैं, असत्यसे दुर्गुण और दुर्व्यसन। पूर्वाचार्योंका कथन है—'सद्गुण स्वास्थ्य है और दुर्व्यसन रोग।' किंतु यह ध्यान रहना चाहिये कि व्यसनोंके विरोध या वैपरीत्यका नाम सद्गुण नहीं है, प्रत्युत व्यसनोंको ओर प्रवृत्तिका न जाना सद्गुण है। सच्चारित्र्यके आधारभूत सद्गुण धनात्मक (स्वीकारात्मक) प्रवृत्तियाँ हैं, ऋणात्मक (नकारात्मक) नहीं।

वैदिक चरित्र-शिक्षाका षष्ठ सोपान है—हृदय, चित्त, मन, वाणी, नेत्र, आयु सबका निष्पाप होना। इनमेंसे किसीमें भी पापका प्रवेश न हो, पाप इनसे दूर हट जायँ और हम दुरितोंसे बचे रहें। ऋषि प्रार्थना करते हैं—'हे पवित्रताकारी देव! मुझे बुद्धि, भक्ति, जीवन और आपत्ति-निवारण-(आत्म-रक्षा-) के लिये पवित्र कीजिये'—

पवमान ! पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्ट तातये ॥ (अथर्व ६।१९।२)

हम पापी न बनें और ईश्वरके समक्ष निष्पाप हों।[१५] पवित्रतासे आयुकी वृद्धि होती है। दीर्घ-जीवनके लिये आयुको—अपने सम्पूर्ण आचरण और क्रिया-कलाप-को—पवित्र बनाओ।[१६] निष्पाप रहनेके लिये चारित्रिक दोषोंसे बचना आवश्यक है। दोष अनेक हैं, पर उनमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर ये छः मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त हिंसा, उग्र कटु वचन, ईर्ष्या-द्वेष, कर्म-हीनता, यश-हीनता, भय आदि बहुत-से दुर्गुण हैं, जिन्हें हटानेके लिये वेदका अनुशासन है।[१७] जीवनको सन्मार्गपर आरूढ़ रखनेके लिये वीरताका भाव भी आवश्यक है। हमारी ऐहिक-आमुष्मिक प्रगतिके बाधक अनेक तत्त्व हमें सत्पथसे विचलित करनेको तत्पर रहते हैं। ऐसी दशामें हमें भयभीत और उद्विग्न नहीं होना चाहिये। वेदका निर्देश है—'मा भेः। मा संविक्थाः' (यजु० १।२३)। द्युलोक और पृथिवी, तथा सूर्य और चन्द्रमा अपने कर्तव्य-पालनमें न तो डरते हैं, न किसीसे हिंसित और बाधित होते हैं, उसी प्रकार मेरे प्राणोंको निर्भय रहना चाहिये[१८]। शूर-वीर होना बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये भी आवश्यक है। शूरताके छः उपादान हैं—तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु (अनीतिपर क्रोध) और सहस (विरोधोंपर विजय पानेकी) सामर्थ्य एवं साहस। इन्हें धारण करना चाहिये। वैदिक प्रार्थना है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मे धेहि बलमसि बलं मे धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मे धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।
(यजु० १९।९)

१४—शं न सूर्य उरुचक्षा उदेतु, शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ॥ (ऋक्० ७।३५।८)

१५—अपैतु सर्वमत्तः पापम्, एनो मा निगाम्। आरे स्याम दुरितानि परासुव। परो पेहि मनस्पाप। अनागसो अदितये स्याम। ऋक् ५।८२।६। १६—आयुः पवत आयवे। १७—मा गृधः (लालच मत कर) ईश० उप०। मा रिषण्यत (हिंसा मत करो) सा० पू० ४।६।२ तथा उ० ११।२।५(१), वि मृधोनुदस्व (हिंसकको निकाल दो।) मा वयं रिषाम (हम किसीकी हिंसाके पात्र न बनें)। सा० उ० ७।३।७(१) दम्भयाताअनप्नसः (कर्महीन नष्ट होते हैं)। मा नो द्विक्षत कश्चन (हमसे कोई द्वेष न करे)। मा नो मर्ता अभिद्रुह (मनुष्य परस्पर द्वेष न करें)। उग्र वचो अपावधीः (कठोर वचन त्याग दो)। सा० पू० ४।१।३, अभ्यमिथो हृतवर्चांसि (यशहीन पुरुष तेजहीन होता है)। यद्वा मा बिभीति (यशस्वी! डरो मत) यजु० १।२३, १८—यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवामे प्राण मा बिभेः। यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥ (अथर्व० २।१५।१, ३।)

माना जा सकता है; क्योंकि ये सत्कर्म चित्तके शोधक हैं। गीता-(१८ । ५) में श्रीभगवान्‌का भी एतद्विषयक उपदेश है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपके कर्तव्य करते ही रहना चाहिये; ये मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

नित्य यज्ञ पञ्चविध हैं—ब्रह्म-यज्ञ (स्वाध्याय), देव-यज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (श्राद्ध-तर्पण), मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सत्कार) और भूत-यज्ञ (गौ आदिको ग्रास-दान)—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥
(याज्ञवल्क्य-स्मृति १ । ५ । १०२)

दान यथाशक्ति सभी कर सकते हैं। यदि धनी व्यक्ति प्रचुर धनके दानद्वारा मनःशान्ति प्राप्त कर सकते हैं तो साधारण व्यक्ति जलपान कराकर और मधुर वचनोंद्वारा वैसा काम ले सकते हैं। मनुका वचन है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसन, स्थान, जल और चौथी सुन्दर वाणी—ये चारों तो सज्जनोंके यहाँ किसी भी अतिथिके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं।

त्रिविध तपका निर्देश श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें विशदरूपेण कर दिया है (द्रष्टव्य अध्याय १७, श्लोक १४, १५, १६)। शमदमाद्यधिकरणमें भगवान् द्वैपायनने साधकको शान्ति, मनोनिग्रह, उपराम, सहनशीलता और एकाग्रताको बनाये रखनेका अभ्यास करनेकी सम्मति दी है—'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्' (३ । ४ । २७)। इसपर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए भाष्यकारने बृहदारण्यक उपनिषद्‌के 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (४ । ४ । २३)—इस वचनको उद्धृत किया है। विहितत्वाधिकरणमें व्यासजीने साधकको अपने आश्रमके कर्तव्योंको करते रहनेका विधान किया है—'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' (३ । ४ । ३२)। अग्निहोत्राद्यधिकरणमें अग्निहोत्र आदिक नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करते रहनेका आदेश है—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४ । १ । १६)।'

ये सत्कार्य ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। आचार्य रामानुजने लिखा है—'विद्यायाः कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम्।' (श्रीभाष्य)।

ब्रह्मसूत्रके अन्तमें साधनपादमें योगदर्शनके समान ही आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, निदिध्यासनके द्वारा परमात्मसाक्षात्कारकी विधि निर्दिष्ट है। इस प्रक्रियामें शुद्ध ब्रह्मचर्यका मूलस्थान है। इसके साथ अनवरत वेदान्तचिन्तनका भी निर्देश है। कहा गया है कि उत्थानसे शयनतक और साधनारम्भसे जीवनान्ततक इनका चिन्तन करते हुए कामादिके लिये लेशमात्रका अवसर नहीं देना चाहिये—

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक विकासके लिये, ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये, किंवा श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌के सान्निध्यकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक साधकको अपने आश्रम-धर्मका पालन, नित्य और नैमित्तिक यज्ञोंका अनुष्ठान, यथाशक्ति दान एवं त्रिविध तपका अभ्यास करते रहना चाहिये। ऐसे सभी गुण चरित्रमयी मालाकी मङ्गलमयी मणियाँ हैं।

चारित्र्यकी उदात्तता जीवनकी मङ्गलमयी चरितार्थतामें ही उपयोगिनी होती है। ब्रह्मसूत्रमें इसकी चर्चा इस रूपमें है।

अवान्तर भेद भी हैं, जिनका विवरण 'कल्याण'के 'सदाचार-अङ्क'के १८६वें पृष्ठपर प्रकाशित 'वैखानस-सूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार'लेखमें दिया गया है। इस प्रकार मानव-चरित्र-निर्माणमें वैखानसकल्पसूत्रके गृह्य, धर्म-विभागोंमें अत्यन्त आवश्यक नियमोंका उल्लेख किया गया है। चरित्रनिर्माताको उनसे लाभ उठाना चाहिये।

कल्पसूत्रोंमें अनेक देवता आराध्य बताये गये हैं। उनकी पूजा-आराधना अमूर्तरूपसे ही वर्णित है। उन देवताओंसे श्रीविष्णुको विशेषता दिखाकर विष्णुकी प्रतिमाराधना करनेका आदेश न केवल गृहस्थोंको, अपितु भिक्षु-(संन्यासी-) को भी स्पष्टतासे व्यवस्थित रूपमें दिया गया है। भगवान्‌की आराधनाके लिये आवश्यक अर्चक, आचार्य तथा भक्तोंके लक्षण वैखानस और आगममें वर्णित हैं, जो सभीके लिये उपादेय हैं। परमपद-प्राप्तिके लिये साधना करनेके विधानका विवरण भगवान् मरीचिमहर्षिकृत 'विमानार्चनकल्प' ग्रन्थके प्रश्नोपदेशपटलमें वर्णित है—'तस्माद्भगवन्मायया मोहितत्वाद् भगवन्तं समाश्रित्य भक्त्या नारायण-मुपासीत। तदुपासनात् सोऽपि भक्तवत्सलत्वाद् भक्तानुकम्पया स्वमायां विमोचयति। तत आत्मा सम्यक् ज्ञानं प्रविशति। पश्चादाश्रमधर्मयुक्तो भगवदाराधनं करोति। तदाराधनेन संसारार्णव-निमग्नो जीवात्मा परमात्मानं नारायणं पश्यति।' (पटल ८८)

जीव भगवान्‌की मायासे मोहित होनेके कारण भगवान्‌का आश्रय लेकर भक्तिसे नारायणकी उपासना करे। इस उपासनासे भगवान् अपनी मायासे उसका (भक्तका) सर्वथा विमोचन करते हैं और उसे ज्ञानकी प्राप्ति कराते हैं। उसके बाद आश्रमधर्मके अनुसार भगवदाराधना करनेसे जीव परमात्मा नारायणका दर्शन करता है। उसके बाद पुनरावृत्तिरहित परम पदको प्राप्त कर लेता है। वैखानसकल्पसूत्रके अनुसार इस आराधनाके चार अङ्ग होते हैं। ये हैं—जप, हुत, अर्चन तथा ध्यान। इनमें अर्चन अत्युत्तम कहा गया है—'तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधनं स्यात्।' (पटल ८९)

अपने घर या देवालयमें प्रतिमा आदिको वैदिक मार्गसे पूजा करे तो वह अर्चन है—'गृहे देवायतने वा वैदिकेन मार्गेण प्रतिमादिषु पूजयेत्तदर्चनम्' (पटल ८९)। उक्त आराधनाके 'ध्यान'-के अंशके विवरणके रूपमें 'अष्टाङ्गयोग'का निरूपण किया गया है। 'योग' शब्दका विवरण इस प्रकार दिया गया है—'जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति' (पटल ९०)।

जीवात्माका परमात्मासे संलग्न होना योग कहा गया है। योगाधिकारीको २० गुणोंसे युक्त होना चाहिये, जो आदर्श मानवमात्रके लिये उपादेय हैं। ये हैं—पारिभाषिक रूपमें यम तथा नियम। इनका विवरण इस प्रकार दिया गया है:—यम—'तेषु यमः अहिंसा सत्यम् अस्तेयं गृहस्थस्य स्वदारनिवृत्तिः अन्येषाम् सर्वमैथुनत्यागो दया आर्जवं क्षान्तिः धैर्यं मिताशनं शौचमिति यमगुणा दशधा भवन्ति।' (पटल ९०)

नियम—'नियमस्तु तपःसंतोषास्तिक्यं दानं विष्णुपूजा वेदार्थश्रवणं कुत्सितकर्मसु लज्जा, गुरूपदेशोऽभ्यस्तमन्त्राभ्यासो होम इति यमगुणा दशधा भवन्ति' (पटल ९०)।

इस प्रकार जीवकी परम पद-प्राप्तिकी साधनाके अङ्गके रूपमें मानवके चरित्र-निर्माणके लिये आवश्यक सभी अंशोंका निरूपण वैखानस भगवच्छास्त्रमें किया गया है, जिनमें यम-नियमोंका पालन अनिवार्यतः चरित्रगठनमें उपादेय है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये हमें वैखानस-कल्पसूत्रानुसार आचरण करना चाहिये।

चरित्रके समक्ष उत्तम चरित्रकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है, जो उत्तम चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद है।

सच्चरित्रका निर्माण मुख्यतः तीन साधनोंके अनुसरण करनेसे होता है, ऐसा विद्वानोंका मत है। ये तीन साधन हैं—सत्सङ्ग, स्वाध्याय और अभ्यास। उत्तम आचरणवाले महापुरुषों तथा साधु-संतोंका सत्सङ्ग करनेसे सुन्दर चरित्रका निर्माण होता है। सत्सङ्गसे दुर्गुणोंका नाश और सद्गुणोंका विकास होता है। रामचरितमानसमें सत्सङ्गकी महिमाका उद्घाटन अनेक स्थलोंपर हुआ है। एक स्थलपर कहा गया है—
'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई।'
अर्थात्—दुष्ट व्यक्ति भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुन्दर सोना बन जाता है।' इतना ही नहीं, रामचरितमानसमें सत्सङ्गकी उत्कृष्टता और कुसङ्गकी निकृष्टताका उद्घाटन संतोंके सद्गुणों और असंतोंके दुर्गुणोंके चित्रणके माध्यमसे भी किया गया है। इस चित्रणका उद्देश्य ही यह है कि लोग असंतोंके आचरणोंके प्रति घृणा कर उनका त्याग करें और संतोंके आचरणोंका अनुसरण कर अपने सुन्दर चरित्रका निर्माण करें। चरित्रनिर्माण एवं सत्सङ्गकी प्रेरणा प्राप्त करनेकी दृष्टिसे निम्नाङ्कित पङ्क्तियाँ, जो संतोंके लक्षणोंकी प्रतीक हैं, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, ग्राह्य एवं अनुकरणीय हैं—

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
(?)
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
बंध भाव मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।...
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
सम दम बिषम बीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

संत-महात्माओंने उत्तम ग्रन्थोंके अध्ययनको भी सत्सङ्गका ही एकरूप माना है। उनकी दृष्टिमें उत्तम ग्रन्थोंमें वर्णित महान् आदर्शोंका सुन्दर चरित्र एवं ऋषि-मुनियोंकी पवित्र वाणीका पठन सत्सङ्गके सदृश ही लाभदायक एवं कल्याणप्रद होता है। इस दृष्टिसे रामचरितमानस निस्संदेह एक अद्वितीय श्रेष्ठ ग्रंथ है, जिसमें श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान्, सीता आदि आदर्श-पात्रोंका परम पवित्र चरित्र वर्णित है तथा भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि आदि महर्षियोंकी पावन एवं पुनीत वाणी मुखरित है।

उत्तमचरित्र-सृजनके लिये सद्ग्रन्थोंका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। श्रीरामचरितमानस विश्वके सभी सद्ग्रन्थोंमें मूर्धन्य है—यदि ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी। यह सभी उत्तम एवं पवित्र गुणोंका आगार है। इसके अध्ययन मनन एवं चिंतनसे उत्तम चरित्रके लिये वाञ्छित सभी गुण उपलब्ध हो सकते हैं।

उत्तम चरित्र-निर्माणके लिये सद्गुण तो किसी भी अच्छी पुस्तकमें मिल सकते हैं, किंतु अपने अन्दर उत्तम गुणोंके विकासके लिये अभ्यास अपेक्षित है। अभ्याससे तात्पर्य है कि जो बातें हमने पढ़ी हैं, जिनका हमने मनन एवं चिंतन किया है, उनको हम प्रतिदिनके व्यवहारमें लायें। नित्य-निरन्तर व्यवहारमें लानेसे अभ्यासवश दुर्गुण दूर हो जायँगे और उनके स्थानपर सद्गुणोंकी स्थापना हो जायगी। अतएव श्रीरामचरितमानसके अध्येताको चाहिये कि वह मानसमें वर्णित सद्गुणोंका नित्य निरन्तर अभ्यास करे। निश्चित ही उसका चरित्र सुन्दर बन जायगा। मानसका पाठमात्र करनेसे कोई लाभ नहीं होगा, जबतक कि उसमें निहित सुन्दर संदेशोंको जीवनमें नहीं ढाला जायगा।

उत्तम चरित्रका सृजन कोई साधारण कार्य नहीं है। यह मानव-जीवनकी सर्वोच्च साधना है, कठोर तपस्या है, अग्नि-परीक्षा है। पूर्वोक्त तीन साधनोंके अतिरिक्त सुन्दर चरित्र बनानेके लिये कतिपय अन्य बातें भी आवश्यक होती हैं, जिनमें सत्यका अनुसरण करना प्रमुख है। श्रीरामचरितमानसके नायक श्रीराम सत्यका अनुसरण करनेके कारण ही आदर्श एवं मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये।

सत्यका पालन करनेमें व्यक्तिको घोर कष्टोंका सामना करना पड़ता है; यहाँतक कि कभी-कभी प्राणोंकी बाजीतक लगा देनी पड़ती है। मानसमें महाराज दशरथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। सत्यका पालन करनेके लिये भयकी भावनापर नियन्त्रण आवश्यक होता है। भयके कारण हम सत्य नहीं कह सकते और जब सत्य नहीं कह सकते तो चरित्रका विकास भी नहीं हो सकता। भयके कारण ऊँचे आदर्श और स्वस्थ भावनाएँ नहीं पनप सकतीं। भयसे आत्मबल दुर्बल हो जाता है जिससे व्यक्ति जो कुछ सुधार करनेमें लगना चाहता है उसे नहीं कर पाता। इस भावनापर नियन्त्रण पानेकी प्रेरणा हम श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान् और सीताके चरित्रोंसे प्राप्त कर सकते हैं।

चरित्रनिर्माणके लिये वचन और कर्मकी एकरूपता भी आवश्यक है। इसकी प्रेरणा मानसके नायक श्रीरामसे लेनी चाहिये। मानसकी निम्न पङ्क्तियोंमें वचन और कर्मकी एकरूपता द्रष्टव्य है—

> सुनि सुग्रीव मैं मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
> ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

और वचनका पालन करनेके लिये—

> बहु छल बल सुग्रीव करि हियँ हारा भय मानि।
> मारा बाली राम तब हृदय माझ सर तानि॥

चरित्रकी उदात्ततामें वचन-पालन एक महान् गुण है। जो व्यक्ति अपने वचनका पालन नहीं करता वह चरित्रशील नहीं बन सकता। वचन और कर्ममें एक रूपता चाहिये।

स्पष्ट है कि श्रीरामने सुग्रीवसे बालीको एक ही बाणसे मारनेके लिये कहा था और उसे एक ही बाणसे मार दिया। इतना ही नहीं, सुग्रीवसे मित्रता करते समय उसे जो 'वचन' दिया था……'सब बिधि घटब काज मैं तोरें' उसे भी पूरा किया और आजीवन मित्रताका निर्वाह किया। इसीप्रकार श्रीरामकी कथनी और करनीमें अन्यत्र भी एक-रूपता पायी जाती है। लक्ष्मणके वचन और कर्ममें भी एकरूपता मिलती है, जो चरित्र-निर्माणको दृष्टिसे प्रेरक एवं ग्राह्य है। लक्ष्मणद्वारा मेघनादका वध करनेका प्रण करना और उसे मार डालना इसका प्रमाण है।

रामचरितमानसमें नारी पात्रोंमें भगवती सीताका चरित्र महिलामात्रके लिये सर्वोत्तम आदर्श एवं अनुकरणीय है। उनका चरित्र असाधारण पातिव्रत, त्याग, शील, धर्म-परायणता, विनम्रता, निर्भीकता, सेवा, संयम, साहस आदि दिव्यगुणोंका ज्योति-पुञ्ज है। मानसके अन्य नारी पात्रोंमें जिनका चरित्र अनुकरणीय है उनमें देवी कौसल्या, सुमित्रा, उर्मिला, माण्डवी और सती शिरोमणि अनसूयाके नाम उल्लेखनीय हैं। यदि आज की पाश्चात्य सभ्यतामें पली महिलाएँ भगवती सीता और सती साध्वी अनसूयाकी भाँति मनसा, वाचा, कर्मणा पातिव्रत धर्मका पालन करना ही अपना कर्तव्य मानें तो समाजमें, देशमें 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' गूँजने लगे।

रामचरितमानसमें वैसे तो स्थल-स्थलपर उत्तम चरित्र-सृजनहेतु संकेत एवं संदेश मिलते हैं, किंतु लङ्काकाण्डमें धर्मरथके मिस मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने विभीषणको विजय प्राप्तिका जो उपाय बताया है, वह सर्वोत्तम चरित्रकी सृष्टि एवं मानवजीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। यह है धर्मरथका स्वरूप—

> सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
> बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
> ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
> दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
> अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
> कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
> सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
>
> महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
> जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

अर्थात्—शूरता और धीरता जिस रथके चक्के (पहिये) हैं, सत्य और शील दृढ़ पताका हैं, बल, विवेक, दम और परहित जिनके घोड़े हैं, जो क्षमा, कृपा और समताकी रस्सियोंसे बँधे हैं, ईश-भजन जिनका सारथि है, वैराग्यरूपी ढाल और संतोषरूपी कृपाण जिसके पास है, जो दानरूपी फरसा, बुद्धिरूपी शक्ति और विज्ञानरूपी धनुषसे युक्त है, अमल और अचल मन जिसका कवच है, संयम और नियमरूपी बाण जिसके पास है, उसके लिये कोई भी शत्रु जीतनेको शेष नहीं रहता। वह अपराजेय और सर्वजयी होता है।

मानवमें मानवताका संचार करनेके लिये कैसा सुन्दर व्यक्त-संदेश रामचरितमानसमें तुलसीने प्रथित किया है। यह दिव्य संदेश मानवको सच्चा संत बनानेमें समर्थ है। यदि मनुष्यमें ये सभी गुण समाहित हो जायँ तो निश्चित ही उसका चरित्र सर्वोत्कृष्ट और आदर्श बन जायेगा। आज हमें ऐसे ही चरित्रवान् लोगोंकी आवश्यकता है। ऐसे ही लोग हमारे समाज और राष्ट्रमें व्याप्त बुराइयोंको दूरकर उन्हें समृद्ध एवं शक्तिशाली बना सकेंगे।

श्रीरामचरितमानसका यदि सच्चे मनसे और सच्ची लगनसे चिंतन, मनन और अनुशीलन किया जाय तो हमारे देश-वासियोंमें मानवता, राष्ट्रियता एवं विश्व-बंधुताके लिये वाञ्छित सभी नैतिक गुणोंका प्रचार-प्रसार हो जायँगे। चरित्रनिर्माणके क्षेत्रमें तुलसीकी यह अमर कृति जो योग दे सकती है, वह विश्वकी कोई अन्य कृति नहीं। इसका योगदान शाश्वत एवं चिरंतन है।

चरित्रकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीब्रह्मानन्दजी मिश्र)

चरित्रका अर्थ होता है—स्वभाव, व्यवहार, आचरण अथवा जीवनका वह कार्य जिससे मानवकी योग्यता, मानवता, कर्तव्यपरायणता आदिका द्योतन होता है। इसी अर्थमें चरित[1], चारित्र[2], चारित्र्य[3] आदि शब्दोंका भी प्रयोग होता है। अंग्रेजी भाषाके बिहेवियर, कंडक्ट, कैरेक्टर, आदि शब्दोंसे भी इसी अर्थका बोध होता है।

औणादिक गत्यर्थक 'चर्'[5] धातुसे करणमें 'इत्र'[6] प्रत्यय करनेपर 'चरित्र' शब्द निष्पन्न होता है। अतः चरित्र शब्दके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके साथ व्यावहारिक अर्थका पूर्ण सामञ्जस्य है।

विश्वका इतिहास साक्षी है कि चारित्रिक सद्गुण होनेपर ही कोई व्यक्ति महापुरुष होता है। ऋषि-मुनि, शिष्ट, आप्त, साधु-संत-महात्माके धर्मशास्त्रानुकूल सदाचरण ही सच्चरित्र हैं और ऐसे सच्चरित्रवाले पुरुष भी सच्चरित्र (—सत् चरित्रं यस्य असौ सच्चरित्रः) कहलाते हैं। उनकी सच्चरित्रताके लिये मन, वचन और कर्म—इन तीनोंकी पवित्रता और एकरूपता अपेक्षित है।

१—अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरितं कुलयोषिताम्। (कथासरित्सागर—१९९)
विविधमिदं चरितमसेदम् (गीतगोविन्द)
२—न कुलमभिजनमथ चरितं हि महात्मनां भोक्तुम्। (हर्षचरित)
उदारचरितानां हि वसुधैव कुटुम्बकम्। (हितोपदेश १। ७०) उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।
३—अन्नतं नाभिभाषामि चारित्रभ्रंशकारणम्। (मृच्छकटिक)
४—चारित्र्यविहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति। (वही) ५—चर् गतौ भक्षणेऽपि। (पा० धा० १। २। ८४)
६—अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः। (पा० अष्टा० १। २। ८४)

वर भल वास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ विधाता ॥

आज हमारा 'चरित्र' इसलिये भी मलिन हो रहा है कि प्रत्येक भारतीय मनुष्य चाहे किसी अवस्थाके क्यों न हों, अपने देशकी वेश-भूषा-संस्कृति आदिका परित्याग कर विदेशी फैशनपरस्त होते जा रहे हैं । इससे हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्रोंका चरित्र इतना भ्रष्ट होता जा रहा है कि हमारे सम्पूर्ण देशका राष्ट्रिय चरित्र ही भ्रष्ट होने लग गया है ।

जिस देशकी महिलाओंका चरित्र असत् हो जाता है, उस देशके नागरिकोंके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक चरित्र भ्रष्ट हो जाते हैं । वहाँ चरित्रनाशकी समस्या खड़ी हो जाती है तथा प्राचीन आदर्श गौरव नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । अतः चरित्र-निर्माणके लिये ऐसी 'आचार-चरित्रसंहिता' बनानी होगी जिससे भारत पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक प्राचीन आदर्शोंका गौरव पुनः प्राप्तकर सके ।

आज अधिकार अपने असत् आचरणोंद्वारा समाजको घृणित मार्गका अनुकरण करानेमें कारण बनता जा रहा है—भले ही यह आनुषंगिक हो । हमारी संस्कृति उच्च आदर्श, विचार, सदाचार, नम्रता, सहन- शीलता, शिष्टाचार, अनुशासन, एवं कर्तव्य-पालनकी निष्ठाका चारित्रिक प्रकाशस्तम्भ है । इस प्रकाश-स्तम्भके प्रकाशमें आनेपर मानव देवतुल्य हो जाता है ।

आध्यात्मिक भगवत्-चिन्तन एवं उपासना सच्चरित्र निर्माणके आदर्श कर्तव्य हैं । परम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव, महर्षि दधीचि अपने चरित्र-बलसे सर्वत्र समर्थ हुए । पर देवराज इन्द्रको अपनी कुचालोंके कारण प्रशंसा नहीं मिली । चरित्रबलकी क्षमता भी प्राप्त नहीं हो सकती है । किंतु बिना भक्ति हमारे अनुपम अनुकरणीय आदर्शोंसे भरा गौरव आज नष्ट हो रहा है एवं हमारी इस प्रकारकी सभी पारिवारिक, सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक गौरवगाथाएँ नष्ट होती जा रही हैं । हम क्या थे ! क्या हो गये !! एवं अब किस महापतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं !!!

प्रायः देखा गया है कि संयुक्त परिवारमें बड़े भाईके न रहनेपर उसकी संतानसे उसके चाचा-चाचीका व्यवहार असमुचित होता है । इस प्रकारके व्यवहारसे हमारे देशमें जो समाजको शिक्षा मिलती है, उसके परिणामसे परिवारके व्यवहार इतने छल, कपट, विश्वासघातोंसे परिपूर्ण एवं भयावह होते जा रहे हैं कि उस परिवारके होनहार बालकका जीवन नष्ट हो जाता है ।

अतः परिवारके मुखियाको सर्वस्वत्यागी मुखके समान होना चाहिये जो खानेको स्वयं खाता दीखता है, पर रस-संचारादिद्वारा हाथ, पाँव, नाक, कान, सिर आदि सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका पोषण करता है । गोस्वामीजी ने भी कहा है—

> मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक ।
> पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक ॥

हमें अपने प्राचीन पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं संस्कृतिके गौरवमय महत्त्वका जो अभिमान रहा, वह सब आजके चरित्र-सम्बन्धी भ्रष्टाचारोंके कारण नष्ट हो गया है । हम महापतनकी चरम सीमाकी ओर जा चुके हैं । यदि हम अपनी प्राचीन संस्कृतिके गौरवमय महत्त्वके अभिमानको फिरसे प्राप्त करना चाहें तो हमें अपने चरित्र-निर्माणकी व्यवस्थाओंको सुधारना चाहिये, अन्यथा हमारा प्राचीन गौरव नष्ट हो जायगा ।

———

चरित्रके महान् उपदेशक—महर्षि व्यास

सुपूजित … शक्ति ऐसे कहीं न और हैं,
व्यासदेव [illegible] ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्

(लेखक—आचार्य श्रीतारिणीशजी झा)

इस शीर्षकका पूरा श्लोक इस प्रकार है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा० ५ । ३६ । ३०)

'चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, धन तो आता-जाता रहता है। धनके नष्ट होनेपर भी सदाचारी मनुष्यका नाश नहीं होता, किंतु चरित्रके नष्ट होनेसे मनुष्यका पूरा विनाश ही समझना चाहिये।' उक्त श्लोकका ही भाव लेकर अंग्रेजीमें रचा गया एक वाक्य बहुत ही तथ्यपूर्ण एवं सबके लिये परमोपादेय है जिसका आशय है—'जब धन नष्ट हो गया तो समझिये कि कुछ नष्ट नहीं हुआ, जब स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो समझिये कि कुछ नष्ट हो गया है और जब चरित्र नष्ट हो गया तो समझिये कि सब कुछ नष्ट हो गया।' आज अपने देशमें क्या, संसारमें ही चरित्रका महान् पतन हो गया है। इसीसे छल-छद्म, चोरी-बेईमानी, घूसखोरी, अनाचार, व्यभिचार, हत्या, दुःख-दारिद्र्य आदि सभी संकटोंसे मानव-समाज ग्रस्त है। अपने ही देशको लीजिये, जबतक यहाँ चरित्रका प्राबल्य था, तबतक दही, दूध, घी आदिकी अतिशय अधिकताके कारण इन्हें कोई पूछता न था। आज ये ही वस्तुएँ मानव-समाजके लिये दुर्लभ होती जा रही हैं। अपने यहाँ चारित्रिक शिक्षाका डिण्डिमघोष इन शब्दोंमें किया गया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥
(हितोपदेश १ । १४)

'दूसरेकी स्त्रीको माताके समान देखो, दूसरेके धनको मिट्टीके ढेलेके समान समझो और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान मानो। जो ऐसा देखता है, वह (वास्तविक) पण्डित है।'

आज यदि एकमात्र उक्त श्लोककी शिक्षाको मानव-समाज अपना ले तो धरतीपर स्वर्ग उतर आये। पहले अपने देशमें अधिकतर लोग उक्त शिक्षाका अनुसरण करते थे। इसके अनेक प्रमाण शास्त्र-पुराणोंमें मिलते हैं। शंखलिखित नामकी तीन स्मृतियाँ मिलती हैं। इनके प्रणेताके विषयमें कहा जाता है कि शंख और लिखित दोनों सहोदर भाई अलग-अलग रहने लगे थे। एक बार लिखित अपने बड़े भाई शंखसे मिलनेके लिये उनके आश्रमपर गये। उस समय शंख वहाँ उपस्थित नहीं थे। उनके आश्रममें एक आमका पेड़ था, जिससे एक पका आम नीचे गिरा हुआ था। उस फलको लिखितने उठाकर अपने पास रख लिया। कुछ देर बाद शंख भी आ गये। उन्होंने लिखितसे पूछा—'यह आम तुम्हें कहाँ मिला?' लिखितने बताया—'यह तो आपके ही वृक्षसे गिरा हुआ था, मैंने उठा लिया।' इसपर शंख बोले—'तब तो तुमने चोरी की। किसी वस्तुको उसके स्वामीकी अनुमतिके बिना उठा लेना चोरी है। इसका प्रायश्चित्त करो।' उन दिनों चोरीका दण्ड था, हाथ काट लेना। किंतु दण्ड उस देशका शासक ही दे सकता था। अतएव लिखितको राजा सुद्युम्नके पास जाना पड़ा। वहाँसे हाथ कटवाकर वे भाईके पास लौट आये। भाईने उनसे धवला नदीमें स्नान कराकर शेष प्रायश्चित्त-हेतु पितरोंका तर्पण करनेके लिये कहा। उन्होंने कहा—'अब मैं किस हाथसे तर्पण करूँ!' भाईके तपोबल तथा धवलाकी कृपासे उन्हें नवीन हाथ प्राप्त हुए और उन्होंने तर्पण किया। इस घटनासे नदीका नाम 'बाहुदा' हुआ।* यह राप्तीकी सहायक धवला नामसे अब भी प्रसिद्ध है (महाभा० १२ । २३)।

* बाहुदा राप्तीके ऊपरी भागमें एक नदामक नदी है। यह गोरखपुर शहरके पश्चिम-दक्षिणकी ओरसे बहती हुई सरयू नदीमें बरहजके पास मिल गयी है।

इसी तरह अर्जुन जब इन्द्रसे मिलनेके लिये स्वर्ग गये थे, तब वहाँ स्वर्गकी परम सुन्दरी वेश्या उर्वशी उनपर कामासक्त होकर एकान्तमें उनके पास गयी और उसने अपनी कामेच्छा प्रकट की। किंतु साधुचरित्र एवं दृढ़संयमी अर्जुनने उसे 'माँ' कहकर लौटा दिया। इसपर उर्वशीने उन्हें शाप दे दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया, पर अपने चरित्रको नहीं बिगड़ने दिया। चरित्र-निर्माणका यह एक आदर्श उदाहरण है।

वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थोंमें उक्त प्रकारके चारित्रिक निदर्शन भरे पड़े हैं। किंतु उन्हीं महापुरुषोंके वंशज हम भारतीय आयेदिन चारित्रिक पतनके गर्तमें गिरते जा रहे हैं। यह बहुत ही दुःखद एवं चिन्तनीय बात है। अब भी समय है, यदि हम निम्नलिखित शास्त्राज्ञाके पालनमें दत्तचित्त हो जायँ तो हमारा कल्याण सुनिश्चित है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिव॥
(शार्ङ्गधरपद्धति १८। १)

'मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रको टटोलना चाहिये कि क्या हमने आज पशुओंके समान आचरण किया या सत्पुरुषोंके समान? हमें क्या-क्या करना चाहिये?'

मनुष्य और पशुमें आहार, निद्रा, भय, मैथुनमें सब समान हैं, मनुष्यमें केवल ज्ञान, विवेक एवं चरित्रकी विशेषता है। 'सर्वान् अविशेषेण पश्यति इति पशुः' अर्थात् जो माँ, बहन, स्त्री आदि सबको एक ही दृष्टिसे देखे, वह पशु है। मनुष्य पशुसे भिन्न है; क्योंकि मनुष्यमें विवेक रहता है। यह विवेककी दृष्टिसे माँ, बहन, स्त्री आदिको यथायोग्य देखता है। यह विवेक जिस मनुष्यमें जितनी अधिक मात्रामें रहेगा, वह उतना ही उच्च मानव कहलायेगा। इसलिये मानवको प्रतिदिन अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेचन करना चाहिये। उत्तम आचरण कर्तव्य है और दूषित आचरण अकर्तव्य है। कर्तव्य कर्मपर दृढ़ रहना सच्चरित्रता है और गर्हित आचरण करना दुश्चरित्रता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे सुचरित्रताको अपनाना चाहिये और दुश्चरित्रताको त्यागना चाहिये। सच्चरित्र बनानेकी यही प्रक्रिया है।

चरित्र-निर्माणकी समस्या

(लेखक—प्रो० रामजी उपाध्याय एम्० ए०, डी० लिट्०)

सम्प्रति यद्यपि सारे संसारमें चारित्रिक मान्यताएँ शिथिल होती जा रही हैं, तथापि भारतमें चारित्रिक ह्रास विशेष खटकता है। कारण, भारत वह देश है, जिसके चारित्रिक उत्तरदायित्वका उल्लेख मनुने इन शब्दोंमें किया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

'भारतसे अखिल विश्वको चारित्रिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।' इसीसे कल्पना कर सकते हैं कि भारतीय चरित्र कितना ऊँचा था। स्वाभाविक है कि भारतका चारित्रिक पतन सारे विश्वके विचारकोंको चिन्तानिमग्न कर देता है। जिस भारतसे विश्वको अपने चारित्रिक अभ्युत्थानकी आशा थी, वह स्वयं अपने निजी चारित्रिक प्रकाशको खोता जा रहा है। हमें विचार करना है कि ऐसा हो क्यों रहा है? क्या चारित्रिक अंधताके प्रवाहको रोका जा सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर भारतीय संस्कृतिकी परम्परागत प्रवृत्तियोंकी कतिपय विशेषताओंको समक्ष रखते हुए प्रस्तुत करना समीचीन होगा। भारत सनातनधर्मका प्रतिष्ठापक देश है। सनातनधर्मसे तात्पर्य है—भारतीय जीवनकी अविरत

मान्यताओंसे, जो अपरिहार्य हैं और जिन्हें बदलने या जनजीवनसे पृथक् करनेका प्रश्न नहीं उठता। ऐसी सनातन मान्यताओंका प्रथम उत्स वैदिक साहित्य है। वेदोंमें जो कुछ कहा गया है, वह सत्य है। उसके विरुद्ध यदि कुछ सत्य प्रतीत होता है तो वह सत्य नहीं है, मिथ्याभास है। वेदोंमें प्रतिष्ठित सत्यको सूत्र और स्मृति साहित्यमें तत्कालीन संस्कृत भाषामें स्पष्ट किया गया है। प्राचीन कालसे लेकर प्रायः पचास वर्ष पूर्वतक सामान्यतया सभी विद्यार्थियोंके लिये यह आवश्यक था कि वे वेद, शास्त्र और स्मृतिको केवल कण्ठाग्र ही न करें, अपितु उनमें प्रतिपादित चरित्रको आत्मसात् करें। राजासे लेकर रङ्कतकके सामने यही आर्य जीवन-पद्धति थी कि ऋषियोंने पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें जो जीवन-विधि बतायी है, उसे समग्रतः अपनानेका प्रयास करना चाहिये। तदनुसार चारित्रिक स्तर बना हुआ था।

ऋषि वेदोंके द्रष्टा थे। उन्होंने देवताओंके आदर्श चरित्रको मानवताके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिये पुराणो आदिका प्रणयन किया। ऋषियोंका व्यक्तित्व अतिशय उदात्त और उज्ज्वल था। वे तपःपरायण थे। उनके द्वारा साक्षात्कृत् वेदोंमें चरित्रनिर्माणात्मक तत्त्व भरे पड़े हैं; यथा—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० । ४। ३३। ११)

'परिश्रमीको छोड़कर देवता किसी अन्यकी सहायता नहीं करते।

'सत्यं ततान सूर्यः।' (ऋग्वेद। १। १०५। १२)
'सूर्यने सत्यको फैलाया है।'

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवः रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता। (ऋ० । १। ९०। ७)

'हमारी रात्रि और उषाएँ मधुर हों, पृथ्वीलोक मधुमान् हो, पिताके तुल्य रक्षक आकाश मधुर हो।'

माता पृथ्वी महीयम्। (ऋ० १। १६४। ३३)
'यह बड़ी पृथिवी हमारी माता है।'

विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः। (ऋ० । २। २४। १६) 'यह सब मङ्गली है, देवता उसकी रक्षा करते हैं।' मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परिष्ठात्। (ऋ० ३। १५६) 'मानवकी दुर्मति हमें न घेरे।'

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु। (ऋ० ५। २। ६) 'निन्दक निन्द्य हो जाते हैं।'

भक्ति रत्नमनागसम्। (ऋ० । ८। ६७। ७) 'निष्पापको रत्न मिलकर ही रहता है।'

सत्येनोत्तभिता भूमिः। (ऋ० । १०। ८५। १) 'सत्यसे भूमि प्रतिष्ठित है।'

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋ० । १०। ११७। ६) अन्न (एवं) 'अनुदारका अन्न पाना व्यर्थ है, जो अकेले खाता है, वह पापमय है।'

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥ (ऋ० । १०। १९१। २) 'साथ चलो, साथ बोलो। तुम्हारे मन साथ विचार करें।'

इन चरित्र-निर्माणात्मक तत्त्वोंके उत्स ऋग्वेदादिमें नित्य-स्नात भारत शाश्वत रूपसे सारे संसारको चारित्रिकप्रकाश-विस्फुरित करनेमें समर्थ था। चरित्र-निर्माण करनेवाले परवर्ती युगमें ऋषियोंकी परम्परामें महामानव हुए हैं। इनमें राम, कृष्ण बुद्ध और महावीर मुख्य हैं। उन्होंने आजीवन जनता-जनार्दनके बीच अनवरुद्ध गतिसे भ्रमण करते हुए उन्हें चारित्रिक सत्पथपर अग्रसर किया। उनकी वाणी महिमशालिनी थी। बुद्धने धम्मपदमें कहा है—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनंतनो॥

'वैर वैरसे शान्त नहीं होता, वह प्रेमसे शान्त होता है। यह सनातनधर्म है।'

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनोव अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च॥

'दूसरोंकी बुराइयोंको मत देखो, उनके किये और न किये का विचार न करो। अपने ही किये और न किये को सोचो।'

न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे॥

'पापीको मित्र न बनाओ और न नीच पुरुषोंको। कल्याणप्रद मित्रों और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करो।'

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

'सभी दण्डसे डरते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अपने समान समझकर न किसीको मारे न मरवाये।'

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परम दुक्करं॥

'बुरे कर्म सरलतासे किये जा सकते हैं, जो अपनेको वस्तुतः हानि पहुँचाते हैं। जो वास्तवमें हितकर और अच्छा है, वह परम दुष्कर है।' इन्हीं गौतमके पथ-प्रदर्शनसे प्रभावित सम्राट् अशोकने सारी प्रजाको सच्चरित्र बनानेके उद्देश्यसे शिला-लेख लिखवाये, जिनका सारांश है—'छोटे लोग भी उच्च धर्मसे विपुल स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। माता-पिता तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। प्राणियोंके प्रति गौरव-प्रदर्शन करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। विद्यार्थी आचार्यकी सेवा करे। अपनी जातिके लोगोंसे सद्-व्यवहार करना चाहिये। अल्प व्यय करना तथा अल्प संग्रह करना समीचीन है। सभी धार्मिक सम्प्रदायोंके अनुयायी परस्पर सहानुभूतिका संवर्धन करें।' इस प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदायमें तीर्थंकरों, गणधरों और अर्हतोंने चरित्र-निर्माणकी दिशामें अनवरत प्रयास किया और अपने व्यक्तिगत जीवनसे समाजके समक्ष आदर्श जीवन-पद्धति प्रस्तुत की। प्राचीन कालसे लेकर प्रायः बीसवीं शतीके मध्ययुगतक काव्यों-द्वारा वैदिक साहित्यके आदर्शोंको पल्लवित किया गया और उसके द्वारा 'रामादिवत् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्' इस उद्देश्यको पूरा किया गया। जैसा मम्मटने लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, भास, कालिदास, भारवि, भवभूति आदि संस्कृतके कवियोंने और कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, केशवदास, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त आदि हिन्दीके कवियोंने काव्यके सनातन उद्देश्यको दृष्टिमें रखा। इस युगमें भारतकी अन्य आधुनिक भाषाओंमें भी मानवमात्रका समुन्नयन करनेवाले कवियोंका अभाव नहीं रहा है। ज्ञानेश्वर, विद्यापति और रवीन्द्रनाथकी रचनाएँ इस दृष्टिसे महनीय हैं। भारतीय समाजके चारित्रिक अभ्युत्थानकी दिशामें इनका अपरिमेय श्रेय रहा है। चाहे भारतके किसी भागमें हिन्दू राजा हों या मुसल्मान या विदेशी, उन्होंने भारतको सुसंस्कृत भारत बनाये रखनेका सनातन संकल्प अपने हृदयमें सँजोये रखा और अपनी वाणीकी पावनतासे समाजको पावन प्रवृत्ति प्रदान की।

साहित्यके साथ-साथ आचार्योंकी परम्परा भी चारित्रिक संरक्षणकी दिशामें विशेष उल्लेखनीय रही है। यह परम्परा बीसवीं शतीके मध्य भागतक अपनी अनुपम प्रभासे भारतको समुज्ज्वल करती रही है। इनमें भी सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक आचार्य शंकर थे, जिन्होंने दिग्दिगन्तमें अद्वैतके प्रचारमें भारतीय चरित्रको समुज्ज्वल किया। शंकरकी परम्परा उनके विश्वविख्यात मठोंमें भारतके विभिन्न भागोंमें आज भी चल रही है। इन्होंने

पुरी, द्वारका तथा बदरिकाश्रममें आज भी चार शंकराचार्य प्रतिष्ठित हैं। परवर्ती युगमें अन्य आचार्योंने भी समय-समयपर चारित्रिक आदर्शोंको समुन्नत करते हुए समाजको विपथगामी होनेसे बचाया है। इनमें रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, रामानन्द आदि प्रमुख हैं। इन्हींकी कोटिमें महाप्रभु चैतन्यका नाम भी अनुपम प्रभासे देदीप्यमान है। इन आचार्योंके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, समर्थगुरु रामदास, गुरुगोविन्द सिंह, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गान्धी और योगी अरविन्द आदि संत महापुरुष भी चरित्रनिर्माता हुए हैं।

यहाँ चरित्रनिर्माणकी दिशामें तीन तत्त्वोंकी विशेष चर्चा हुई है—साहित्यके द्वारा, राजाओंके द्वारा और आचार्योंके द्वारा। पुरातन साहित्य एवं राजाओं और आचार्यों-की बातें आज भी पुस्तकोंमें देखी जा सकती हैं, पर उन्हें देखने-सुननेवालोंकी संख्या कम है और जो उन्हें देखते-सुनते हैं, उनपर भी कायापलट प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यही हमारे समाजका दुर्भाग्य है, जो चारित्रिक ह्रासका प्रमुख कारण है। इसका मूल कारण है, अपनी संस्कृतिमें हमारी श्रद्धाका अभाव। हम भारतीय होनेका, भारतीय संस्कृतिके अनुयायी होनेका अथवा हिन्दू होनेका दावा करते हैं, पर उन गुणोंको अपनानेको उद्यत नहीं हैं, जिनसे हमारी भारतोचित महिमा व्यक्त होती हो। हमारा सर्वोच्च गौरव आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंमें था, जिन्हें छोड़कर हम आधिभौतिक प्रवृत्तियोंमें निमग्न हैं। अधिक स्पष्ट शब्दोंमें कहा जा सकता है कि आज हम तपोमय साधनासे प्राप्तव्य आनन्दानुभूतिको तिलाञ्जलि देकर भौतिक पदार्थोंसे चिपटे हुए ऐन्द्रिय भोगविलासको परम सत्य माने बैठे हैं। यही नहीं, प्रत्युत आजके साहित्य-स्रष्टा कवि, मठाधीश, राजतन्त्रके मन्त्री—ये तीनों भी अपने जीवनकी छवि निरन्तर गर्हित करते जा रहे हैं। कवियोंकी वाणीमें उपनिषदोंका संदेश नहीं है, मठाधीशोंमें शंकरकी तेजस्विता और कर्मठता नहीं है और मन्त्री विलास-प्रवण मदमें उन्मत्त नहीं हैं तो भी चाणक्यका आदर्श उनमें नहीं है। उन्हें लोक-कल्याण और लोक-सेवाका पूर्ण ध्यान नहीं है। देशकी ऐसी दयनीय स्थिति, पता नहीं, कबतक रहेगी? इसे बदलनेके लिये क्या होगा? ऐसे अनेक प्रश्न विचारकोंके मनमें उठते हैं। वे समाजमें सर्वत्र चारित्रिक निर्माणकी प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा और चारित्रिक ह्रासका बोलबाला देखकर उत्साह खो बैठे हैं और मिल-जुलकर भी कोई सफल प्रयत्न इस राष्ट्रिय दारुण रोगको दूर करनेके लिये नहीं कर पा रहे हैं। परिणाम यह हो रहा है कि राष्ट्रको खोखला कर देनेवाला यह रोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसके प्रतीकारके लिये कारगर उपायकी शीघ्र ही आवश्यकता है; अन्यथा चरित्र-निर्माता यदि स्वयं अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर रहे हैं, स्वयं अनवरत् गिरते जा रहे हैं या हाथपर हाथ धरे बैठे हैं तो क्या 'प्रकृति' उन्हें सदा-सदाके लिये इस प्रकार राष्ट्रको ह्रासोन्मुख बनानेके लिये मस्तकपर धारण किये रहेगी? कदापि नहीं। गङ्गा और हिमालयके इस पावन प्रदेशमें पाशविक प्रवृत्तियोंको बढ़ावा देनेवाले तपावर्जित कवि, आचार्य और शासक सदा ही पनपते रहें, यह असम्भव है। अतः आवश्यकता है आज चरित्र-निर्माण करनेवाले साहित्यकी, सदुपदेश और सात्त्विक जीवनादर्शकी और प्रजामें जिनपाधान करनेवाले सत् शासनकी। इसके लिये प्रकृतिका नियोजन प्रयासके रूपमें सतत होकर रहेगा और इच्छारूप भगवान् स्वयं ही महामानव बनकर व्यक्तिके साथ ही राष्ट्रको भारतीय चारित्रिक अभ्युत्थानके लिये प्रेरित करेंगे—वह दिन दूर नहीं है।

चरित्र-निर्माण—सिद्धान्त और विनियोग

(लेखक—प्रो० श्रीइन्द्रदेवजी उपाध्याय, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

जीवनके समस्त गुणों, ऐश्वर्यों, अक्षय कीर्तिस्तम्भों तथा सफलताकी आधारशिला चरित्र ही है। चरित्रकी सुगन्धसे ही जीवन-पुष्प अपना चतुर्दिक् सौन्दर्य बिखेर कर सार्थक होता है। सच्चरित्र पुरुष विधाताकी वाटिकाके वैसे दिव्य पुष्प हैं, जिनकी सुगन्ध कभी कम नहीं होती। चरित्रवान् महापुरुष ऐसे अमर आकाश दीप हैं, जो कभी बुझते नहीं और जिनके अमिन आलोकमें हम अपने जीवनके जलयानको ले जा सकते हैं। 'चरित्र' शब्द 'चर्—गतिभक्षणयोः'— इस गति और भक्षणार्थक धातुसे निष्पन्न होता है। पर इस गति अर्थमें आचार्य पाणिनिने एक सूत्रद्वारा करण कारकमें 'इत्र' प्रत्यय जोड़कर चरित्र शब्दकी —चरति अनेन इति चारित्रम्— निष्पत्तिमें ऐसी विशिष्ट गति दी। इससे मानव विशेष गतिशील होता है। पर सामान्य चलना मात्र चरित्र नहीं है। जिससे मानव जीवनपथमें थककर बैठ नहीं गया, बल्कि अविराम गतिसे जीवनके उदात्त लक्ष्य गाम्भीर गतिशील है और अन्य जीवोंको स्फूर्ति, प्रेरणा एवं नव-जीवन देता रहता है एवं जिस चरित्रसे परमात्माका संदेश अमर एवं शाश्वत बनकर संगीतज्ञोंकी वीणामें, महाकवियोंकी वाणीमें गूँजा करता है तथा कलाकारोंकी तूलिकामें सौरभ बनकर बस जाता है, वह चरित्र है। चरित्र या आचरणके विचारसे सम्पद् दो प्रकारकी होती है—एक दैवी और दूसरी आसुरी। गीता (१६ । ५) कहती है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पद्द्वारा, जिसमें अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, दम, दम आदिका समावेश है, मोक्षरूपी श्रेय प्राप्त होता है और आसुरी सम्पद्द्वारा, जिसमें दम्भ, दर्प, पाखण्ड इत्यादि सम्मिलित हैं, संसारका बन्धन होता है। इस आसुरी सम्पद्में सबसे अधिक अनिष्टकारक काम, क्रोध और लोभ हैं, जिन्हें नरकका द्वार कहा गया है। वस्तुतः चरित्र धर्मका ही वह मुख्य पहलू है, जिसमें विनयशीलता, क्षमा, निर्भयता, परोपकार और सहिष्णुता आदि दैवी सम्पद् समाविष्ट है। लोकमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि दुर्वृत्तियोंको तिलाञ्जलि देकर स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही चरित्रवान् कहलाता है और इसी आचरणसे व्यक्ति, समाज और विश्वका कल्याण होता है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया गया है कि—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
(अनुशा० १४९ । १३७)

सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना गया है। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं। सच्चरित्रतासे ही मनुष्यको अटूट धनराशि, सुशील संतान एवं दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराल्लभते ख्यातिमाचाराल्लभते धनम्॥

मनुस्मृतिका कथन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

यदि हम सच्चरित्र हैं, धर्मशील हैं तो सकल विभूतियाँ, ऋद्धि-सिद्धि, सुख-सम्पत्ति अपने-आप हमारे चरणोंमें लोटने लगती हैं।

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥
(रा० च० मा०)

यदि हमारा जीवन दुश्चरित्रताका आगार है तो हम समाजमें निन्दा और तिरस्कारके पात्र बन जाते हैं। अपने बल, बुद्धि और वैभवको अपने ही हाथों खो बैठते हैं। दुश्चरित्र मनुष्य अपने परिवार, समाज और देशके लिये अभिशाप सिद्ध होता है, जबकि सच्चरित्र वरदान। दुश्चरित्र कायर और कपटी पुरुषसे देश लज्जित होता है और सच्चरित्र वीर एवं संतोंके पावन तथा प्रातःस्मरणीय चारु-चरित्रसे समाज और देश सुशोभित एवं गौरवान्वित होता है।

तीन सनाथव देश को सती, संत और सूर।
तीन अनाथव देश को कपटी, कायर, क्रूर॥

कविवर मैथिलीशरण गुप्तजीने सदाचारको ही स्वर्ग एवं मुक्तिका द्वार कहा है—'सुनो, स्वर्ग क्या है? सदाचार है। मनुष्यत्व ही मुक्तिका द्वार है।' कहनेवालों की कमी नहीं है, कमी होती है कर्मकी पगडंडियोंपर दो कदम चलनेवालोंकी। जिसने सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारा है, सत्कर्मोंसे जीवनको सँवारा है, आदर्शोंको विनियोगका आयाम देकर उन्नयनकी नयी भूमिका दी है, उसीका जीवन श्लाघ्य है, धन्य है। बचपनमें गुरु नानक प्रभुस्मरणमें इतने लीन रहते कि खान-पानकी सुधि ही नहीं रहती थी। पिताने उनकी उपेक्षापर दुःख प्रकट कर खेतीकी ओर पग उठानेको कहा। इसपर नानकने कहा—मेरी खेती अच्छी है—मैंने शरीररूपी खेतमें सत्कर्मोंका हल चलाकर प्रभु-भजनके बीज बोये हैं। मैं उसमें साधु-संगतिका जल और संतोष-की खाद दे रहा हूँ। मुझे विश्वास है इस फसलसे मैं धन्य हो जाऊँगा।' सच पूछिये तो सच्चरित्रताकी सीपीमें ही जीवनका आभदार मोती रहता है।

गङ्गामें एक युवती डूब रही है। तटसे अनेक व्यक्ति बचानेके लिये चिल्ला रहे हैं। वहींसे एक मौन व्यक्ति गङ्गामें कूदकर युवतीको बचाकर तटपर रख देता है और कर्तव्यपूर्तिका संतोष लेकर चुपचाप चल देता है। उसके इस मौन आचरणकी सभ्यतामें, निष्कामकर्मके सौन्दर्यमें जो गरिमाकी सुगन्ध है, प्रभावकी मार्मिकता है, आकर्षणका जादू है, उदात्तताकी ज्योति एवं पवित्र भावका मोती है, उसपर कोई भी अभिभूत एवं मुग्ध हो सकता है और वह इतिहासकी अनमोल धरोहर बनकर शताब्दियोंतक जीवन्त रह सकता है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम त्याग, बलिदान और भ्रातृ-प्रेमके प्रतीक भरत, सेवा और प्रीतिके अनन्य आदर्श हनुमान्‌का चरित्र हमारे लिये प्रेरणाके अजस्र स्रोत हैं। शिवाजी, महाराणाप्रतापकी चारित्रिक विशेषताओंपर आज हिंदू जातिको गर्व है। लोकमान्यतिलक, महामना मालवीयजी तथा राष्ट्रपिता बापू अपने चारित्रिक सौन्दर्य-के कारण ही आज भारतीय जनताके गलेके हार बने हुए हैं। सीता, सावित्री, अनसूया, लक्ष्मीबाई, जीजाबाई आदि वीराङ्गनाओंके उदात्त चरित्रोंसे भारतीय इतिहास जगमगा रहा है। जौहरके वनमें अपने धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोंकी आहुति देनेवाली चित्तौडगढ़की पद्मिनी आदि क्षत्राणियोंके कीर्तिगानसे राजस्थानका कण-कण आज मुखरित हो रहा है। इतिहास उनकी गौरव-गाथाका ऋणी है।

पद्मिनी आदि रानियाँ जौहर-कुण्डमें जलकर भस्म हो गयीं, किंतु वे रूपलंपट अलाउद्दीनके स्पर्शसे अपनी भस्मको भी अपवित्र करना नहीं चाहती थीं। इसीलिये वायु देवतासे उन्होंने प्रार्थना की कि हे वायुदेव! मेरी राख पृथ्वीसे आकाशमें उड़ा दो जिससे पातकी शरीर तो नहीं ही छू सका, राखको भी न छू सके और सभीसे जाकर कह दो कि यदि किसी नारीको रूप दो तो शक्ति भी दो और पति मिले तो पतिके चरणोंमें अटूट भाव-भक्ति दो—

पातकी रज छू न पावे, नभ दिखे मेरे निधन पर
और विधि से कह दूँ प्रभुवर रूप दे तो शक्ति भी दे।
पति मिले तो पतिव्रत में भाव भी दे, भक्ति भी दे॥

आज व्यक्ति, समाज, देश तथा विश्व अस्त-व्यस्त एवं सन्त्रस्त है। सर्वत्र मानवीय मूल्योंका विघटन हो रहा है। चारों तरफ अशान्ति, विद्रोह, शोषण, बलात्कार एवं धर्मनिरपेक्षताका बाजार गर्म है। विद्याके पावन मन्दिर भ्रष्टाचारके शिकार हो रहे हैं। आस्थाकी देव-देहलीपर अनास्थाके साँप फुफकार रहे हैं। इसका मूल कारण चरित्रका ह्रास है। जबतक धर्ममूलक चरित्रका हृदयमें निवास नहीं होगा, तबतक विश्वमें सुख, शान्ति और एकताकी स्थापना नहीं होगी। किसीने ठीक ही कहा है कि 'हृदयमें धर्मका निवास होनेसे चरित्रमें सौन्दर्यका वास होगा। चरित्रमें सौन्दर्यका वास होनेसे गृहमें सामञ्जस्यका विस्तार होगा। गृहमें सामञ्जस्यका विस्तार होनेसे राष्ट्रमें एकताका प्रसार होगा। राष्ट्रमें एकताका प्रसार होनेसे विश्वमें शान्तिका संचार होगा।' हमारी भारतीय संस्कृति सदैव चरित्रप्रधान रही है। भारतके अग्र-जन्माओंसे विश्वभरके लोग चरित्रकी शिक्षा लेते रहे हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

किंतु आज दुःखके साथ कहना पड़ता है कि पश्चिमकी भोग-प्रधान भौतिकवादी संस्कृति हमारी भारतीय संस्कृतिपर इस तरह हावी हो गयी है कि हम भौतिक सुख-समृद्धिके लिये पागल-से हो गये हैं और चरित्रको खोकर निरन्तर विनाशकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अतः आज सच्चरित्र बननेके लिये सुशिक्षा, सुसंगति और सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है। यदि आजसे हम भारतीय महापुरुषोंके आदर्श चरित्रको जीवनमें उतारें तो हमें विश्वास है कि चारित्रिक मंगल-प्रभातकी स्वर्णिम किरणोंसे जीवन आलोकमय हो उठेगा और जीवनका प्रधान लक्ष्य श्रेयकी प्राप्ति अवश्य हो सकेगी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे चरित्रका निर्माण और विकास

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आधुनिक मनोविज्ञानके अनुसंधानने मानव-चरित्र-निर्माण और विकासके क्षेत्रमें एक अभिनव क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। एक युग था, जब लोग मनोविज्ञानके सूक्ष्मक्षेत्रसे परिचित न थे। मानव-चरित्र और मनुष्यकी मूल-प्रवृत्तियोंके सिद्धान्त—रूप-परिवर्तन, संवेग (Emotion) एवं स्थायीभाव (Sentiment) का स्वरूप, विशेषताएँ और महत्त्व, सामान्य प्रवृत्तियोंका अर्थ और प्रकार अभिवृद्धि तथा विकासकी प्रक्रिया, मस्तिष्कके विकासकी मुख्य अवस्थाएँ और नाना पक्ष—शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्थामें होनेवाले निर्माण और विकाससे परिचित नहीं थे। पर आजके वैज्ञानिक युगमें मनोविज्ञानकी शिक्षण-पद्धतिने बालकोंके चारित्रिक विकासके क्षेत्रमें नये क्षितिज स्पर्श किये हैं। मनोवैज्ञानिकोंने बताया है कि मानव-चरित्रका पहला आधार वंशानुक्रम एवं वातावरण है।

वुडवर्थ नामक मनोविज्ञानवेत्ताका मत है कि मनुष्य अपने वंशानुक्रम और वातावरणकी उपज है। यह वंशानुक्रम क्या है—इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि बालकको अपने माता-पिता और पूर्वजोंसे अनेक शारीरिक और मानसिक गुण जन्मसे ही प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम 'संस्कार' कह सकते हैं। वंशानुक्रममें वे सभी संस्कार आ जाते हैं, जो जीवनके आरम्भ करते समय ही नहीं, वरन् गर्भाधानके समय—जन्मसे लगभग नौ माह पूर्व—व्यक्तिमें उपस्थित थे। वास्तव

और डार्विन आदि विचारकोंने इस मतमें और परिष्कार किया और बताया कि वंशानुक्रममें वे सभी शारीरिक विशेषताएँ या क्षमताएँ सम्मिलित हैं, जिनको मनुष्य न केवल अपने पूर्वजोंसे प्राप्त करता है, बल्कि अपनी जाति-प्रजाति-(Species) से भी प्राप्त करता है। हम जिस प्रजाति, नस्ल या प्रान्तके हैं, उसका भी प्रभाव हमारे चरित्रपर रहता है। उपर्युक्त सभी तत्त्वोंका सामूहिक फल हमारा चरित्र होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकोंने वंशानुक्रमके सम्बन्धमें नयी-नयी खोजें की हैं। वे बतलाते हैं कि मानव-शरीर सूक्ष्म कोशों-(cells) का योग है। पितृकोश और मातृकोश नामक दो उत्पादक कोशोंसे एक संयुक्त कोश बनता है। पुरुष और स्त्रीके प्रत्येक कोशमें २३-२३ गुणसूत्र होते हैं। इस प्रकार संयुक्त कोशमें ४६ गुणसूत्र होते हैं। हमारे गुण, अवगुण, परम्पराएँ तथा विशेषताएँ इन गुणसूत्रोंमें निहित हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स'के अक्टूबर १९७४ के अङ्कमें नोबुल पुरस्कारविजेता डॉ० हरगोविन्द खुरानाके अनुसंधानके आधारपर की हुई निम्न घोषणाको देखिये कि भविष्यमें वंशानुक्रमकी क्रियामें क्या-क्या परिवर्तन किया जा सकता है—'निकट भविष्यमें एक प्रकारके पिण्डकको दूसरे प्रकारके पिण्डकसे स्थानापन्न करना ओषधि-शास्त्रके क्षेत्रमें अत्यन्त सामान्य कार्य हो जायगा। इस प्रयोगके द्वारा भावी संतानकी मधुमेहके समान दुःसाध्य रोगोंसे रक्षा की जा सकेगी। वेल्समैनके अनुसार जो बीजकोश बालकको अपने माता-पितासे मिलता है, उसे वह अगली पीढ़ीको हस्तान्तरित कर देता है। इस सिद्धान्तके अनुसार माता-पिता बालकके जन्मदाता न होकर केवल बीज-कोशके संरक्षक माने जा सकते हैं। यह सिद्धान्त वंशानुक्रमकी सम्पूर्ण प्रक्रियाकी व्याख्या नहीं करता। वंशानुक्रमकी समानताके नियमके अनुसार जैसे माता-पिता होते हैं, वैसी ही उनकी संतान होती है। कुछ बालक माता-पिताके बिल्कुल समान न होकर कुछ विभिन्नता लिये हुए होते हैं। इस विभिन्नताके कारण माता-पिता तथा उनके पूर्वजोंके उत्पादक कोशोंकी विशिष्टताएँ हैं। प्रत्यागमन (Law of agression) सिद्धान्तके अनुसार बालकमें कभी-कभी अपने माता-पितासे विपरीत गुण भी पाये जाते हैं। प्रकृति विशिष्ट गुणोंके बजाय सामान्य गुणोंका अधिक वितरण करती है और इस प्रकार एक जातिके प्राणियोंको एक ही स्तरपर रखनेका प्रयास करती है। यही कारण है कि प्रायः बड़े व्यक्तियोंके बच्चे साधारण या निम्न कोटिके रह जाते हैं।'

व्यक्तियोंद्वारा अर्जित गुण (Special talents) साधारणतः उनकी सब संतानोंमें नहीं पाये जाते। वुडवर्थने लिखा है कि 'वंशानुक्रमकी प्रक्रियाके अपने आधुनिक ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर यह बात प्रायः असम्भव जान पड़ती है कि महान् पुरुषोंके अर्जित गुणको संक्रमित किया जा सके।' मैंडलके सिद्धान्तके अनुसार वर्णसंकर प्राणी या वस्तुएँ अपने मौलिक या सामान्य रूपकी ओर अग्रसर होती हैं।[1] पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकोंने वंशानुक्रमके महत्त्वको स्पष्ट करते हुए कुछ सूत्र बनाया है कि १—बालककी मूलशक्तियोंका प्रधान कारण वंशानुक्रम है (Thorndike), २—माता-पिताकी शारीरिक बनावट, लम्बाई या मोटाई माता-पिताके अनुसार होती है (Karl pearson), ३—बुद्धिकी श्रेष्ठताका कारण प्रजाति है (Klinder), ४—व्यावसायिक योग्यताका मुख्य कारण वंशानुक्रम है (Catteel), ५—गुणवान् और प्रतिष्ठित माता-पिताकी सन्तान प्रतिष्ठा

1-When the hybrides incomeform their own sperms (male) or egg-cells (female), they produce pure parental types with dominant characters (Mendelism).

ग्रस्त करती है—(Winship) ६—चरित्रहीन माता-पिताकी सन्तान अपराधी होती है—(Dugdale) ७—महानताका कारण उसका वंशानुक्रम होता है—(Galton) ८—मन्दबुद्धि माता-पिताकी सन्तान मन्दबुद्धि और कुशाग्र-बुद्धिवाले माता-पिताकी सन्तान तीव्रबुद्धिवाली होती है (Goddar) इन निष्कर्षोंसे, स्पष्ट हो जाता है कि बालकपर वंशानुक्रमका बहुत प्रभाव रहता है।

लेकिन वंशानुक्रमसे भी अधिक प्रभाव वातावरण-(Environment) का है। व्यक्तिके चारों ओर जो कुछ है, वह उसके चरित्रको प्रभावित करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डगल्स व हॉलैण्डके मतानुसार 'वातावरण' शब्दका प्रयोग उन सब बाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओंका सामूहिक रूपसे वर्णन करनेके लिये किया जाता है, जो जीवित प्राणियोंके जीवन, स्वभाव, व्यवहार, बुद्धि-विकास और परिपक्वता पर प्रभाव डालते हैं। भौगोलिक कारणोंसे शारीरिक बनावट प्रभावित होती है। उत्तम, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण न मिलनेपर मानसिक विकासकी गति धीमी हो जाती है (Gordon)। कुछ ऐसी प्रजातियाँ हैं जो अपने स्वस्थ वातावरणके कारण बौद्धिक श्रेष्ठता प्राप्त कर रही हैं। क्लार्क नामक मनोवैज्ञानिकका मत है कि उत्तम शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण मिलनेसे बुद्धि तीव्र बनती है। अमेरिकाकी श्वेत प्रजातिको ऐसा ही उपयोगी वातावरण मिला है। प्रायः देखा जाता है कि सुशिक्षा-सम्पन्न और धनी-वर्ग अपने साधनोंके बलपर उत्तम वातावरण उपस्थित कर साधारण कोटिके बालकोंकी भी बुद्धि विकसित कर लेते हैं। उत्तम वातावरणमें उत्तम चरित्रके विकासमें बहुत सहायता मिलती है। निष्कर्षके रूपमें हम स्टीफेनका (Stephen's) मत उद्धृत कर सकते हैं। वे कहते हैं—एक बच्चा जितना अधिक समय उत्तम वातावरणमें रहता है, उतना ही अधिक चरित्रका विकास करनेमें समर्थ होता है। यदि बच्चा चतुर माता-पिताके साथ अधिक रहता है, तो वह सम्पर्कसे उतना ही चतुर बनता जाता है। जितने समय वह हानिकारक वातावरणमें रहता है (जैसे गन्दे मित्र, गन्दी बस्ती, अश्लील साहित्य, कामुकताकी वृद्धि करनेवाले चित्र, पुस्तकें, फिल्म, पोस्टर, दूषित गोष्ठी इत्यादिमें), वह प्रायः उतना ही गिरता जाता है। वंशानुक्रम तथा वातावरणके अतिरिक्त मनुष्यका चरित्र जैविक विरासत और सामाजिक संस्थाओं-(जैसे—परिवार, मुहल्ला, नगर, प्रदेश)के एकीकरणकी उपज है।

चरित्रके सही विकासके लिये उत्तम वातावरणका निर्माण हमारे हाथमें है। प्रत्येक माता-पिता, अध्यापक, और जिम्मेदार नागरिक स्वस्थ वातावरण-निर्माणकी दिशामें बहुत कुछ योगदान दे सकता है। परिवार, पड़ोस, मित्र, सलाहकार, खेलका मैदान, पुस्तकालय, स्कूल, कालेज, उत्कृष्ट वातावरणसे बुद्धि-विकास और ज्ञानवृद्धि कर सकते हैं। यूनेस्कोके विशेषज्ञोंका यह मत विचारणीय है कि 'वातावरणका बालकोंकी भावनाओंपर व्यापक प्रभाव पड़ता है और उससे चरित्रका निर्माण होता है।' हमें ऐसे स्वस्थ, सन्तुलित और उत्कृष्ट वातावरणका निर्माण करना चाहिये, जिससे उसकी सही भावनाओंका भी विकास होता रहे। हम ऐसे उत्तम वातावरण बनानेकी कोशिश करें, जिसमें बालकोंके उत्तम विचारोंकी अभिव्यक्ति, शिष्ट सामाजिक व्यवहार, कर्तव्यों और अधिकारोंका ज्ञान और प्रवृत्तियोंका सही दिशाओंमें विकास हो।

१—आत्म-नियंत्रण, २—विश्वसनीयता, ३—धर्ममें दृढ़ता, ४—कर्मनिष्ठा, ५—अन्तःकरणकी शुद्धता और ६—उत्तरदायित्वकी भावना—उत्तम चारित्रके गुण हैं। हमें चाहिये कि अपनी मूल प्रवृत्तियोंको सत्य विकासमें

विकसित करें। संवेगोंको गुणोंमें परिवर्तित करें, अच्छी आदतें विकसित करें। आत्म-सम्मानका भाव बढ़ाएँ। Ross (रोस) नामक विद्वान्‌के अनुसार 'जब आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है, तब चरित्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।' आत्म-सम्मानका पुनर्निर्माण ही चरित्रका संवारना है। हमें अच्छे कार्योंको करनेमें आनन्दकी अनुभूति हो, इच्छाशक्ति दृढ़ बनती चले। इम्बीली नामक विद्वान्‌के अनुसार इच्छाशक्ति हमारे चरित्रका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। हम स्वयं प्रसन्नचित रहें और आशावादी दृष्टिकोणसे कार्यमें प्रवृत्त हों। हम जिन लोगोंके सम्पर्कमें आवें, वे ऊँचे चरित्रवाले हों; क्योंकि दूसरोंके सम्पर्कमें आनेसे चरित्रका विकास होता है।

चरित्र-विकासमें धार्मिक शिक्षाका स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आजके भौतिक युगमें हमारा राष्ट्रिय चरित्र धर्मापेक्षासे कमजोर होता जा रहा है। हमारे देशमें धार्मिक शिक्षाका अभाव है। बच्चोंमें दिव्य संस्कार जागृत करनेके लिये नैतिक आदर्श बार-बार उनके सामने प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता है। उत्तम चरित्रवाले देशप्रेमी, वैज्ञानिक, विचारक, लेखक, कलाकार, विद्वान्, समाजसुधारक, रचनात्मक कार्यकर्ता, उद्योगपति, कृषक, शोधकर्ता आदि सभी क्षेत्रोंमें आदर्श चरित्रोंको आकर्षक ढंगसे पेश करें तो नयी पीढ़ीका ध्यान स्वस्थ दिशाओंकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है और उस आदर्श पर चलकर बालक चरित्रशील बन सकते हैं।

महापुरुषोंके पत्रोंसे चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीरामस्वरूप पुजारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महापुरुषोंके पत्र बड़े ही मनोरञ्जक एवं उद्बोधक होते हैं। विश्वमें अनेक महान् लेखक हुए हैं, जिनके पत्र उनके साहित्यसे कम रोचक या महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जिस प्रकार महापुरुषोंके जीवन-चरितके अध्ययनसे हमें समुन्नत जीवनकी प्रेरणा मिलती है,[1] उसी प्रकार उनके पत्रोंको पढ़नेसे भी हमें महती प्रेरणा प्राप्त होती है। जब हम महान् व्यक्तिके तिथिक्रमसे संकलित पत्रोंको पढ़ने बैठते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि हम उनका जीवन-चरित ही पढ़ रहे हैं। अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट स्वर्गीय रूजवेल्टके पत्र 'Roosvelt's Letters' एक प्रकारसे उनकी जीवनी ही है।[2] महापुरुषोंके जीवन-चरितके लेखनमें उनके पत्रोंका बहुत बड़ा महत्त्व है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजकी जीवनीके लेखक डॉ० भगवतीप्रसाद सिंहने अपने ग्रंथमें कविराज-द्वारा लिखित और प्राप्त पत्रोंके लिये 'पत्रालोक' शीर्षक एक स्वतन्त्र अध्याय रखा है। इस अध्यायके आरम्भमें उन्होंने कहा है—

जीवनकी अन्तर्धाराओंके संधानमें पत्रोंका महत्त्व निर्विवाद है। इनसे व्यक्तिके मानसकी उन सूक्ष्मतम प्रवृत्तियोंके अनुचिन्तनका पता लगता है जो जीवन-निर्माणके अन्य उपकरणोंसे सामान्यतया लक्षित नहीं किये जा सकते।[3] युगनिर्माता महापुरुषों एवं साहित्यकारोंकी पत्र-मैत्री हमारे सम्मुख विश्व-मैत्रीका आदर्श उपस्थित करती है। मार्क्स और एन्जिल्सका पत्र-व्यवहार विश्व-इतिहासमें सुप्रसिद्ध है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर-द्वारा दीनबन्धु एण्ड्रूजको लन्दनसे लिखे गये पत्र—'Letters to a

1-Lives of great men all remind us We can make our lives sublime,
And departing, leave behind us footprints on the sand of time. --Longfellow

२-हिंदी साहित्यमें जीवनचरितका विकास डॉ० चन्द्रावतीसिंह पृ० २१।

३-डॉ० भगवती सिंह—मनीषीकी लोकयात्रा, पृ० २११।

Friend' शीर्षकसे पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुए हैं। विश्वविख्यात मानवतावादी रूसी साहित्यकार लियो-टाल्सटायद्वारा सन् १८८७ ई० में फ्रांसीसी नवयुवक रोमाँ रोलाँको जो पत्र लिखा गया था, वह सांस्कृतिक विचारोंसे ओत-प्रोत था। उस पत्रने युवक रोमाँ रोलाँकी जीवनधारा ही बदल दी। इस सम्बन्धमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने लिखा है—

"लियो टाल्सटायकी 'What is to be done?' पुस्तक पढ़कर युवक रोमाँ रोलाँकी मानसिक स्थिति डाँवाडोल हो गयी थी। वह टाल्सटायको अपना आदर्श मानता था। उसने टाल्सटायको पत्र लिखा, कुछ दिनोंतक उत्तरकी प्रतीक्षा भी की और फिर इस बातको भूल ही गया। उसे इस बातकी बिल्कुल आशा नहीं थी कि टाल्सटाय-जैसा महान् लेखक उस-जैसे मामूली युवकके पत्रका उत्तर देगा। किंतु एक दिन शामके समय वह अपने कमरेमें लौटा, तो देखता क्या है कि वहाँ फ्रांसीसी भाषामें एक लम्बी चिट्ठी आयी पड़ी है। उसको खोलनेपर मालूम हुआ कि यह तो टाल्सटायका पत्र है। वह पत्र ३८ पृष्ठोंका था, या यों कहिये कि एक छोटा-सा ट्रैक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवकको टाल्सटायने 'प्रिय बन्धु' लिखा था। पत्रके प्रारम्भिक शब्द थे—'तुम्हारी पहली चिट्ठी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय द्रवित हो गया। पढ़ते-पढ़ते आँखोंमें आँसू आ गये।'

इस पत्रने युवक रोमाँ रोलाँके हृदयपर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसे यह जँची कि इस विश्वविख्यात महापुरुषने मेरे-जैसे एक अपरिचित युवकको इतनी लम्बी और सहृदयतापूर्ण चिट्ठी भेजी। और, तभी उस युवकने यह निश्चय किया कि यदि कोई आदमी संकटके समयमें अन्तरात्मासे कोई पत्र भेजेगा तो मैं अवश्य ही उसका उत्तर दूँगा; क्योंकि संकटग्रस्त मनुष्यकी सेवा ही कलाकारका सर्वोत्तम गुण है। उस नवयुवकने आगे चलकर विश्व-साहित्यमें अपना एक विशेष स्थान बना लिया और अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। उसके ग्रन्थोंके समान उसके पत्रोंका भी महत्त्व है जिनके द्वारा उसने असंख्य दुःखितोंके हृदयको सान्त्वना प्रदान की है। टाल्सटायकी उस एक चिट्ठीने जो बीज बोया था, वह वटवृक्षके रूपमें पल्लवित हुआ।"[4]

महान् शब्दमर्मी और भारतीय संस्कृतिके अप्रतिम व्याख्याता डा० वासुदेवशरण अग्रवालके पत्रोंके विषयमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने कहा है—'जिस दिन स्पष्ट अक्षरोंमें लिखा गया उनका विस्तृत पत्र आता था, उस दिन मानो सात्त्विक, मानसिक भोजन ही आता था और मैं अपने साथियोंके साथ उस पत्रका उपभोग करता था।'[5] माननीय श्रीनिवास शास्त्री भारतके सर्वश्रेष्ठ पत्र-लेखक थे। उनके द्वारा अंग्रेजीमें लिखे गये पत्रोंका सम्पादन श्रीटी० एन० जगदीशनने किया है। पत्र-संग्रहकी भूमिकामें सम्पादकने लिखा है—Mr. Sastri is a master in the art of letter-writing. His friends know that even a post-card with a few lines from his pen is a thing of beauty and a joy ever.[6]........

महात्मा गाँधीके पत्र भी अत्यन्त मननीय एवं मूल्यवान् हैं। आचार्य काका कालेलकरने बापूके परिवारके नाम लिखे गये महात्माजीके पत्रोंको 'संवादकी' संज्ञा दी है।[7] इसी प्रकार बापूके पत्र-पुत्री प्रभा बहन कंटकके नाम' शीर्षक पत्र-संग्रहकी भूमिकामें उन्होंने लोकोत्तर साधकोंके पत्र-लेखनको जीवनसाधना

४ पत्र लेखन कला, पृ० ११-१२, ५-स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवालके पत्र (लेख), कल्याणमित्र भाग ५२, अं० १०, पृ० १०, 6-Letters of Srinivasa Sastri, Preface, P. vii
७—बापूके पत्र : बजाज परिवारके नाम सम्पादकीय, पृ० ८।

जैसा पुण्य कार्य माना है। ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी परमार्थ-पत्रावलीसे जिज्ञासुओंकी परमार्थविषयक रुचि एवं सत्सङ्ग-प्रेमको बढ़ाने तथा आन्तरिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेमें अभूतपूर्व सहायता मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महापुरुषोंके पत्र उनके चरित्रके निर्मल दर्पण होते हैं, अतएव महत्-विभूतियोंके जीवन-चरित्रके समान ही उनके पत्र-संग्रहके स्वाध्यायसे भी हमें चरित्र-निर्माणकी प्रेरणा मिलती है।

चरित्र-निर्माणमें सत्सङ्गका योगदान

(लेखक—डॉ० भगवतीजी मिश्र)

सुचारित्र्यके दो सशक्त स्तम्भ हैं—प्रथम सुसंस्कार, द्वितीय सत्संगति। सुसंस्कार भी पूर्व जीवनकी सत्सङ्गति, सत्कर्मोंका अर्जित सम्पत्ति है और सत्संगति वर्तमान जीवनकी दुर्लभ विभूति है। इसीलिये तो भक्त तुलसीने आधी-से-आधी घड़ीके सत्सान्निध्यमें भी कोटि-कोटि अपराधोंके क्षयकी क्षमता सिद्ध की है। और कबीर तो कुछ और आगे आकर समझा गये कि—

> कबीरा संगति साधुकी, ज्यौं गंधीकी बास।
> जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥

न कुछ लेना, न देना, फिर भी वातावरण महक गया—यह है सत्संगतिकी देन। जहाँतक चरित्र-निर्माणका प्रश्न है, वहाँ तो सत्संगतिका योग-दान अपूर्व है, अनुपम है। गोस्वामीजीने कहा है—

> सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

जिस प्रकार कुधातुकी कठोरता और कालिमा पारसके स्पर्शमात्रसे कोमलता और कमनीय रंगमें बदल जाती है, ठीक उसी प्रकार कुमार्गीका कालुष्य क्षणमात्रके सत्संगमें कांचन आभासे परिपाकन हो उठता है। कथनकी पुष्टिमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है। रत्नाकर महाकवि वाल्मीकि कैसे बने? क्रूरकर्मा अङ्गुलिमालका हृदय-परिवर्तन कैसे हुआ?—बस क्षणमात्रकी सत्संगतिसे। सत्संगतिमें वह शक्ति है, जो मानव-चरित्रको आमूल-चूल बदल देती है। सतत सत्संगसे विचारोंको नयी दिशा मिलती है और अच्छे विचार ही अच्छे कार्योंको करानेमें समर्थ होते हैं। एक अनुभव स्वयं लीजिये, किसी पुष्प-वाटिकाके पाससे निकल जाइये, मन कितनी देर महकेगा, यह बात सभी स्वीकार करेंगे। भक्त कवि सूरदासकी अनुभूति है—

> जा दिन संत पाहुने आवत।
> तीरथ कोटि सनान करे फल, जैसो दरसन पावत।

सत्संगमात्रसे करोड़ों तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त हो जाता है और शरीरके पाप दूर हो जाते हैं।

दूर क्यों जायँ, अपने राष्ट्रपिताका ही उदाहरण लीजिये। अपनी आत्मकथामें उन्होंने कुसंगतिके अपने दोषों और दुर्बलताओंपर विजय पानेका श्रेय जिसे दिया है, वह है 'श्रवणकुमार' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटकका प्रभाव। यद्यपि सात्त्विक संस्कारोंके वे धनी थे फिर भी कुसंगतिने उन्हें दुर्बल कर दिया था। सत्संगतिका चमत्कार देखिये, बालकपर सत्य और सेवाका यह प्रभाव पड़ा कि आगे चलकर वह 'महात्मा' ही नहीं, जन-जनका प्रिय 'बापू' हो गया। मानव दुर्बल प्राणी है, साथ ही वह अनेक प्रच्छन्न विभूतियोंका भण्डार भी है। कुसङ्गमें वह गिर जाता है और सुसङ्गमें ऊँचा उठ जाता है; देखिये—

८-बापूके पत्र—कुमारी प्रभा बहन कंटकके नाम, भूमिका, पृ० १।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

सत्संग मानवको ऊँचा उठा देता है, उसके चरित्रमें परिवर्तन कर उसे यशस्वी बना देता है। सत्सङ्गसे बोध होता है, विवेक जागता है। सत्सङ्गके बिना चरित्र-गठन सर्वथा असंभव है—बिनु सतसंग बिबेक न होई। मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षियोंके उदाहरण भी कम नहीं हैं—काक होहिं पिक बकउ मराला। सहोदर शुकोंमें, एक ऋषि-परिवारमें पलकर सुभाषाभाषी हो जाता है और दूसरा कुपथगामियोंके यहाँ बढ़कर, कटु-कर्कश-कुवचनभाषी। गोस्वामीजी कहते हैं—

साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है—'कविवर टैगोरके पास बैठनेमात्रसे ऐसा प्रतीत होता था कि भीतरका देवता जाग गया हो।'

वस्तुतः, जीवनकी सफलता चरित्रमें है। चरित्रवान् व्यक्ति समाजकी शोभा है, शक्ति है। सुवाससे व्यक्ति ही नहीं, समाज भी सुवासित होता है और यह सुवास जहाँसे मिलती है उसका एक स्रोत सत्सङ्ग भी है। सत्सङ्ग चरित्र-निर्माणमें अद्भुत योगदान करता है। गोस्वामीजीका दृढ़ विचार है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

सत्संगतिसे सद्व्यवहारकी प्रेरणा मिलती है। सद्व्यवहारका जीवनमें उतर आना ही सच्चरित्र है। अतः निश्चित है कि सत्संगतिसे चरित्र-निर्माण होता है।

वैदिक वाङ्मयमें इन्द्रका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम० ए०)

वेदोंमें लगभग ३३ करोड़ देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है। उन देवताओंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—१-द्युस्थानीय (आकाशवासी) देवता, २-अन्तरिक्ष (मध्य) स्थानीय देवता तथा ३-पृथिवीस्थानीय देवता।

इनमें अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें इन्द्रका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता इन्द्रकी स्तुतिमें ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोंको मिलानेपर इनकी संख्या लगभग २०० तक पहुँचती है। अतः वेदोंके सर्वाधिक लोकप्रिय इन्द्र देवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है।

इन्द्र शत्रुसंहारक रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वंसक[1], शम्बर नामक दैत्यके पुरोंका नाश करनेवाला[2], रथियोंमें सर्वश्रेष्ठ, सर्व-पणियोंका स्वामी[3], दुष्ट-दलनकर्ता[4], शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें खदेड़नेवाला[5] तथा वीरोंके साथ युद्धमें विजयी बतलाया गया है।[6] कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं। परंतु अथर्ववेदके एक स्थानपर वज्रके आयुध स्थानपर हाथोंमें बाण एवं धनुष लेकर उनके युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है।[7] ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला[8], नमुचि नामक दैत्यका संहार करनेवाला[9], महान् बलवान्[10] तथा देवताओंमें अत्यन्त बलवान्

१-ऋग्वेद २।२०।७, २-वही १।२१।४, ३-वही १।११।१, ४-वही ३।३०।१७, ५-वही २।११।४, ६-१।१७८।१, ७-अथर्ववेद १९।१३।४, ८-तैत्तिरीयब्राह्मण २।४।३, ९-वही ११।७।१, १०-शतपथब्रा० ११।४।३।१३, तैत्तिरीयब्रा० २।५।७।४, मैक्डानल-वैदिक माइथालोजी ५।१४७

कहा गया है।[11] उपनिषदोंमें इन्हें त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा संहार करनेवाला कहा गया है। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक संन्यासियोंके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकड़े शृगालोंको बाँट दिये थे। उन्हें प्रह्लादके परिचारक दैत्योंको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्हें पुलोमासुरके परिचायक दानवों तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कालकञ्ज नामक दैत्यका संहार करनेवाला भी कहा गया है।[12]

इस प्रकार वैदिकवाङ्मयमें—ऋग्वेदसे उपनिषद्-तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसंहारकके रूपमें विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमें, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हें उनके शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमें विजय प्राप्त करावें। वैदिकसाहित्यमें इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमें ख्याति-सतत बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, सबमें सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[13] उल्लेख है कि उन्होंने आकाशमें द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया।[14] इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको सूर्य[15], वाणी[16], मन[17] का राजा[18] कहा गया है। उपनिषदोंमें इन्द्रको अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ कहा गया है।[19] स्वरोंको इन्द्रकी आत्मा[20] तथा प्राणको स्वयं इन्द्र कहा गया है।[21] इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते हैं।[22] इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है।[23] गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है।[24] देवलोकको इन्द्रलोकसे ओत-प्रोत बताते हुए[25] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमें विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है।[26] इन्द्रको आत्मा, ब्रह्म एवं सर्वदेवमय कहा गया है।[27] इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[28] तथा वायुमण्डलमें विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है।[29]

इस प्रकारसे इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमें पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिककालमें उनकी सत्ता, प्रभुता एवं सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान् रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा की गयी है।[30] ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको श्रुति[31] एवं भीम[32] कहा गया है। पाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी'में इन्द्रको इन्द्रियोंका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियोंको शक्ति मिलती है[33]। उपनिषदोंके अनुसार

११—कौषीतकिब्राह्मण १। १४, १२—कौषीतकि-उप० ३। १, १३—ऋग्वेद १। ५५। १, १४—वही २। १५। २, १५—शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। ७, १६—जैमिनीयब्राह्मण १। ३३। ७, १७—गोपथब्राह्मण ४। ११, १८—तैत्तिरीय-ब्रा० ३। ८। २३। २, कौषीतकिब्राह्मण ६। ७, १९—केन-उपनिषद् ४। १-३, २०—छान्दोग्य-उपनिषद् २। २२। २, २१—कठ-उपनिषद्, २२—छान्दोग्य-उप० ३। ७, २३—बृहदारण्यक-उप० १। ४। ५-६, २४—छान्दोग्य-उप०, २५—बृहदारण्यक-उप० ३। ६। १, २६—वही ४। २। २, २७—ऐत० उप० ४। ३। १४, ५। ३, २८—कौषीतकि-उप० २। १, २९—वही। ३०—ऋग्वेद १। ५४। ८, ३१—तैत्तिरीयब्राह्मण २। २। २, ३२—शतपथब्राह्मण ९। ७। ५, ऐतरेयब्राह्मण ८। ७, ३३—पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५। २। ९३।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

सत्संग मानवको ऊँचा उठा देता है, उसके चरित्रमें परिवर्तन कर उसे यशस्वी बना देता है। सत्सङ्गसे बोध होता है, विवेक जागता है। सत्संगके बिना चरित्र-गठन सर्वथा असंभव है—बिनु सतसंग बिबेक न होई। मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षियोंके उदाहरण भी कम नहीं हैं—काक होहिं पिक बकउ मराला। सहोदर शुकोंमें, एक ऋषि-परिवेशमें पलकर सुमधुरभाषी हो जाता है और दूसरा कुमार्गगामियोंके यहाँ रहकर, कटु-कठोर-कुवचनभाषी। गोस्वामीजी कहते हैं—

साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है—'महर्षि टैगोरके पास बैठनेमात्रसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो भीतरका देवता जाग गया हो।'

वस्तुतः, जीवनकी सफलता चरित्रमें है। चरित्रवान् व्यक्ति समाजकी शोभा है, शक्ति है। सुचरित्रसे व्यक्ति ही नहीं, समाज भी सुवासित होता है और यह सुवास जहाँसे मिलती है उसका एक स्रोत सत्संग भी है। सत्सङ्ग चरित्र-निर्माणमें अद्भुत योगदान करता है। गोस्वामीजीका दृढ़ विश्वास है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

सत्संगतिसे सदाचरणकी प्रेरणा मिलती है। सदाचरणका जीवनमें उतर आना ही सच्चरित्र है। अतः निश्चित है कि सत्संगतिसे चरित्र-निर्माण होता है।

वैदिक वाङ्मयमें इन्द्रका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

वेदोंमें लगभग ३३ करोड़ देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है। उन देवताओंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—१-द्युस्थानीय (आकाशगामी) देवता, २-अन्तरिक्ष (मध्य) स्थानीय देवता तथा ३-पृथिवीस्थानीय देवता।

इनमें अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें इन्द्रका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता इन्द्रकी स्तुतिमें ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोंको मिलानेसे इनकी संख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है। अतः वेदोंके सर्वाधिक स्तोतव्य इन्द्र देवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है।

इन्द्र असुरसंहारक रूपमें—ऋग्वेदमें इनको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वंसक[1], शम्बर नामक दैत्यके पुरोंका नाश करनेवाला[2], रथियोंमें सर्वश्रेष्ठ, वीर-पत्नियोंका स्वामी[3], दुष्ट-दमनकर्ता[4], शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें खदेड़नेवाला[5] तथा वीरोंके साथ युद्धमें विजयी बतलाया गया है।[6] यहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं। परंतु अथर्ववेदमें एक स्थानपर इनके आयुध तलवार हाथोंमें धनुष एवं तरकस लेकर उनके युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है।[7] ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका वध करनेवाला[8], नमुचि नामक दैत्यका संहार करनेवाला[9], महान् बलवान्[10] तथा देवताओंमें अत्यन्त पराक्रमी

१-ऋग्वेद २।२०।७, २-वही ६।३१।४, ३-वही १।११।१, ४-वही १।१०।१०, ५-वही २।१२।४, ६-१।१७८।१, ७-अथर्ववेद १९।१३।४, ८-तैत्तिरीयब्राह्मण २।४।१, ९-वही ११।७।१।१, १०-शतपथब्रा० ११।४।३।१२, तैत्तिरीयब्रा० ३।५।७।४, मैत्रायणी संहिता [illegible]

कहा गया है।[१] उपनिषदोंमें इन्हें त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा संहार करनेवाला कहा गया है। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक संन्यासियोंके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकड़े शृगालोंको बाँट दिये थे। उन्हें प्रह्लादके परिचारक दैत्योंको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्हें पुलोमासुरके परिचायक दानवों तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कल्पकञ्ज नामक दैत्यका संहार करनेवाला भी कहा गया है।[२]

इस प्रकार वैदिकवाङ्मयमें—ऋग्वेदसे उपनिषद्-तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसंहारकके रूपमें विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमें, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हें उनके शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमें विजय प्राप्त कराते। वैदिकसाहित्यमें इन्द्रको राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमें ख्याति-प्राप्त बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, बलमें सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[३] उल्लेख है कि उन्होंने आकाशमें द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया।[४] इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको सूर्य[५], वाणी[६], मन[७] का राजा[८] कहा गया है। उपनिषदोंमें इन्द्रको अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ कहा गया है।[९] स्वरोंको इन्द्रकी आत्मा[१०] तथा प्राणको स्वयं इन्द्र कहा गया है।[११] इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते हैं।[१२] इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है।[१३] गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है।[१४] देवलोकको इन्द्रलोकसे ओत-प्रोत बताते हुए[१५] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमें विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है।[१६] इन्द्रको आत्मा, ब्रह्म एवं सर्वदेवमय कहा गया है।[१७] इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[१८] तथा वायुमण्डलमें विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है।[१९]

इस प्रकारसे इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमें पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिककालमें उनकी सत्ता, प्रभुता एवं सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्वरूप उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान् रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा की गयी है।[२०] ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको श्रुति[२१] एवं वीर्य[२२] कहा गया है। पाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी'में इन्द्रको इन्द्रियोंका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियोंको शक्ति मिलती है[२३]। उपनिषदोंके अनुसार

११–कौषीतकिब्राह्मण ६। १४, १२–कौषीतकि-उप० ३। १, १३–ऋग्वेद १। ५५। १, १४–वही २। १५। २, १५–शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। ७, १६–जैमिनीयब्राह्मण १। ११। ७, १७–गोपथब्राह्मण ४। ११, १८–तैत्तिरीय-ब्रा० ३। ८। २१। २, कौषीतकिब्राह्मण ६। ९, १९–केन-उपनिषद् ४। १-७, २०–छान्दोग्य-उपनिषद् २। २२। २, २१–कठ-उपनिषद्, २२–छान्दोग्य-उप० ३। ७, २३–बृहदारण्यक-उप० १। ४। ९-६, २४–छान्दोग्य-उप०, २५–बृहदारण्यक-उप० ३। ६। १, २६–वही ४। २। २, २७–ऐत० उप० ४। ३। १४, ५। १, २८–कौषीतकि-उप० ३। १, २९–वही। ३०–ऋग्वेद १। [illegible] १–तैत्तिरीयब्राह्मण २। [illegible] ५। ३। [illegible] ३२–शतपथब्राह्मण ९। ७। ५, ऐतरेयब्राह्मण ८। ७, ३३–पाणिनिका

इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करके ही ज्ञान प्राप्त किया था[34]। उन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था[35] तथा दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन उनके समीप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्होंने ज्ञान प्रदान किया[36]। इन्द्रको ब्रह्मगन्धिदके तारक रक्षक कहा गया है[37] तथा प्रज्ञात्मा साक्षात् मन्त्र प्राण कहा गया है।[38] एक स्थानपर तो उनको आयु एवं अमृत भी कहा गया है।[39]

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि इन्द्रकी प्रसिद्धि उनकी अपरिमित ओजस्विता, वीरता, सार्वभौमिकता एवं ज्ञान आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वोंकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तित्वके रूपमें उपस्थित है। उनकी लोकप्रियताको बनाये रखनेमें उनके चरित्रका विशेष योगदान रहा है, जिसके फलस्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमें जाने जाते हैं। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओंके महत्त्व घटते-बढ़ते रहे, किंतु इनके चरित्र एवं महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गके राजा हैं और उन्हें देवताओंका सहयोग प्राप्त रहा है।

कठोपनिषद्में नचिकेताका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

'नचिकेता'का उल्लेख मुख्यरूपसे कठोपनिषद्में है। यज्ञफलकी कामनावाले वाजश्रवाके पुत्र (नचिकेताके पिता)ने विश्वजित् नामक यज्ञमें अपना सर्वस्व दान कर दिया। जब वे पूर्णरूपसे जर्जर एवं वृद्ध गायोंको भी दान करने लगे तब उनके पुत्र नचिकेताने पितासे कहा कि न देने योग्य गायोंको भी आपने दान कर दिया। मैं भी आपका धन हूँ, अतः आप मुझे किसको देंगे? प्रथम तो महर्षिने उपहासमें टाल दिया, किंतु नचिकेताके बार-बार कहनेपर क्रोधवश उन्होंने कहा—'मैं तुमको यमराजको दूँगा।'

पिताके मनोभावको जानकर नचिकेता स्वयं यमराजके समीप पहुँचा तथा तीन दिनोंतक बिना भोजन किये उनके द्वारपर रहा। इसपर प्रसन्न होकर यमराजने उसे तीन वरदान माँगनेको कहा। प्रथम वरदानके रूपमें नचिकेताने कहा कि मेरे पिताका क्रोध शान्त हो जाय तथा उनका स्नेह पूर्ववत् बना रहे। द्वितीय वरके रूपमें नचिकेताने अग्नि-सम्बन्धी विज्ञानकी जानकारी प्राप्त की, जिसको यज्ञके समय करके व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त करता था। तृतीय वरके रूपमें, जब नचिकेताने यमराजसे मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमें जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की तो यमराजने उसे अनेक प्रलोभन दिये तथा कहा कि तुम स्वर्ग आदि अनेक ऐसे ऐश्वर्योंको भोग सकते हो, जिनको किसी अन्य व्यक्तिने कभी न भोगा हो; किंतु तुमको इस मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमें जाननेकी जिज्ञासा नहीं प्रकट करनी चाहिये। किंतु नचिकेताने कहा कि ये समस्त भोग नश्वर हैं तथा सदैव व्यक्तिके उत्थानमें बाधा उपस्थित करते हैं। किंतु मोक्षविषयक ज्ञानको प्राप्त करनेके पश्चात् व्यक्ति आत्मतत्त्वमें लीन हो चिरकालीन आनन्दरूपी सुखका उपभोग करता है, अतः उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मुझे तृतीय वरके रूपमें वही चाहिये।

३४—छान्दोग्य उपनिषद् ८।११।३, ३५—केन उपनिषद् ४।२, ३६—कौषीतकि-उपनिषद् ३, ३७—वही ३।१, ३८—वही ३।२, ३९—वही ३।२।

यमराजने जब विविध रूपोंमें नचिकेताको संसारसे निर्लिप्त पाया तथा यह देख लिया कि यह वास्तवमें तत्त्वज्ञान (मोक्ष)का अधिकारी है, तब उसे आत्मविषयक ज्ञान कराया, जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् नचिकेता परब्रह्म पदको प्राप्त होकर अनन्तकाल-तक सुखका उपभोग करता रहा। इस प्रकार नचिकेताके चरित्रसे ज्ञात होता है कि ब्रह्मज्ञान वास्तवमें सांसारिक सुखोंके त्यागके पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है। [यह ब्रह्मज्ञान चरित्रके संगठनसे ही साधित होता है। चारित्र्यबल ही आत्मबल हो जाता है। अतः आत्म-बलसे आत्मज्ञान साधनेकी योग्यता चरित्र-संगठनसे प्राप्त करनी चाहिये। नचिकेताकी गाथासे यही शिक्षा मिलती है।]

श्वेतकेतुका चरित्र

(उपनिषत्प्रोक्त चारित्र्य)

(लेखक— श्रीप्रशान्तकुमारजी त्यागी, एम० ए०)

श्वेतकेतुका उल्लेख छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदोंमें स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। ये उद्दालकके पुत्र थे, जो स्वयं ब्रह्मज्ञानके आचार्य थे। श्वेतकेतुको पिताने स्वयं प्रारम्भिक शिक्षा देकर उसे बारह वर्षकी अवस्थामें वेदोंका अध्ययन करने-हेतु गुरुकुलमें भेजा तथा कहा कि 'तुम कुलके मर्यादानुसार ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर योग्यताको प्राप्त करना।'

पिताके आज्ञानुसार बारह वर्षतक विद्या ग्रहण करनेके पश्चात् २४ वर्षकी अवस्थामें जब श्वेतकेतु पिताके समीप पहुँचा, तब विद्याका अभिमान होनेके कारण वह घमण्डी एवं उद्दण्ड स्वभाववाला हो गया था। पिताने उसके इस मिथ्याभिमानको देखकर सोचा कि अभिमानसे युक्त विद्याके कारण यह शिक्षित होते हुए भी प्रायः अशिक्षित ही है, अतः इसके अभिमानको समाप्त करना चाहिये। अतः उन्होंने श्वेतकेतुसे प्रश्न किया—'सौम्य! श्वेतकेतु! तू जो ऐसा विद्याका अभिमानी और अविनीत दिखायी देता है, क्या तूने आचार्यसे उस उपदेशको ग्रहण किया है, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, तर्क न किया हुआ तर्कयुक्त हो जाता है, अविज्ञात ज्ञात हो जाता है?'

किंतु श्वेतकेतु इसका कुछ भी उत्तर न दे सका। अपने स्वभावसे लज्जित होकर उसने पितासे विनयपूर्वक जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की। इसपर श्वेतकेतुके पिता उद्दालकने विविध दृष्टान्तोंको सम्मुख रखते हुए, प्रश्नका उत्तर देते हुए श्वेतकेतुको ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानकी शिक्षा दी तथा दृष्टान्तोंमें उन्होंने ब्रह्मका अनुभव किस प्रकार होता है, स्पष्ट किया। पिताद्वारा ब्रह्मज्ञानको जाननेके पश्चात् श्वेतकेतु अत्यन्त सौम्य हो गया।

इस प्रकार श्वेतकेतुका यह प्रसङ्ग उसके चरित्रकी विशेषताको स्पष्ट करता है तथा यह ज्ञान कराता है कि शिक्षा (ज्ञान) एवं अभिमान दोनों परस्पर शत्रु ही हैं। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् भी यदि व्यक्तिमें उस ज्ञानका अभिमान रहता है तो वह ज्ञान अपूर्ण रहता है, जो उसे कभी उत्कर्ष नहीं प्राप्त करने देता।

चर्चा है। ये शतप० बृह० २।५।२०, ४।५।२०, गोपथ ५ आदिमें सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होते हैं। व्याडीको इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य १।२।६४, ६।२।२९के अनुसार व्याडीने लक्षश्लोकीय 'संग्रह' नामक व्याकरण-ग्रंथकी रचना की थी। इन्होंने—'गणानां त्वा' मन्त्र (२।२३।१)में सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे ब्रह्मणस्पति-बृहस्पतिकी यथा नाम, गुण चरितार्थता मानी है—'ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातारं ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरितः॥' (बृहद्देवता २।३९-४० तथा निरुक्त १०।१२)

भागवतमें शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान याज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिके पाण्डित्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥
(भागवत ९।२२।३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एवं जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये प्रश्नकर्ताओंमें ये अष्टादशमहाभागवतोंमें भी ८वीं संख्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा, लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अठारह पुराणोंमें इनके प्रश्न, इनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत हैं। भागवत १।१६।५-६में ये कहते हैं कि यदि भगवान्से अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्।
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्॥

अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥
(१।१६।६)

ये श्रीभगवान्की कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान-मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जीभ कहते हैं (भाग० २।३।२०)। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी—'श्रवनरंध्र अहिभवन समाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥' आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथासे लेकर सभी पुराणोंमें बार-बार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्यको छोड़कर बदरिकाश्रममें आकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्देवता'के ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य, विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक-ग्रन्थ भी असंख्य हैं। पर चारित्र्यके अनुक्रमके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय, ज्ञानाप्ति आवश्यक है। यहाँ केवल शौनक-रचित ग्रन्थोंका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज, विश्वामित्र आदिके भी ग्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहद्देवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों, अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन्हें सांख्ययोगकुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्रसम्बन्धी उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं। यहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आयास, शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये, रागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अशान्ति, कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, ...

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

यह भी पारायण श्लोकोंके अन्तर्गत है। रामायणका प्रत्येक अक्षर बड़े-बड़े पापोंको मिटानेवाला है। रघुनाथ-जैसा चरित जो विस्तृत रूपमें लिखा हुआ है, पूरे पारायणपर कितना पुण्यदायक होगा। प्रत्येक अक्षर ही महापातक नाशक हो तो रामायणजी कितने उत्तम ग्रन्थ हैं, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

रामचरितसे हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रिय चरित्रको महोन्नत बनानेकी चेष्टा करें।

श्रीरामजीके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वतीजी महाराज)

विदुरने कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा० उद्यो०)

उनका यह कथन हम सभीको सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देता है। चरित्रवान् ही संसारमें सबसे बलवान् होता है और वही समाजका आदर्श होता है। किसी कविने भी कहा है—

ऊँचे गिरिसे जो गिरे मरे एक ही बार।
जो चरित्र गिरिसे गिरे बिगड़े जनम हजार॥

मर्यादा एवं चरित्रकी स्थापनाके लिये ही अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्माने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीके रूपमें अवतरित होकर नर-लीला की, जो भारतवर्षके लिये आदर्श है। साक्षात् धर्मके स्वरूप श्रीरामजीने हमारे लिये विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये, जहाँपर रावण यह कहता है कि—

मरकट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई॥

वहीं श्रीरामजी अङ्गदको लङ्का भेजते समय कहते हैं कि—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

इससे श्रीरामजीके समत्वका बोध होता है। शत्रुका भी आत्मीयवत् हितचिन्तन कर रहे हैं। स्वकार्य सिद्ध हो जानेपर राज्य-भोगादिमें तल्लीन सुग्रीवको माँ सीताजीके अन्वेषणका स्मरण न रहा। श्रीरामजीके प्रति सुग्रीवका यह अपराध था; क्योंकि उन्होंने ही प्रथम कहा था—

सब सुग्रीव सचिव बरि चारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

तत्पश्चात् श्रीरामजीने उससे वनमें रहनेका कारण पूछा था—

'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव।'

और सुग्रीवका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रवण कर बादमें सुग्रीवके विघ्न-निवारण-हेतु बालिवधकी प्रतिज्ञा की—

'सुनु सुग्रीव मैं मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।'

श्रीरामजीने तो अपने वचनका पालन तुरंत किया, लेकिन सुग्रीव सब कुछ भूलकर सत्ता-सुखमें मस्त हो गये और चिरकालतक उन्हें होश न आया। तब भगवान्ने लक्ष्मणको समझाते हुए सुग्रीवके पास भेजा—

'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

भगवान् राम अपराधीके प्रति भी क्षमादृष्टि रखते हुए 'सखा सुग्रीव' सम्बोधनको न भूल सके। धर्मशास्त्रोंके अनुसार एक बार काशीके राजमार्गपर दो राजाओंका रथ आमने-सामने आ रुका, बीचमें एक पुलिया थी, जिसमें एक ही वाहन निकल सकता था, अतः दोनों रथ रुक गये। समस्या यह थी कि किसका रथ पहले निकले। राजाओंकी

तृष्णादिका त्यागकर संतोषका आश्रय लेना चाहिये। इसीमें परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥
(महा० ३।२।४६)

प्रायः ये ही बातें योगवासिष्ठ, भागवत, स्कन्दपुराण, माहेश्वर कौमारि (४६।२१-४०) तकमें कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि व्यासादि ऋषियोंने स्वाध्यायादिक-द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी कर्तव्य है।

चरित्र-निर्माणमें रामचरित्रका योगदान

(लेखक—श्रीआर० वेंकटाचलम)

संस्कृत भाषाकी 'चर्' धातुका अर्थ है—चलना। इसी धातुसे चरित्र, आचरण, दिनचर्या इत्यादि शब्द बनते हैं। इनमें अन्तिम शब्द दिनचर्याका अर्थ दैनिक व्यवहार है। अतः 'चर्' धातुका अर्थ केवल इधर-उधर घूमना-भटकना ही नहीं, परंतु सभी व्यवहार गमन-आगमन तथा रहनेका ढंग आदि भी इस शब्दमें शामिल है।

'चरित्र'का अर्थ है—जीवन-वृत्तान्त। निजी कथा चरित्र है, इतिहास भी चरित्र है। देश-चरित्र पढ़ते समय इसे हम इसी शब्दसे समझते हैं। घटनाओंका लम्बा विवरण हो, तो कहा जा सकता है—चरित। पर इधर एक अलग और बड़े तौर चरित्रसे मानवजाति-का स्तर ऊँचा उठना चाहिये तो हमें चरित्रका तात्पर्य कुछ और तरहसे समझना चाहिये। यह न जीवन-चरित है, न कथा-लेखन। परंतु मनुष्यके तमाम व्यवहारको नैतिक आधारपर नियमान्वित कर उत्तम जीवन जीनेका उपाय बताना है—चरित्रनिर्माण। अंग्रेजीके कैरेक्टर (Character) शब्दकी व्युत्पत्ति संस्कृतके चरित्रसे ही हुई दीखती है।

संस्कृत शब्द चरित्र सारगर्भित है। इसी एक शब्दसे हम जीवन-वृत्तान्त एवं चाल-चलन—दोनोंको व्यक्त करते हैं। यदि हम अपने धार्मिक, पौराणिक एवं नैतिक साहित्यकी ओर ध्यान दें तो चरित्र शब्दका दोनों अर्थोंमें समावेश दीखता है। चरित्र जीवन कथा होनेके साथ-साथ पढ़नेवालेको, श्रोताको मार्ग भी दर्शायेगा। ऐसे अनमोल ग्रन्थोंमें रामचरितमानसको कौन भूल सकता है! इस दिव्य ग्रन्थका नाम सर्व ग्रन्थ-विषयका परिचायक है। रामचन्द्रजीकी जीवनी तथा रामचन्द्रजीका उत्तम आचरण दोनोंका दिग्दर्शन इस ग्रन्थमें होता है।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
(मानस १।२।१)

इन वाक्योंमें गोस्वामीजी साधुचरितकी महिमा गाते हैं। ऐसे साधु-चरितोंका श्रीरामचरितमानस मानो एक पीयूष-सागर है। आदिकवि वाल्मीकि तो अपने ग्रन्थको 'सीतायाश्चरितं महत्' कहते हैं—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥
(वा० रा० बाल० ४।७)

इस श्लोकसे हमें यह बोध होता है कि सीताजीकी जीवन-कथा एक महान् चरित है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके नित्य पारायणमें आदिकविकी वन्दनाके प्रसङ्गमें हम लोग पढ़ते हैं—

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥

यहाँ फिर एक बार यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजीकी जीवनी एक पीयूषसमुद्र है।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

यह भी पारायण श्लोकोंके अन्तर्गत है। रामायणका प्रत्येक अक्षर बड़े-बड़े पापोंको मिटानेवाला है। रघुनाथजीका चरित जो विस्तृत रूपमें लिखा हुआ है, पूरे पारायणका कितना पुण्यदायक होगा। प्रत्येक अक्षर ही महापातक नाशक हो तो रामायणजी कितने उत्तम ग्रन्थ हैं, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

रामचरितसे हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रिय चरित्रको महोन्नत बनानेकी चेष्टा करें।

श्रीरामजीके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वतीजी महाराज)

विदुरने कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा० उद्यो०)

उनका यह कथन हम सभीको सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देता है। चरित्रवान् ही संसारमें सबसे बलवान् होता है और वही समाजका आदर्श होता है। किसी कविने भी कहा है—

ऊँचे गिरिसे जो गिरे मरे एक ही बार।
जो चरित्र गिरिसे गिरे बिगड़े जनम हजार॥

मर्यादा एवं चरित्रकी स्थापनाके लिये ही अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्माने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीके रूपमें अवतरित होकर नर-लीला की, जो भारतवर्षके लिये आदर्श है। साक्षात् धर्मके स्वरूप श्रीरामजीने हमारे लिये विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये, जहाँपर रावण यह कहता है कि—

मरकट हीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई॥

वहीं श्रीरामजी अङ्गदको लंका भेजते समय कहते हैं कि—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

इससे श्रीरामजीके समत्वका बोध होता है। शत्रुका भी आत्मीयवत् हितचिन्तन कर रहे हैं। स्वकार्य सिद्ध हो जानेपर राज्य-भोगादिमें तल्लीन सुग्रीवको भी सीताजीके अन्वेषणका स्मरण न रहा। श्रीरामजीके प्रति सुग्रीवका यह अपराध था; क्योंकि उन्होंने ही प्रथम कहा था—

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

तत्पश्चात् श्रीरामजीने उनसे वनमें रहनेका कारण पूछा था—

'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव।'

और सुग्रीवका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रवण कर बादमें सुग्रीवके विघ्न-निवारण-हेतु बालिवधकी प्रतिज्ञा की—

'सुनु सुग्रीव मैं मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।'

श्रीरामजीने तो अपने वचनका पालन तुरंत किया, लेकिन सुग्रीव सब कुछ भूलकर सत्ता-सुखमें मस्त हो गये और चिरकालतक उन्हें होश न आया। तब भगवान्ने लक्ष्मणको समझाते हुए सुग्रीवके पास भेजा—

'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

भगवान् राम अपराधीके प्रति भी क्षमादृष्टि रखते हुए 'भ्राता सुग्रीव' सम्बोधनको न भुला सके। धीरजनोंके अनुसार एक बार काशीके राजमार्गपर दो राजाओंका रथ आमने-सामने आ रुका, बीचमें एक पुलिया थी, जिसमें एक ही वाहन निकल सकता था, अतः दोनों रथ रुक गये। समस्या यह थी कि किसका रथ पहले निकले। राजाओंकी

राज्यकी दृष्टिसे, वयकी दृष्टिसे, अन्य दृष्टिकोणोंसे विचार हुआ, किंतु आश्चर्य ! दोनों बिल्कुल समान थे। तत्पश्चात् दोनोंके सारथियोंने अपने-अपने राजाओंके आदर्श एवं गुणोंका वर्णन आरम्भ किया। समस्याकी जटिलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी; क्योंकि गुणोंमें भी दोनों समान ही थे। अन्तमें एक सारथिने कहा—हमारे महाराज शास्त्रानुसार 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात् 'बुरोंके साथ बुरा व्यवहार करो', की नीतिपर चलते हैं। दूसरे द्वितीय सारथिने कहा—हमारे राजा इसके विपरीत 'बुरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार करो', 'बुराईसे घृणा करो, व्यक्तिसे नहीं'—इस नीतिपर चलते हुए प्रजाको संतुष्ट रखते हैं। ऐसा सुनकर प्रथम सारथिके रथपर आरूढ़ राजा नीचे उतरते हुए बोले—सारथि अपने रथको शीघ्र हटा लो, निर्णय हो गया। हमसे ये सामनेवाले राजा श्रेष्ठ हैं।

श्रीरामजीके चरित्रमें भी 'बैरिउ राम बड़ाई करहीं' का हेतु वर्तमान है। आप आदर्शोंके लिये शत्रु भी मुक्त हृदयसे प्रशंसा करते हैं। युद्धमें प्रमुख योद्धाओंके मारे जानेपर रावणने अपने अनुज कुम्भकर्णको जगाया और सारी स्थिति समझाते हुए युद्धहेतु प्रेरित करने लगा—

ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई॥
कथा कही सब तेहिं अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी॥
तात कपिन्ह निसिचर संहारे। महा महा जोधा सब मारे॥
(रा० च० ६। ६२। १६)

तब कुम्भकर्णने कहा—

'जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान'

'शठ! तू जगज्जननीका अपहरण कर कल्याण चाहता है। लेकिन 'अहित बाट करि नरिरा काका। [illegible] ममात्मा॥' तामसी आहारके कारण बुद्धिमें तमोगुणका प्राबल्य होते ही कुम्भकर्णने रावणसे कहा—'तुम तो अनेक रूपोंको धारण करनेमें सक्षम हो फिर रामके रूपमें आकर तुमने सीताको वशमें करनेका प्रयास क्यों नहीं किया ! तब रावण कहता है कि—'जब मैं रामरूप धारण करनेके लिये रामचन्द्रके स्वरूपका ध्यान करने लगता हूँ, तब शनैः-शनैः मेरे हृदयके सारे कल्मष नष्ट हो जाते हैं—

रामः किं नु भयामभूरुणु गतो नालीदलश्यामलम्
रामाङ्गं भजतो ममापि कलुषो भावो न संजायते।

रामके रूपमात्रसे रावण-जैसे दुश्चरित्रका भी भाव शुभ हो जाता है। यह है भगवान् श्रीरामजीका आदर्श और प्रभाव। चरित्रादर्शका प्रेरक प्रकाश होता है। विभीषणके राजगद्दीपर बैठनेके बाद एक बार विभीषणके रथसे कुचलकर एक ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी। लोगोंने विभीषणको एक भूगृहमें बन्द कर दिया। यह बात जब भगवान्‌को ज्ञात हुई तो उन्होंने वहाँके लोगोंसे कहा—विभीषण मेरा भक्त है, भक्तका अपराध स्वामीका अपराध होता है, अतः 'भृत्यापराधेन स्वामी दण्डमर्हति'। तब सभी उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे। इस प्रकार श्रीरामजीके अनन्त गुण हैं, हर कार्य शिक्षाप्रद है। यहाँ दो-एक प्रसङ्गोंका स्वान्तःसुखायकी भावनासे उल्लेख किया गया है, यथार्थमें 'श्रीराम विग्रहवान् धर्म ही हैं।'

धर्म चरित्रका आगार है और धर्माचरण ही चारित्र्य-लक्षण है। अतः मूर्तिमान् धर्म श्रीरामके चरित्रोंके आदर्शसे चरित्रके निर्माणकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

रामचरितमानसमें सीताचरित्रका आदर्श

(लेखक—डॉ० श्रीगुरुदेवरायजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

चरित्र जीवनकी शिखा-मणि है । चरित्रवान् व्यक्ति ज्योतिपूर्ण होता है । वह अपनेको भी द्योतित है और साथ ही अपने परिसरमें आये हुए अन्य को भी । सत्सङ्गको इसीलिये कल्याणरूप कहा गया इसके फलस्वरूप—'काक होहिं पिक बकहु मराला ।' कोयल और बगुला हंस हो जाता है । रामको कर सर्प-बिच्छू विषका परित्याग करते हैं—
हिं निरखि मन सौंपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी
चरित्रवान् व्यक्ति अपने लिये आत्म-बल-पूर्ण होता है दूसरोंके लिये प्रेरणाका आदर्श स्रोत । साहित्यमें चित ऐसे ही उदात्त चरित्र समाजके लिये आदर्श बनते हैं । रामचरितमानसमें श्रीसीताजी-सा चरित्र ऐसा ही एक आदर्श चरित्र है । तुलसीके मानसमें श्रीसीताजीका चरित्र तीन रूपोंमें वर्णित है—

(२) का जननि जानकी । और (३) अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥ (मानस १ । १८ । ७)

प्रथम चित्र बेटीका, दूसरा माँका और तीसरा पत्नीका है । अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी समस्त नारी जगत्के लिये आदर्शका मानदण्ड हैं । वे परवर्ती पीढ़ीके लिये प्रेरणास्रोत हैं । अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी आदर्श-की सीमा हैं, पर तीन विभिन्न रूपोंका विशेष समाहार जिस एक रूपमें हुआ है, वह है—सती सीताका रूप, करुणा-निधानकी प्रियाका ।

श्रीसीताजी करुणाकी प्रतिरूप हैं । अनावृष्टि-सम्भूत दुर्भिक्ष निवारणार्थ श्रीजनकद्वारा हल-संचालन-क्रममें आप धरतीसे प्रकट हुईं और जनकजीने आपको पुत्रीके रूपमें ग्रहण किया । इस प्रकार विगलित करुणाके रूपमें प्रकट होकर श्रीसीताजीने मिथिलाके इस क्षेत्रको कृषि-तर्गमें आगे बढ़ाया और इसे धन-धान्यसे पूर्ण किया । वन-गमनके संदर्भमें मन्त्री सुमंतसे श्रीसीताजीने अपने पिता-गृहके विपुल वैभवका वर्णन किया है—

पितु बैभव बिलास मैं डीठा । नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा ॥
सुखनिधान अस पितु गृह मोरें । (मानस २ । ९७ । १)

इसी संदर्भमें श्रीकौसल्याजीने भी सीताके सुख और सुकुमारिताको अङ्कित करते हुए श्रीरामके सामने व्यक्त किया था—

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा । सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ॥
(मानस २ । ५९ । ५)

बेटीके रूपमें राजकुलमें पालित, सुकुमारिताकी प्रतिमूर्ति सीता छोटे-मोटे गृह कार्योंके सम्पादनमें रुचि रखती थीं । जनश्रुति है कि शिवजीका धनुष जिस स्थानपर रखा था, उसको लीपनेका काम श्रीसीताजी ही करती थीं । इसी क्रममें एक दिन उन्होंने धनुषको उठाकर उस स्थानपर लगे घास-फूसको साफ कर दिया था । पूजा-कालमें इस साफ-सुथरेपनको देखकर श्रीजनकजीकी प्रसन्नताकी सीमा न रही और सीताजीके बलका अनुमान कर उन्होंने निश्चय कर लिया कि उस धनुषको तोड़नेवाले बलशाली पुरुषके साथ ही वे अपनी इस बेटीका विवाह करेंगे । इस लोककथासे एक ओर जहाँ श्रीसीताजीका बल व्यञ्जित होता है, वहीं दूसरी ओर उनकी सफाईकी अभिरुचि, कर्तव्य-निष्ठा तथा पूजा-कार्य-तत्परता भी प्रकट होती है । पुत्री रूपमें सीता अनन्य लोकप्रिय थीं । परिवारसे, समाजसे उन्हें बड़ा प्यार मिला था, स्नेह मिला था और उन्होंने समाजको, परिवारको एवं मृग-मृगको भी स्नेह दिया था । ऐसी प्यारी बेटीके विदाके समय नातापर हृदय विदीर्ण कैसे नहीं हो । श्रीरामके प्रति सुनयनाके शब्दोंमें—

परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबी ।
(रा० मा० १ । ३३५ छं०)

विसर्जित करना चाहती हैं। पर आँखें ऐसा नहीं करने देतीं—

> बिरह अगिनि उर ऊपर जब अधिकाइ।
> ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देत बुझाइ॥
> (बरवै रा० ३६)

नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
(मानस ५।३१।६)

सीता पति-वियोगको नहीं सह सकतीं। श्रीसीता मरणको वरण करना चाहती हैं, मगर उसके तीन बाधक हैं। (१) श्रीरामका स्मरण, (२) गुण-श्रवण, (३) उत्तरदायित्वका निर्वाह। प्रथमका संचालन नामद्वारा, दूसरेका त्रिजटा और हनुमान्‌द्वारा, तीसरेका मन-बुद्धिद्वारा होता है। श्रीरामद्वारा पूछे जानेपर हनुमान्‌जीने स्पष्ट किया था—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥

श्रीहनुमान्‌ने प्रश्नके दो उत्तर बताये—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥

> नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
> लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥
> (मानस ५।३०)

श्रीसीताने प्राणत्यागमें त्रिजटासे सहायताकी याचना की तो उसने राम-गुण सुनाकर इनकी प्राणरक्षा की और दूसरी बार हनुमान्‌जीने। त्रिजटा—

> सुनत बचन पद गहि समुझाएसि।
> प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥
> (मानस ५।१२।८)

हनुमान्—रामचंद्र गुन बरनै लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ (मानस ५।१३।०)

निष्कासनवनमें वे प्राणत्याग कैसे करें! रामका दायित्व जो है—

दुखी सिय पिय बिरह तुलसी सुखी सुत सुख पाइ॥

श्रीसीताका वधूजीवन दुःखका एक महासागर है। श्रीहनुमान्‌ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था—

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥

और पुनः उन्होंने श्रीरामको—'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही॥' इस शङ्काका समाधान करते हुए कहा था—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोंमें श्रीसीताजीकी विपत्ति-कथा अकथनीय है—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥

सती सीताकी निष्ठा श्रीराममें इतनी प्रगाढ़ है कि वे जीवनमें श्रीरामको या मरणको ही चाहती हैं। यही कारण है कि सीताने कञ्चनपुरीमें आकर लङ्कापतिको नजर उठाकर भी नहीं देखा। उससे बातें करनेमें भी उन्होंने तृणका सहारा लिया।

अपने सतीत्वपर श्रीसीताको अटल विश्वास है और प्रभु-नामका पूरा भरोसा। ये ही दोनों संबल उनके निर्वासित जीवनमें भी धैर्य, सहिष्णुता और जिजीविषा प्रदान करते रहे। अपूर्व कष्ट-सहिष्णुता है—उनमें। रावणकी विशाल शक्ति और प्रभुताको उन्होंने ठुकरा दिया और श्रीराम-प्रतापके भरोसे जीती रहीं। अपने सतीत्वकी उन्होंने प्रवासमें भी रक्षा की। यही कारण है कि महासती अनसूयाने श्रीसीताके सामने सतीके लक्षण और वर्गीकरण उपस्थित करते हुए श्रीसीताको सती नारियोंके प्रथम वर्गमें रखा और अपनेको दूसरे वर्गमें। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सब लक्षणोंके लक्ष्य तो सीताजी स्वयं ही हैं, कथा तो मात्र जगत्-कल्याणके लिये कही गयी है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

> सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
> तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥
> (मानस ३।४।१२ दो० ५,)

ऐसी ही अपनी बेटी सीताको जब जनकजीने चित्रकूटमें तापस वेषमें देखा तो उनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। उच्छ्वसित कण्ठसे वे बोल उठे—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ॥

सती सीताकी पवित्रताकी उपमा उन्होंने गङ्गासे दी और श्रीसीताको गङ्गासे भी महत्तर बतलाया—

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे॥
(मानस २। २८६। ३-४)

इस प्रकार यहाँ भी सीताचरित्र परम धन्य है— 'सियहि सबंध चरित सुनि भामू।' सती-साध्वी सीताके चरित्रपर ज्ञात-अज्ञात जो भी शङ्काएँ उत्पन्न हुईं, उनका निराकरण साध्वीने प्रथमबार लङ्कामें अग्नि-परीक्षा देकर यह कहते हुए किया था—

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥

और सतीके प्रतापसे सब श्रेयस्कर हुए—

प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
(६। १०८। छं० ५७)

दूसरी बार कलङ्कका निवारण सीताको निर्वासिता होकर करना पड़ा। लोकमें चर्चा चलने लगी थी। श्रीरामने लोकहितमें यह निर्णय ले लिया था—

चरचा चरनिसों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोक धुनि घर घरनि बूझी आइ।
तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ।
बालमीकि मुनीस आश्रम आइयहु पहुँचाइ॥
(गीतावली ७। २५)

सीताजी निर्वासिता होकर वाल्मीकिके आश्रममें चली गयीं। सीता-चरित्रकी यह विशेषता है कि उन्होंने पतिके विरुद्ध भावनाको कहीं की और न उनके अधिकारोंको ही मनमें स्थान दिया। आश्रमतक पहुँचाने वाले लक्ष्मणसे उन्होंने मात्र इतना ही कहा था— 'तापसी सब तापसिनि; ज्यों राजधर्म बिचारि।' सीताजीने अपने लिये किसीसे कुछ न माँगा। विवाहके पूर्व उन्होंने गौरीसे मात्र मनोरथ-पूर्तिकी याचना की और वैवाहिक जीवनमें गङ्गासे अपने पति-देवरके साथ सकुशल लौटनेकी।

श्रीसीताजीके चरित्रका तीसरा रूप उनके सरल मातृत्वमें है। लव-कुशके जन्मके बहुत पूर्व ही उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीको पुत्र मान लिया था—'अजर अमर गुननिधि सुत होहू' और आजीवन उन्हें पुत्र मानती रहीं। श्रीसीताजीके मातृहृदयको परखकर ही श्रीसुमित्राने वनगमनके समय श्रीलक्ष्मणसे कहा था—'तात तुम्हारि मातु बैदेही'। श्रीसीताजी मात्र इतने ही लोगोंकी माँ नहीं हैं। वे जगज्जननी हैं, संसारकी उद्भवकारिणी हैं। लौकिक रूपसे लव-कुशको जन्म देकर भी सीता दुखी ही रहीं। उनका जीवन हर्ष-विषादका विचित्र सम्मिश्रण रहा।

दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी, सुत-सुख पाइ।
आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ॥
(गीता० १६)

श्रीसीताका सम्पूर्ण जीवन भावी पीढ़ीके लिये एक संदेश है। नारी कल्याणकी प्रतिमूर्ति है। उसका जीवन जगत्‌की उत्पत्ति और पालनके लिये है। उसकी पूर्णता मातृत्वमें है और सफलता पातिव्रत्यमें। वह पुरुषसे भिन्न नहीं, उसका अभिन्न अङ्ग है। वे माया हैं, ब्रह्मकी आह्लादिनी शक्ति हैं।

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।'

भ्रातृ सेवी लक्ष्मणजीका आदर्श चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीदेवकीनन्दनजी श्रीवास्तव)

शेषावतार लक्ष्मण परात्पर परब्रह्मके नरावतार भगवान् रामके अनन्य सहचर, नित्य-बन्धु और परम नैष्ठिक भक्त हैं। वे लोकमें सामान्य धर्मके प्रतिष्ठापक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी रहस्यमयी लीलामें विशेष धर्मके परम आदर्श हैं। आदिकवि वाल्मीकिने लक्ष्मणको श्रीरामका 'बहिः प्राण इवापरः' कहकर दोनोंको अभिन्नात्माके रूपमें देखा है। लक्ष्मणसे भगवान् रामका इतना प्रगाढ़ ममत्व था कि शैशवकालमें बिना लक्ष्मणके न वे सो पाते न खा पाते थे—'न च तेन विना निद्रां लभते नरपुरुषोत्तमः'। गोस्वामी तुलसीदासने दोनोंके सनातन सम्बन्धकी प्रगाढ़ताकी अभिव्यक्ति राजर्षि जनकके इस गूढ़ वाक्यमें की है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

(मानस १ । २१६ । ४)

एक ही परब्रह्म मानो दो वेष धारण करके प्रकट हुए हैं। तत्त्वतः रामसे अभिन्न होते हुए भी व्यवहारतः लक्ष्मण उनके सनातन सखा और सुहृद् हैं। स्वरूपतः उन्हींकी प्रतिमूर्ति होते हुए भी लीलार्थ उनके पूरक रूपमें हैं। स्वभावसे उग्र लक्ष्मण स्वभावसे प्रशान्त भगवान् रामके चरित्र एवं व्यक्तित्वके सम्पोषक हैं। उनका यश रघुवंशमणि श्रीरामकी कीर्ति-पताकाको धारण करनेवाले दण्डके समान है—

रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥

(मानस १ । १७ । १)

शुभ लक्षणोंके धाम, भगवान् रामके परम प्रिय तथा समस्त जगत्के आधार होनेके कारण ही वसिष्ठने उनका लक्ष्मण जैसा उदार एवं उदात्त नाम रखा था—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

(मानस १ । १९७)

लक्ष्मणजीके स्वभावकी विचित्रता यह है कि उनकी सारी उग्रता, उनका सारा रोषावेश अवतार-लीलाके विविध प्रसङ्गोंमें सर्वांशेन अपने परम इष्टदेव रामके प्रति समर्पित है। उनका सारा व्यक्तित्व रामके व्यक्तित्वके लिये ही अनन्य भावेन सक्रिय रहता है। सिवा भगवान् रामके नित्य सामीप्य-लाभसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, कोई परमार्थ नहीं। उनके विशेष धर्मका रहस्य यही है कि उनके लिये सामान्य धर्मकी उपयोगिता सर्वत्र नगण्य है। कोई भी ऊँचा-से-ऊँचा नैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक-आदर्श उनके लिये उसी सीमातक महत्त्वपूर्ण है जहाँतक वह रामके अनन्य सान्निध्यमें सहायक हो। सहज सलोना उनका गौर शरीर परम सुकुमार और उनका संवेदनशील हृदय राम-प्रेमसे आकण्ठ भरपूर है। परंतु अपने इष्टदेव राम-पर किसी प्रकारकी आँच आनेकी सम्भावना मात्रसे वे परम कठोर और असहिष्णु हो उठते हैं। उनका सर्वस्व मनसा-वाचा-कर्मणा रामप्रेमकी प्रगाढ़ताके वशीभूत हो सम्पूर्ण वेगके साथ उर्जस्वित हो उठता है।

धनुष-यज्ञ-प्रसङ्गमें जनक और परशुरामके प्रति लक्ष्मणका तीव्र आक्रोश, चित्रकूट-प्रसङ्गमें भरत-शत्रुघ्नके प्रति उनका असाधारण रोषपूर्ण वीरोत्साह इस तथ्यके ज्वलन्त प्रमाण हैं। रामके चित्तमें तनिक-सी भी उलझन उन्हें सह्य नहीं। वे तत्काल उस उलझनके मूलोच्छेद हेतु व्यग्र हो उठते हैं। स्वार्थसम्बन्धसे सर्वथा मुक्त उनकी यह असहिष्णुता भी रागबोधके स्तरपर कितनी भोली और सुकुमार लगती है! सच बात तो यह है कि उनके इस उग्र और अक्खड़ व्यक्तित्वके साहचर्यके बिना मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामके व्यक्तित्वका प्रभाव एवं चमत्कार भलीभाँति उजागर न हो पाता। श्रीरामका

असामान्य शौर्य-निर्वाह अनेक अंशोंमें लक्ष्मणके असामान्य तेज-प्रवाहके सन्दर्भ ही इतना आकर्षक एवं प्रेरणादायी हो सकता है।

धनुष-यज्ञमें आये हुए सारे राजा शंकरके धनुषको तिलभर भी हिलानेमें असमर्थ होकर बैठ जाते हैं और जनक अपना क्षोभ व्यक्त करते हैं। उस समय रघुनन्दन राम तो शान्त रहते हैं पर लक्ष्मणसे नहीं रहा जाता और वे पूरे वेगके साथ जनकपर बरस पड़ते हैं, उनकी उग्रमुद्रा सभीका ध्यान खींच लेती है—

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥

(मानस १।२५२)

उनकी यह गर्वोक्ति भी भगवान् रामके प्रतापकी अभिव्यक्तिसे ही प्रेरित है—

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

(मानस १।२५३)

परशुराम-लक्ष्मण-संवादमें लक्ष्मणकी व्यङ्ग्योक्तियाँ उनके हास्य-विनोद-व्यङ्ग्य-सम्पन्न वाक्चातुर्यका परिचय देती हैं। मात्र लोकमर्यादाकी दृष्टिसे कहीं-कहीं उनकी उक्तियोंमें शिष्टाचारका उल्लङ्घन भी प्रतीत होता है, पर इष्टदेव रामके प्रति उनका तीव्र अनुराग ही मर्यादा-तिक्रमण-हेतु उन्हें प्रेरित करता है। परशुराम क्रोधावेशमें अपना संयम खो बैठते हैं, पर लक्ष्मण उनकी सारी डाँट-फटकार सुनते हुए और उन्हें चिढ़ाते हुए स्वयं प्रकृतिस्थ बने रहते हैं; क्योंकि उनकी सारी व्यङ्ग्योक्तियाँ अहंकारकी स्वार्थगत भूमिपर न होकर एकमात्र परम इष्टदेव रामके स्वभाव एवं स्वरूपकी गौरव-प्रतिष्ठाकी ओर अग्रसर हैं। उनके इस प्रकृतिस्थ व्यङ्ग्य-चातुरीकी एक झलक देखिये—

भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ॥
आजु दया दुखु दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहसि सिरु नावा॥
बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥
जौं पै कृपाँ जरिहिं मुनि गाता। क्रोध भएँ तनु राख बिधाता॥

(मानस १।२८०)

चित्रकूट-प्रसङ्गमें जब दूरसे उठती हुई धूलिको देखकर और यह सुनकर कि भरत चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आ रहे हैं, रामके चित्तमें कुछ उलझन होती है, उसका संकेतमात्र पाते ही लक्ष्मणका वीरोत्साह पूरे आवेगके साथ जाग उठता है और वे रामप्रेममें भ्रातृभावकी मर्यादाका अतिक्रमण करके कह उठते हैं—

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥

(मानस २।२३०)

भले ही लक्ष्मणका यह वीरोत्साह भरतके स्वभावकी गरिमा और महिमाको देखते हुए स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता, पर रामके अनिष्टकी संभावनाकी आशंका लक्ष्मणकी सारी ऊर्जाको सक्रिय कर देती है। यह रामके प्रति उनकी असाधारण सावधानी और उनके प्रति अनन्य सेवाधर्मकी प्रखर भावनाका उन्मेष है। अयोध्यामें वन-गमनके अवसरपर भगवान् श्रीराम लक्ष्मणको धर्म एवं नीतिका उपदेश देते हुए घरमें रहनेका आदेश देते हैं; पर अपने इष्टदेवका भी यह आदेश उन्हें नहीं सुहाता जो उन्हें इष्ट-सेवाके सुखसे वञ्चित करे। उनके इस विशेष सेवाधर्मके आगे सारे अन्य धर्म गौण हैं, त्याज्य हैं। यही कारण है कि वे माता, पिता, पत्नी आदि सभी आत्मीयजनोंका ममत्व त्यागकर सर्वभावेन रामकी सेवाके लिये चल पड़ते हैं। वे किसी धर्म एवं नीतिका विरोध नहीं करते पर अपने विशेष धर्मके मार्गमें आनेवाले किसी भी आदर्शको स्वीकार करनेकी स्थितिमें नहीं हैं।

उनकी अपनी स्नेहपूर्ण विवशताकी अभिव्यक्ति स्वयं उन्हींके शब्दोंमें द्रष्टव्य है—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
(मानस २ । ७२ । १-४)

लक्ष्मण भगवान् रामके अनन्य सेवक ही नहीं, परामर्शदाता सखा भी हैं। किसी रामको आश्वस्त देनेका दायित्व भी वे निभाते हैं।

लक्ष्मण और रामके प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्धकी सर्वाधिक मार्मिक अभिव्यक्ति लक्ष्मण-मूर्च्छा-प्रसंगमें होती है—जब राम स्वयं लक्ष्मणके बिना जीवन-धारणमें असमर्थ हो रहे हैं। फिर मर्यादापुरुषोत्तम सत्यसन्ध रामको लक्ष्मणकी अनन्य निष्ठासे अभिभूत होकर यहाँतक कहना पड़ा कि—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
(मानस ६ । ६१ । २)

'बन्धु-बाहु' लक्ष्मणके बिना उनका सारा पुरुषार्थ शिथिल हो जाता है और वे प्राण छोड़नेको आतुर प्रतीत होते हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु, सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
(गीतावली ६ । ७)

संजीवनी पाकर मूर्च्छासे जाग्रत् लक्ष्मणसे जब पीड़ाके सम्बन्धमें पूछते हैं तो प्रेम-पुलकित-विभोर अनुजका कितना भोला, स्निग्ध एवं रोचक उत्तर निम्नलिखित पदमें वर्णित है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेमपुलकि बिसराय सरीरै॥
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा-सुख छति-लाहु भूपकहँ, केवल कांति-मोल हीरै॥
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै-नीरै॥
(गीतावली ६ । १५)

क्षीर-नीरको तो विवेकी हंस पृथक् भी कर सकता है, अतः रामसे सर्वात्मना अभिन्न लक्ष्मणके प्रेमकी उपमा उससे कैसे दी जाय!

जिनका अगाध प्रेम कोटि हिमगिरि-जैसे अचल धीर भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम रामको इतना अधीर और किंकर्तव्यविमूढ़ बना दे, उन लक्ष्मणके व्यक्तित्वकी तुलना भला रामकथाके किस अन्य पात्रसे सम्भव है! 'स्वातक चतुर राम स्याम घनके' चाहक उर्मिलावल्लभ अनन्य किशोर धर्मनिष्ठ लक्ष्मणके जिस स्वभावका उद्घाटन गोस्वामी तुलसीदासने विनय-पत्रिकामें किया है, उसमें उनके सारे चरित्रकी रूपरेखाका सहज साक्षात्कार हो जाता है। उर्मिलाका त्यागमय जीवन भी प्रियतम लक्ष्मण सीता एवं रामके प्रति अनन्य निष्ठाकी परिपूर्णताको चरितार्थ करता है। जैसे लक्ष्मणका व्यक्तित्व रामके प्रति सर्वांशेन समर्पित है, वैसे ही सती-साध्वी सुकुमार-हृदय उर्मिलाका परोक्ष योगदान लक्ष्मणके प्रत्यक्ष योगदानकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म एवं गम्भीर है। सुमित्रानन्दन उर्मिलावल्लभ रामार्पित तन-मन-प्राण साक्षात् परात्पर पुरुषोत्तमके ही सनातन प्रतिरूप सुकुमार-हृदय लक्ष्मणका चरित्र एवं व्यक्तित्व अनूठी रहस्यमयतासे मण्डित है। भ्रातृ-भावके पवित्रोन्नायकके रूपमें इनका चरित्र अनुकरणीय है।

भरतका आदर्श एवं उत्प्रेरक चरित्र

(लेखक—श्रीमुकुटबिहारी भदौरिया)

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
(मानस १ । १६ । ३)

श्रीगोस्वामीजीने रामचरितमानसमें भाइयोंमें सर्वप्रथम श्रीभरतजीके चरणोंकी वन्दना की है। उनके नियम और व्रतोंका वर्णन नहीं किया जा सकता है। कहते हैं कि गोस्वामीजीने स्वयं अपने वचनोंमें श्रीभरद्वाज मुनिद्वारा कही रामायण सुनी थी। इधर श्रीभरद्वाज मुनिद्वारा भरतजीको उच्चश्रेणीकी सनद प्राप्त हो चुकी थी। श्रीतुलसीदासजीने उन्हें किस लिये प्रथम स्मरण किया! श्रीभरद्वाज मुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
(वही २ । २०७ । ४)

अतः गोस्वामीजी इसकी पुष्टि करते हैं—

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥
(वही १ । १६ । २)

श्रीभरतजीका मन रामजीके चरणकमलोंमें भौंरेकी भाँति लुभाया हुआ है, कभी उनका पास नहीं छोड़ता। अतः सर्वप्रथम प्रभुप्रेमी भरतकी वन्दना करना आवश्यक था। श्रीभरतजी रामजीके स्वरूप ही हैं। वे स्नेहावतार माने गये हैं। उनका वर्ण भी श्रीरामसे मिलता है। इनके पहचाननेमें भ्रम हो जाता है; यथा—

भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥
(वही २)

श्रीवसिष्ठजी नामकरण-संस्कार कर रहे हैं। उन्होंने विश्वका भरण-पोषण करनेवाले होनेके कारण इनका नाम 'भरत' रखा। मुनिने कहा था—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
(वही १ । १९६ । ४)

धर्मके आधारपर ही सृष्टि है और धर्म ही पृथ्वीको धारण किये हुए है। भरत इस धर्मकी सृष्टिको धारण करनेवाले थे—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥
(वही २ । २३२ । १)

श्रीरामजीको मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है, उन्होंने कभी धर्मकी मर्यादा भंग नहीं की। वे लक्ष्मणजीसे स्वयं कहते हैं कि भरतजीका चरित्र-चित्रण करना साधारण काम नहीं है। वह साधारण व्यक्तिकी बुद्धिसे परे है—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
(वही २ । २३० । ४)

'लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें न तो कहीं सुना गया और न देखा गया।' इस सबका कारण भरतकी भ्रातृ-भक्ति, प्रभु-चरण-प्रेम और उनका आदर्शचरित्र ही था। जनकपुरमें धनुष टूटता है। अवधपुरीमें दूत वहाँसे समाचार लेकर आते हैं। उस समाचारको सुनकर भरतजी पुलकित हो उठे हैं। भरतजीके पवित्र प्रेमको देखकर सारी सभाने सुख पाया। महाराज दशरथके आदेशपर 'चलहु बेगि रघुबीर बराता।' भरत और शत्रुघ्न 'पुलक प्रेम पूरे सब गाता।' आप कहेंगे कि दोनों भाई पुलकित हुए, इसमें भरतकी ही क्या विशेषता रही। भाई! शत्रुघ्न तो भरतके अनुगामी थे। भरतको देखकर उन्हें तो पुलकित होना ही था; क्योंकि वे थे 'सूर सुसील भरत अनुगामी।'

श्रीभरतलालजी परिवारके शुभ-चिन्तक थे। सदैव कैकेयीके अन्याय-अनर्थके समय श्रीभरतलालजी ननिहालमें थे। परंतु,

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
(वही २ । १५७ । १)

अयोध्यामें अनर्थ प्रारम्भ होते ही भरतजीको अप-शकुन होने लगे। वे रात्रिमें भयंकर स्वप्न देखने

भ्रातृप्रीतिके अनुपम आदर्श

उन सपनोंके बारेमें जागनेपर करोड़ों प्रकारकी बुरी-बुरी कल्पनाएँ किया करते और इनके निवारणार्थ वे—

मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥
(मानस २। १५९। ४)

शिवजीसे परिवारकी कुशल मनाते हैं। इसी बीच अयोध्यासे दूत आ जाते हैं। दूतोंने कहा—'भरतजी! आपको गुरुजीने बुलाया है।' फिर क्या था—

चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके॥
हृदयँ सोचु बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जियँ जाउँ उड़ाई॥
(वही २। १५७। १)

हवाके समान चलनेवाले घोड़ोंको हाँकते हैं कि वे और तेज चलें। विकट नदियाँ, पर्वत और जंगलोंको लाँघते जा रहे हैं। उनके (भरतके) हृदयमें बड़ा सोच है। कुछ सुहाता नहीं। मनमें ऐसा विचार कर रहे हैं कि उड़कर पहुँच जाऊँ। परिवारसे चिन्तित होनेके कारण मार्गमें पुल आदिका विचार नहीं, सीधे चल रहे हैं। फिर भी आतुर हैं कि शीघ्र अयोध्या पहुँच जायँ। ऐसे थे, भरतजी परिवारके शुभचिन्तक। श्रीभरतजी अपने परिवारके सर्वप्रिय व्यक्ति थे। माता कौसल्याजीसे श्रीराम वन-गमनकी आज्ञा माँग रहे हैं। माता कहती हैं—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
(वही २। ५५)

(राजा दशरथजीने) राज्य देनेको कहकर तुम्हें वन दे दिया, इसका मुझे लेशमात्र दुःख नहीं है। (दुःख तो इस बातका है कि) तुम्हारे बिना भरतको, महाराजको और प्रजाको बड़ा भारी कष्ट होगा। सबसे पहले माताजीको श्रीभरतलालकी चिन्ता हुई। श्रीरामचन्द्रजी चित्रकूटकी पर्णकुटीमें रहते हुए 'भरत सनेह सील सेवकाई'का स्मरण कर 'कृपा सिंधु प्रभु होहिं दुखारी।' तथा प्रभुको दुःखी देखकर 'कहि सिय लखन बिकल होइ जाहीं॥' चित्रकूटमें माता कौसल्या पुनः अपने वचनोंकी पुष्टिमें सुनयनाजीसे कहती हैं—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥
(वही २। २८२)

वे भरतजीको सान्त्वना भी देती हैं—

'कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ।'

तथा बार-बार पुष्टि भी करती हैं—'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे।' श्रीभरद्वाजजीने भी भरतजीसे इसका समर्थन करते हुए कहा था—

'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥'
'लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥'

निषादराज भी सौगन्ध खाकर भरतको विश्वास दिलाते हैं—'तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहत हौं सौहें किए।' इन प्रकरणोंसे सिद्ध है कि श्रीभरतजी परिवार-प्रिय व्यक्ति थे। वे संकोची भी कम न थे। संकोचवश वे कभी श्रीरामसे सीधी बात भी नहीं करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है—

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पियासे नैन॥

ऐसे संकोची एवं अनुरागी, भ्रातृ-भक्त भरतजीको जब पता लगा कि महाराज दशरथजी मृत्यु हो गयी है तो वे विषादसे बेहाल हो गये और तात! तात!! हा तात!!! पुकारते हुए भूमिपर गिर पड़े। परंतु, जब उन्होंने कैकेयीसे राम-वन-गमन सुना तो—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥

श्रीरामजीका वन जाना सुनकर वे पितृ-वियोग-विषाद और घोर दुःख तुरंत भूल गये। हृदयमें इस अनर्थका कारण अपने आपको ही जानकर वे मौन हो गये। वे सन्न रह गये। बड़ा संकोच हुआ उन्हें।

उन्होंने कैकेयीको भी कठोर शब्द कहे। परंतु ऐसी दशामें भी वे दयाके सागर बने रहे। जिस मन्थराने यह सब उत्पात उत्पन्न किया था, उसे जब श्रीशत्रुघ्नजी दण्ड देने लगे तो छुड़ा दिया 'भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई।' माताको वे सान्त्वना देते समय दोनों हाथ जोड़कर पवित्र और मीठी बातें बोले—'माँ! यदि राम-वन-गमनमें मेरी सम्मति हो तो कर्म, वचन और मनसे होनेवाले जितने पातक और उपपातक हैं, जिन्हें कविगण पाप गिनते हैं, वे सब पाप मुझे लगें।'

वे श्रीभरद्वाज मुनिकी पहुनाई सङ्कोचवश अस्वीकार न कर सके और यह सोचकर कि यह बिना अवसर बेढंगा संकोच आ पड़ा, बोले—'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।' पहुनाई स्वीकार की। परंतु श्रीभरद्वाज-जीकी आज्ञासे रातभर भोग-सामग्रियोंके पास रहनेपर भी भरतजीने मनसे भी उनका स्पर्श नहीं किया। धन्य है, श्रीरामप्रेम! कैसे करते? 'राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥' इस दुःखसे उनकी छाती जल रही थी। उन्हें 'भूख न बासर नीद न राती॥' कुछ नहीं सुहाता था। उन्होंने अयोध्याकी राज्यसभामें अपनी स्पष्ट घोषणा की—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

अब वे श्रीरामको लौटाने चल पड़े। चित्रकूट जाते समय वे स्वयं उपवास करते, कन्द-मूल-फल खाते और भूमिपर शयन करते थे। प्रथम दिनकी यात्राका प्रभाव भरतजीके पीछे चलनेवालोंपर पड़ा।

फिर क्या था! अश्वारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे। परंतु अपने पुत्रोत्तम प्रभावकी और सानुज भरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें राजमाता कौसल्याजी असमर्थ हो गयीं। वे दौड़ी रथपरसे कहने लगीं—मेरे भरत! तुम रथ आरूढ़ हो लो, अन्यथा तुम्हारा यह प्रिय परिवार महान् क्लेश प्राप्त करेगा। कलि-कुल-कमल-दिवाकर पूज्यचरण श्रीगोस्वामीजीने राजमाताद्वारा यह भी कहला दिया कि यदि तू पैदल चलेगा तो मैं भी शिबिकाका त्याग कर दूँगी। राजमाताकी आत्मीयतापूर्ण मधुरिमा-रससानी अनुरागसानी और ओजस्विनी वाणी सुनकर भरतजी संकोचवश ननु-नच न कर सके और—

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥

अब भरतलालजीकी एक और अनुरागमयी झाँकीके दर्शन करें—

प्रातक्रिया करि मातु पद बंदि गुरहि सिरु नाइ।
आगें किए निषाद गन दीन्हेउ कटकु चलाइ॥
(मानस २। २०२)

प्रातःकालीन शौच, स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि दैनिक कर्मोंसे निवृत्त होकर भरतजीने क्रमशः सम्मान्य माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीके चरणोंकी वन्दना की। पथ-प्रदर्शक निषादगणको आगे करके सेना- (समाज-)को प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी। तत्पश्चात् निषादराजको आगे करके उन्हींके संरक्षणमें माताओंकी शिबिकाओंने प्रयाण किया। श्रीभरतलालजीने श्रीशत्रुघ्नजीको बुलाकर निषादराजका सहगामी बना दिया। श्रीशत्रुघ्नजीको भी भरतजी आज अपने सहवासमें नहीं ले रहे हैं। यह एक विशेष बात है। भूसुरवृन्दोंके साथ गुरुदेवने भी प्रस्थान किया। समस्त समाजके प्रस्थान कर देनेपर, भरतजी परम पवित्र-सलिला श्रीसुरसरिजीकी वन्दना करके सानुज श्रीसीतारामका मङ्गलमय स्मरण कर आगे बढ़े। पर आजकी परिस्थितिमें भूमि-आकाशका अन्तर है। अन्य समाज, समस्त जनसमुदाय वाहनोंपर है और श्रीभरतजी 'पयादेहि पाय' हैं। जब लेकर सुवेषक मार्गमें बढ़ रहे हैं

और सोच रहे हैं कि कुछ दूर चलनेपर स्वामी अवश्य घोड़ेपर सवार होंगे। परंतु, यह क्या! बहुत समयपर्यन्त भी श्रीभरतजी उनकी ओर देखतेतक नहीं हैं। इसपर उन सेवकोंका धैर्य टूट जाता है। वे लोग प्रार्थना करने लगे—'स्वामिन्! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमिमें चलने योग्य नहीं हैं। नाथ! अश्वारूढ़ हो जायँ।' इन वचनोंको सेवकोंने कई बार कहा—

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥

परंतु श्रीभरतलालजी प्रेमपर अटल रहे। उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही पढ़िये—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

'भैया! जिस पथपर श्रीरामके चरण पड़े हैं, उचित तो यह है कि उस पथपर मेरा मस्तक पड़े।' वे पैदल ही चलते रहे। भरतकी इस पैदल यात्राका समाचार जब जनसमुदायको सन्ध्या-समय प्रयागमें मिला तब वे सब अत्यन्त दुखी हुए। आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतजीके मनपर तो नहीं, परंतु पैरोंमें छाले डाल ही दिये—

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥

श्रीरामजीको लौटानेके लिये भरतलालजी जन-समुदाय लेकर चित्रकूट पहुँचे। राजसभामें विचार हो रहा है—'अब क्या किया जाय?' उस समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी भरतसे संकोच दूर करके स्पष्ट वचन कहनेको कहते हैं—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

यह सुनकर भरतजीने 'मिटी मलिन मन कलपित सूला।' यह समझकर अपने हृदयका संकोच श्रीरामजीकी ओर प्रेरित कर कहा—प्रभो!

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

और, श्रीरामचन्द्रजी यह सुनकर चुप रह गये।

श्रीभरतजीके संकोचका एक और उदाहरण देखिये—श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौट आये हैं। अयोध्यामें राज-काज सुचारुरूपसे चल रहा है। भाइयोंसहित श्रीरामजी सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ सनकादि मुनि आ गये। सत्सङ्गके पश्चात् मुनिगण विदा हुए। अब श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामसे कहा—

नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥

श्रीरामने कहा—मुझमें और भरतमें कुछ अन्तर नहीं है। वे बोले—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

श्रीरामके चरित्रसे होड़ लेनेकी सामर्थ्य रामचरितमानसमें केवल भरतको ही है। कुछ बातोंमें वे श्रीरामसे भी आगे हैं। श्रीरामने पिताके वचन पूरे करनेके लिये अयोध्याके चक्रवर्तित्वका जन्मसिद्ध अधिकार हँसते-हँसते छोड़ दिया था; किंतु भरतने तो उस राज्यको अनायास ही पाकर और माता कौसल्या, वसिष्ठ, मन्त्रिजन एवं प्रजा ही नहीं, स्वयं श्रीरामके अनुरोध करनेपर भी उसकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। ऐसा था, भरतका अभूतपूर्व त्याग। राजसभामें श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—

यह सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥
रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥

मन्त्री हाथ जोड़कर कहते हैं—

कीजिअ गुर आयसु अवसि……।

माता कौसल्या धीरज धर कर कहती हैं—

सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

परंतु भरतजी सबको उचित उत्तर देते हैं—

कहहिं भाँति हरष मन माहीं। मानपान चाहिदउँ प्रभु पाहीं॥

चित्रकूटमें महाराज जनक भी भरतके त्यागके प्रमाणका समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे।

श्रीरामने स्वयं भरतजीके त्यागपर अपना विश्वास प्रकट किया है। वे श्रीलक्ष्मणजीको समझाते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।

चित्रकूटसे लौटकर भरत नन्दिग्राममें रहे। उनके उस तप और सेवाका चित्र महाकविने खींचा है—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥

श्रीभरतजीके नियमों और व्रतोंका वर्णन करनेके लिये महाकवि ही नहीं, अपितु सभी संकोच करते हैं।

बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस महेस गिरा गमु नाहीं॥

भरतजी—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

—रूपमें रहते थे। धन्य है उनका सेवाव्रत! उनके इस तपकी सब साधु सराहना करते हैं। सबने उन्हें रामकी तुलनामें उच्च स्थान दिया है—

दोउ दिसि (राम और भरत) समुझि कहत सब लोगू।
सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

श्रीभरतजी रामचरितमानसमें सर्वश्रेष्ठ रामभक्त थे। वे स्वयं कहते थे कि 'सियपति सेवकाई'में ही मेरा हित है। सच पूछिये तो भरत श्रीराम-स्नेहके रूप थे। उनकी भक्तिके कुछ प्रमाणक राम, जो भरतको प्राप्त हुए थे, उन्हें देखिये—भरद्वाज मुनि कहते हैं।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

श्रीमुनिने भरतका स्वरूप कितना स्पष्ट कर दिया है। कोई भरतको चाहे कुछ समझे, परंतु श्रीमुनिकी सम्मतिमें वे मूर्तिमान् श्रीराम-प्रेम थे। देवगुरु श्रीबृहस्पति भी कहते हैं—

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥

श्रीभरतजी चित्रकूट जा रहे हैं। श्रीसुरेशजी सोचमें पड़ गये, कहीं भरतजी श्रीरामको लौटा न लायें। अतः वे सहायतार्थ अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास गये। गुरुजी बोले—खबरदार! अब भरतके मार्गमें कोई रोड़ा न डालना; क्योंकि—

जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

और—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

रानी सुनयनाको समझाते हुए जनकजी कहते हैं कि यद्यपि रामजी समताकी सीमा हैं, परंतु भरतजी प्रेम और ममताकी सीमा हैं—

अवधि सनेह भरत ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥

श्रीराम भी चित्रकूटमें भरतसे मिलनेके बाद कहते हैं—भैया भरत! तुम दुःखी क्यों हो? अरे! तुम्हारे नाम-स्मरणमात्रसे सारे पाप और अज्ञान मिट जाते हैं। भरत! यह पृथ्वी तुम्हारे ही रखे रह रही है—शिवका साक्ष्य देकर सच कहता हूँ—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥

माता कौसल्या चित्रकूटमें रानी सुनयनासे कहती हैं कि 'भरतके शील, गुण, नम्रता, बड़प्पन, भाईपन, भक्ति, विश्वास और भलाईयोंका वर्णन करनेमें सरस्वतीजीकी बुद्धि भी हिचकिचाती है। सीपसे कहीं समुद्र उलीचा जा सकता है!' श्रीराम-माताने अपने प्रमाणमें कई हेतुओंका उल्लेख कर भरतको अनुपम पात्र घोषित किया है—

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥

महर्षि भरद्वाजने प्रयागमें भरतको जो उपदेश दिये हैं, उनके बहाने महाकवि तुलसीदासजीने संस्कृतको भरत-चरित्रका अवगाहन कराया है। उनके उद्गार हैं—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

(मानस २। २०८, २०९। १)

✿

और—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।

(मानस २ । २०९ । १)

इस प्रसङ्गमें यह भी ध्येय है कि सत्ता प्राप्त करनेहेतु प्रायः सर्वत्र दो पक्षोंमें युद्ध, विवाद अथवा संघर्ष हुए हैं। परंतु, यहाँ सत्ता-त्यागके लिये विवाद होनेपर सत्ताको दोनों ओरसे त्यागा गया है और इस प्रकार श्रीराम सत्ता छोड़ने और श्रीभरत सत्ता ग्रहण न करनेमें विजयी रहे हैं अर्थात् दोनों पक्षोंकी जीत ही रही है। क्या आज हम भरत-चरित्रका अध्ययन करके वर्तमान भाई-भाईके हत्याकाण्डों, मुकदमोंसे घृणा करना सीख सकते हैं! अवश्य, अध्ययन तो करें। आज हम छोटे-छोटे पदोंके प्राप्ति-हेतु भाईकी हत्यातक करनेमें नहीं चूकते। कहाँ गया हमारा सनातन चरित्र!

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(मानस २ । ३२६)

भगवान् श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—श्रीरतनलालजी गुप्त)

समाजके चरित्रका जब ह्रास होने लगता है, उसके शीर्षस्थ व्यक्ति जब धर्मके वास्तविक रूपके ज्ञानसे वञ्चित हो जाते हैं अथवा जीवनमें उसकी अपेक्षा नहीं समझते और ऐसे ही जब अधर्म ही धर्मका स्थान ग्रहण कर लेता है, तब श्रीभगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। इससे श्रुति, स्मृति एवं ऋषियोंके रुचिवैचित्र्यसे धर्माधर्मके निर्णयमें असमर्थ साधकगण उनके चरित्रका श्रवण, कीर्तन, मनन एवं अनुकरण कर अपने वैयक्तिक, जातीय एवं राष्ट्रिय चरित्रका निर्माण कर सकें। अतएव यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भगवान् श्रीकृष्णका अवतार मानव-समाजको चरित्र-शिक्षा प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही हुआ था।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अवसानमें श्रीकृष्णके उदात्त कर्मजीवनका सूत्रवत् परिचय देते हुए व्यासदेव कहते हैं—'यत्कृतो गोत्रधर्मः कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य' (श्रीमद्भा० १०। ९०। ४७) अर्थात् 'जिन्होंने ऋषियोंके वंशों एवं प्रवरोंके धर्मोंका विधान किया, उन कालचक्रधारी श्रीकृष्णके लिये भूमिके भारका उतार कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।' कालके अनवच्छिन्न प्रवाहमें सृष्टिके पूर्वजोंके भी वे ही गुरु हैं। महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगसूत्रमें यह बात कही है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। ऐसी स्थितिमें लोकचरित्रके शीर्षस्थानीय ऋषियोंने अपने पूर्ववर्ती जिन ऋषियोंके चरित्रका सुतरां अनुकरण करके अपने जीवनको दूसरोंके लिये आदर्शरूपमें उपस्थापित किया, श्रीकृष्णका आदर्श चरित्र उनके भी उदात्त चरित्रकी आधारशिला बना। जैसे मनुष्य सीढ़ी-चौकी आदि किसी भी स्थानपर अपने पैर रखे, वे पृथ्वीपर ही रखे जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी पूर्ववर्ती महापुरुषके जीवनादर्शपर सुसंगठित ऋषियोंका जीवन श्रीकृष्णके जीवनके चरित्रादर्शके धरातलपर ही आधृत है। भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—'अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्' (श्रीमद्भा० १०। ८७। १५)।

अपने अवतारजीवनमें श्रीकृष्ण एक आदर्श योगी, आदर्श वीर, आदर्श आध्यात्मिक नेता, आदर्श राष्ट्रनिर्माता, आदर्श गुरु, आदर्श सखा एवं आदर्श पति थे; किंतु मानवजीवनके इन आदर्श रूपोंके अतिरिक्त उनका

अलौकिकसामान्य रूप और भी था, जिसमें उन षडैश्वर्य-सम्पन्न, मायाधीश प्रेमानन्दघनमूर्तिमें भगवत्ता सर्वाङ्ग परिपूर्णतम प्रकाश हुआ था। वे समस्त जागतिक सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कर्माकर्मतारतम्य, विधि-निषेधके ऊर्ध्व स्तरपर विराजमान रहकर आत्मानन्दका सम्भोग करते रहते थे; इसी कारण उनकी सभी लीलाएँ, सभी चरित्र, सभी कर्म मायाधीन जीवोंके लिये अनुकरणीय नहीं हो सकते।

उनके कौन-से कर्म जीवोंके द्वारा अनुकरणीय हो सकते हैं, इसको समझनेके लिये उनके परम भक्त उद्धवके अनुसार हम उनके कर्मोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। श्रीउद्धव श्रीकृष्णसे कहते हैं—'योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।' (श्रीमद्भा० ११।२९।६) अर्थात् जो शरीरधारियोंके भीतर और बाहर अन्तर्यामी और आचार्य दो विग्रह धारण करके उनके समस्त अशुभ संस्कारोंका नाश करते हैं, वे अन्तर्यामी पुरुष अपनेको दिव्य प्रेम, प्रेमानन्दघनमूर्तिको प्रकाशित करके अपने प्रेमी भक्तोंमें कृष्ण-प्रेम, कृष्णरागका संवर्धन एवं विस्तार करके अपने असीम प्रेम, अनन्त आनन्दका वितरण करते हैं; उनके चरित्र, कर्म, लीलाएँ, स्मरण, श्रवण एवं कथनकी वस्तु होती हैं एवं उससे अधमाधम, पतितसे भी पतित जीवका उद्धार हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(श्रीमद्भा० १०।३३।३६)

इसके अतिरिक्त श्रीभगवान्‌के वे चरित्र और कर्म जो उनके द्वारा कल्याणघनविग्रह आचार्यरूपसे सम्पादित किये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत उनके उपदेश-प्रदान, सदाचार-पालन और शास्त्रीय विधिसे जीवनयापन आदि आते हैं, समाजके लिये अनुकरणीय होते हैं। उनका अनुगमन कर मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण कर सकते हैं। महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य पुराणोंमें उनकी इस प्रकारकी आदर्श दिनचर्या, वेद-शास्त्रानुमोदित सदाचार एवं उपदेश सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

आदर्श दिनचर्या

श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णित हुई है—श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठकर जलसे मुख प्रक्षालन करते और प्रसन्न मनसे स्वयंप्रकाश मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करते थे। तदनन्तर वे निर्मल एवं पवित्र जलमें विधिपूर्वक स्नान करते, फिर शुद्ध वस्त्र धारण करके सन्ध्योपासना आदि द्विजोचित नित्यकर्म करते और तत्पश्चात् अग्निहोत्र एवं मौन-धारणपूर्वक गायत्री-जप करते थे। उसके बाद उदित होते हुए सूर्यका उपस्थान करके अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करते, फिर कुलके वृद्ध पुरुषों और ब्राह्मणोंकी विधिवत् पूजा करते थे। इसके पश्चात् वे ब्राह्मणोंको वस्त्र एवं आभूषणोंसे विभूषित सवत्सा पयस्विनी गौओंका दान देते, फिर अपने विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके बड़े-बूढ़ों, गुरुजन और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे।

चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी उपदेश

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें यत्र-तत्र-सर्वत्र ही भक्त, ज्ञानी, गुणातीत आदि साधकोंके लक्षणों, आसुरी एवं दैवी सम्पद् तथा सात्त्विक, राजस गुणोंके भेदोंके वर्णनपूर्वक मानवचरित्रके सभी विभागोंका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए आदर्श मानव-चरित्रकी स्थापना की है। जिसका अनुसरण कर मनुष्य अपने चरित्रको उत्कर्षके ऐसे शिखरपर उन्नीत कर सकता है, जिससे उसका चरित्र स्वयं दूसरोंके लिये अनुकरणीय बन जाय। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें उन्होंने भगवान्

चरित्र-संगठनके लिये ऋषियों एवं स्वयं अपने द्वारा आचरित श्रुति-स्मृतिसे अनुमोदित साधारण नियमावलीका उपदेश अपने परम भक्त उद्धवके समक्ष इस प्रकार किया है—

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), अनासक्ति, लज्जा, अपरिग्रह, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और निर्भयता—ये बारह यम हैं और इसी प्रकार बारह नियम हैं—शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), जप, तप, होम, श्राद्ध, अतिथिसत्कार, भगवत्पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा । जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेते हैं ।'

चरित्र-निर्माणके इन उपर्युक्त नियमोंका श्रीकृष्णने केवल उपदेश ही नहीं किया, अपितु उन्होंने अपने जीवनमें इनको सम्यक्-रूपेण अनुष्ठित भी किया था । इसके उदाहरण उनके कर्मजीवनके अनेक प्रसङ्गोंमें प्रकाशित हुए हैं । पाण्डुवंशके अन्तिम संतान-बीज उत्तराके गर्भपर जब द्रोणकुमार अश्वत्थामाने दुर्निवार ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, उस अवसरपर श्रीकृष्णने उस परिक्षीण गर्भको पुनर्जीवित करनेके लिये अपने जीवन-भरकी जो शपथ उच्चरित की है एवं जिसके अमोघ प्रभावसे वह गर्भस्थ शिशु पुनः जीवित हो उठा है, उसमें श्रीकृष्णका लोक-समाजद्वारा अनुकरणीय आदर्श चरित्र आलोकित हो उठा है ।

चरित्रगत गुण

श्रीकृष्णके परमधाममें प्रवेशके पश्चात् विरहातुरा भूदेवी वृषभरूपधारी धर्मसे उनके गुणोंका स्मरण करती हुई कहती है कि उन भगवान् अच्युतमें सत्य, पवित्रता, करुणा, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, इन्द्रियसंयम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, ओज, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहंकारिता—ये उन्तालीस एवं ब्राह्मणभक्ति और शरणागतवत्सल आदि महान् गुण कभी क्षीण नहीं होते थे । महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंको इनका निरन्तर सेवन करना चाहिये—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा उपदिष्ट, अनुमोदित एवं आचरित आदर्श चरित्रका संकीर्तन, श्रवण, मनन एवं अनुसरण करके वैयक्तिक, जागतिक एवं राष्ट्रिय चरित्रको उन्नत करके मानवमात्र जगत्में—अभाव, विषाद, दुःख-दैन्यके स्थानपर परिपूर्णता, आनन्द, सुख-शान्तिका उपभोग करते हुए विश्वके जड-चेतन प्रत्येक पदार्थमें उन परम प्रभुकी मंगलमयी सत्ताका अनुभव कर सकते हैं । यही चारित्र्य-अर्जनका चरम लाभ है । अतः श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा लेकर हमें उसीकी साधनामें तत्पर हो जाना चाहिये । शिक्षाकी सफलता उसके श्रवण और मननमें ही नहीं, निदिध्यासनमें निहित होती है ।

श्रीहनुमान्‌के चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—डॉ० श्रीधर्मकिरणजी, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

हनुमान्‌जी श्रीरामके परम भक्त एवं आदर्श दूतके रूपमें विख्यात हैं। आज्ञापालन, सेवाभाव, शौर्य-प्रदर्शन, विवेक-प्रयोग आदिके कारण इनका चरित्र परम आदर्श है। जहाँ-जहाँ रामकी पूजा, वहाँ-वहाँ हनुमान्‌का दर्शन—यह हनुमान्‌जीको देवतारूपमें सिद्ध करता है। वस्तुतः रामभक्त वैष्णव-धर्मके विकासके साथ हनुमान्‌जीका दैवीकरण हो गया। पहले ये रामके पार्षद तथा पुनः पूज्य देवताके रूपमें स्वीकार कर लिये गये। हनुमत्-पूजा अथवा मारुति-पूजाका एक अलग सम्प्रदाय बन जाना यह इस बातका सूचक है। हनुमत्कल्पमें इनके ध्यान और पूजाके विधानका उल्लेख है। चैत्रशुक्ल पूर्णिमाके दिन हनुमज्जयन्ती मनायी जाती है। उस दिन उनका जन्म हुआ था। केसरी वानरकी स्त्री अञ्जनाके गर्भसे पवनके द्वारा ये उत्पन्न माने जाते हैं। यद्यपि एक मतसे इनका भगवान् शंकरके तेजसे उत्पन्न होना भी कहा जाता है। ये बड़े वीर और पराक्रमीके रूपमें लोगोंके द्वारा सहज स्वीकृत हैं। सीताको खोजना, लंका जलाना तथा संजीवनी बूटीके लिये सम्पूर्ण धवल-गिरिको उठा लाना इनके मुख्य कार्य हैं, जो इन्हें असाधारण वीर एवं साहसी कहनेको बाध्य करते हैं। आदिकवि वाल्मीकिने हनुमान्‌का वर्णन अपनी 'रामायण' में इस प्रकार किया है—

मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे।
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि॥
(वाल्मीकीयरामायण १। १७। १६)

'हनुमान् नामके ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके औरस पुत्र हैं। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ है। वे वेग चलनेमें गरुड़के समान हैं। सभी श्रेष्ठ वानरोंमें वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् हैं।' स्पष्ट है कि हनुमान्‌का वज्रोपम शरीर हमें अपने शरीरको वज्रोपम बनानेका संकेत करता है और उनकी तेज चाल हमें अपनी चालको तेज करनेको संकेतित करती है। उनकी बुद्धिमत्ता हमें बुद्धिमान् बननेको प्रेरित करती है।

रामायणकी परम्परा नमस्कारके संदर्भमें हनुमान्‌के देवत्व एवं रामदूतत्वको स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करती है—

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥
उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम्॥
आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम्॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥
(श्रीमद्वाल्मीकीयरामा० पाठविधि, ध्यान०)

'मैं समुद्रको गौके खुरके समान पार करनेवाले, राक्षसोंको मच्छर समझनेवाले, रामायणकी महामालाके रत्न पवनकुमार हनुमान्‌की वन्दना करता हूँ। अञ्जनीके पुत्र, वीर, जानकीके शोकको नष्ट करनेवाले, कपि...

तेजपौर, भयंकर, लंकाको नष्ट करनेवालेकी मैं वन्दना करता हूँ। सिन्धुके जलको लाँघकर जिन्होंने जनकनन्दिनी सीताके शोककी आगको नष्ट किया, लंकाको जला दिया, उन अञ्जनानन्दन हनुमान्‌की मैं वन्दना करता हूँ। गाछके पुष्पकी तरह लाल मुँहवाले, स्वर्ण-पर्वतकी तरह कमनीय विग्रहवाले, पारिजातके वृक्षके नीचे बसनेवाले रामनामयज्ञ में स्मरण करता हूँ। जहाँ-जहाँ रघुनाथजीका कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ हाथ जोड़े हुए बाष्पवारिपूरित नेत्रवाले, राक्षसोंको नष्ट करनेवाले मरुतनन्दनको प्रणाम करना चाहिये, मनकी तरह गतिमान्, मारुतकी तरह वेगवाले, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, वरिष्ठ, वानरयूथके मुख्य, वाताात्मज, श्रीरामके दूतको मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।'

हनुमत्-नमस्कारके क्रममें हनुमान्‌के भीतर जो-जो गुण यहाँ वर्णित हैं, वे गुण वस्तुतः अनुकरणीय हैं और हम अपने चरित्रको इन गुणोंके द्वारा ऊँचा उठा सकते हैं। पर इन गुणोंका आत्मसयमान साधना और तपोनिष्ठासे ही सम्भव है। तदर्थ हमें चेष्टा करनी चाहिये।

हनुमान्‌जीका स्वरूप गोस्वामी तुलसीदासने इस रूपमें व्यक्त किया है—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥
(मानस ५ मङ्गलाचरण)

'अतुलित बलवाले, स्वर्णपर्वतकी आभासे पूरित देहवाले, राक्षसरूपी वनको जलानेके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, समस्त गुणोंके निधान, वानरोंके अधीश्वर, रघुपति श्रीरामके प्रिय भक्त, पवनतनय हनुमान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ।'

यहाँ हनुमान्‌के चरित्रमें जो-जो भी गुण हैं—बल, सामर्थ्य, असीमित शक्ति, ज्ञान, रामभक्ति आदि सब गुण अनुकरणके योग्य हैं। पर यह तभी सम्भव है, जब हम उन-जैसा नैष्ठिक भक्त और अविच्छिन्न ब्रह्मचारी बनें। साधनसे ही सिद्धि मिल सकती है। रामभक्ति एवं साधनाके कारण हनुमान्‌के चरित्रमें लौकिक शक्तिका आ जाना सहज स्वाभाविक है। कहते हैं, साधनाके कारण सिद्धियाँ इनके वशमें थीं। अणिमा-सिद्धिके द्वारा इन्होंने सीता-अन्वेषणके क्रममें, मशक अथवा मच्छरका रूप धारण कर लिया था—

'मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥'

महिमासिद्धिके कारण इन्होंने सुरसाको चमत्कृत कर दिया था—

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥
जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
(मानस ५।२।४-५)

सिद्धियोंको वशंवद बनाना हनुमान्‌के चरित्रका वैशिष्ट्य है। हम इससे प्रेरित-प्रभावित होते हैं। सम्भव है, हनुमान्‌की तरह हमें सिद्धियाँ प्राप्त न हों, पर निस्संदेह हम इस क्रममें कुछ शक्ति अवश्य पा सकते हैं, प्राप्त कर ले सकते हैं।

आज्ञापालन हनुमान्‌के चरित्रमें मुख्य गुण है। बालि-वधके पश्चात् जब सुग्रीवका अभिषेक हुआ, तब ये सुग्रीवके सचिव बने और सुग्रीवकी आज्ञासे, सीताके अन्वेषणके लिये तार नामक वानरके साथ दक्षिण दिशामें गये, श्रीरामने अपनी मुद्रिका पहचानके लिये दी और इस कार्यमें हनुमान् सफल हो वापस लौटे, तब श्रीरामका आशीर्वाद भी इन्हें प्राप्त हुआ। श्रीरामके साथ ये सर्दैव रहे और अङ्गदके साथ मिलकर लंकाकी युद्ध-भूमिमें गर्जन-तर्जन करते रहे—'हनुमान अंगद रन गाजे'। युद्धभूमिमें जब मेघनादके द्वारा श्रीरामके अनुज लक्ष्मणको शक्तिबाण लगा, तब ये राजवैद्य सुषेणको ले आये; पुनः उनकी आज्ञासे रातों-रात हिमालय पर्वतकी ओर जाकर धवलगिरिके साथ संजीवनी बूटी ले आये; तब जाकर लक्ष्मणकी मूर्च्छा दूर हुई। कहनेका तात्पर्य यह कि हनुमान्‌के चरित्रसे आज्ञापालनका संदेश हमें प्राप्त होता है। हमें अपने परिवारजनमें आज्ञा-पालनका गुण अपनाना चाहिये।

कहते हैं—हनुमान्‌जीके चरित्रमें विवेक-प्रयोगका आधिक्य है। इन्होंने सूर्यसे शिक्षा प्राप्त कर ज्ञानके आलोकको बटोरा था। श्रीरामके साथ रहनेके कारण भी इनमें असाधारण योग्यता आ गयी। सीता-अन्वेषणके क्रममें, एक गुफाके अंदर वृद्धा तपस्विनीसे भेंट होनेपर ये उसका परिचय पूछते और अपना वृत्तान्त सुनाते हैं। सुरसा-प्रसङ्गमें ये अपनी प्रत्युत्पन्नमतिका परिचय देते हैं। फिर लंकामें अशोकवाटिकाके नीचे बैठी हुई सीताके साथ अतिशय विनम्रतापूर्वक रामका संदेश सुनाते हैं। लंका नगरीको तो इन्होंने जला दिया, पर विभीषणके घरमें आग नहीं लगायी। सम्भव है, रामभक्त होनेके कारण विभीषणका घर नहीं जला हो। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानके नेत्रसे हनुमान्‌ने पहले सब कुछ देख लिया था और विवेकके सहारे यह किया, जो सर्वथा उचित था। विवेक औचित्यका सम्पादक होता है।

हनुमान् महान् वीरता एवं गति-सम्पन्नताकी प्रतिमूर्ति हैं। इनमें अदम्य उत्साहकी भी पराकाष्ठा है। समुद्र-लङ्घनके क्रममें हम इन्हें पूर्ण तेजोमय एवं रामकाजकी गतिमें देखते हैं। जाम्बवान् नामक ऋक्षने इन्हें उत्साहित किया—यह जानकर कि वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं और समुद्र-लङ्घनमें सब प्रकारसे सक्षम हैं। हनुमान् जाम्बवान्‌की बात सुनकर पर्वताकार हो गये और इन्हें अपनी शक्तिका स्मरण हो आया। फलतः समुद्र-लङ्घनके लिये ये तत्पर हुए। आज हम शक्तिके मदमें चूर हैं, किंतु हमें हनुमान्‌के चरित्रसे सहजरूपमें अहंशून्य एवं विनम्र होनेकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

हनुमान्‌की गति तर्कातीत एवं अनुकरणके योग्य है। वाल्मीकिने कहा है—'गतिं हनूमतो लोके को विद्यात् तरस्विनः' (वा० रा० ६ । ७० । ११) अर्थात् हनुमान् महान् गतिमान् हैं। इनकी गतिको कौन किस प्रकार माप सकता है! स्मरणमात्रसे यह अपने भक्तोंकी रक्षामें दौड़ पड़ते हैं, रोगसे मुक्ति देते हैं, भयको हरते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं, इत्यादि। इनकी गति साधारण नहीं है। यह इनके चरित्रकी विशिष्टता है। सेवाभावकी शिक्षा इनके चरित्रसे ली जा सकती है।

हनुमान् शक्तिकी दृष्टिसे असाधारण शक्तिसम्पन्न हैं। इन्होंने श्रीरामकी सेनाकी मुख्यरूपसे सहायता की। देवान्तक, त्रिशिरा आदि अनेक राक्षसोंका इन्होंने वध किया। विभीषणके साथ हाथमें मशाल लेकर इन्होंने युद्धभूमिका निरीक्षण किया। इन्होंने निकुम्भ नामक राक्षसके साथ युद्ध कर उसका वध किया और कपटी कालनेमिका संहार किया। रावणकी सेनाके कितने असुर इनके द्वारा मारे गये, इसका लेखा-जोखा नहीं है। रामायणसे स्पष्ट है कि ये श्रीरामके अभिषेकके लिये चारों समुद्रों और पाँच सौ नदियोंसे जल ले आये थे। इससे इनकी असाधारण शक्तिमत्ताका पता चलता है। श्रीरामने अगस्त्यमुनिसे इनके विषयमें कहा था—

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम् ।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः ॥
(वा० रा० ७ । ३५ । ३)

'शौर्य, दक्षता, बल, धैर्य, प्राज्ञता, नयसाधन (नीति), विक्रम और प्रभाव—हनुमान्‌में विद्यमान हैं, इनकी बराबरी करना कठिन है। यदि सब रूपमें इनके रूप हनुमान्‌के बलकी तुलना नहीं की जा सकती।' हम इनके चरित्रके माध्यमसे अपनेको बलवान् बनानेकी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

हनुमान्‌ने सेवाभावना, रामभक्ति, रावण-सीता, विनम्रता आदि गुणोंसे अपनेको चमत्कृत, ऊँचा उठाया। आजके अनास्थावादी युगके लिये ये एक प्रतिमान हैं। बल, विक्रम, शासन आदिके कारण हम लक्ष्मणकी सीमाका छोर साधारणतः छूने लगते हैं, पर असीमित संयम एवं विवेकसे कारण लक्ष्य प्राप्त हो सका है। हनुमान्‌के चरित्रमें अन्तिम

संयम एवं विवेकका अधिवास है; अतः इनका चरित्र चुम्बककी तरह हमें खींचता है। रामभक्ति कलियुगके लिये वस्तुतः संजीवनी बूटी है; यदि यह किसीके पास है तो कलियुगकी व्याधि उस व्यक्तिविशेषको व्याप नहीं सकती। हनुमान्‌के पास रामभक्तिकी यह संजीवनी बूटी है, अतः कलियुगकी व्याधिसे वे परे हैं। साथ ही कलियुगके व्यक्तियोंको ही नहीं, युग-युगके व्यक्तियोंको मौन संदेश ये अपने चरित्रके माध्यमसे देते हैं कि रामभक्तिके अभावमें अपनेको ऊँचा उठाना कठिन काम है। केवल पुरुषत्व इस संसारमें पर्याप्त नहीं है। यद्यपि व्यक्तिके विकासके लिये पुरुषत्व अपेक्षित है, पर पुरुषत्वके साथ-साथ आस्तिकताका भाव चाहिये, श्रीरामके चरण-कमलोंमें अनुराग चाहिये। साथ ही विनयके साथ देश अथवा राष्ट्रके कल्याणपर भी ध्यान होना चाहिये। हनुमान्‌जीका जीवन इस संदर्भमें एक प्रकाशस्तम्भका काम करता है। ये श्रीरामके दूतके रूपमें प्रसिद्ध हुए, पर इस दूतत्वमें इन्होंने पूर्णानन्दका अनुभव किया। दूतकर्म निन्द्य नहीं है। दूतकर्मके साथ-साथ श्रीरामके चरण-कमलोंकी भक्ति हनुमान्‌के लिये वरदान सिद्ध हुई। ये इतिसे हमें बतलाते हैं कि ईश्वरकी कृपासे जो कर्म करनेको मिले, उसीमें दक्षता प्राप्त करनी चाहिये। हनुमान् कर्मयोगी भक्तदेव हैं। वे 'योगः कर्मसु कौशलम्'—'योग ही कर्ममुक्तिका उपाय है'—इसकी शिक्षा देते हैं। हनुमान्‌के चरित्रसे हम लोग कर्मयोगी बननेकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। सामयिक चेतना, तत्परता, विनयशीलता, आस्तिकता, सेवापरायणता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता आदि कतिपय गुण, जो हनुमान्‌के चरित्रमें प्राप्य हैं, हमें अपनेको ऊँचा उठानेकी शिक्षा देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आध्यात्मिक चारित्र्योपदेश

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), एम्० ओ० एल्०)

सृष्टिके सभी प्राणी सुख और शान्तिकी कामना करते हैं एवं एतदर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन-बुद्धिसे विविध प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं। उनकी शुभाशुभ चेष्टाओंके अनुसार उनको विविध लोकों और योनियोंमें जन्म, आयु तथा भोगके रूपमें उत्तम, मध्यम या अधम कोटिके सुख-दुःखात्मक कर्मफलोंकी प्राप्ति होती है। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, अतः उसकी सभी चेष्टाएँ बुद्धिद्वारा प्रेरित और नियन्त्रित होती हैं। भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या ज्ञान होनेपर व्यक्ति अशुभ कर्मका आचरण करके स्वयं दुःखी होता है तथा प्राणि-समाजको भी दुःख, कलह, विवाद, अशान्ति, युद्ध, घृणा, वैर आदिमें उलझा देता है। अतः ऐसे लोगोंको कर्मानुष्ठानका सही मार्ग बतानेके लिये एवं बुद्धिको सत्य ज्ञानसे युक्त करनेके लिये सत्-शास्त्रोंकी रचना हुई है। शास्त्र इष्टकी प्राप्ति एवं अनिष्टके परिहारका उपाय बताते हुए अतीन्द्रिय ज्ञानका भी वर्णन करते हैं। उनमें समाजके जन्म आदिकी सात्त्विकतादि गुणोंके अनुसार वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है। इस व्यवस्थाका उद्देश्य यही है कि मनुष्य शास्त्रविधिका अनुसरण करता हुआ अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखे तथा अपने गुण-कर्म-स्वभावके अनुकूल वर्णाश्रम-व्यवस्थाका पालन करता हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक परतत्त्व-(परब्रह्म-)के ज्ञानकी उपलब्धि करके शाश्वत शान्ति और नित्य आनन्द-(मोक्ष-) को प्राप्त करे।

श्रीमद्भगवद्गीता जीवनके हर क्षेत्राङ्गणमें सत्कर्मका अनुष्ठान करते हुए भवबाधाकी प्रामिक व्यावहारिक मार्ग बतानेवाला भगवत्प्रोक्त शास्त्र है। इसमें (१२। १३–१९में) आदर्श भक्तके चरित्र तथा (१४। २२–२६में) त्रिगुणातीत पुरुषोंके लक्षण प्रस्तुटित हुए हैं। गीतामें बन्धकर्मका संकेत भेद

सृष्टि एवं प्रलयकी उत्पत्ति करने (१४ । ३, १८ । २१), गुण-कर्मविभागपूर्वक चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था करने (४ । १३), आसुरी प्रकृतिके लोगोंको नियन्त्रणमें रखने (१६ । १९), साधुओंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मसंस्थापनाके लिये अवतार ग्रहण करने (४ । ८), अनासक्त एवं निःस्पृह होकर लोकसंग्रहार्थ कर्म करने (३ । २२–२५), सर्वलोकोंका शासक एवं यज्ञ-तपका भोक्ता होने (५ । २९), भक्तोंका उद्धार करने (९ । ३१, १८ । ६५) एवं उन्हें ज्ञान प्रदान कर (१० । ११) शाश्वत पद प्रदान करने (१८ । ५६), विश्वका गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहृद् आदि होने एवं विश्वरूपता (अ० ११) आदिमें प्राप्त होता है।

गीताके अनुसार ब्रह्मका निर्देश शास्त्रोंमें 'ओम्' 'तत्' एवं 'सत्'—इन तीन शब्दोंके द्वारा तीन प्रकारसे किया गया है। इनमेंसे 'सत्' शब्द सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ-दान एवं तपमें स्थिति तथा इनके हेतु श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मोंका वाचक है। इस प्रकार ब्रह्मका 'सत्'-स्वरूप ही सभी सद्भाव सद्गुणों, सदाचरणों एवं सत्कर्मोंका मूल है तथा जगत्की स्थितिका आधार है। नारदभक्ति-सूत्रमें अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि गुणोंको भक्तोंद्वारा पालनीय चरित्र-गुण बताया गया है। भगवद्गीता-(१० । ५)के अनुसार अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान आदि सभी भाव भी परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं। इन सद्गुणोंको धारण करनेवाला व्यक्ति सद्-भावके साथ संयुक्त होकर ब्रह्मके सद्रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

गीताका यह सिद्धान्त है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं जीवके रूपोंमें द्विविध प्रकारसे इस विश्वमें व्याप्त हुआ है (७ । ४–५)। प्रकृतिसे सम्भूत सत्त्व, रज एवं तम—ये तीनों गुण न केवल शरीरी जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, अपितु ये विभिन्न रूपोंमें सभीको अपने प्रभावाधीन रखते हैं (१४ । ५, १८ । ४०)। इन्हीं तीन गुणोंके आधारपर गीता प्राणि-सृष्टिको दो भागोंमें बाँटती है (१) आसुरसर्ग एवं (२) दैवसर्ग। आसुरसर्गमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं अज्ञानकी प्रधानता होती है। आसुर स्वभावके व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्तिकी व्यवस्था देनेवाले शास्त्रकी मर्यादाको नहीं मानते, ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, उनमें न आचार होता है, न पवित्रता और न सत्य। वे संकीर्ण दृष्टिके अल्पबुद्धि व्यक्ति होते हैं, जो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उग्र कर्मोंका आचरण करते हुए संसारका अहित एवं विनाश करते हैं। अपनी कामनाओंकी तुष्टि ही उनके जीवनका लक्ष्य होता है। वे नाना प्रकारकी आशाओंके जालमें फँसे हुए काम-क्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक अर्थका संचय करते हुए शत्रुनाश एवं धन-संग्रहकी कल्पनाएँ करते हुए अपने कुल, सम्पत्ति, गुण-बल, विद्या आदिके अभिमानसे युक्त हुआ करते हैं। वे यज्ञादि कर्म भी दम्भके साथ अविधिपूर्वक करते हैं। उनकी बुद्धि अज्ञान-मोहसे आवृत होती है एवं उनका चित्त सदा ही नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे विभ्रान्त रहता है। अहंकार, बल, दर्प, काम एवं क्रोधका आश्रय लेकर प्राणियोंसे द्वेष करनेवाले वे आसुरसर्गके प्राणी क्रूर एवं नराधम होते हैं तथा अपनी आसुरचेष्टाओंके कारण बार-बार अशुभ आसुरी योनियोंमें जन्म लेकर अधम गतिको प्राप्त होते रहते हैं। आसुरसर्गमें रजोगुण एवं तमोगुणकी प्रधानता होती है। काम-क्रोध और लोभ—ये नरकके द्वार हैं तथा रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं। मोह, अज्ञान और प्रमाद—तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं। काम-क्रोध, लोभ एवं मोहके अधीन होकर ही मनुष्य पाप-कर्म करके दुःख पाता है एवं संसार-बन्धनमें पड़ता है। इस प्रकारके पाप-कर्मोंसे मुक्त होनेपर ही वह श्रेष्ठ आचरणकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है (१० । १

सुतरां ऐसे कर्मोंसे मुक्ति होनेपर सदाचरण या चरित्रका गठन स्वतः होने लग जाता है। रही देवसर्गकी बात; उसे देखें।

चरित्र-निर्माणार्थ समाजमें रजोगुण एवं तमोगुणको निरस्त कर दैवीसम्पद्के गुणोंके अर्जनकी साधना अपेक्ष्य है। यह कठिन साधना है, जिसमें एक ओर तो अध्यात्मशास्त्रका आश्रय लेकर स्वाध्याय, श्रवण एवं मननके द्वारा सत् तथा असत्का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा दूसरी ओर विवेक और वैराग्यका आलम्बन लेकर रजोगुण और तमोगुणपर आश्रित सम्पूर्ण असत्प्रवृत्तियों, पापों, दुष्कर्मों, दुष्ट आचारों एवं आसुर भावोंका सर्वथा परित्याग करके सत्त्वगुणपर अवलम्बित दैवीसम्पद्के गुणों—अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि-(१६।१-३) का संचय किया जाता है। सात्त्विक गुणोंका संचय धर्माचरण है एवं मानवी प्रकृतिका दैवी-प्रकृतिमें रूपान्तरित करना तथा अध्यात्मज्ञानको जीवनमें आचरणके रूपमें प्रकट करना तप है। इसीसे अज्ञानसे मुक्ति मिलती है एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है। दैवी-सम्पद्के गुण-कर्म और स्वभावके रूपमें आत्म-प्रकाश सर्वत्र प्रतिफलित होता है। दैवी-प्रकृति भक्त और महात्माओंके चरित्रका मुख्य लक्षण है (८।१३)।

चरित्रनिर्माणके लिये प्रथम आवश्यक बात है कि श्रद्धाको सात्त्विक बनाया जाय; क्योंकि जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही ज्ञान एवं कर्म होगा। जैसी श्रद्धा होगी वैसा ही उपास्यका चुनाव और उसकी उपासना होगी। जैसी श्रद्धा होगी वैसा चित्त होगा। राजसी एवं तामसी श्रद्धावाले उच्छृङ्खल वृत्तिके होते हैं तथा दम्भाहंकारयुक्त होकर विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये अशास्त्रविहित विधिसे यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं देवोंके राजस, तामस रूपकी उपासना एवं यज्ञ-तप करते हैं (१७।४।६, ७।२०-२१)। ईश्वरके प्रति आस्तिक बुद्धि, गुरुके प्रति भक्ति एवं सत्कार-बुद्धि तथा सत्-शास्त्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको सत्य मानकर उन सिद्धान्तोंके अनुकूल आचरण करनेके लिये दृढ संकल्पपूर्वक प्रयत्न करनेका नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा ही साधकको दृढ़ता, उत्साह एवं संयम प्रदान करती है। सात्त्विक श्रद्धा ही बुद्धिको सात्त्विक बनाती है। सात्त्विक बुद्धि कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा बन्ध-मोक्षको भलीभाँति जानती है (१८।३०)। कार्य एवं अकार्यके लिये सदा शास्त्रको मानकर शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धायुक्त हो कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये। शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर स्वेच्छानुसार कार्य करनेसे सुख-शान्ति एवं सफलता नहीं मिलती (१६।२३-२४)। स्वभाव-सम्भूत गुण-कर्मके अनुसार अपने-अपने वर्णके लिये नियत एवं धर्मशास्त्रोंमें वर्णित अथवा भगवद्गीतामें प्रोक्त चतुर्वर्णके गुण-कर्म-(१८।४१-४६) का ज्ञान प्राप्त कर निज वर्णके लिये प्रतिपादित गुण तथा कर्मका पालन ईश्वरार्पणकी भावनासे करना चाहिये। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होने, शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करने तथा ज्ञानके अनुकूल आचरणके लिये सदैव तत्पर रहनेपर ज्ञानप्रकाशकी वृद्धिके अनुपातमें क्रमशः तमोगुणका अज्ञान नष्ट होता जाता है (१४।८-१३)। अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशय तमोगुणके चिह्न हैं तथा विनाश प्राप्त करानेवाले हैं। श्रद्धासे ज्ञान एवं जितेन्द्रियताकी प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् ज्ञानाग्निद्वारा सर्वकर्मोंके दग्ध हो जानेपर परमशान्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार ये श्रद्धादि परस्पर पूरक एवं उपकारक हैं (४।३९-४०)।

रजोगुणमें क्रिया, लोभ, तृष्णा, अहंकार आदिकी प्रधानता है तथा ये ही मुख्य वैरी हैं। इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिमें विक्षिप्तता भी रजोगुणके कारण आती

है। रजोगुणका मूल अहं (मैं) है तथा इस अहंका अनुरूप कामना (संकल्प) एवं कर्मफलकी प्राप्तिकी तृष्णासे होता है। अतः गीता देहधारीके लिये तथा सृष्टि-चक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्मकी अपरिहार्यताको स्वीकार करते हुए आसक्ति और कर्मफलका त्याग करके समत्वमें स्थित होकर स्थिर बुद्धिसे ईश्वरका सतत स्मरण करते हुए कर्म करनेका उपदेश देती है। ऐसा करनेसे रजोगुणके प्रभावसे मुक्ति मिल जायगी, कर्म-बन्धन नष्ट हो जायगा, संसारमें आसुर-रागमें कमी आनेसे शान्ति आयेगी तथा काम-क्रोध-लोभ-मूलक प्रवृत्तियोंके कारण जो सर्वत्र चरित्र-संकट, भ्रष्टाचार, अशान्ति और युद्ध-विनाश छाया हुआ है, वह सब भी समाप्त हो जायगा। (२ । ४७-५८, ३ । १९, ३०, ४ । २२—२४, ५ । २३)।

ज्ञान सत्त्वगुणका फल है तथा अज्ञान एवं लोभ क्रमशः तमोगुण एवं रजोगुणके प्रभावसे उत्पन्न होते हैं (१४ । १७)। ज्ञानके आवृत होनेपर मोहद्वारा बुद्धिकी विवेकशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर ही काम-क्रोध-लोभादिसे युक्त आसुरभावोंकी उत्पत्ति होती है। रजोगुण एवं तमोगुण एक-दूसरेके पोषक और सहयोगी बनकर सत्त्वगुणके ज्ञानको पराभूत करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। जीव यदि रजोगुण और तमोगुणको ज्ञान एवं संयम-(तप-) द्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह अपना शत्रु आप ही बनता है। आत्मसंयमद्वारा अपना उद्धार न करनेवाले ही आसुरभावको प्राप्त होते हैं। गीताने ऐसे लोगोंकी मूढ़, नराधम (७ । १५) कहकर निन्दा की है। ऐसे अकृतात्मा, अचेत लोग न तो अपनी आत्माका ही दर्शन कर सकते हैं (१५।११) और न प्रभुको शरणमें पहुँच सकते हैं (७ । १५)। असंयमीके लिये तो योग-साधना दुर्लभ ही है (६।३६)। संयमहीन व्यक्ति मनुष्य चञ्चल एवं चलता मनको वशीभूत कैसे कर सकता है? जिसका मन स्वच्छन्द है, वह परिवर्तित कैसे हो सकता है?

भगवद्गीताके अनुसार रजोगुणात्मक लोभ एवं तृष्णा ही मनुष्यको स्वार्थी, इन्द्रियोपभोग-परायण तथा आत्म-केन्द्रित बना देते हैं। केवल अपने ही सुखोपभोगके लिये जीनेवाला व्यक्ति पापकी जिन्दगी जीता है तथा निन्दनीय है। सृष्टिकी व्यवस्थामें उसका जीवन व्यर्थ एवं निन्द्य माना जायगा (३ । १६)। यह सृष्टि यज्ञात्मक है, जिसमें देवगण, प्रकृति एवं सभी प्राणियोंका परस्पर सहयोग, परस्परका सम्मान तथा प्रत्येकके प्रति कर्तव्य नियमितरूपसे दान आवश्यक है। इस प्रकार सद्भावना एवं दानकी शृङ्खलाको जो भी तोड़ेगा, वही पाप-भागी होगा। यज्ञ प्रजाओंकी इष्ट कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। कामनाओंकी यह पूर्ति देवोंके अनुग्रहसे होती है। देवगण यज्ञद्वारा ही प्रसन्न और तृप्त होते हैं तथा प्रसन्न होकर समयपर वृष्टि करके पृथ्वीको उर्वरा बनाते हैं। इस प्रकार 'यज्ञ' देवों तथा मानवोंका सम्बन्ध जोड़नेवाली कड़ी है। अतः यज्ञ सबके द्वारा नित्य पालनीय सामाजिक आचार (धर्म) बन जाता है। देवोंको यज्ञ-भाग दिये बिना भोजन करनेवाला गीताकी विचार-दृष्टिसे चोर है, पापी है, अतएव दण्डनीय है (३ । १०—१६)। देवयज्ञ, अतिथियज्ञ एवं भूतयज्ञका प्रतिदिन अनुष्ठान करनेके बाद जो बचे वही यज्ञ-शेष है। इस यज्ञ-शेषका सेवन करनेवाले स्वार्थ-(रजोगुण) रहित होनेसे सब पापोंसे रहित हो जाते हैं। पर यज्ञ भी अनासक्त और निष्काम होकर करना चाहिये। वेदोंकी स्तुति एवं स्वर्ग-प्राप्तिके लिये यज्ञभावसे किया गया कर्म कल्याणकारक नहीं होता (२ । ९)।

भगवद्गीताने जहाँ यज्ञ या वेदकी निन्दा-सूचक कथन किये हैं, वहाँ उन कथनों का अर्थ सकाम

निन्दा है जो विविध कामनाओंसे प्रेरित होकर भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये फिरते जाते हैं, अतः तीन गुणोंके बन्धनमें डालनेवाले हैं (२ । ४२–४५); अन्यथा आसक्ति एवं फलका त्याग कर शास्त्र-विधिका पालन करनेके हेतु यज्ञ, तप और दानके सात्त्विक अनुष्ठानको गीताने अवश्य अनुष्ठेय पावन कर्म बताया है (१८ । ५, २३, २६, १७ । ११, १४–१७, २०)। भगवद्गीताके १७वें अध्यायमें जिन शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तपोंका वर्णन (१४–१७) मिलता है, उन्हें इन तीन अङ्गोंका संयम-रूपात्मक उत्तम आचार ही समझना चाहिये । गीतामें यज्ञके अर्थका विस्तार मिलता है तथा उसका प्रयोग दान, संयम, तप, उपासना, आराधना, आत्मार्पण, योग आदि प्रशस्त कर्मोंके अर्थमें किया गया है (४ । २३–३०, ९ । २३–२५, ३४, १८ । ६५) । इस अर्थ-विस्तारमें मूलकारण 'यज्' धातुका मूल अर्थ देवपूजा, संगतिकरण, दान अर्थात् ब्रह्म एवं देवोंकी पूजा, देवोंकी संगति तथा देवोंके साथ सम्बद्धता, मानवको देव बनाना तथा देवोंके उद्देश्यसे दान (त्याग) ही प्रेरक हेतु है । इस अर्थ-विस्तारके कारण ही द्रव्यदान, तप, योग (ध्यान, समाधि), स्वाध्याय, ज्ञानप्राप्ति, इन्द्रियसंयम, प्राणसंयम आदि सभीको 'यज्ञ' माना गया है । ये सभी यज्ञ कल्मष-का नाश कर ज्ञानप्रदीपके द्वारा अन्तमें ब्रह्मके परमपद-की प्राप्ति करानेवाले हैं (४ । ३०-३१) । इन सभी यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है । इस लोककी सम्पूर्ण व्यवस्था यज्ञ-कर्मपर टिकी हुई है । यज्ञहीन पुरुष जब इस लोककी ही प्राप्ति नहीं कर सकता तो उसे उत्कृष्ट जीवनके अन्य श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे होगी (४ । ३१) । गीताकी जीवनपद्धति, कर्मयोगका तथा लोकव्यवस्थाका सिद्धान्त यज्ञचक्र, सर्वभूतहित, लोकसंग्रह एवं ईश्वर-शरणागतिपर टिका हुआ है । महाभारत (वन० २०७ । ६२) में यज्ञ, दान, तप, वेद एवं सत्य—इन पाँचोंको शिष्टाचरणका प्रमुख अङ्ग माना गया है ।

भगवद्गीता बतलाती है कि बहुसंख्यक लोग मन्दबुद्धि, गुण-संमूढ, कर्मसङ्गी और अनुकरणशील होते हैं । इस बहुसंख्यक समुदायको भी श्रेष्ठ जीवन तथा उत्तम कर्मके लिये प्रेरित करना श्रेष्ठ लोगोंका कर्तव्य है । इतर जनसाधारण जन श्रेष्ठ लोगोंके आचरणका ही अनुकरण करते हैं (३ । २१) । अतः ज्ञानी एवं मुक्तात्मा लोगोंका यह विशेष दायित्व है कि वे लोगोंके सामने चरित्र, धर्मपालन और कर्तव्यके अनुष्ठानका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें । श्रेष्ठजनोंद्वारा कर्तव्यकी उपेक्षा या अपने दायित्वको निभानेमें प्रमाद तथा चरित्र-स्खलनकी छोटी-सी भूल लोक-समुदायके पतन और विनाशका कारण बन जाते हैं । इस भूलसे मानव-जातिके मनो-चरित्रपर बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ता है । अतः शासक, नेता, विद्वान् आदि श्रेष्ठ लोगोंको अपने शील और चरित्रकी सुरक्षा तथा कर्तव्य-कर्मको पूरा करनेमें सदैव ही जागरूक रहना चाहिये । जीवन्मुक्त पुरुषोंको भी लोकसंग्रह-हेतु शास्त्र-मर्यादाके अनुसार धर्माचरण एवं कर्तव्यकर्म करना चाहिये (३ । २०—२५) । लोकसंग्रहसे तात्पर्य यह है कि लोक-समुदाय शास्त्रविहित शील एवं वर्ण-धर्मका पालन करे, सर्वभूतहितमें लगा रहे, यह मिलकर अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी ओर अग्रसर हो तथा मानवोंका प्रकृति और देवगणके साथ आदान-प्रदान, सद्भाव एवं परस्पर सम्मान बना रहे । इस प्रकार लोकमें सर्वविध मङ्गल हो और धर्मव्यवस्था सुरक्षित बनी रहे । इस धर्म-व्यवस्थाको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये अधर्मकी प्रवृत्तियोंको तथा दुष्ट कर्म करनेवालोंको नियन्त्रणमें रखना अथवा दण्ड-विधानद्वारा उन्हें नष्ट करना भी श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्र अथवा कर्तव्यकर्मका अङ्ग है ।

यज्ञ एवं लोकसंग्रहके लिये समत्वमें अवस्थित होकर निर्लिप्त भावसे कर्म करनेका कौशल प्रज्ञाके स्थिर होनेपर आता है। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता, निर्भयता, राग-द्वेष-हीनता, निःस्पृहता आदि गुण बुद्धिके स्थिर, एकाग्र एवं निश्चयात्मक होनेपर ही आते हैं। मनको सारथिवत् दिशा-निर्देश करनेवाली बुद्धि यदि अस्थिर, चञ्चल, मोहयुक्त रहेगी तो मन सुनिश्चित मार्गपर आगे नहीं बढ़ सकता। बुद्धिकी चञ्चलता या अस्थिरताका कारण इन्द्रियों एवं मनका शब्दादि विषयोंके प्रति निर्बाधगमन है (२ । ६७)। शब्दादि विषयोंके चिन्तनके साथ काम, क्रोध, मोह एवं स्मृति-भ्रंशनकी परम्परा जुड़ी हुई है, जो बुद्धिको नष्ट कर देती है। अतः स्थिर प्रज्ञाकी प्राप्तिके लिये इन्द्रियोंका संयम (दम) एवं मनका नियन्त्रण (शम) दोनों ही आवश्यक हैं (२ । ६२—६८)। भगवद्गीताका स्पष्ट मत है कि जिसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रित हैं, उसीकी प्रज्ञा स्थिर है—'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' (२ । ६१)। विवेकयुक्त निश्चलबुद्धिका योगसाधक ही फलकामनाका त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि आदिमें समभावसे युक्त होकर निरहंकार-भावसे कर्म कर सकता है एवं समाधिमें बुद्धिको अचल, स्थिर रखते हुए ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है (२ । ४८—५३, ७२)।

इन्द्रिय-संयमके लिये गीता सर्वथा निरोध या इन्द्रिय-मारणका उपदेश नहीं करती। वह युक्तियुक्त मार्गका अवलम्बन करनेका उपदेश देती है। गीता यह स्वीकार करती है कि इन्द्रियाँ प्रबल हैं एवं वे सहज प्रवृत्तिवश जब अपने-अपने शब्दस्पर्शादि विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मन, बुद्धिको भी चंचल कर देती हैं (२ । ६०)। परंतु अभ्यास और विवेकके द्वारा इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंको समझकर तथा उनके क्लेशप्रद दुःखात्मक संवेदनोंको अल्पकालस्थायी, क्षणिक और परिवर्तनशील जानकर उन्हें तितिक्षा-वृत्तिद्वारा सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये। दोषी इन्द्रियाँ नहीं हैं, दोष है भोग-प्रवृत्तिकी कामनासे इन्द्रियोंके अनियन्त्रित उपभोगका। इन्द्रियाँ ज्ञानके उपकरण हैं तथा जीवको बाह्य जगत्‌का ज्ञान देनेवाली एवं सम्पर्क स्थापित करानेवाली हैं। यदि जीवात्मा राग-द्वेषसे रहित होकर, इन्द्रियोंको अपने वशमें करके इन्द्रियोंको व्यवहारमें लाये तो उससे शान्ति एवं चित्तकी निर्मलता ही प्राप्त होगी (२ । ६४)। व्यवहारमें गीता अतिवादका निषेध करके विवेकसम्मत युक्तियुक्त मध्यम मार्गको ही अपनानेका उपदेश देती है—'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु' (६ । १७)। संक्षेपमें गीता चरित्र-निर्माणके लिये निम्नलिखित बातोंपर जोर देती है—

(१) मानव-जीवन न तो इन्द्रिय-भोगोंकी तृप्तिके लिये है और न अकेले ही स्वार्थी और स्व-केन्द्रित प्रकार जीनेके लिये बना है। ऐसा जीवन आसुरी भावके लोगोंका होता है। मनुष्यका लक्ष्य आसुरी भावको त्यागकर दैवभावकी प्राप्तिपूर्वक मोक्ष या भगवत्पदको प्राप्त करना है।

(२) जीवनकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और व्यवहारोंमें रजोगुण और तमोगुणपर आधारित काम, क्रोध, लोभ एवं मोहसे युक्त आसुरी भावोंका परित्याग कर देना चाहिये तथा सर्वत्र सत्त्वगुणको अपनानेपर बल देना चाहिये। दैवी स्वभावका आधार सत्त्वगुण है। दैवी सम्पद्‌को अपनानेसे दैवभावकी प्राप्ति होती है। गीताके चारित्रिक आदर्श त्रिगुणातीत पुरुष अथवा ज्ञानी भक्त हैं।

(३) व्यक्तिके सभी आचार शास्त्रसम्मत होने चाहिये। शास्त्रविधानके अनुसार अपने वर्णानुसार कर्तव्य-बुद्धिसे पालन करना चाहिये। किसी भी कर्ममें फलकामना, आसक्ति, अहंकार और ममता नहीं होनी चाहिये। सर्वभूतोंके कल्याणमें निरत रहते हुए निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ अपने वर्ण-धर्मका पालन करते हुए

लोकसंग्रहार्थ एवं यज्ञचक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्म करना चाहिये।

(४) इस सृष्टिमें जीवन ब्रह्म, देवगण, प्रकृति एवं प्रजाके परस्पर सहयोग तथा सम्भावनापर आधारित है। अतः इस सामञ्जस्यको यज्ञकर्मके द्वारा बनाये रखना चाहिये एवं सभीको उनका प्राप्य अंश देना चाहिये। ज्ञान एवं कर्ममें हमारी दृष्टि विश्वजनीन होनी चाहिये।

(५) सम्पूर्ण चरित्रका मूल आधार कामना और अहंकारका उच्छेद तथा इन्द्रिय-संयम है। इन्द्रिय-संयमसे मन निर्मल होता है एवं प्रज्ञा स्थिर होती है। स्थितप्रज्ञ बननेका अभ्यास करना चाहिये।

(६) अब प्राणियोंका आचरण भी ऐसा हो, जिससे जीवनमें उन्हें कीर्तिकी प्राप्ति हो, उनका गौरव बढ़े तथा इस लोक एवं परलोकमें सुखकी प्राप्ति हो।

(७) ब्रह्म इस सृष्टिका एवं जीवनका मूल है। ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होकर ब्रह्मके परमपदकी प्राप्ति जीवनका लक्ष्य है। ब्रह्म सभी तप, कर्म एवं यज्ञका भोक्ता तथा आनन्दका मूल है। अतः हमारे सभी कर्म और आचार सदैव ब्रह्माभिमुख हों। हम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको ब्रह्ममें ही संयुक्त कर, पूर्णतया ब्रह्मके प्रति सर्वभावेन समर्पित होकर सदैव ब्रह्ममें निवास करनेवाले जीवन्मुक्त बनें। यही भारतीय आध्यात्मिक चरित्र-गठनका फल है। गीता इसीका साङ्गोपाङ्ग निरूपण करती है।

कालिदासके काव्योंमें चारित्रिक लोकादर्श

(लेखिका—डॉ० विभा रानी दुबे)

अरविन्दका कथन था—वाल्मीकि, व्यास और कालिदास भारतीय इतिहासकी अन्तरात्माके प्रतिनिधि हैं। सब कुछ नष्ट हो जानेके बाद भी इनकी कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्त्व सुरक्षित रहेंगे।[1] आगमसिद्ध कालिदासने शब्दब्रह्मको कान्तासम्मित काव्यरूप दिया। इन्होंने भारतीय अध्यात्म-साधनाका पोषण किया और समग्ररूपसे भारतीय जीवनादर्शको अपनी वाणीमें व्यक्त किया। इनके काव्योंमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक आदर्श मुखरित हुए और इनके चित्रणमें इन्होंने पत्नी, पति, पुत्र, पिता आदिके कर्तव्यपालन और सामाजिक आदर्शोंमें वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मके आचरणको इङ्गित किया।

इनके काव्योंमें नायिकाएँ अद्वितीय सौन्दर्यकी राशि हैं। उमाके वर्णनमें वे कहते हैं—'ध्यान पड़ता है कि ब्रह्मा संसारका सम्पूर्ण सौन्दर्य एकत्र देखना चाहते थे, इसीलिये उपमा देनेके लिये व्यवहृत होनेवाली सभी वस्तुओंको एकत्र कर उनके सौन्दर्यको यथास्थान विनिवेशित कर पार्वतीका निर्माण किया'—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥
(कुमारसम्भव १। ४९)

इसी प्रकार उनकी शकुन्तला निसर्गकन्या है। उर्वशी साक्षात् स्वर्गकी अप्सरा है। सीता, इन्दुमती और मालविका—सभी सौन्दर्यकी प्रतिमूर्तिके रूपमें अवतरित हैं। किंतु कविने यहाँ इस अलौकिक सौन्दर्यका सदाचारसे योग कराकर भी भारतीय आदर्शको ऊँचा रखा है। अविकल तपस्यामें रत उमासे ब्रह्मचारीके वेषमें आये हुए शिवका स्वयं कहते हैं—'यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः॥' (कु० सं० ५। ३६)। 'पार्वती! कहा जाता है कि रूप पापवृत्तिका कारण नहीं होता—यह वचन सत्य ही है।' जो रूप ...

1—The Harmony of Virtue, Vol. 1, P. 217. Sri Aurobindo Birth centenary Library—Pondicherry, 1972.

वसिष्ठ धस्से ननु सानुजोऽसौ
वृत्तेन भर्त्रा शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत् तीर्ण इति प्रियार्हां
तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥
(रघुवंश १४। ६)

सीतासे उनकी सासुएँ कहती हैं—बेटी! उठ, मेरे ही पातिव्रत्यके प्रभावसे राम और लक्ष्मण संकटके मुखसे पार हुए हैं। साध्वी पत्नी पतिके लिये गृहिणी, मित्र, सखी, मन्त्री तथा ललित कलाओंमें पतिकी प्यारी शिष्या आदि अनेक रूपोंमें समुपस्थित होती है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
(रघुवंश ८। ६७)

सीताको क्षमाका वरदान देकर विधाताने इसे अपूर्व गौरवसे मण्डित कर दिया है। रामद्वारा परित्यक्ता सीताके हृदयमें भी रामके प्रति कितना स्वाभाविक प्रेम है। वे कहती हैं—'यदि मेरे गर्भमें स्थित आपका भव तेज बाधा न देता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं आपसे सदाके लिये बिछुड़े हुए अपने प्राण भी छोड़ देती। पर पुत्र हो जानेपर मैं सूर्यमें दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आप ही मेरे पति हों, पर आपसे मुझे अलग न होना पड़े—

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।
(रघुवंश १४। ६६)

नारीका ऐसा उदात्त एवं आदर्श रूप संसारमें और कहाँ मिल सकता है! जन्म-जन्मान्तरमें पतिके साहचर्य-की कामना रखनेके कारण हिंदूनारी पतिके दिवंगत हो जानेपर, उसकी चितामें उसके साथ ही भस्म हो जाना चाहती है। कामदेवके नष्ट हो जानेपर रति अपने प्राणोंको त्यागनेके लिये तत्पर है; क्योंकि चाँदनी चन्द्रमाके साथ चली जाती है और बिजली बादलके साथ विलीन हो जाती है। अतएव पतिके मार्गका अनुगमन करना जब जड़ोंमें भी देखा जाता है, तब वह चेतन होकर अपने प्यारेके पास कैसे न जाये!—

शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तडित् प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति
प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥
(कुमारसम्भव ४। ३३)

और वह वसन्तसे चिता सजानेकी प्रार्थना करती है, जिससे वह सहमरणका पुण्यलाभ कर सके। कण्वके द्वारा पतिगृह जाती हुई शकुन्तलाको दिया जानेवाला—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल ४। १८)

—यह उपदेश आज भी भारतीय पिताओंके द्वारा पुत्रियोंको दिया जाता है। पिता योग्य वर ढूँढ़कर संतुष्ट हो जाता है—'वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येव अशोचनीयासि संवृत्ता' (शाकुन्तलम्, पृ० ४८२)। 'जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे दुःख नहीं होता, वैसे ही तुझे भी योग्य पतिके हाथमें देनेसे मुझ (कण्व)को दुःख नहीं है।' किंतु माँको तभी संतोष होता है, जब कन्याको उसका पति प्यार करता है—

भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥
(कुमारसम्भव ८। १२)

शकुन्तलाको विदा करते समय विचारमग्न कण्वकी—'अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः' इस (शाकु० ४।२२की) उक्तिमें भारतीय पिताकी भावना मुखरित हो उठती है। कालिदासके अन्य पुरुष पात्रोंमें भी विलक्षण शौर्य, दृढ़ चारित्र्य, न्यायी सर्ग, शास्त्रानुशीलन, शासनकुशलता, वर्णाश्रम-धर्मके प्रति निष्ठा एवं दिव्यकी अपेक्षा श्रेयकी ओर झुकाव परिलक्षित होता

दिलीप, रघु, अज, राम आदि रघुवंशियोंका पराक्रम तो लोकविश्रुत है ही, दुष्यन्त और पुरूरवाका भी शौर्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि इन्द्रको भी अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इनकी शरण लेनी पड़ती है। ये सभी राजा होते हुए भी चरित्रके इतने दृढ़ थे कि पर-स्त्रीके प्रति इनकी मानसिक वृत्ति भी उन्मुख नहीं होती थी—'यदिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति' (रघुवंश १६ । ८)। शूर्पणखा जब रामसे विवाहका प्रस्ताव रखती है तो राम स्पष्ट कह उठते हैं—'मेरा तो विवाह हो चुका है, तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ।' यहाँ कवि एकपत्नीव्रतकी ओर इङ्गित करना चाहते हैं (रघुवंश १२ । ३४)। पर जब वह लक्ष्मणके पास जाती है, तब वे कहते हैं—'तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है, अतः तू मेरी माताके समान है, मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता' (रघुवंश १२ । ३५)। स्पष्ट है कि कालिदास मानसिक व्यभिचारके भी विरोधी थे। दुष्यन्त अपनी विस्मृतिकी अवस्थामें भी घोषणा कर रहा है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' (शाकुन्तल पृ० ५०१) और वह सहज भावसे कह उठता है —

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥
(अभि० पृ० ५ । २८)

'जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदोंको ही विकसित करता है और सूर्य केवल कमलोंको ही विकसित करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय लोग परायी स्त्रीको छूनेकी इच्छा नहीं करते।' ये समस्त कथन दुष्यन्तकी चारित्रिक उदात्तताके ही सूचक हैं। एक शब्दमें कविने यहाँ दुष्यन्तको शकुन्तलाके साथ अवांछित सम्बन्ध दिखाया है और यही विस्मृतिकी अवस्थामें उसकी सजग आत्मा भी ... रहा है। उसे अपने चरित्रपर अटूट विश्वास है, शकुन्तलाके प्रति आकृष्ट होते समय भी वह इस मतके लिये आश्वस्त है कि पुरुवंशियोंका मन कुमार्गकी ओर जाता ही नहीं है—'न च परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते' (शाकुन्तल १ । २१८)। यह कथन उसके आत्मबलको घोषित कर रहा है।

भारतीय संस्कृतिमें संग्रह करनेकी अपेक्षा त्यागपर अधिक बल दिया गया है; क्योंकि यहाँके लोग धनके लिये नहीं जीते, यशके लिये ही जीते हैं। सज्जनोंकी सम्पत्ति बादलोंके जलके समान दानके लिये ही संग्रहीत होती है—

'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।'

धन तो बहुत तुच्छ वस्तु है। दिलीप जब अपने सिरको समक्ष अर्पित कर देते हैं तो सिंह उनसे कहता है—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥
(रघुवंश २ । ४७)

'राजन्! लगता है, कर्तव्याकर्तव्यका तुम्हें विवेक नहीं रह गया है; क्योंकि एक साधारण-सी गौके लिये तुम इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़नेपर उतारू हो।' इसके उत्तरमें दिलीप कहते हैं—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥
(रघुवंश २ । ५७)

'यदि किसी कारणवश तुम मुझपर कुछ दया करना चाहते हो तो मेरे यशःशरीरकी रक्षा करो; क्योंकि मुझ-जैसे लोग नश्वर शरीरमें आस्था नहीं रखते।' ऐसे त्यागका विलक्षण आदर्श रहा है। ... है। ...

मोह क्या ! यशःकायसे तो मनुष्य शताब्दियोंतक जीवित रहता है—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥
(काव्यालंकारसूत्र पृ० ४१)

यौवन, रूप और ऐश्वर्य—तीनोंमेंसे एक भी मनुष्यको मतवाला बना देता है, किंतु अतिथिके पास तीनों वस्तुएँ थीं तो भी उन्हें लेशमात्र गर्व न था।

यथोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
तानि तस्मिन् समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥
(रघुवंश १७।४३)

सत्ताधारियोंके प्रति यह प्रच्छन्न चुनौती है। अतिथिने यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा रहते नहीं और रहते भी हैं तो दूर रहते हैं, अपने भीतर रहनेवाले काम-क्रोधादिको पहले जीत लिया। इन्होंने अर्थ तथा कामके लिये धर्मको कभी नहीं छोड़ा और धर्मसे बँधकर अर्थ एवं कामको भी नहीं छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण अर्थको ही छोड़ा, प्रत्युत धर्म, अर्थ एवं काम तीनोंमें समरसताका बन्धन बनाये रखा—

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद् रिपून्॥
(रघुवंश १७।४५)
(क्रमशः)

प्राचीन भारतीय कलाका चारित्रिक दर्शन

(लेखक—प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)

धर्म, दर्शन, साहित्य तथा संगीतकी अनेक विधाओंकी तरह वास्तु, चित्रकला और मूर्तिकलाका भी इस देशमें बड़े रूपमें विकास हुआ। इन सबका उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्दकी अभिवृद्धिके साथ चरित्र-निर्माण भी था। इसका पालन दीर्घकालतक होता रहा। वस्तुतः कलाओंमें—सत्यं, शिवं, सुंदरम् रूपमें जीवन-आदर्शकी वही भावना निहित थी, जिसे हम अपने दार्शनिक साहित्यमें पाते हैं। भारतमें भोगप्रधान कृतिको वास्तविक कला नहीं माना गया। सच्ची कलाकी संज्ञा उसे दी गयी, जो परमानन्दकी प्राप्ति करानेमें सफल हो। कहा भी गया है—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

भारतीय कलाका इतिहास प्रागैतिहासिकयुगसे ही आरम्भ होता है। विशुद्ध भौतिक कलाके साथ-साथ धर्मसे सम्बन्धित कलाओंका निर्माण भी विभिन्न युगोंमें देशके प्रायः सभी भागोंमें होता आया है। विविध कलाओंके शास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन होनेपर वास्तुकला, चित्रकला, प्रतिमाकला एवं संगीत और नृत्यको उसी प्रकार नियमबद्ध किया गया, जिस प्रकार व्याकरणका नियमन पाणिनि आदि आचार्योंद्वारा किया गया। यद्यपि भारतमें बहुतेरे प्रतिमा-मन्दिर नये बने, तथापि कलाओंके चारित्रिक उन्नयनवाले पक्षने न केवल इस देशमें, अपितु बाहरके अनेक देशोंमें सम्मान प्राप्त किया। इसका प्रमाण वे बहुसंख्यक कलाकृतियाँ हैं, जो आज भी मध्य एशिया, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, सिंहलद्वीप, हिंद-चीन और हिंदेशियाके विभिन्न भागोंमें सुरक्षित हैं। भारतकी सांस्कृतिक विजयमें यहाँके आचार-विचारका तथा उनसे प्रादुर्भूत विविध मूर्त रूपोंका योगदान रहा है। ऐतिहासिक युगोंमें अनेक मंदिरों, स्तूपों, मठों, प्रतिमाओं आदिके निर्माणकी कथा बड़ी ही रोचक है। कलाकारोंने जहाँ एक ओर इसपर ध्यान दिया कि उनकी कृतियाँ लोक-जीवनके विभिन्न पक्षोंको उद्घाटितकर लोगोंमें सौन्दर्य और आनन्दकी वृद्धि करें, वहीं उन्होंने इस बातपर

बराबर बल दिया कि कलाकृतियाँ चरित्र-निर्माणमें सहायक बनें।

गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें स्वर्णयुगके नामसे प्रसिद्ध है। ईसवी सन् चौथी शतीके आरम्भसे छठी शतीके अन्ततकके लगभग तीन सौ वर्षोंके इस लंबे समयमें भारतने मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीतके क्षेत्रमें अभूतपूर्व उन्नति की। यह धार्मिक सहिष्णुताका युग था। यद्यपि अधिकांश गुप्तवंशी राजा वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य धर्मोंके प्रति सम्मानका भाव रखते थे। उनके शासनमें कितने अन्य मतावलम्बी भी ऊँचे पदोंपर आसीन थे। इस कालमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतोंके साथ बौद्ध एवं जैन-धर्म एवं कलाएँ भी बराबर विकसित होती रहीं। इन विविध धर्मोंसे सम्बद्ध देवालयों, स्तूपों, विहारों आदिके जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनको देखनेसे पता चलता है कि शासक-वर्ग एवं जनता—दोनोंमें धार्मिक उदार भावना विद्यमान थी। कुमारगुप्तने नालन्दामें एक बौद्ध विहारकी स्थापना करायी। वहाँ एक बड़े विश्वविद्यालयका निर्माण पहलेसे ही हुआ था। परवर्ती गुप्त शासकोंने इस विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धि में पूरा योग दिया। इस कालमें जैनधर्म-सम्बन्धी स्थापत्य एवं मूर्तिकलाकी कृतियोंका भी निर्माण बड़ी संख्यामें हुआ। मथुरा-जैसे नगर बौद्ध तथा जैन-धर्मके बड़े केन्द्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए। महाकवि कालिदासने उस भारतीय पारम्परिक विचारधाराका अनुमोदन किया है, जिसके अनुसार रूप या कला पाप-वृत्तियोंको उकसानेका साधन नहीं है, बल्कि उनका उद्देश्य ऊँचा है। वे पार्वतीके शीलको विभूतरा तपस्वियोंके लिये भी अनुकरणीय बतलाते हैं—

> यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
> 　न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
> तथा हि ते शीलमुदारदर्शने
> 　तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥
> (कुमारसम्भव ५। ३६)

गुप्तकालीन मूर्तिकारोंने भी कालिदासकी कलाके इस दिव्य आदर्शसे प्रेरणा प्राप्तकर अपनी कलाको सजाया। गुप्तकालकी जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, वे मानव-हृदयके उल्लास, प्रेम और आनन्दका संचार करनेके साथ-साथ चित्तवृत्तियोंको ऊँचा उठानेमें सहायक-सी दीखती हैं। सौकुमार्य और रमणीयताके साथ गाम्भीर्यका आदर्श भी इस स्वर्णयुगीन कलामें मिलता है। गुप्तकालीन मूर्तियोंमें चार प्रकारके उपकरण हैं—पाषाण, मिट्टी, काँसेकी बनी तथा सिक्कोंपर किये हुए रेखाचित्र। पत्थरकी मूर्तियाँ गढ़नेके प्रधान केन्द्र देवगढ़, सारनाथ, मथुरा, उदयगिरि, नचना, भुमरा, मन्दसौर आदि थे। देवगढ़के दशावतार-मन्दिरमें लगे हुए कई शिलापट्ट गुप्तकालके उत्तम नमूने हैं। इनमें तपस्यामें संलग्न नर-नारायण, गजेन्द्रमोक्ष, अहल्या-उद्धार तथा शेषशायी विष्णुके दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। कुछ फलकोंपर कृष्ण-लीलाके दृश्य भी हैं। सारनाथसे प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रामें बैठी हुई बुद्धमूर्ति सर्वोत्तम बुद्ध-प्रतिमाओंमेंसे एक है। इसमें बुद्धका शान्त, निःस्पृह भाव कलाकारके द्वारा बड़ी सफलताके साथ व्यक्त किया गया है। सारनाथसे लोकेश्वर शिवका एक सुन्दर मस्तक मिला है, जिसका कलात्मक जटाजूट दर्शनीय है। भारतकला भवन, काशीकी कार्तिकेयमूर्ति भी अपने ढंगकी अनूठी है। इसमें वीररस मूर्त-सा हो गया है और आकृतिसे तेज तथा उत्साह झलकता है। मुखपर निर्भयताका भाव है।

गुप्तकालमें मथुरा-कलाने भी बड़ी उन्नति की। बुद्धकी जो मूर्तियाँ इस कालमें गढ़ी गयीं, उनमें शान्ति और गम्भीरताके साथ अङ्गोंकी कोमलता तथा चेहरेपर मन्दस्मितताका भाव बड़े आकर्षक ढंगसे व्यक्त किया गया है। जैन-तीर्थंकरों तथा विष्णुकी कई उत्तम प्रतिमाएँ मथुरासे प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त जनसाधारणके जीवनपर प्रकाश डालनेवाली कृतियाँ भी मिली हैं

चारित्र्यके आदिदेव महादेव

'त्वत् परमं महत्तमसि'

बराबर बल दिया कि कलाकृतियाँ चरित्र-निर्माणमें सहायक बनें।

गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें स्वर्णयुगके नामसे प्रसिद्ध है। ईसवी सन् चौथी शतीके आरम्भसे छठी शतीके अन्ततकके लगभग तीन सौ वर्षोंके इस लंबे समयमें भारतने मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीतके क्षेत्रमें अभूतपूर्व उन्नति की। यह धार्मिक सहिष्णुताका युग था। यद्यपि अधिकांश गुप्तवंशी राजा वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य धर्मोंके प्रति सम्मानका भाव रखते थे। उनके शासनमें विभिन्न अन्य मतावलम्बी भी ऊँचे पदोंपर आसीन थे। इस कालमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतोंके साथ बौद्ध एवं जैन-धर्म एवं कलाएँ भी बराबर विकसित होती रहीं। इन विविध धर्मोंसे सम्बद्ध देवालयों, स्तूपों, विहारों आदिके जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनको देखनेसे पता चलता है कि शासक-वर्ग एवं जनता—दोनोंमें धार्मिक उदार भावना विद्यमान थी। कुमारगुप्तने नालन्दामें एक बौद्ध विहारकी स्थापना करायी। वहाँ एक बड़े विश्वविद्यालयका निर्माण पहलेसे ही हुआ था। परवर्ती गुप्त शासकोंने इस विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धि में पूरा योग दिया। इस कालमें जैनधर्म-सम्बन्धी स्थापत्य एवं मूर्तिकलाकी कृतियोंका भी निर्माण बड़ी संख्यामें हुआ। मथुरा-जैसे नगर बौद्ध तथा जैन-धर्मके बड़े केन्द्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए। महाकवि कालिदासने उस भारतीय पारम्परिक विचारधाराका अनुमोदन किया है, जिसके अनुसार रूप या कला पाप-वृत्तियोंको उकसानेका साधन नहीं है, बल्कि उनका उद्देश्य ऊँचा है। वे पार्वतीके शीलको शिवद्वारा तपस्वियोंके लिये भी अनुकरणीय कहलाते हैं—

> यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
> न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
> तथा हि ते शीलमुदारदर्शने
> तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥
> (कुमारसम्भव ५। ३६)

गुप्तकालीन मूर्तिकारोंने भी कालिदासद्वारा निर्दिष्ट कलाके इस दिव्य आदर्शसे प्रेरणा प्राप्तकर अपनी कृतियोंको सजाया। गुप्तकालकी जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें मानव-हृदयके उल्लास, प्रेम और आनन्दका संचार करनेके साथ-साथ चित्तवृत्तियोंको ऊँचा उठानेमें सहायक भाव दीखते हैं। सौकुमार्य और रमणीयताके साथ पवित्रताका आदर्श भी इस स्वर्णयुगीन कलामें मिलता है। गुप्तकालीन मूर्तियोंमें चार प्रकारके उपकरण हैं—पाषाण, मिट्टी, कांसेकी बनी तथा सिक्कोंपर किये हुए रेखाचित्र। पत्थरकी मूर्तियाँ गढ़नेके प्रधान केन्द्र देवगढ़, सारनाथ, मथुरा, गढ़शिल्प, नचना, भुमरा, मन्दसौर आदि थे। देवगढ़के दशावतार-मन्दिरमें लगे हुए कई शिल्पपट्ट गुप्तकालके उत्तम नमूने हैं। इनमें तपस्यामें संलग्न नर-नारायण, गजेन्द्रमोक्ष, अहल्या-उद्धार तथा शेषशायी विष्णुके दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। कुछ फलकोंपर कृष्ण-लीला-सम्बन्धी दृश्य भी हैं। सारनाथसे प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रामें बैठी हुई बुद्धमूर्ति सर्वोत्तम बुद्ध-प्रतिमाओंमेंसे एक है। इसमें बुद्धका शान्त, निःस्पृह भाव कलाकारके द्वारा बड़ी सफलताके साथ व्यक्त किया गया है। सारनाथसे लोकेश्वर शिवका एक सुन्दर मस्तक मिला है, जिसका कलात्मक जटाजूट दर्शनीय है। भारतकला-भवन, काशीकी कार्तिकेयमूर्ति भी अपने ढंगकी अनूठी है। इसमें वीररस मूर्त-सा हो गया है और मुख-पर तेज तथा उत्साह छलकता है। मुखपर निर्भीकताका भाव है।

गुप्तकालमें मथुरा-कलाने भी बड़ी उन्नति की। बुद्धकी जो मूर्तियाँ इस कालमें गढ़ी गयीं, उनमें शान्ति और गम्भीरताके साथ आँखोंकी कोमलता तथा चेहरेपर मन्दस्मितताका भाव बड़े कलात्मक ढंगसे व्यक्त किया गया है। जैन-तीर्थंकरों तथा विष्णुकी कई उत्तम प्रतिमाएँ मथुरासे प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त जनसाधारणके जीवनपर प्रकाश डालनेवाली कृतियाँ भी मिली हैं।

चारित्र्यके आदिदेव महादेव

'घरत् परमं मङ्गलमसि'

जिनसे तत्कालीन वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद आदिकी जानकारी प्राप्त होती है।

उत्तर-पश्चिममें गुप्तकालीन मूर्तिकलाका एक बड़ा क्षेत्र गान्धार प्रदेश था। वहाँ स्लेटी (नीले) पत्थरमें उत्कीर्ण बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी सैकड़ों कृतियाँ मिली हैं, जो लाहौर, तक्षशिला तथा पेशावरके संग्रहालयोंमें सुरक्षित हैं। इनकी कला यूनानी और वर्ण्य-विषय भारतीय हैं। चूने-मसालेकी पच्चीकारीके बने हुए गान्धारकलाके कुछ मस्तक बड़े सुन्दर हैं।

मध्यभारतके उदयगिरि नामक स्थानमें उत्कीर्ण वराहकी विशालकाय प्रतिमा इस कालकी एक विशिष्ट कृति है। वराह भगवान् पृथ्वीको अनायास अपनी दाढ़ोंपर उठाये हुए दिखाये गये हैं। उनका शौर्य और साहस मूर्तिमें बड़े स्वाभाविक ढंगसे व्यक्त किया गया है। मध्यभारतमें पवाया आदि कई स्थानोंसे भी इस कालकी सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। इनमेंसे अधिकांश ग्वालियरके संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। कई प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे उच्चकोटिकी हैं। विन्ध्यप्रदेशके खोह नामक स्थानसे प्राप्त एकमुख शिवलिङ्गवाली मूर्ति, जो पाँचवीं शती ईसवीकी है, गुप्तकालीन कलाके उत्कृष्ट उदाहरणोंमेंसे एक है। अन्य सुन्दर शिवलिङ्ग भुमरा, नचना आदि स्थानोंसे मिले हैं।

दक्षिण भारतके अजन्ता, एलोरा, कन्हेरी, बादामी, ऐहोल आदि कई स्थानोंसे प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। अजन्ताकी गुफाओंमें पाषाणपर प्रतिमाएँ अङ्कित हैं। इसकी १९वीं गुफामें बुद्धकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो उत्तर-गुप्तकालकी हैं। इनमें सपत्नीक नागराजकी प्रतिमा सर्वश्रेष्ठ है। एलोरामें छठी शतीकी कुछ दर्शनीय मूर्तियाँ हैं। कन्हेरीकी ६६वीं गुफामें अवलोकितेश्वरकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति उत्कीर्ण है। वे दो तारा-मूर्तियोंके बीच खड़े हुए दिखाये गये हैं। एलोरामें भी उत्तरगुप्तकालकी कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमेंसे अधिकांश वैष्णव-धर्मसे सम्बद्ध हैं।

प्राचीन इमारतें अब अधिक संख्यामें उपलब्ध नहीं रहीं; जो बची हैं उन्हें देखनेसे ज्ञात होता है कि उनमें मूर्तियोंका चित्रण सुचारु ढंगसे किया जाता था तथा देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पत्रावली, स्वस्तिक, कीर्तिमुख आदि यथास्थान उत्कीर्ण किये जाते थे। कानपुर जिलेमें भीतरगाँव तथा मध्यप्रदेशके रायपुर जिलेमें सिरपुर नामक स्थानपर ईंटोंके मन्दिर मिले हैं। ईंटोंपर स्त्री-पुरुष, उत्फुल्ल कमल, बेलबूटे तथा जालीदार नक्काशी बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे उकेरी हुई मिलती हैं।

मिट्टीकी मूर्तियाँ भी बड़ी संख्यामें मिली हैं। पहाड़पुर, तमलुक, राजघाट, भीटा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पवाया, अहिच्छत्र और मथुरासे जो मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें तत्कालीन लोक-जीवनकी सुन्दर झाँकी मिलती है। पहाड़पुरके उत्खननसे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी तथा अन्य कितने ही मनोरञ्जक अवशेष मिले हैं। राजघाटसे प्राप्त मिट्टीके खिलौने, गुप्तकालीन स्त्रीपुरुषोंके अनेक प्रकारके केश-विन्यासों तथा अलंकरणोंको व्यक्त करते हैं। अहिच्छत्र (रामनगर)की खुदाईमें गुप्तकालकी अनेक छोटी-बड़ी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय पार्वतीका मनोहर मस्तक है, जिसका पुष्प-ग्रथित केशपाश तथा घुँघराली अलकोंका भव्य प्रदर्शन देखकर कलाकारकी कलाके सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है। अहिच्छत्रासे प्राप्त अलंकृत जटाजूटसहित शिवका सिर भी दर्शनीय है। श्रावस्तीसे मिली हुई मूर्तियोंमें एक बहुत बड़ी मृण्मूर्ति है। इतनी बड़ी मिट्टीकी प्राचीन मूर्ति अन्यत्र नहीं मिली। इसमें एक स्त्री दो बच्चोंके साथ बैठी हुई दिखायी गयी है। पासमें मोदकोंकी डलिया रखी है। सम्भवतः यह दृश्य यशोदासहित कृष्ण-बलरामका है।

गुप्तकालकी धातुकी मूर्तियाँ भी मिली हैं। सर्वोत्कृष्ट ताँबेकी वह बुद्धमूर्ति है, जो सुल्तानगंज (जिला

भागलपुर)से मिली है। यह सात साढ़े सात फुट ऊँची है और पाँचवीं शती ईसवीकी है। बुद्धका दायाँ हाथ अभयमुद्रामें है और बायेंसे वे वस्त्र सँभाले हुए हैं। वस्त्रोंको बड़ी बारीकीसे दिखाया गया है। मुखकी मुद्रा शान्त है। यह मूर्ति अब इंग्लैंडके बर्मिंघम म्यूजियममें है। पूर्वी पंजाबके कांगड़ा जिलेसे बुद्धकी पीतलकी एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। उसमें उन्हें धर्मचक्र-परिवर्तन-मुद्रामें दिखाया गया है। मीरपुर खास (सिन्ध प्रान्त)-से मिली ब्रह्माकी खड़ी हुई चतुर्मुखी मूर्ति भी कांस्य-प्रतिमाओंके अच्छे उदाहरणोंमें एक है। इस कालके सोने-चाँदीके सिक्के भी बड़ी संख्यामें मिले हैं। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे स्वर्ण-सिक्के विशेष महत्त्वके हैं। उनके अग्रभागपर राजाकी मूर्ति मिलती है और पीछे लक्ष्मी या किसी अन्य देवताकी। इन मूर्तियोंसे तत्कालीन वेश-भूषाका अच्छा परिचय प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमारगुप्त प्रथमके वे सिक्के जिनमें राजा-रानी साथ-साथ दिखाये गये हैं एवं समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्तके सिंहवधाङ्कित सिक्के विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

भारतीय संस्कृतिके मूलभूत तत्त्व, जिनमें ऐहिक एवं पारमार्थिक श्रेयका बीज निहित था, देश-कालकी सीमासे आबद्ध नहीं हुए। इतिहाससे ज्ञात होता है कि दीर्घकाल-तक संसारके अन्य देशवासियोंने भी इससे लाभ उठाया। प्राचीन समयमें भारतने मिस्र, असीरिया और बेबिलोनसे व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। मौर्यसम्राट् अशोकने असीरिया, मिस्र, मैसीडोनिया, एपीरस, ताम्रपर्णी, सुवर्णभूमि आदि अनेक देशोंको अपनी धर्म-विजयका संदेश भेजा। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तमें मध्य-एशियामें भारतीय बस्तियोंकी स्थापनाका आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे वहाँके काशगर, खोतन, यारकन्द, मलय, कूची, अग्निदेश आदि राज्योंमें भी भारतीय धर्म, कला, भाषा और साहित्यका विकास हुआ। इनमेंसे कूची और खोतन (कुस्तन) भारतीय संस्कृतिके प्रधान केन्द्र हुए। खोतनके राजाओंके नाम विजयसम्भव, विजयवीर्य, विजय-धर्म आदि मिलते हैं। वहाँ गोमतीविहार बौद्धशिक्षाका बहुत बड़ा केन्द्र था। चौथी शताब्दीके अन्तमें जब चीनी यात्री फाह्यान वहाँ गया, तब महायान-सम्प्रदायके ३,००० बौद्ध-भिक्षु उस विहारमें निवास करते थे तथा वहाँ धर्मयात्राएँ बड़े समारोहके साथ चलती थीं। छठी शतीके अन्ततक दक्षिण-पूर्वी एशियामें अनेक भारतीय उपनिवेशोंकी स्थापना हो गयी। हिन्दचीनके एक बड़े भागका नाम 'सुवर्णभूमि' तथा हिन्देशियाके द्वीपोंकी संज्ञा 'सुवर्णद्वीप' प्रसिद्ध हुई। वहाँ जिन भारतीय राज्योंकी स्थापना हुई, उनके नाम कम्बुज, चम्पा, कोठार, पाण्डुरंग, श्रीविजय, मलय, दशार्ण, गंधार आदि मिलते हैं। इसी प्रकार वहाँ नगरोंके नाम भी अयोध्या, वैशाली, मथुरा, श्रीक्षेत्र, तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, कुसुमनगर, रामावती, धान्यवती, द्वारवती, सिंहपुर आदि मिलते हैं। सुवर्णद्वीप-सुमात्रा एवं आस्ट्रेलियामें भी भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कलाका प्रसार हुआ। वहाँके आदिम निवासियोंके साथ भारतीयोंने जिस प्रेम एवं सहिष्णुताका व्यवहार किया, उसके कारण वे लोग बहुत प्रभावित हुए। फलस्वरूप ये प्रदेश भारतीय संस्कृतिके रंगमें पूर्णतया रँग गये और उनकी गणना 'बृहत्तर भारत'के अन्तर्गत की जाने लगी। ये उपनिवेश भारतीय संस्कृतिके तो केन्द्र बने ही, साथ ही उनके माध्यमसे भारतको मध्यचीन, जापान, कोरिया आदि देशोंके साथ भी अपने सांस्कृतिक सम्बन्धोंको दृढ़ बनानेमें सहायता मिली।

भारतीय संस्कृतिका इन दूरस्थ देशोंमें प्रचार करनेका श्रेय हमारे पूर्वज धर्म-प्रचारकोंको है। वैरोचन, काश्यप, मातङ्ग, कुमारजीव, गुणवर्मा, बोधिधर्म, गुणभद्र, धर्मरक्षित, पद्मसम्भव, जिनमित्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि कितने ही

विद्वानोंने यात्राजनित कष्टोंकी परवाह न कर संसारके अनेक भागोंमें भारतीय संस्कृतिका संदेश फैलाया। विभिन्न देशोंके साथ हमारे पूर्वजोंने सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें दृढ़ता प्रदान की। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने जिस चरित्र-बल तथा उदारताका परिचय दिया, वह मानव-इतिहासकी एक गौरवपूर्ण गाथा है। वास्तुकला तथा मूर्तिकलाके बहुसंख्यक अवशेष विदेशोंमें विद्यमान हैं। ये चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृतिका जयघोष आज भी कर रहे हैं। वस्तुतः भारतीय कलामें आदर्श चारित्रिक दर्शन है।

आंग्ल-साहित्यमें चरित्रका महत्त्व

(लेखक—साहित्य-वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्० टी०, एल्-एल्०बी०)

अंग्रेजीमें एक सूक्ति प्रचलित है—

'यदि धन खो गया तो कुछ नहीं खोया (फिर कमा लेंगे), स्वास्थ्य खोया तो कुछ खो गया (संयम और ओषधिसे फिर भी मिल सकेगा), पर चरित्र खो दिया तो सब कुछ चला गया।'

व्यक्तिकी साख उसका बाह्यरूप है, परंतु 'चरित्र' तो उसका गुप्त धन है, जिसे उसके सिवा कोई नहीं जानता। इसीलिये कैनिंगकी बात सार्थक है कि 'व्यक्तिगत चरित्र ही समाजकी महान् आशा है।' प्लूटार्कने बहुत पहले कहा था—'चरित्र बहुत समयतक जारी रहनेवाली एक आदत है। उसीको आधुनिक मनोविज्ञानने 'आदतोंकी ढेरी' (Bundle of Behaviours) के रूपमें परिभाषित किया है। चरित्र यदि आदतोंका पुलिन्दा है तो मैं कहूँगा कि जीवन भूलोंकी गठरी है। लॉंगफेलो चाहते हैं कि मनुष्य इस संसारमें निहाई बने या हथौड़ा। वे कहते हैं—सुजन विचारोंकी रचना है। मिल्टनका कथन है—'जीवनका महान् ध्येय चरित्र-निर्माण है।' उनके अनुसार—'हम प्रतिदिन अपने दैनिक जीवनकी दिशामें बढ़ते जाते हैं। यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम सत्य, प्रेम, धैर्य-जैसे सद्गुणोंकी ओर बढ़ें या झूठ, लोभ, स्वार्थ-जैसे दुर्गुणोंके बीच जियें। एक यूनानी कहावतके अनुसार 'चरित्र भाग्य है। यदि हम तनिक भी विवेक रखते हैं तो हम अच्छे भाग्यके लिये अच्छे गुणोंकी ओर बढ़ना चाहेंगे, परंतु मानवदेहधारी होनेके नाते जो षड्रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जन्मसे हमें घेरे हुए हैं, वे हमें बार-बार भूलोंकी ओर ले जाते हैं। उनका काम हमें ठगना है। पर हमें चाहिये कि हम दृढ़तासे उनका प्रतिरोध करें और ठोकरें भी खाँय तो प्रत्येक बार सँभल कर चलें।

विल्बरफोर्स तो कहते हैं—'छोटी बातोंकी बहुधा पुनरावृत्तिके चुनावमें ही चरित्रकी दृढ़ता है।' एमर्सनकी रायमें 'चरित्रकी पूर्णताका तो कहीं अन्त नहीं—वह कथित सफलताके बिना भी प्रतीक्षा कर सकता है।' भाव यह है कि पूर्णतः चरित्रवान् होना तो कठिन है, पर छोटी-छोटी बातोंको सही ढंगसे करनेकी आदत डालते चलो। चरित्रका निर्माण होता चलेगा, भले ही दुनियाकी दृष्टिमें तुम्हारा जीवन असफल हो। हर्बर्टके दृष्टिकोणसे 'चरित्र दो वस्तुओंका परिणाम है—मानसिक झुकाव और समय बितानेका हमारा ढंग।' नोवालिसके अनुसार 'चरित्र पूर्णतः शिक्षित इच्छा-शक्ति है।' मायरके मतसे—'चरित्रकी उदात्तता कुछ नहीं है, सिवाय अच्छाईके प्रति स्थिर प्रेम और बुराईके प्रति स्थिर घृणाके।' अरस्तू कहते हैं—'हमारे चरित्र हमारे व्यवहारके परिणाम हैं।'

इस प्रकार 'चरित्र'की अनेक परिभाषाओंद्वारा विद्वानोंने उसके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया है। एमर्सन उसकी खोजमें आगे बढ़े हैं—वे चरित्रका गर्व भी बताते हैं। उन्होंने कहा है—'चरित्र गुणात्मकको दान

प्रदान करता है तथा झुर्रियोंवाले लाल और श्वेत गालोंको प्रकाशित करता है।' भाव यह है कि चरित्रसे यौवनको गरिमा प्राप्त होती है और वृद्धावस्थाको आदर मिलता है। चरित्रवान् युवक-युवती हमारी सराहनाके योग्य हैं और वृद्ध-वृद्धा आदरके पात्र। दूसरे शब्दोंमें उन्नत चरित्रकी शोभा प्रत्येक वयमें है। कहना न होगा कि बाल्यकालसे ही अच्छी आदतोंका अभ्यास हमें युवावस्था और वृद्धावस्थामें भी चरित्रवान् बनाता है। जीवनमें सब समय उत्तम चरित्रकी आवश्यकता है—उसकी अपनी उपयोगिता है। चरित्रके पालनेमें परिस्थितियोंका बहाना नहीं चलनेका है। एमर्सन कहते हैं—'परिस्थितियोंके किसी भी परिवर्तनसे चरित्रकी कमी सुधारी नहीं जा सकती।'

थोरोका कथन है—'आनन्द नहीं जीवनका लक्ष्य चरित्र ही है।' लावेलकी उक्ति है—'सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति भाग्यसे सरल, विनम्र, पुरुषार्थी और सत्यवादी होनेके अतिरिक्त माँग भी क्या सकता है। वह चाहेगा कि वह बहुतोंकी दृष्टिसे सुरक्षित रहे, बहुत थोड़े लोगोंद्वारा सम्मानित हो तथा संसारमें तुच्छ समझा जाये; परंतु अपने अन्तरमें गोपनीय ढंगसे महान् हो।' चरित्रवान् होनेका ढोंग तो बहुत-से रच लेते हैं, पर जब अन्तरात्मा निजी जीवनमें विशुद्ध होनेकी साक्षी भरे, तभी समझो कि तुमने संसारी वैभवको तुच्छ मानकर चारित्रिक उत्कर्षको अपनाया है। शेली (Sheelly) नामक विख्यात कविकी दृष्टिमें—'चरित्रवान् व्यक्ति आनन्दमय आत्माओंमेंसे है, जो पृथ्वीका नमक (लवण) है (अर्थात् उसके स्वाद या सौन्दर्यको बढ़ानेवाला है) और जिसके बिना संसारमें मकबरे-जैसी गन्ध होगी अर्थात् यह जगत् श्मशान-जैसी दुर्गन्धसे युक्त होगा।'

हम पूर्णतः चरित्रवान् भले न हों, पर अपने ही अन्तःकरणके द्वारा गिरे हुए न ठहराये जायँ। कारण कार्लाइलके मतसे—'पूर्ण चरित्र तो एक हजार सालमें एक बार प्रकट होता है। अवश्य ही उनका तात्पर्य राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा-जैसी विभूतियोंसे है।

कोई 'चरित्र'को देखना चाहे कि वह कहाँ छिपा हुआ है तो गेटे महाशयके सस्ते नुस्खोंको देखें। वे कहते हैं—'मनुष्य और किसी वस्तुसे अपना चरित्र इतना नहीं दिखाते, जितना वे अपने हँसनेकी वस्तुसे प्रकट करते हैं।' अभिप्राय यह है कि दूसरोंपर हँसकर, उन्हें तुच्छ समझकर और इससे भी आगे उनके कष्टोंमें उल्लसित होनेवाले अपने चरित्रकी नीचता ही प्रकट करते हैं। गेटेके समयमें भी धूर्तोंकी कमी न थी और हमारे समयमें तो घोर कलियुगमें अनाचारका अद्भुत प्रसार हो रहा है; क्योंकि संसार चारित्र्यसे पराङ्मुख होकर दुखियोंका दुःख दूर करना भूलकर बल्कि उनपर हँसना जानता है।

आंग्ल-साहित्यमें चरित्रके महत्त्वका संकेतमें दिग्दर्शन कराते हुए हम कहेंगे कि अच्छे-बुरे सब कहीं हैं, परंतु अंग्रेज (व्यापकरूपमें सभी पाश्चात्त्य) राष्ट्रिय चरित्रमें ठीक हैं। हमारा रोना तो यही है कि उत्तमोत्तम विरासत पाकर भी हम भारतीय आज उनकी नकलसे राष्ट्रिय चरित्रमें पीछे हो रहे हैं। टेलर कहते हैं—'प्रसिद्धि वह है, जो तुमने ली है और चरित्र वह है, जो तुम देते हो।' प्रत्येकको सोचना चाहिये कि मानव-देह पाकर तुमने समाज, राष्ट्र और संसारको क्या दिया है। ध्यान रहे, तुम्हारा यह योगदान तुम्हारे चरित्रके रूपमें अलक्ष्य है। गेटेके शब्दोंमें—'चरित्र चरित्रको प्रेरणा देता है।' बैट्रोमने उसे हीरा बताया है, जो अन्य सभी पत्थरोंपर खरोंच बना देता है और अन्तमें स्टिवर्ट स्मिथकी बात याद रखें—'चरित्रकी अन्तिम उत्कृष्ट पूर्ण आन्तरिक शान्ति है।' भौतिक सुखोंसे ऊँचा उठकर कोई आत्मिक अनुरूपता चाहे तो चरित्रका ध्यान रखे, जिसका मात्र उसका ही नियन्त्रण है।

पाश्चात्य मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम० ए०, डी० लिट्०)

जैसे जलका अपना कोई आकार-प्रकार और रूप-रंग नहीं होता, जिस आकार और जिस रंगके बर्तनमें उसे रख दीजिये, जल वैसा ही रूप-रंग धारण कर लेता है, उसी प्रकार 'चरित्र' शब्द तबतक मनुष्यकी अच्छाइयों और बुराइयोंका बोध नहीं कराता, जबतक उसमें 'सत्' या 'दुः' पदका संयोग नहीं होता, जब हम कहते हैं कि 'वह चरित्रवान् व्यक्ति है' या 'ही इज ए मैन आफ कैरेक्टर' तो इसका अर्थ होता है कि वह सद्गुण-सम्पन्न और सदाचारसे युक्त व्यक्ति है। उसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'वह चरित्रहीन व्यक्ति है' तो इसका अर्थ होता है कि वह दुराचारी व्यक्ति है।

चरित्रकी परिभाषा—पाश्चात्य मनीषियोंने चरित्र-की विशेषताओं और विलक्षणताओंपर बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है। चरित्रकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तूने कहा है—'चरित्र हमारे आचरणसे उद्भूत जीवनकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है[1]।' सुप्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार इमर्सनने 'सेल्फ रिलायन्स' शीर्षक अपने एक निबन्धमें लिखा है—'चरित्रवान्‌की एक ऐसी वर्ग-पहेली है, जिसे बाँयेंसे दाँयें, दाँयेंसे बाँयें और ऊपर-नीचे या तिरछे जैसे पढ़ा जाय, एक ही वर्णविन्यासको सूचित करता है[2]।' उसके कहनेका तात्पर्य यह है कि चरित्रवान् व्यक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें सम-रस रहता है, कभी विचलित नहीं होता। इसका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण गोस्वामी तुलसीदासने 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्डमें भगवान् श्रीरामका शील निरूपण करते हुए दिया है—

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
> स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
> सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके मुख-कमलकी वह कान्ति सदा मेरा कल्याण करे, जो न तो राज्याभिषेकका समाचार सुनकर विकसित हुई और न तो वनवासका समाचार पाकर मलिन हुई।' मानव-जीवनकी इस अलौकिक विशेषताकी ओर संकेत करते हुए 'इमर्सन' आगे कहते हैं कि 'चरित्रकी केन्द्रीय विशेषता यही है कि चरित्रवान् व्यक्ति विपरीत परिस्थितिमें भी विचलित और अस्थिर नहीं होता[3]। एक अन्य निबन्धमें 'इमर्सन' ने लिखा है—'चरित्र वह वस्तु है, जो असफलताके बावजूद भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है[4]।'

एडवार्ड एवरेस्टने चरित्रसम्बन्धी अपने एक भाषणमें कहा था—'महान् चरित्र एक दैवी विभूति है। उसका निर्माण सिर्फ अपने ही युगके लिये नहीं, वरन् चिरन्तनकालके लिये एक प्रगतिशील एवं अनन्त सत्वके रूपमें होता है, जो उस मनुष्यके जीवनके पश्चात्, उसके युगके उपरान्त, उसके देशके बाद और उसकी भाषाके पश्चात् भी जीवित रहता है[5]।'

चरित्र और प्रतिभा—सुप्रसिद्ध जर्मन नाटककार 'गैटे' ने चरित्र और प्रतिभाका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए लिखा है—'प्रतिभाका विकास एकान्तमें होता है, पर चरित्रका विकास संसारके थपेड़ोंके बीच होता है[6]।'

इसी विचारका पोषण करते हुए एक दूसरे जर्मन विद्वान् 'हेनरिच हेन' ने लिखा है—'प्रतिभा और

१–निकोमेकियन एथिक्स। भाग १, अध्याय ५, २–इमर्सन—'एसेज फर्स्ट सीरीज', ३–वही, ४–इमर्सन—'अनकलेक्टेड लेक्चर्स', ५–एडवार्ड एवरेस्ट्स स्पीच। ८-७-१८१९ ई०, ६–गेटे 'ग्योर्गेटो टासो'

चरित्र दो वस्तुएँ हैं। प्रतिभारहित व्यक्ति भी चरित्रवान् होते हैं।' फेड्रिक सैण्डर्सने चरित्र और प्रतिभाके सम्बन्धमें उपर्युक्त विचारकोंके विचारोंसे ही मिलते-जुलते विचार प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं—'चरित्र मानव-जीवनका नियामक तत्त्व है और प्रतिभासे उसका स्थान कहीं ऊँचा है।'

चरित्र और यश—चरित्र और यशका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए अब्राहम लिंकनने लिखा था—'चरित्र एक वृक्षके समान है और ख्याति उसकी छायाके समान। वृक्ष ही मूलतत्त्व है, छाया तो छाया ही है।' इसी संदर्भमें बेयार्ड टेलरकी उक्ति भी ध्येय है। वे कहते हैं—'प्रसिद्धि वह वस्तु है, जिसे आप प्राप्त करते हैं, पर 'चरित्र' वह वस्तु है, जिसे आप दूसरोंको देते हैं। जब आप इस सत्यके प्रति जाग्रत् होते हैं, तभी आपके वास्तविक जीवनका प्रारम्भ होता है।'[10] इन पङ्क्तियोंमें टेलर साहबके कहनेका मन्तव्य है कि 'चरित्र' ही वह वस्तु है, जिससे मनुष्य दूसरोंको प्रभावित कर सकता है, प्रसिद्धि, ख्याति या यशके द्वारा नहीं।

चरित्र और प्रसन्नता—चरित्र और प्रसन्नताके अन्तरको स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्त्य चिन्तक हेनरी वार्ड बीचरने कहा है—'प्रसन्नता जीवनका लक्ष्य नहीं, चरित्र जीवनका लक्ष्य है'[11]।' कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि चरित्र ही मानव-जीवनकी वास्तविक निधि है, अर्थ-धर्म-काम-मोक्षादिसम्भूत प्रसन्नता जीवनकी वास्तविक निधि नहीं। प्रसन्नता फल है, कर्तव्य या कमाई नहीं। पर चरित्र कर्तव्य है, जो परिपक्वावस्थामें प्रसिद्ध होता है।

चरित्रकी दुर्लभता—चार्ल्स बर्चिल चारित्र्यको मानव-जीवनकी दुर्लभ उपलब्धि मानते थे। उन्होंने लिखा है—'हजार वर्षोंमें एक बार कभी पूर्ण सच्चरित्र व्यक्ति अवतरित होते हैं'[12]।' महात्मा कबीरने भी ठीक इसी प्रकारकी बात कही है—

> सिंहन के लहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
> लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमात॥

इस कथनसे यही ध्वनि निकलती है कि चरित्रवान् व्यक्ति सदैव दुर्लभ होते हैं। चरित्र तपस्या-साध्य सिद्धि है।

सुप्रसिद्ध यूनानी लेखक प्लोबर्टने चरित्रकी दुर्लभताकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'आदरका भाजन बनना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके लिये योग्य बनना।'[13] आदरकी योग्यता चरित्रसे आती है। श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे, तभी वे 'चारित्र्येण युक्तः' कहलाये और रावण चरित्र-हीन था तो 'लोकरावणो रावणः' कहा गया।

चरित्रकी परख—चरित्रकी परखपर प्रकाश डालते हुए एमर्सनने कहा है—'आप जिस भाषाका प्रयोग करना चाहें करें, परंतु आपकी वाणीसे वही बात प्रकट होगी, जो आप स्वयं हैं।'[14] कहनेका तात्पर्य यह कि वक्ता अपनी वाणियोंमें सदा आत्माभिव्यक्ति ही करता है, और कुछ नहीं। गोस्वामी तुलसीदासने रामकथाके बीच स्वयं अपनेको तटस्थ रखना चाहा, पर रामचरितमानसमें सर्वत्र उनकी तस्वीर दिखायी ही पड़ती है। रामचरितमानस महात्मा तुलसीका 'मानस' है।

७—हेमरिच हेन—अट्टा ट्रोल—अध्याय २४ ८—फ्रेड्रिक सौण्डर्स स्ट्रे लीव्ज—सारफुल थिंग्स के ९—अब्राहम लिंकन (थौट्स—फ्रॉम्स ओन स्टोरीज, पृ० १०९), १०—बेयार्ड टेलर : हायोमीबेयाम्स, सेक्शन ११, ११—हेनरी वार्ड बीचर : प्राफ बॉट्स, १२—चार्ल्स चर्चिल : दि घोस्ट, भाग ३। १३—प्लोबर्ट : पेन्सीज : सं० २४७। १४—एमर्सन : कण्डक्ट आफ लाइफ : कल्चर।

चरित्रवान् व्यक्तिका स्वरूप-निर्धारण करते हुए टाम्स आ केम्पिसने कहा है—'आप वही हैं, जो आप हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं[15]।' कहनेका तात्पर्य यह कि चरित्रवान् व्यक्ति चरित्रवान् है और दुश्चरित्र व्यक्ति दुश्चरित्र ही रहेगा। एपिक्टेटस सोकरसका कहना है कि 'आप इस बातकी चिन्ता न करें कि लोग आपको किस रूपमें जानते हैं। आवश्यक यह है कि आप जो हैं, वस्तुतः वही बने रहें।'[16]

चरित्र और सम्पत्ति—ग्रीक दार्शनिक प्लूटार्कने चरित्रकी सम्पत्तिके साथ तुलना करते हुए लिखा है कि 'मैं चाहूँगा कि जवाहरातोंकी अपेक्षा सच्चरित्रतासे मेरा शृंगार किया जाय; क्योंकि जवाहरात तो सौभाग्यकी देन है, जब कि सच्चरित्रता अन्तःकरणकी निधि है।'[17]

सद्विचार चरित्रकी उपज—एच० डी० थोरियन सद्विचारोंको चरित्रकी उपज मानते हैं। उनका कहना है कि 'हम सद्विचारकी फसलको तबतक कैसे काट सकते हैं, जबतक हमने अपने जीवनक्षेत्रमें सच्चरित्रताके बीजका वपन नहीं किया।'[18]

चरित्र और सौभाग्य—यूनानी चिंतक एपिक्टेटस सारसने चरित्र और सौभाग्यका सम्बन्ध-निरूपण करते हुए कहा है—'मनुष्यका चरित्र ही उसके भाग्यका नियामक है'।[19] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चरित्र व्यक्ति सौभाग्यवान् होगा ही और ठीक इसके विपरीत दुश्चरित्र व्यक्ति दुर्भाग्यवान्। एक दूसरे यूनानी दार्शनिक 'हिरैक्लिटस' ने चरित्र और सौभाग्यपर विमर्श करते हुए लिखा है कि 'सच्चरित्रता ही सौभाग्य और दुश्चरित्रता ही दुर्भाग्य है।'[20] 'जोसेफ केल्सने अपने एक भाषणमें चरित्र और सौभाग्यके सम्बन्धमें ठीक इसी प्रकारकी बात कही थी—'आदतोंसे चरित्रका निर्माण होता है और चरित्र ही भाग्य है।'[21]

चरित्र और आदत—ठीकरोंसे जूआ खेल रहे एक बालकको सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोने एक बार डाँटा था। इसपर उस बालकने प्लेटोसे निवेदन किया—'मैं तो पैसोंसे जूआ नहीं खेलता, सड़कपर बिखरे मूल्यहीन ठीकरोंसे जूआ खेल रहा हूँ। आप इस मामूली बात' (ट्राइफल) पर व्यर्थ ही मुझे डाँट रहे हैं।' इसपर प्लेटोने जो उत्तर दिया, वह अत्यन्त मार्मिक और ध्यातव्य है। उन्होंने गम्भीर होते हुए कहा—'बुरी वस्तुओंकी 'आदत' डालना मामूली बात' (ट्राइफल) नहीं है।'[22]

श्री डी० एन्० घोर साहबने 'कालेज एसेज' नामक अपनी पुस्तकमें किसी अंग्रेज चिन्तकके विचारोंको उद्धृत करते हुए लिखा है—'तुम्हारे कर्मोंके बीजसे ही तुम्हारी आदतोंका प्रादुर्भाव होता है, तुम्हारी आदतोंके बीज ही चरित्ररूपी वृक्षके रूपमें पल्लवित होते हैं और तुम अपने चरित्रके बीजके अनुरूप ही सौभाग्य या दुर्भाग्यका फल चखते हो।'[23]

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् 'उडरो विल्सन'ने एक बार अपने भाषणके क्रममें कहा था—'चरित्र एक उपज है, जिसका निर्माण दैनिक कर्तव्यके पालनमें होता है।'[24] 'एमर्सन' ने इस संदर्भमें लिखा है कि 'चरित्र प्रकृति (आदत-)का सर्वोच्च प्रतिमान है।'[25]

१५—टाम्स आ केम्पिस : दी इमिटेशन आफ क्राइस्ट : भाग २, अध्याय ६। १६—एपिक्टेटस सारस : टेम्पोरिम : सं० ७८९, १७—प्लूटार्क पोस्तनुमस अंक १, दस २, १८—डी० एच्० थोरियन जोर्नल (इमर्सन थोरियन), १९—एपिक्टेटस सारस टेम्पोरिम सं० १४१, २०—हिरैक्लिटस (फ्रगमेण्ट्स आफ ग्रीक फिलासफी), २१—जोसेफ केल्स एड्रेसिंग 'भारत नेवी कोमेटस पेण्ड केडिम्बा'। २२—डी० एन० घोर कालेज एसेज। २३—वही, २४—उडरो विल्सन : ऐड्रेस पिट्सबर्ग : १२-५-१९१५ ई०, २५—ए सिलेक्टेड पोर्टिया आफ आर० डब्लू० इमर्सन : द माइन्स आफ…

सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तूने कहा है कि 'जिस कामको करनेकी आदत बन जाती है, वह प्रकृतिका अंग बन जाती है। वस्तुतः आदत और प्रकृतिमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता; क्योंकि 'प्रायः' और 'सदैव'में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, आदत 'प्रायः'की कोटिमें आती है तो प्रकृति सदैव की कोटिमें।'

इन कथनोंसे यह स्पष्ट है कि चरित्र-निर्माणमें व्यक्तिकी आदतोंका बहुत बड़ा हाथ है। जीवनके प्रारम्भमें यदि हम अच्छी आदतोंका अभ्यास करते हैं तो निश्चित है कि बादमें हमारा आचरण और चरित्र उच्चकोटिका बन जायगा। जिस किसी व्यक्तिने भी ऐसे कहा है कि 'मनुष्य अपने भाग्यका नियन्ता स्वयं है', शत-प्रतिशत ठीक कहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'रामचरितमानस'में कर्म (आदत)को भाग्य-निर्माणका नियामक तत्त्व मानते हुए कहा है—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चरित्र व्यक्तिका भाग्यवान् होना ध्रुव सत्य है। वह किसी भी परिस्थितिका सामना अपने चरित्रबल और मनोबलसे करेगा और हार-जीतमें सदा एकरस रहेगा। (क्रमशः)

चरित्रनिर्माणके तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीरूपलजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ईश्वरमें विश्वास—चरित्र-निर्माणका प्रथम एवं अन्तिम सोपान

प्रेमके विषयमें कबीरने कहा है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा प्रजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥

प्रेम ऐकान्तिक है। यह किसीके प्रति किसी भी कारणसे उत्पन्न हो सकता है। पर आज इसका रूप बड़ा घृणित हो गया है। इसके विपरीत श्रद्धाका व्यापार-स्थल विस्तृत है। हाँ, श्रद्धा और प्रेमका जहाँ संगम होता है, वहींसे भक्तिकी धारा प्रवाहित होती है। 'भज्-सेवायाम्'से निष्पन्न शब्द 'भक्ति' सेवाका पर्याय है। पर जबतक विश्वास नहीं होता, सेवा अर्पित नहीं की जा सकती। फलस्वरूप सांसारिक प्रेम शरीरका विषय है और श्रद्धा आत्माका। जब प्रेम शरीरके ऊपर होकर आत्मामें प्रवेश करता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धाका भाव जहाँ पूर्ण विश्वास होता है, वहीं वह समर्पित होता है। श्रद्धालु अपने जीवनक्रमको ज्यों-का-त्यों छोड़ देता है। वह अपने तर्क और बुद्धिसे ईश्वरकी असीम सत्ताकी थाह नहीं पाता है तो ज्यों-का-त्यों अपनेको समुद्रमें फेंक देता है—

किश्ती खुदापर छोड़ दी लंगरको तोड़ दी।
अहसान था खुदाका उठाये मेरी बला॥

किसीके प्रति श्रद्धा तभी उत्पन्न होती है, जब उसमें विश्वास हो जाय। प्रायः यह गुण शील या चरित्रके कारण उत्पन्न होता है। जो श्रद्धामय जीवन व्यतीत करना चाहता है, वह तर्कपर विश्वास नहीं करता। जहाँ तर्क है, वहाँ विश्वास नहीं। अतः तर्कके चक्कर पर विश्वास करना एक भ्रान्त धारणा है। हाँ, जिस नावकी पतवार स्वयं भगवान्के हाथ है, उसे किसका भय। भय तो उसे हो जो अपने-आपको किसी दूसरेके हाथों गिरवी रखता है या अपने कमजोर हाथोंको अपनी नावकी पतवार दे देता है। पर जब ईश्वर स्वयं उस पतवारको पकड़े हो तो भय किसका? लेकिन हाँ, उस सर्वशक्तिमान्पर भरोसा होना चाहिये। फिर तो सर्वशक्तिमान्का

आँचल पकड़ते ही आप निर्भय हो जायँगे; सबल हो जायँगे। कहा है—'निर्बलके बल राम।' उसके स्पर्शमात्रसे आप अजेय हो जायँगे। आपमें ईश्वरका प्रकाश भर जायेगा। उसका सारा दिव्यालोक आपमें समाहित हो जायेगा, तब कहीं आप 'अहं ब्रह्मास्मि'का उद्घोष कर सकेंगे। फिर दुनियाकी सारी ताकत एक तरफ और आप एक तरफ। फिर तो आप अपना सहायक आप होंगे। प्रभु तभी सहायक होंगे, जब झंडा लेकर आप विश्वविजयको निकल पड़ेंगे। लेकिन किसके बलपर, उस परम पिताकी असीम कृपापर। अटल विश्वासका नाम ही श्रद्धा है।

इस संदर्भमें एक बात याद आती है। महाभारत-युद्धकी तैयारी चल रही थी। एक दिन दुर्योधन-अर्जुन दोनों राजनीति-विशारद भगवान् कृष्णके पास एक साथ ही पहुँचे। भगवान् भी व्यावहारिक कम नहीं थे। उन्होंने दोनोंके सामने एक शर्त रख दी। चुनाव आप दोनोंको करना है। एक तरफ हमारी शस्त्रसज्जित सेना होगी, दूसरी तरफ निरस्त्र मैं स्वयं रहूँगा। दुर्योधन बहुत ही लोभी था। उसकी राजलिप्साने झट भगवान् कृष्णकी सज्जित सेनाको लेना पसंद किया। पाण्डवोंके पक्षमें अकेले भगवान् कृष्ण पड़े। पाठकोंको मालूम है कि महाभारतमें इसके बाद क्या हुआ। परिणाम आज हमारे सामने है। लेकिन प्रायः सभी लोग कहते हैं—दुर्योधनने भूल की थी। उसकी भूलका परिणाम सबके सामने स्पष्ट है।

भगवान् कृष्णने अकेले ही अर्जुनके सारथि बन पूरा श्रेय पाण्डवोंको दे दिया। इससे स्पष्ट होता है कि संसारकी सारी शक्तियाँ हम इकट्ठी कर विजयश्री प्राप्त करना चाहते हैं और जहाँ सारी शक्तियाँ संगठित हैं उसकी उपेक्षा करते हैं। लेकिन बात यही स्पष्ट है, विजयश्री उन्हींको मिलती है, जो भगवान्‌को अपने जीवनरथका सारथि बना लेते हैं। गीतामें कहा है—'मामेकं शरणं व्रज।'

हमारे अणुमात्र हृदयमें भगवान् डेरा डाले बैठे हैं। वे अपनी इच्छासे हमारी आत्मामें शक्तिरूप होकर प्रविष्ट हुए हैं। यथा 'आत्मनात्मानं स्वयमकुरुत,' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' वही हमारे अंधकारमय हृदयकी ज्योति है। इसके बावजूद भी हम अपनी शक्ति और सामर्थ्य तथा संसारी उपकरणोंपर विश्वास करते हैं और यही विश्वास हमें पराजयकी ओर ढकेल देता है। हम कदम-कदमपर ठोकरें खाते हैं और कहते हैं—'सूर्योदय होता है इसी ठोकरें खानेके बाद'। एक छोटी-सी सफलता मिल जाती है। हम खुश हो जाते हैं। ख्याली पोलाव बनाते हैं, नाना प्रकारके सपने बुनते हैं। रात-दिन कल्पनाके पंखोंपर बैठकर आकाशमें विचरण करते हैं। पर यह सारा वैभव हवाके एक झोंकेसे ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। हम असहाय इधर-उधर देखने लगते हैं। जब कुछ भी नहीं दीखता तो भाग्यको दोष देते हैं, कोसते हैं। पर मुड़कर यह नहीं देखते कि आखिर कारण क्या है? ऐसा क्यों हुआ? यह हवाका झोंका क्यों और कहाँसे आया और फिर हमारा ही वैभव क्यों मिटा दिया। हम कभी नहीं सोचते कि हम इन सम्पर्कोंके मालिकका आशीर्वाद लिये उसकी चरण-धूलि माथेपर कैसे लगायें? चरणधूलि छूना पड़ेगा, उठाना पड़ेगा। आपको आशीर्वाद देनेवाला तो आपके साथ है। आप उससे कहते क्यों नहीं? बात क्यों नहीं करते? जरा बुलाकर तो देखें—क्या कहता है? असहाय अर्जुनको उसने बुलाया, आदेश दिया, 'मामनुस्मर युध्य च'—मेरा नाम लेकर युद्ध कर। सचमुच संघर्षमें व्यक्ति निराश है—वहाँ याद-माला हाथपर उसको ले ले। फिर तो सफलता आपके पीछे दौड़ेगी। ईश्वरका नाम लेकर जीवन-संघर्षमें जुटनेवालोंको कभी निराशा नहीं होती। हार नहीं

हों,' हार हमारी विजय है'—कहकर आगे बढ़ो। यहाँ अनाथ कोई नहीं, सबके दाता राम हैं। अतः उसकी जैसी इच्छा। जीवन-नौकाको उसीपर छोड़ दो, बहावके साथ बहने दो। वह पार लगायेगी ही।

संस्कृतके विद्वान् कहते हैं—'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' अर्थात् केवल ईश्वर-इच्छा ही बलवान् है। आपके प्रयत्नसे कुछ नहीं होता।

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

यही बात उर्दूके एक शायरने कहा है—'क्या करो तदबीर तो क्या होता है! होता है, वही जो मंजूरे खुदा होता है।' अब यहाँ एक बात दीखती है कि भाग्यको कुछ हदतक सराहा गया है। पर ऐसा ही कि काम करो ही नहीं, क्योंकि पहलेके कर्म ही भाग्य बनते हैं।

अतः बिना किये कुछ नहीं होता। करना जरूरी है। नर करनी करे तो नारायण होय। उलझनकी प्रक्रिया विशेष महत्त्वाकांक्षी व्यक्तिको कभी स्थितिप्रज्ञ नहीं होने देती। दोनों क्रियाओंमें हमें साम्यभावकी आवश्यकता है। ईश्वरकी इच्छा पूरी होती है, चाहे सरलतामें हो या असरलतामें। दोनों सगे भाई साथ-साथ जन्मे, साथ-साथ रहते हैं। आप कहते हैं कि भाग्य और कर्म दोनोंमें यह बड़ा है, वह छोटा; यह तो हमारा बुद्धिव्यायाम है। कोई कर्मकी दुहाई देता है, कोई भाग्यकी। सूतपुत्र कर्णकी बात प्रायः सभी कर्मयोगी बड़े गर्वसे कहते हैं—'मैं सूत होऊँ, सूत-पुत्र होऊँ अथवा कुछ भी होऊँ, कुलमें जन्म तो भाग्याधीन है, पुरुषार्थ सम्पादन करना मेरा काम है। यहाँ भी मेरा-तेराका संघर्ष है। पर यह तो कहना है, यहाँ मेरा-तेरा सब कुछ तो मेरा है। मेरी इच्छाके विरुद्ध सृष्टिका एक पत्ता भी नहीं हिलता। अतः उसकी इच्छा सर्वोपरि है।

हम और आप परमात्मामें समाहित होते हैं। सबके वास-स्थान वे ही हैं। सबको वे ही पालते हैं और सबको शरण देते हैं। योगिराज कृष्ण गीतामें अर्जुनको समझाते हुए यही तो कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९।१८)

यह अकाट्य सत्य है कि मृत्युके समय हम उसकी शरणमें जाते हैं। विश्राम वहीं मिलता है, पर यह क्रिया अन्तमें होती है—जब हम चलते-चलते थक जाते हैं तब। जबतक हमारी भुजाओंमें बल रहता है, तबतक हम अपनेको ही सब कुछ मानते हैं। यदि यही बात हम पहले करें, अर्थात् जीवनमें पहले ही अपने-आपको भगवान्‌के हाथमें सौंप दें तो जीवनधारा ही मुड़ जाय, जीवनको एक नयी दिशा मिल जाय—ऐसी गति जिसका हमें भान न हो। भगवान् स्वयं कहते हैं 'मुझे ही भज। अपने कर्म-अकर्म सब मुझे अर्पित कर दे।' जिन शब्दोंमें वे कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६५)

वे आगे कहते हैं—'तू कहाँ भटकता है। सब धर्म-अधर्मको छोड़ मेरी शरण आजा। मैं तेरा भार उठा लूँगा।'

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

पर प्रमादी पुरुष अहंकारवश स्वयं बोझ अपने सिरपर तो उठाता ही है, वह दूसरेका भी उठानेका दम भरता है। यह अजीब बात है; अपना तो उठता नहीं, दूसरोंका कहाँ उठा पायेंगे; पर डींगकी कमी नहीं। बार-बार चेतावनी दी जाती है, लेकिन सब कुछ मानो मूर्ख बने हैं। महाप्रभुत-बुद्धको संतान होगा सब अपने ढंगसे फिरता है। हमें चाहिये इसे अपना मार्गदर्शक बनायें।

हम उसके भरद पुत्र हैं। वह चाहे जहाँ ले जाय। उसका जैसा चरित्र होगा, हमारा होगा। यदि गिरेंगे तो दोष उसका, बनेंगे तो श्रेय उसका। अर्जुनने उन्हें सारथि बनाया। सफलता प्राप्त की। हम भी बना लें, निश्चित ही सफलता मिलेगी। हम तो मानो हाथमें मशाल ले अंधकारमें भटक रहे हैं।

पिता-पुत्रका सम्बन्ध शाश्वत एवं अक्षुण्ण है। पिता सदा चाहता है कि हमारी संतान आगे बढ़े। अतः वह स्वयं हमारा चरित्र-निर्माण करता है। कहा जाता है 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् स्वयं हमारा आत्मा बनकर हमारे हृदयमें वास करता है। तब फिर हमें चिन्ता किस बातकी। वह अपने हाथोंमें मशाल लेकर हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। अतः उसमें विश्वास ही हमारा सम्बल है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान—सबका मालिक है। उसमें विश्वास ही हमारी सफलता है। जब इस प्रकार सफलता हमारी देहरीपर बैठी है तो हम दुश्चरित्र क्यों बनते हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारा विश्वास अस्थायी है। यदि स्थायी विश्वास बना रहे तो निश्चित ही आजका डूबा सूर्य कल निकलेगा, अन्यथा नहीं। चारों ओर प्रकाशके अगणित दीप जल रहे हैं। व्यथा यह है कि हमें विश्वास नहीं। यही कारण है कि भोगवाद हमारे भीतर भभक रहा है।

ईश्वरमें विश्वास क्यों करें? यह प्रश्न है। उत्तर है, वह सत्य है और ईश्वर ही सत्य है तथा जो उसमें विश्वास करता है, वह सत्यनिष्ठ होता है। मनुष्य परिस्थितिवश काम-क्रोध, लोभ आदि सांसारिक माया-जालमें फँसकर दुश्चरित्र हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ उसे नरककी ओर ले जाती हैं। पर ज्यों ही उसकी श्रद्धा ईश्वरमें जागृत होती है, वह इनपर विजय प्राप्त कर लेता है। उसके मन, वचन, कर्म निर्मल हो जाते हैं। यह निर्मलता क्या है? ईश्वरकी सत्यता ही तो है। फिर भय कैसा? निर्भय व्यक्तिको पापसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। उसके मनके मानसरोवरमें ईश्वरकी छाया जो बसी है। गीता ९। १७का एक श्लोक है—

> पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
> वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥

'मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्‌का धाता अर्थात् धारण करनेवाला, सब कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।' तात्पर्य कि वही सब कुछ है। आप कुछ नहीं हैं। जब आप कुछ नहीं हैं तो इतनी दौड़-धूप क्यों? मन तो नदीके वेगके समान भागता है। वह भागकर जाता कहाँ है? समुद्रमें। फिर जब आप फलाफलकी चिन्तासे मुक्त हो गये तो आपकी अशान्ति भी समाप्त हो जाती है। आप स्वयं संयत और धीरात्मा बन जाते हैं और कर्मको अकर्ममें और अकर्मको कर्ममें देखने लगते हैं। आप स्वयं कुछ नहीं करते—'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।' भगवान् सब कर्म कराता है, वही सबका जिम्मेदार है। चाहे पाप हो या पुण्य, कर्म हो या अकर्म।

एक भ्रान्त धारणा है कि लोग अपनेको निष्कर्म कहते हैं; जबकि पुरुष निष्कर्म होता ही नहीं। वह सुषुप्तावस्थामें भी कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। नाड़ी एक सेकेण्डको भी बंद नहीं होती। अतः ईश्वरमें विश्वास करनेवालेका हर कार्य हृदय-स्पन्दनकी भाँति होता रहता है। ईश्वरकी प्रेरणासे उसकी नाड़ी एक क्षणको भी आराम नहीं करती, पर वहीं जो अहंवादी होता है, जो अहंकारसे ग्रस्त हुआ फिरा करता है, कर्म-अकर्म दोनों उसकी अशान्तिके सूचक हैं। वह टिट्टिभ पक्षीकी भाँति आसमानको अपने पैरोंपर रखकर सोता है, यह उसका भ्रम है। वहीं ईश्वरप्रेमी कर्म-अकर्म दोनोंमें

एक-सा रहता है। फिर उसकी गम्भीरता, स्थिरता और उसकी आत्मामें अविचल शान्ति आ जाती है। पलकें प्रभुप्रेमसे भारी हो जाती हैं। प्रभु उसके मन, मनमें व्याप्त हो जाते हैं। सफलता उसके चरणोंमें लग जाती है। बस और क्या चाहिये आपको? यही है जीवनका परमरहस्य है।

चरित्र-निर्माणके मूल तत्त्व

(लेखक—पाण्डेय श्रीशम्भूजी शर्मा, 'किरण')

चरित्रकी परिभाषाके सम्बन्धमें विद्वानोंके अलग-अलग मत हैं। कुछ विद्वानोंका कहना है 'धर्मपूर्वक नियमित आचरणका निर्वाह करनेवाला चरित्रवान् है।' सज्जनोंद्वारा प्रमाणित और सम्मानित तथ्यका ज्ञान रखता है तथा उसके अनुरूप आचरण करता है, वह समाजमें स्वयं ही सम्मानपात्र बन जाता है।

सहकी अगणित बाधाओंको झेला जा सकता है। यह स्वर्गकी एक ऐसी पवित्र विभूति है एवं जीवनका एक ऐसा आत्मिक बोध है, जिसके सहारे विरोधके नाले पार किये जा सकते हैं। नम्रता चरित्रका भूषण है, मानवके शील्की पहचान है एवं उसकी संस्कृति और सभ्यताकी सबसे कोमल अभिव्यक्ति है। मानव-चरित्र इसके अभावमें रूक्ष और नीरस बन जाता है। व्यक्तित्वमें एक कठोरता व्याप्त हो जाती है और तनावकी बुरी स्थितिमें आकर मनुष्य टूट जाता है। विनम्रतासे मानव-चरित्रमें एक ऐसी चमक आती है, जिसे देखते ही मानव-जीवनमें आनेवाली बाधाओंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। विनम्रताका पुतला संस्कृतिका उन्नायक बन जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं भगवान् बुद्ध इसी प्रकारके पुरुष थे। श्रीरामने भारतीय संस्कृतिकी पताका अन्य देशमें भी फहरायी। श्रीकृष्णने अनीतिके राक्षसोंको ध्वस्त किया। भगवान् बुद्धकी पवित्र वाणीके नीचे डाकू अंगुलीमालकी रक्त-रञ्जित तलवार और राजनर्तकी अम्बपालीकी वासनाके गाण्डल—दोनों पराजित हुई। विनम्रता मनुष्यके धूल-धूसरित चरित्रको स्वर्गिम चमक प्रदान करती है।

सच्चरित्रताका तीसरा मूल तत्त्व है—ईमानदारी। यह चरित्रकी दीप्तिकी पहचान है, शुभ संस्कारोंकी कसौटी है, आत्मशक्तिके जागनेकी सूचना है। सच्चरित्रताके मूल तत्त्वोंमें ईमानदारीका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सद्गुणोंकी सुरभि रहती है, चरित्रके विकासकी सहज प्रेरणा रहती है और रहती है मनुष्यको ऊपर उठानेवाली एवं आगे बढ़ानेवाली क्षमता। संयुक्त राज्य अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटनने कहा था—'मैं आशा करता हूँ कि एक ईमानदार पुरुषके चारित्र्यको (जो सभी सद्गुणोंसे बढ़कर है) अपनानेके लिये मैं दृढ़ता और शुचिता सदैव धारण करता रहूँगा।' ईमानदार व्यक्तिमें छलकी रेखाएँ नहीं होतीं, खण्डित व्यक्तित्वका अभिशाप नहीं रहता। वह मनसा, वाचा और कर्मणा अपने चरित्रके विकासमें सावन-दीप जलाता है। उसका पथ सीधा रहता है—भले ही वह कण्टकाकीर्ण और दुरूह हो। उसकी उक्ति सुस्पष्ट होती है—भले ही कुछ व्यक्ति उससे सहमत न हों। उसके विचारोंमें भूल-भुलैयाकी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ नहीं रहतीं—भले ही एक विशेष दृष्टिकोण-द्वारा वह असामयिक घोषित कर दिया जाय। पोपने ईमानदार पुरुषकी मुक्तकण्ठसे सराहना करते हुए उसे परमात्माकी उदात्त सृष्टिकी संज्ञा दी है—'An honest man is the noblest creation of God.' अंग्रेजीके प्रख्यात नाटककार शेक्सपियरका कथन है—'ईमानदारीके सदृश कुछ भी बहुमूल्य नहीं है'—'No legacy is so rich, as honesty.' किसी मनुष्यमें ईमानदारीके बिना सच्चरित्रताका आविर्भाव नहीं हो सकता।

सच्चरित्रताका चौथा मूल तत्त्व है—परोपकार। बिना परोपकारिताका गुण सँजोये मानवका चरित्र संकुचित रह जाता है। दीपकसे जलनेका उद्देश्य प्रकाश फैलाना है। फूल खिलता है; क्योंकि खिलनेका उद्देश्य सुगन्ध-वितरण है। सूर्य उगता है; क्योंकि सूर्योदयका उद्देश्य अन्धकार-निवारण है। मानवका संसारमें अवतरण परोपकार-सम्पादनके लिये है। मानव-चरित्रका महात्म्य (महत्व) परोपकारके दीपकसे ही आलोकित होता है। उपकार-सुमन ही मानव-चरित्रको सुगन्धित बनाता है। निराला जी की पंक्तियोंमें हमें परोपकारके इन्द्रधनुषी रूपका दर्शन होता है—'ज्यों-ज्यों परोपकारके लिये रुपयेकी थैली खाली होती है, त्यों-त्यों हमारा हृदय भरता जाता है।' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामचरितमानसमें परोपकारको चरित्रका आभूषण माना है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
(मानस, उत्तरकाण्ड)

गोस्वामीजीने यह भी कहा है कि परोपकारसे युक्त मानव-चरित्रके आगे संसारकी सभी विघ्न-बाधाएँ नत-मस्तक हो जाती हैं—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
(मानस, अरण्यकाण्ड)

हिंदूसमाजकी रक्षाके लिये गुरु गोविन्दसिंहका अन्तिम पुत्र भी युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुआ। संवेदना प्रकट करनेके लिये एक शोक-सभा हुई। गुरु गोविन्दसिंहजीने हाथ उठाकर बैठे हुए जनसमूहकी ओर संकेत करते हुए कहा—

इन पुत्रन के कारने वार दिये सुत चार।
चार मरे तो क्या हुआ जीवत कोटि हजार॥

जिगरका टुकड़ा अलग हो गया पर आँखें न डबडबा सकीं, सहारा उड़ गया पर मन न कराह सका, आँखोंका तारा टूट गया, फिर भी चेहरेपर उदासीनता नहीं, यह परोपकारकी महिमा है।

इस तरह हम देखते हैं कि चरित्रके मुख्यतः चार मूल तत्त्व हैं। भारत सदासे धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँके मनुष्य बहुत ही धार्मिक होते हैं। धर्म हमें कहता है कि जीवनको सुव्यवस्थित ढंगसे कैसे जियें। धर्म हमें सिखाता है कि किस तरह मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है। संसारमें जितनी अच्छी बातें हो सकती हैं, वे सभी धर्म-ग्रन्थोंके अन्तर्गत आती हैं। धर्म चरित्रवान् मनुष्यके लिये एक आवश्यक अंग है। संसारके जितने सद्विचार हैं, वे सभी धर्मग्रन्थोंमें प्रस्तुत हैं। इन्हीं धर्मसूत्रोंके आधारपर चरित्रवान् व्यक्ति अपनी इमारत खड़ी करते हैं। जिस तरह मानव बिना वायुके जी नहीं सकते, उसी तरह चरित्रवान् धर्मके बिना एक क्षण भी अपनी राहपर कदम नहीं रख सकते।

बुद्धने कहा था—'संसारमें कोई महापुरुष आकाशसे उतरकर नहीं आता और छोटा मानव पातालसे नहीं आता; अपितु मानव आचरणके कारण ही छोटे और बड़े बन जाते हैं' (मज्झिमनिकाय ३।९३।२)।

वस्तुतः सच्चरित्रतामें ही जीवनका गौरव है।

चरित्रके मूल आधार

(लेखक—श्रीरामस्वरूपजी शर्मा)

चरित्र-निर्माणका अभिप्राय है—जीवनमें सद्-चरित्रको ढालना; सर्वथा ऐसा आहार-विहार और व्यवहार-व्यापार करना, जिससे अपना और दूसरोंका सब प्रकार हित साधित हो। सामान्यतः सत्य भाषण, अहिंसा, चोरी न करना, काम-क्रोध-लोभ-रहित होना, समस्त प्राणियोंका हित-चिन्तन करना, अहंकाररहित होना तथा परोपकार आदि ऐसे सदाचरण हैं, जो सभी वर्णके लोगोंके लिये आचरणीय हैं और उन्हें मानवमात्रका परम कर्तव्य माना गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
(श्रीमद्भा० ११।१७।२१)

भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तहीने तथा शुभम्॥
आचाररहितो राजन्नेह नामुत्र नन्दति।

षडङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययनकर्ता यदि आचारहीन है तो वेद उसे पवित्र नहीं करते। पंख उग आनेपर

जैसे पक्षी घोंसला त्यागकर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेद अन्त समयमें आचारहीन व्यक्तिको त्याग देते हैं। जैसे मनुष्यके कपालमें अथवा कुत्तेकी खालमें जल या दूध दूषित हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारहीन व्यक्तिके तीर्थ-भ्रमण आदि समस्त शुभ धर्म दूषित हो जाते हैं। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमें और परलोकमें—यहीं भी सुख नहीं प्राप्त करता।' इसी प्रकार सच्चरित्रताके विषयमें विश्वभरके सब धर्म, सब शास्त्र-ग्रन्थ, आचार्य-गुरु-पीर और सब सम्प्रदाय एक स्वरमें उद्घोष करते हैं कि प्रत्येक मनुष्यको सदाचरण करना चाहिये। इस बातको सब लोग जानते हैं, फिर भी आजका मानव प्रायः दुश्चरित्रताकी ओर भाग जा रहा है। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, घूसखोरी आदि आचरणोंको धर्म तथा कानून-विरुद्ध जानकर भी मनुष्य इनसे बचनेका यत्न नहीं कर रहा है, बचना भी नहीं चाहता।

ऐसा क्यों!—सच्चरित्रताके कुछ ऐसे मौलिक आधार हैं, जो उसकी रक्षा करते हैं, उसको पकड़े रहनेकी प्रेरणा देते हैं। जब उन मौलिक आधारोंका अभाव हो जाता है, अथवा उनकी उपेक्षा होने लगती है, तब मानव असदाचारकी ओर जाने लगता है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये उन मौलिक आधारोंकी रक्षा तथा उपलब्धिकी ओर ध्यान देना अनिवार्य है। सामान्यतः इसके निम्नलिखित मौलिक आधार हो सकते हैं—

१–जाति-कुल-परम्परा—सच्चरित्रता बहुत कुछ सद्जाति-कुल-परम्परापर आधृत है। सद्जाति-कुलमें उत्पन्न व्यक्तिमें दुश्चरित्रताकी सम्भावना कम रहती है; क्योंकि उसके संस्कार प्रायः अपने पूर्वजोंके अनुरूप रहते हैं। सच्चरित्र माता-पिताके तत्त्वावधानमें संतानकी सच्चरित्रता सुरक्षित रहती है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये जाति-कुलकी परम्पराओंके पालन तथा उनकी रक्षाकी आवश्यकता है।

२–वर्णाश्रम-धर्म—भारतीय मनीषियोंने चरित्रकी सम्यक् व्यवस्थाके लिये ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य एवं शूद्र—चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन चार आश्रमोंमें मानव-सृष्टिको विभक्त किया है। श्रीभगवान्‌ने चारों वर्णों एवं आश्रमोंके कर्तव्योंका श्रीगीतामें अर्जुनको उपलक्ष्य कर सबको उपदेश किया है। अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्तव्योंका पालन करना ही सदाचार है। उनका पालन न करना असदाचारकी ओर जाना है। वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे सर्वप्राणियोंकी संतुष्टिकी तो क्या बात, श्रीभगवान् भी संतुष्ट होते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम्॥
(श्रीविष्णुपु० ३।८।९)

३–आहार—आहारका सदाचार-पालनमें बहुत बड़ा हाथ है। 'जैसा अन्न वैसा मन'—यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। तामसी और राजसी आहारोंसे मनकी वृत्ति तामसी और राजसी हो जाती है। उन मनोवृत्तियोंसे काम, क्रोध, लोभ, कपट, हिंसादि आसुरी आचरणोंमें प्रवृत्ति होती है और सात्त्विक आहार करनेवाले मनुष्यकी मनोवृत्ति सात्त्विक होती है और वह सत्य, अहिंसा, सुख, शान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न होकर सबका हित-चिन्तन करनेवाला होता है। अतः काम, क्रोध, हिंसा, व्यभिचार, शत्रुता, स्वार्थपरायणता आदि पाशविक आचरणोंसे बचनेके लिये आहारकी शुद्धिका होना आवश्यक है। श्रुतिका कथन है—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।'
(छान्दो० ७।२६।२)

'आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि होती है और सत्त्वशुद्धिसे परमात्माकी ध्रुवानुस्मृति होती है।' सत्त्व-शुद्धिसे

दैवीगुणोंका उद्भव अभिप्रेत है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दैवीगुणोंसे रहित होना और परमात्माकी विस्मृति सब दोषोंकी जड़ है। यदि मृत्यु और परमात्माको याद रहे तो फिर क्यों कोई दूसरेकी हिंसा करे, व्यभिचार, घूसखोरी और असत्यादि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त हो! यहाँ आहारशुद्धिसे केवल भोजन-शुद्धि ही अभिप्रेत नहीं है, समस्त इन्द्रियोंको शुद्ध आहारकी आवश्यकता है। आँखोंको शुभ दृश्यदर्शन एवं सद्ग्रन्थोंका अवलोकन चाहिये। कानोंको सच्चरित्र-श्रवण और वाणीको सद्गुणकथनके आहारकी आवश्यकता है। इस प्रकार सत्त्व-शुद्धिके लिये सात्त्विक आहार अनिवार्य है।

४-सङ्ग एवं शिक्षा—चरित्रके निर्माण तथा भ्रष्ट करनेमें उपर्युक्त तीनों मार्गोंसे भी अधिक प्रभावशाली है—सङ्ग और शिक्षा। शिक्षा भी सङ्गकी अनुवर्तिनी है। जैसा सङ्ग होगा, उसी प्रकारकी शिक्षा और फिर उसी प्रकारका आचरण होगा। सत्कुल-जातिमें तथा उच्च वर्णोंमें भी नीचाचरण करनेवाले मनुष्य देखे गये हैं—प्राक्तन संस्कार अथवा सङ्गदोष उनके सदाचरणको भ्रष्ट कर देता है; यथा—'बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।' और 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।' (मानस १।२।५) अतः चरित्र-निर्माणमें अथवा सच्चरित्रताकी रक्षामें सङ्गका सबसे बड़ा हाथ है। विष्णुपुराणका कथन है—

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

'सदाचारी व्यक्ति सत्पुरुष या साधु है। सत् शब्द साधुवाचक है और सत्पुरुषका आचरण ही सदाचार है।' अतः सच्चरित्र बननेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग तथा सद्ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन-चिन्तन अनिवार्यतः आवश्यक है।

५-अनुशासन—अनुशासनसे राज-अनुशासन एवं धर्म-अनुशासन दोनों अभिप्रेत हैं। राजा यदि स्वयं सदाचारी हो तो उसकी प्रजा सच्चरित्र हुआ करती है। माता-पिता या अभिभावक यदि सच्चरित्र हों तो सन्तान भी सच्चरित्र होती है। इसी प्रकार शिक्षक, गुरु यदि सदाचारी हों तो छात्र और शिष्यगण सदाचारी हुआ करते हैं। किंतु यह सब तभी सम्भव होता है, जब राजा, पिता-माता एवं गुरु-शिक्षकके मन, शरीर, वाणीपर धर्मका शासन हो और सदाचार-सच्चरित्रताका उल्लङ्घन करनेवाले दण्डित होते हों।

अनादिकालसे भारतकी सच्चरित्रता और संस्कृतिकी रक्षाका एकमात्र मार्ग रहा है—धर्म-शासन और पारम्पर्य। राजा पृथु, राजा श्रीराम आदिके धर्मशासन मानवकी सच्चरित्रताके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब राज-अनुशासनमें धर्मकी उपेक्षा हो जाती है और राजा-प्रजाके मनसे धर्म और पापका भय निकल जाता है, तब सच्चरित्रताकी रक्षा ... उसकी उपलब्धि होना कठिन हुआ करती है। अतः चरित्रके आधारोंका भी मूल स्तम्भ है—धर्म।

अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सच्चरित्रके मौलिक तत्त्व हैं—जाति-कुल-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, आहारादि शुद्धिपूर्वक आध्यात्मिक धर्म तथा सत्सङ्गादि पारमार्थिक धर्म। सबके मूलमें धर्म अर्थात् मानव-कर्तव्य निहित है। चरित्र-निर्माणके लिये अथवा सच्चरित्रताके लिये मनपर धर्मोंका शासन और पापोंका भय होना आवश्यक है। अतः चरित्रका मूल आधार है—मानव-धर्म, जिसपर सच्चारित्र्य प्रतिष्ठित है और गुणोंका प्रतिष्ठित हो सकता है।

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका

(लेखक—डॉ० श्री हा० च० अहिरवाल, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न)

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। आज भी राष्ट्र एवं व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें इसकी नितान्त आवश्यकता है। ब्रह्मसृष्टिके उपरान्त ऋषियोंने समाज तथा राष्ट्रके चारुसंचालन-हेतु अनेक विधि-निषेधोंकी रचना की। उन्होंने व्यक्ति और समाजके कर्तव्य तथा अधिकारोंकी एक आचार-संहिताका निर्माण किया, जो मानव-धर्मसंहिता कहलायी। पुरोक्त व्यक्ति तथा समाजके कार्योंपर इन धर्मोंका पूर्ण प्रभाव रहा। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेका साहस न मनुष्यमें था और न समाजमें। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवालेको जाति तथा समाजसे च्युत कर दिया जाता था और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी भङ्ग कर दी जाती थी।

व्यक्तिके दैनिक क्रिया-कलापपर धर्मकी सदा छाप रही। मानव निश्चित रूपरेखा एवं कार्यक्रमके अनुसार प्रारम्भसे ही आचरण करता आया है। उसके जीवनका न तो कोई विचार ऐसा होता था और न ही कोई ऐसा कार्य, जिसका समाधान धर्मद्वारा न होता हो। आजके युगमें भी इसकी आवश्यकता है। व्यक्तिका चरित्र-विकास धार्मिक विधि-निषेधोंके आधारपर होना चाहिये। विज्ञानने धर्मको निर्बल कर दिया है। आज धर्मका प्रभाव बहुत कम हो गया है। व्यक्ति समाजकी महत्त्वपूर्ण इकाई है। वह समाजकी गतिशीलतामें योगदान देनेवाला घटक है। अतः विधि-निषेध कार्य भी युग-सापेक्ष होनेसे अनिवार्य है। आचारसंहिता व्यक्ति और समाज दोनोंपर अङ्कुश लगाती है। व्यक्तिका चरित्र-निर्माण विकसित सामाजिक परिस्थितियोंके संदर्भमें होना चाहिये।

चरित्र-निर्माण क्या है ?—मनोविज्ञानवेत्ता चरित्रके दो घटक स्वीकार करते हैं—पहला स्थूल घटक और दूसरा सूक्ष्म घटक। स्थूल घटकके अन्तर्गत व्यक्तिके शरीरावयवोंकी रचना—मुखाकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल तथा संघटना आती है और सूक्ष्म घटकके अन्तर्गत व्यक्तिका विवेक, संकल्प, चिन्तन, नैतिक मान्यता, आत्मगौरवकी भावना, कार्यारम्भकी क्षमता, दृढ़ता, भावुकता, कठोरता, धार्मिक-विश्वास, कर्तव्य-परायणता, सदाचार, स्वावलम्बन, परोपकार और मानसिक विचारादिकी गणना की जाती है।

चरित्रकी परिभाषा—चरित्र व्यक्तिकी वह महान् शक्ति है, जिससे उसके आन्तरिक सद्गुणोंका प्रकाश दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है। व्यक्तिके आन्तरिक गुण, उसका सत्य, परोपकार, प्रेम, करुणा, अहिंसा, मुदिता, दया, क्षमा, सहानुभूति, सद्भावना और प्राणिमात्रके प्रति सच्चा प्रेम ही तो हैं। ये गुण व्यक्तिकी आत्माको महान् बनाते हैं तथा उसके चरित्र-निर्माणमें महान् योग देते हैं। चरित्रवान् व्यक्तिकी ओर दूसरे स्वतः आकृष्ट होते हैं। व्यक्तिकी सच्ची पहचान उसकी सम्पन्नता एवं हार्दिक विनयशीलतासे होती है। निःसंदेह व्यक्तिका चरित्र ही उसकी अमूल्य निधि है, जिसकी उसे रक्षा करनी चाहिये तथा चरित्रको उत्तम-से-उत्तम बनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

चरित्र-निर्माणमें धर्मका योग—आदियुगसे मानवके चरित्र-निर्माणमें धर्मका सतत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। धर्मकी सर्वमान्य परिभाषा है 'धारणात् धर्ममित्याहुः' [illegible]। तात्पर्य यह कि जिस आचरणमें समाजको धारण करनेकी शक्ति है, वही धर्म है। इस प्रकार धर्मका अर्थ हुआ—समाजको [illegible] बतानेवाला। यहाँ [illegible] तथा समाज दोनोंके साथ है और [illegible]।

व्यक्तिके साथ। तात्पर्य यह है कि धर्म व्यक्ति और समाज दोनोंकी रक्षा करता है। यह व्यक्तिको पतित होनेसे बचाता है, कुमार्गी होनेसे रोकता है और असामाजिक कार्योंका शिकार नहीं होने देता। इस प्रकार धर्म व्यक्तिकी रक्षा करता है। धर्म समाजके सुचारु-संचालन तथा व्यवस्थापनमें भी योग देता है। इस प्रकार वह समाजकी रक्षा करता है। कर्तव्यपालन व्यक्तिका पावन अनुष्ठान है। वही (व्यक्ति ही) उसका निर्माता है, वही रक्षक तथा संहारक है। अतः समाजके निर्माण तथा रक्षणकी दिशामें व्यक्तिके अनेक कर्तव्य हैं। धर्म ही व्यक्तिको उसके कर्तव्योंका ज्ञान कराता है। धर्म ही व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें महत्वपूर्ण योग देता है। मनुस्मृतिमें धर्मके दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पावनता, इन्द्रियों-पर विजय, शुद्ध बुद्धि, विद्या, सत्यभाषिता और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

चरित्र-निर्माणकी शर्तें—चरित्र-निर्माणकी पहली शर्त है—धैर्यपूर्वक कार्य करना। धार्मिक ग्रन्थ और धार्मिक व्यक्ति कहा करते हैं कि किसी भी कार्यमें जल्दी करना शैतानका काम है। जल्दीमें या उतावलेमें किया गया काम बिगड़ जाता है या गलत हो जाता है। अतः हमें जल्दीमें, उतावलीमें कोई कार्य नहीं करना चाहिये। हमें हर काम सोच-समझकर सविवेकसे उसके अच्छे-बुरे परिणामको देखकर करना चाहिये। धैर्यपूर्वक आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् माना जाता है। तुलसीदासजी—

धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

यह पंक्ति व्यक्तिको धैर्यका उपदेश देती है। 'Slow and steady wins the race' में भी यही भाव है। सहिष्णुता, सहनशीलता और क्षमा धर्मके प्रमुख अङ्ग हैं। क्षमा ज्ञानका अलंकार है—

नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

'दैवो दुर्बलघातकः' देवता (भी) निर्बलके शत्रु होते हैं—आदि उक्तियाँ व्यक्तिको शक्तिके उपार्जनका संदेश देती हैं। धार्मिक पुस्तकें भी मनुष्यको यही बताती हैं—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र विद्यन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

'उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम—ये छः गुण जहाँ होते हैं, वहाँ देवता सहायक होते हैं।' धर्मकी यह उक्ति व्यक्तिको पराक्रमी और उद्यमी होनेकी प्रेरणा देती है। अधोलिखित उक्ति व्यक्तिको विद्वान्, तपस्वी, दानप्रिय, ज्ञानवान्, शीलवान्, गुणज्ञ तथा धर्मरत बनाती है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

'को धर्मो भूतदया'—धर्म क्या है? प्राणियोंपर दया। 'किं सौख्यं नित्यमरोगिता जगति'—सुख क्या है? संसारमें सदैव स्वस्थ रहना। 'कः स्नेहः सद्भावः'—प्रेम क्या है? सद्भाव (अच्छे विचार) रखना। और—'किं पाण्डित्यं परिच्छेदः'—विद्वत्ता क्या है? विवेक (सत् और असत्का निर्णय करना)। धर्मकी दृष्टि व्यक्तिको विद्वान्, सत्यभाषी, त्यागी और अनासक्त बनानेकी ओर रहती है। व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका सर्वोत्कर्ष इन्हीं गुणोंसे होता है। महाभारतमें कहा गया है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥

'विद्याके समान चक्षु, सत्यके समान तप, आसक्तिके समान दुःख और त्यागके समान सुख

नहीं होता।' चरित्रवान् व्यक्ति विद्यासे सम्पन्न होता है। विद्यासे ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसे संसारके सत् और असत्का भेद मालूम होता है। विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है। हितोपदेशमें भी कहा गया है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम्॥

'विद्या नम्रता देती है। नम्रतासे पात्रता (योग्यता) आती है। योग्यतासे धन प्राप्त होता है और धनसे धर्म (होता है), उसके बाद सुख (होता) है।' धर्म मनुष्यको श्रमके महत्त्वका ज्ञान, सात्त्विकताकी महत्ताका ज्ञापन, ब्रह्मचर्यकी शक्तिका परिचय और चरित्रकी विशिष्टताका अङ्कन करना सिखलाता है। ऋग्वेदका कथन है—'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' 'जो श्रम नहीं करते, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।' ऋग्वेदसंहिताका कथन है—'न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः'—'यह ठीक है कि देवता उसकी सहायता करते हैं जो श्रम करता है।' इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मणमें प्रार्थना की गयी है—'कृधी न ऊर्ध्वां चरथाय जीवसे'—'अग्निदेव! हमें उद्योगशील जीवनके लिये समुन्नत कीजिये।' सारांश यह है कि उद्योगशीलता तथा परिश्रमप्रियता व्यक्तिके उत्कर्षके मूलाधार हैं और धर्म इन दोनों गुणोंके विकासपर बल देता है। इस तरह धर्म व्यक्तित्वके निर्माणमें योग देता है। भारतीय धर्म-साधनामें इन्द्रिय-निग्रह और ब्रह्मचर्यका बहुत महत्त्व है। अथर्ववेदका कथन है—

'ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति
　　तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।'

'ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाला समस्त दैवी शक्तियोंसे प्रकाश और प्रेरणाको प्राप्त करता है।' धर्म जीवनको एक यज्ञ मानता है और उसकी सफलताके लिये जीवनके प्रारम्भमें ही ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनपर बल देता है। इस तरह धर्मकी दृष्टि सदैव व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके उन्मेषपर रहती है।

'किं सम्पाद्यं मनुजैः विद्या वित्तं यशः पुण्यम्।'

अर्थात्—व्यक्तिको क्या (सम्पादन) करना चाहिये? विद्यारूपी धन तथा यश-(कीर्ति-) रूपी पुण्य। जीवनकी सफलता तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके लिये भारतीय धर्म-साधनामें उत्तम चरित्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय ऋषि प्रार्थना करता आया है—'परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज'—'प्रकाशस्वरूप अग्निदेव! मुझे दुश्चरितसे बचाकर सुचरितमें दृढतया स्थापित कीजिये।' यही नहीं, धर्म मानवको मनमें शुभ तथा कल्याणमय संकल्प धारण करनेकी प्रेरणा देता है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

'कौन उन्नति करता है?' विनम्र पुरुष। किसे छोड़ देना चाहिये? जो घमण्डी है। कौन विश्वास योग्य नहीं है? जो निरन्तर असत्य बोलता है—

को वर्धते विनीतः को वा हीयेत यो दृप्तः।
को न प्रत्येतव्यः ब्रूते यश्चानृतं शश्वत्॥

वेदारम्भके अवसरपर आचार्य ब्रह्मचारीको जो उपदेश देता है, उसमें उसके व्यक्तित्व-निर्माणकी समस्त दिशाएँ संनिहित हैं। वह कहता है—'दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो भव। धर्माचरणात् मा प्रमदीः। नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जनेन यत्नवांश्च भव।' अर्थात् दिनमें न सोओ। अधर्माचरणको त्यागकर आचार्यके अधीन रहो। आहार-विहारमें यथोचित नियमोंका पालन करते हुए सदा विद्योपार्जनमें प्रयत्नशील रहो।' इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म उन सभी गुणोंके विकासपर बल देता है, जिनकी अच्छे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणहेतु आवश्यकता है।

व्यक्तिके चिन्तन और कर्ममें धर्मका योग सोनेमें सुगंधके सदृश है। धर्मकी भावनाके विरुद्ध आचरण करना चरित्रहीन व्यक्तिके लिये मृत्युके समान है। धर्म व्यक्तिको चरित्र-विकासकी दिशा प्रदान करता है

आचारका अङ्ग बन जाती हैं। साँस लेना एक सहज या अनिवार्य क्रिया है, पर उसे हल्का या गहरा बनाना या समाधिकी स्थितिमें पहुँचा देना आचार बन जाता है। खाना हम सहजरूपसे खाते हैं पर खानेके पदार्थ, समय और क्रियाका नियमन करना आचार बन जाता है।

प्रत्येक आचार, चरित्र, धार्मिक क्रिया उसी प्रकारकी क्रिया है जिस प्रकार क्रोध, तोड़-फोड़, आलस्य या संहार क्रियाएँ हैं। दोनोंमें भेद इसी बातका है कि प्रथमका उद्देश्य एवं फल दूसरीसे भिन्न हैं। अतः क्रियाके रूपमें समानता रहते हुए भी उद्देश्य या फलकी भिन्नतासे एक ही क्रिया सत्-असत्, भली-बुरी, सदाचार या दुराचार बन जाती है।

किसीको थप्पड़ मार देना बुरी बात है, पर किसी उत्तेजित दुष्टको थप्पड़ मार देना बुरा नहीं माना जाता और साँप काटेका संदेश चलनेवालेको थप्पड़ मारना उसका इलाज हो जाता है। किसीके शरीरको चीरना-फाड़ना अपराध है, पर डाक्टर कहीं भी चीरा लगा सकता या किसी भी अङ्गको काटकर फेंक सकता है और वह पुण्यका कार्य बन जाता है। यों किसीकी नकल उतारना बुरा लगता है, पर बहुरूपिया बनकर या नाटकमें अभिनय करके जो कुछ किया जाता है, वह मनोरञ्जक और कलात्मक बन जाता है। जान-बूझकर किसीका बुरा सोचना भी अनुचित है पर अनजानमें कोई दवाके भरोसे जहर दे दे तब भी क्षम्य माना जा सकता है। अकेलेमें किसी शत्रुको भी मारना पाप है पर युद्धमें मित्र, रिश्तेदार कोई भी सामने आ जाये तो मारे जाने योग्य बन जाता है।

इस प्रकार परिस्थिति, भावना और फलके आधारपर ही भले-बुरे, सापराध-निरपराध, पाप या पुण्यका निर्णय होता है। अतः प्रश्न सहज ही उठता है कि वे आधार क्या हैं, जो किसी कामको भला या बुरा बनाते हैं? भला-बुरापन व्यवहार किस मापदण्डसे होता है?

इसके उत्तरमें शास्त्र, महापुरुषोंके आचरण या आत्माकी आवाजको ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणके लिये कहा गया है कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' दूसरे स्थानपर आते हैं। 'स्मृतिशीले च तद्विदाम्' अथवा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इनके अनुसार किसी महापुरुषका चरित्र या सामाजिक रूढ़ियाँ इस श्रेणीमें आती हैं।

अन्तिम आधार है—विवेक अथवा अन्तरात्मा, जो प्रत्येकको किसी भी विषम परिस्थितिमें उचित-अनुचितका निर्णय करनेमें सहायक होती है। सामान्य लोगोंमें तो वह शास्त्रोंसे सहायता ले सकता है, रूढ़ियोंको ध्यानमें रखकर या किसी भले आदमीकी राय लेकर काम चला सकता है, पर उस स्थितिमें जब यकायक कोई घटना घट आये, वह अकेला हो या अजनबियोंके बीच या किसी नयी उलझनमें फँस जाये तो वह किससे पूछे, कैसे निर्णय करे? ऐसी स्थितिमें एक ही उपाय बचता है कि वह यह स्व-विवेकसे काम ले, स्वयं निर्णय करे। इस आत्मनिर्णयके लिये ही कहा गया है—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' अर्थात्—जो बात अपने आत्माको प्रिय लगे, यानी जो अपनेको सबसे अधिक उपयुक्त लगे, वही करणीय और वरणीय है।

सच पूछा जाय तो परिस्थिति कैसी ही हो, शास्त्र या समाज उपदेशक या महापुरुष कुछ भी कहें या करें, अन्तिम निर्णय तो व्यक्तिको स्वयं ही करना पड़ता है कि वह क्या करे? उसे बार-बार अनुभव होता है कि—'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'

किंतु ऐसे विचारशील ऐसे प्रसङ्गोंको छोड़ दें तो मनुष्यको प्रत्येक कदममें प्रयोग कर आनी ...

जबतक कोई काम जान-बूझकर, इच्छापूर्वक नहीं किया जाता तबतक वह किसीका कर्म नहीं कहा जा सकता। पर एक बार किसीने कोई काम विचारपूर्वक ही (जरूरी नहीं कि वह विवेकपूर्वक ही हुआ हो) किया कि वह उससे बँध जाता है और फिर वह अपनेको या दूसरोंको धोखा दिये बिना यह नहीं कह सकता कि यह मैंने नहीं किया था इसके लिये अमुक व्यक्ति उत्तरदायी है। यदि सचमुचमें कोई व्यक्ति कोई काम अनजानमें करता है, धोखेमें पड़ जाता या जोर-जबरदस्तीसे करनेको विवश कर दिया जाता है तो उसे कर्ता नहीं माना जा सकता। यहाँ भी पाणिनिने कर्ता उसीको माना है जो स्वतन्त्र हो (स्वतन्त्रः कर्ता); स्वयं अपने कार्यका निर्णायक हो, जिसके काममें न दबाव हो न गलतफहमी।

ऐसी दशामें निर्णायक न क्रिया होती है न कर्म; अन्तिम निर्णायक है उसकी स्वतन्त्रता, जिसे अंग्रेजीमें या आचारशास्त्रमें 'फ्रीडम आफ विल' कहा गया है। हरेक मनुष्यको कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता है; यहाँतक कि ईश्वर भी इस क्षेत्रमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि उसे जो करना था वह तो निर्माणके समय कर चुका, उसके बाद तो उसका खिलौना स्वयं चालित होकर स्वयंकी इच्छासे कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है। यह कोरा यन्त्र नहीं कि यन्त्र-मानवकी तरह वही करनेको बाध्य हो, जैसा करनेका आदेश मनुष्यद्वारा उसमें भर दिया जाता है। मनुष्यका खिलौना यदि अपने निर्माताके आदेश या निर्देश माननेको स्वतन्त्र है तो वह दैवी यन्त्र तो उससे भी अधिक स्वतन्त्र है और उसे किसीका आदेश मानना ही है तो वह है उसकी आत्मा या अन्तरात्मा। जो कोई कर्ताके रूपमें काम करता है तो उसमें इच्छाके रूपमें परिस्थिति उसकी आवश्यकताके अनुसार उसका मार्गदर्शन भी करती रहती है।

यों हमारी आत्मासे मित्रता या शत्रुता है। बाहर न कोई शत्रु है न मित्र, जो भी है वह भीतर बैठा है, वह हम खुद हैं जो अपने भले कर्मोंसे अपने मित्र बनते और अपने बुरे कर्मोंसे अपने ही शत्रु बन जाते हैं। हमारे अपने ही कर्म यदि भले हैं तो हमारी भलाई करते हैं और बुरे हैं तो बुराई करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा, हम या हमारा मन कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है तो वह वस्तु या गुण क्या है, जो किसी कामको भला या बुरा बनाकर हमें भी भला या बुरा अथवा सदाचारी या दुराचारी बना देता है?

यहाँ हमें फिर उसी कर्मकर्ता और भावना पकड़ना है, जिसे इस क्षेत्रमें अविचारणीय मानकर हमने छोड़ दिया था। कर्ताको यदि विचार ही करना होता तो वह सद्भाव, सद्विचार या सत्कल्पनासे ही अपना काम चला लेता और बुराईका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर मनुष्यका काम केवल विचारसे नहीं चल सकता। उसे पल-पलपर कर्म करने पड़ते हैं और उनके परिणामोंसे हम उन्हें अच्छा या बुरा मानने या उसके कर्ताको भला या बुरा कहते हैं।

जहाँतक सहज क्रियाओं या जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताओंका प्रश्न है उन्हें न हम भला कह सकते हैं न बुरा। हम श्वास लेते, आँखें झपकाते या आगसे हाथ हटा लेते हैं, ये सब सहज क्रियाएँ हैं। पर जब हम इन या ऐसी ही अन्य क्रियाओंको किसी उद्देश्यसे जोड़ देते हैं तब उस उद्देश्यके विचारसे वह भली या बुरी हो जाती है। जो बात किसी भले उद्देश्यकी पूर्ति करती है, वह भली है और जो उसे पूरा नहीं करती, उसमें बाधा डालती या उसके विपरीत काम करती है, वह बुरी है।

फिर उद्देश्य क्या है? जीवनका सबसे पहला उद्देश्य है—जीना। अतः जो भी कार्य जीवनोपयोगी हैं, वे भले हैं। इसीलिये भर्तृहरिने जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि सामान्य गुण बताये वे हर प्राणीपर

करना पड़ता है। चाहे मैंने राम-भरोसेपर विश्वास किया हो, पर उससे धोखा खाकर अब मैं विश्वास नहीं कर सकता, किंतु अगली बार यदि पश्चात्तापसे उसका हृदय शुद्ध हो जाये तो वह फिरसे विश्वसनीय बन जाता है। यही दशा दान, उदारता, करुणा, अक्रोध या सहयोग—इन सभीकी है। कोई भी बात या काम कहीं अन्तिम नहीं माना जा सकता। डाक्टर रोगीके साथ उदारता नहीं बरत सकता, योद्धा शत्रुपर दया नहीं दिखा सकता, दानी किसी धनाढ्य गरीबको दान नहीं दे सकता, किसी व्यवसायीके आगे निश्छल सत्य नहीं बोला जा सकता।

अतः इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि भलाई या बुराई किसी क्रियामें नहीं होती; क्योंकि वही क्रिया परिस्थिति-भेदसे भली या बुरी कुछ भी हो सकती है। वही क्रिया बनावटी, दिखावटी, नाटकीय या हास्य-व्यङ्ग्यभरी बनकर अपना रूप ही बदल सकती है। परिणामको सोचकर कभी अच्छे काम भी अकरणीय बन जाते और बुरे काम भी ग्राह्य हो जाते हैं। इसलिये निर्णय क्रियाकी दृष्टिसे नहीं किया जा सकता।

अब बचते हैं—कर्ता या फल। जहाँतक फलका प्रश्न है, किसी बुरे कामका भी अच्छा परिणाम निकल सकता है। कोई चोरी करके भी उस पैसेसे किसी रोगीका उपचार करवा सकते, दान दे सकते, मन्दिर बनवा सकते हैं। अंधविश्वासके सहारे भी लोगोंसे अच्छे काम करवा सकते हैं। अपने-आपको सिद्ध पुरुष सिद्ध करके उनकी भावनाओंको भली या धार्मिक बना सकते हैं। पर इन सबके मूलमें तत्त्वतः गड़बड़ियाँ हैं, अतः केवल परिणामकी अच्छाईसे ही इन्हें भला नहीं माना जा सकता; अन्यथा हरेक मुनाफाखोर, भ्रष्टाचारी, कालाबाजारी, चोर-डाकू-लुटेरा, ढोंगी या धोखेबाज अपने कामोंके सुन्दर फल बताकर इन दुर्गुणोंको भी सद्गुण सिद्ध करनेका प्रयास करेगा और परिणामोंकी अच्छाईके आधारपर हमें उसे वैसा मानना पड़ सकता है।

इसीलिये तो महात्मा गाँधीने साध्य ही नहीं, साधनोंकी भी पवित्रतापर जोर दिया था। भारतीय मूल प्रकृति साध्यकी अच्छाईके साथ साधनकी पवित्रताको भी आवश्यक मानती है। यदि उद्देश्यकी पूर्ति या फल-प्राप्ति ही सब कुछ हो तो वह तो भले-बुरे किसी भी साधनसे की जा सकती है। किसी आदमीको भला बनाना या उससे भला काम करवाना हो तो वह उसकी स्वेच्छासे करवा सकते हैं और अनिच्छासे भी करवा सकते हैं; जबरदस्ती करवा सकते हैं, प्रलोभनसे करवा सकते हैं, धोखेसे भी करवा सकते हैं। पर इस प्रकार जबरदस्तीसे, भयपूर्वक या धोखेमें किये गये अच्छे काम भी क्या अच्छे माने जा सकते हैं? मान लीजिये कोई शर्त जीतनेके लिये भी मन्दिरमें तन्मयतासे पूजा करते हैं तो वह क्या भक्तिके अन्तर्गत आती है? धनके लिये पूजा करनेवाला पुजारी क्या वैसा ही भक्त है जैसे तुलसीदास थे?

निदान, हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि किसी कार्यकी अच्छाई-बुराई न क्रियामें है, न उसके फलमें। जो कुछ निर्णायक है, वह है—वह व्यक्ति, जो किसी क्रियाको करके उसे किसी परिणामतक पहुँचाता है। कर्तासे कर्मतक जो प्रवाह चलता है वह कर्ताद्वारा ही निर्णीत होता है। यदि वहाँसे 'भला' चिनगारी निकलती है तो कर्मतक वैसा ही प्रवाह चलता है और भलाईसे सारा प्रवाह 'भला' हो जाता है।

पाणिनिने इसकी भाषागत ही नहीं, भावगत परिभाषा भी बड़े सूक्ष्मरूपसे की है। कर्म वही है जो कर्ताका अभीप्सिततम है। जो काम वह करना ही नहीं चाहता, वह आनुषङ्गिक, अप्रासङ्गिक या सांयोगिक हो, तब भी उसे कर्ताद्वारा कृत नहीं माना जा सकता। कर्ता उठा, इससे चोर भाग गया, फिर भगानेका काम उस उठनेवालेका नहीं था। बल्लीने किसीके चाँटा मार दिया और वह सुनने लग गया, इसीसे कोई वक्ता नहीं बन जाता।

जबतक कोई काम जान-बूझकर, इच्छापूर्वक नहीं किया जाता तबतक वह किसीका कर्म नहीं कहा जा सकता। पर एक बार किसीने कोई काम विचारपूर्वक हो (जरूरी नहीं कि वह विवेकपूर्वक ही हुआ हो) किया कि वह उससे बंध जाता है और फिर वह अपनेको या दूसरोंको धोखा दिये बिना यह नहीं कह सकता कि यह मैंने नहीं किया या इसके लिये अमुक व्यक्ति उत्तरदायी है। यदि सचमुचमें कोई व्यक्ति कोई काम अनजानमें करता है, धोखेमें कर डालता या जोर-जबरदस्तीसे करनेको विवश कर दिया जाता है तो उसे कर्ता नहीं माना जा सकता। यहाँ भी पाणिनिने कर्ता उसीको माना है जो स्वतन्त्र हो (स्वतन्त्रः कर्ता); स्वयं अपने कार्यका निर्णायक हो, जिसके काममें न दबाव हो न जबरदस्ती।

ऐसी दशामें निर्णायक न क्रिया होती है न कर्म; अन्तिम निर्णायक है उसकी स्वतन्त्रता, जिसे अंग्रेजीमें या आचारशास्त्रमें 'फ्रीडम आफ विल' कहा गया है। हरेक मनुष्यको कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता है; यहाँतक कि ईश्वर भी इस क्षेत्रमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि उसे जो करना था वह तो निर्माणके समय कर चुका, उसके बाद तो उसका खिलौना स्वयं चालित होकर अपनी इच्छासे कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है। वह कोरा यन्त्र नहीं कि यन्त्र-मानवकी तरह वही करनेको बाध्य हो, जैसा करनेका आदेश मनुष्यद्वारा उसमें भर दिया जाता है। मनुष्यका खिलौना यदि अपने निर्माताके आदेश या नैवेद्य माननेको स्वतन्त्र है तो वह दैवी यन्त्र तो उससे भी अधिक स्वतन्त्र है और उसे किसीका आदेश मानना ही है तो वह है उसकी आत्मा या अन्तरात्मा। जो कोई कर्ताके रूपमें काम करता है तो उसमें इच्छाके रूपमें परिस्थिति उसकी आवश्यकताके अनुसार उसका मार्गदर्शन भी करती रहती है।

यही कर्मकी आत्मासे मित्रता या शत्रुता है। बाहर न कोई शत्रु है न मित्र, जो भी है वह भीतर बैठा है, वह हम खुद हैं जो अपने भले कर्मोंसे अपने मित्र बनते और अपने बुरे कर्मोंसे अपने ही शत्रु बन जाते हैं। हमारे अपने ही कर्म यदि भले हैं तो हमारी भलाई करते हैं और बुरे हैं तो बुराई करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा, हम या हमारा मन कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है तो वह वस्तु या गुण क्या है, जो किसी कामको भला या बुरा बना- कर हमें भी भला या बुरा अथवा सदाचारी या दुराचारी बना देता है?

यहाँ हमें फिर उसी कर्मकी ओर मुड़ना पड़ता है, जिसे इस क्षेत्रमें अविचारणीय मानकर हमने छोड़ दिया था। कर्ताको यदि विचार ही करना होता तो वह सद्भाव, सद्विचार या सत्कल्पनासे ही अपना काम चला लेता और बुराईका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर मनुष्यका काम केवल विचारसे नहीं चल सकता। उसे चल-फिरकर कर्म करने पड़ते हैं और उनके परिणामोंसे हम उन्हें अच्छा या बुरा मानते या उसके कर्ताको भला या बुरा कहते हैं।

जहाँतक सहज क्रियाओं या जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताओंका प्रश्न है उन्हें न हम भला कह सकते हैं न बुरा। हम श्वास लेते, आँखें झपकाते या आगसे हाथ हटा लेते हैं, ये सब सहज क्रियाएँ हैं। पर जब हम इन या ऐसी ही अन्य क्रियाओंको किसी उद्देश्यसे जोड़ देते हैं तब उस उद्देश्यके विचारसे वह भली या बुरी हो जाती है। जो बात किसी भले उद्देश्यकी पूर्ति करती है, वह भली है और जो उसे पूरा नहीं करती, उसमें बाधा डालती या उसके विपरीत काम करती है, वह बुरी है।

फिर उद्देश्य क्या है? जीवनका सबसे बड़ा उद्देश्य है—[illegible]। अतः जो भी कार्य [illegible] हैं, वे भले हैं। इसीलिये [illegible] जो [illegible]

[illegible] प्रश्न बनाते

लागू होते हैं; किंतु इनपर भले-बुरेका विचार लागू नहीं होता तथा होता भी है तो इस रूपमें कि ये ही क्रियाएँ जीवनके लिये कहीं हानिकर तो नहीं बन गयी हैं। भोजन आवश्यक है, अतः भोजन करना कोई न अच्छा काम है न बुरा; पर कोई इतना भोजन करने लगे कि जीना ही दूभर हो जाय तो वह बुरा हो जाता है। इस प्रकार जिजीविषाकी सहज क्रिया सामान्यतः आचारके क्षेत्रमें नहीं आती, पर वह अपने उद्देश्यके विपरीत चले या उसका अतिक्रमण करे तो उसे भी बुराई-भलाईके क्षेत्रमें सम्मिलित किया जा सकता है।

जिजीविषा अच्छी बात है; क्योंकि यह संसारका मूलाधार है, पर संसारमें हम अकेले ही तो हैं नहीं। जो बात हमारे लिये सत्य है, वह सभीपर लागू होती है। हमें अपनी ही नहीं, अन्योंकी जिजीविषाका भी ध्यान रखना चाहिये। हम खुद नहीं जियें, औरोंको भी जीवित रहने दें। सामान्यतया प्राणिजगत्‌में जिजीविषा किसी भी मूल्यपर बनाये रखनेका प्रयास किया जाता है, फिर वह औरोंको समाप्त करके ही क्यों न हो। वैसे नियम तो वहाँ भी सहयोग और सहअस्तित्वका है, पर वहाँ सब कुछ सहजवृत्तिसे होता है। मनुष्य सज्ञान है, स्वतन्त्र है, सचेत है। इसीलिये वह जीवनको अपनेतक ही सीमित नहीं रखता, विश्वव्यापी बना देता है। इसीलिये वह कामना करता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं शुभं भूयात् सर्वजगताम्'। वह अकेला ही जीना नहीं चाहता 'जीओ और जीने दो' में विश्वास करता है। इसीको अहिंसा कहा गया है और उसके व्यावहारिक रूपको गाँधीजीने साध्य और साधनकी पवित्रताके रूपमें प्रस्तुत किया है।

सच पूछा जाय तो इस 'स्व-परकी जिजीविषा'में भलाई, सदाचार, नीति, मानवता, धर्म—सभीका सार आ जाता है। पर, ऐसे सदाचारका आधार बना पाना इतना सरल नहीं है। किस सीमातक मनुष्य परायी जिजीविषाके लिये अपनी जिजीविषाको संयत व सीमित करे, यहींसे सारा झगड़ा प्रारम्भ होता है।

इसे कहा तो गया है कि 'केवलाघो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला केवल पापी होता है। अतः वह अकेला नहीं खायेगा, बाल-बच्चोंको लेकर खायेगा, पर इसके आगे वह क्या करे? क्या वह दुनियाभरको खिला सकता है? दूसरोंको खिलाकर स्वयं कितने दिन भूखा रह सकता? और, खिलानेमें खाना ही नहीं आता, कपड़े आते हैं, मकान आता है, जीवनकी सारी सुविधाएँ आती हैं। इनका उपार्जन तथा वितरण वह किस प्रकार करे? यह कठिन समस्या है जहाँ सिद्धान्तको संकुचित होना पड़ता है।

यदि संसारमें साधन-विपुलता हो तो कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसको जितनी आवश्यकता हो उतना ले लेता और बाकी दूसरोंके लिये छोड़ देता। पर संसारमें चीजें कम हैं और हमारी माँग अधिक है। फिर हमारी आवश्यकताएँ भी यथार्थपर कहाँ टिकती हैं! हमें इतनेसे ही सन्तोष कहाँ होता है कि हमारा पेट आज भर जाये या कलतक भरनेकी गारंटी (निश्चिति) हो। हम तो जीवन भरकी गारंटी चाहते हैं, बच्चोंकी गारंटी चाहते और न जाने कितनी पीढ़ियोंकी गारंटीके बाद भी सन्तुष्ट नहीं होते।

यह घातक आक्रामक जिजीविषा ही हमारी सारी बुराइयोंकी जड़ है। हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिका सही रास्ता है—श्रम। हमारा कर्तव्य है कि हम जो भी पायें अपने श्रमसे प्राप्त करें। पर हम या तो थोड़े श्रमके बहुत चाहते हैं या बिना श्रमके ही सम्पत्ति प्राप्त करनेका प्रयास करते आते हैं। इतना ही नहीं, हम दूसरोंके श्रमपर जीते या औरोंके श्रमसे अपने पद अधिकाधिक जमा करते जाते हैं। फलतः स्थिति यह हो जाती है कि कुछ लोग अधिक खाते, अधिक कमाते

और उससे भी अधिक जमा करते आते हैं। इससे हमारी जिजीविषा औरोंके लिये घातक बनती जाती है और संसारका सन्तुलन बिगड़ता जाता है।

यदि भलाई और बुराई, कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा सदाचार-अनाचारके रूपमें देखना हो तो इनका एक ही आधार है कि हमारे काम इस प्रकारके हों कि हम खुद ही नहीं जियें, दूसरोंको भी इसी प्रकार जीवित रहनेकी सुविधा प्रदान करें। इसीलिये कहा है— 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जो काम इस उद्देश्यकी पूर्तिमें जितने सफल होते हैं, वे उतने ही भले या आदर्श हैं और जो इसमें जितने विघातक होते हैं वे उतने ही बुरे हैं।

इस समस्याको हल करनेके लिये धर्मने भी त्याग, अपरिग्रह, यथालाभ-संतोषके रूपमें रहनेका उपदेश देकर एक आधार प्रस्तुत किया था। मार्क्सने भी 'हरेक शक्तिभर श्रम करे और आवश्यकताभर ले' के रूपमें एक दूसरा रास्ता दिखाया। पर यह मार्ग अच्छे उद्देश्यके लिये गलत साधनोंकी भी हिमायत करता है, इसीलिये भले आदमियोंके गले नहीं उतरता। उसमें साध्य पवित्र और साधन चाहे जैसा हो का विधान है।

महात्मा गाँधीने मार्क्सके रास्तेको प्राचीन भारतीय धार्मिक आधार देकर साध्यके साथ साधनकी शुचिताका भी विचार करते हुए दूसरोंके लिये अपना स्वार्थ त्यागनेकी शिक्षा दी जो 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'का ही व्यावहारिक रूप है।

विस्तारमें चरित्र, सदाचार या नैतिकतामें कितने ही गुणोंका समावेश या बहिष्कार किया जावे उसका मूलाधार एक ही हो सकता है—जीओ और जीने दो। बाकी सब बातें इसके माध्यमात्र हैं।

फिर भी एक समस्या रह ही जाती है कि मनुष्य इन दोनोंमें सन्तुलन किस प्रकार करे? ज्ञानके लिये कहा तो गया है कि यह मनुष्यकी विशेषता है, यह मनुष्यकी शक्ति है, पर कोरा ज्ञान मनुष्यको स्वार्थी भी बना सकता है। इसीलिये इस खतरेसे सावधान रहते हुए इस बातका प्रयास करना चाहिये कि इसका उपयोग भावनाओंके पीछे दौड़नेके लिये न होकर उनपर सवारी करनेके लिये होना चाहिये। तभी उस मनरूपी सारथिपर विश्वास किया जा सकता है कि वह हमारा मित्र बनेगा और उसीके भरोसे हम 'मनःपूतं समाचरेत्'—मनके छाननेसे छानकर या विवेकके तराजूपर तौलकर सदाचारी बन सकेंगे।

धर्मराजका चरित्र-सम्बन्धी उपदेश

(लेखक—डॉ॰ श्रीहरिनारायणजी तिवारी, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, साहित्याचार्य)

धर्मराजके उपदेश कृष्णयजुर्वेदके कठशाखासे सम्बन्धित कठोपनिषद्में उपलब्ध होते हैं। नचिकेता बड़े गुरुभक्त आरुणिके पुत्र थे। आरुणि आयोद धौम्यके तीन प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। एक बार खेतकी मेड़ बाँधनेमें असमर्थ आरुणिने स्वयं बाँधका स्वरूप धारण किया एवं कुछ देर बाद गुरुके पुकारनेपर मेंड़को विदीर्णकर बाहर निकले। इस कारण गुरुजीने उनका नाम 'उद्दालक' रख दिया एवं समग्र विद्या-प्रकाशका आशीर्वाद दे दिया। यही उद्दालक अपने परिपक्वकालमें विश्वजित् यज्ञ कर अपनी समग्र सम्पत्ति दान कर रहे थे। सम्पत्तिके नामपर वाजश्रवा (उद्दालक)—'वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य, स वाजश्रवा रूढितो वा (शाङ्करभाष्य)'के पास 'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः' अर्थात् समग्र क्रियाओंसे रहित मरणासन्न गायें मात्र थीं। आदर्श पितृभक्त नचिकेताने उन गायोंको दान देनेके परिणामस्वरूप मिलनेवाले सुखरहित लोकोंको जाननेके कारण, स्वयंको अपने पिताकी एक उत्तम सम्पत्ति मानकर, बाल-स्वभाववश तीन बार अपने पितासे कहा है— 'तत कस्मै मां दास्यसीति'॥ बालकका विचार

होकर महर्षि उद्दालक कहते हैं—'मृत्यवे त्वा ददामीति।' पिताके इस आदेशपर उत्तम-मध्यमाधम शिष्य-परम्परामें अपनेको मध्यम श्रेणीका मानते हुए अपने पिताको सान्त्वना देनेके लिये एक पूर्ण आध्यात्मिक वचन कहता है—

'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥'
(कठो॰ १।१।६)

फिर पितृआज्ञाको शिरोधार्य करके यम-सदन पहुँचकर, नचिकेता यमराजके प्रवासके कारण तीन रात्रियोंतक उपवास करता है। यमराजके आगमनपर वैदिक परम्परासे अनुप्राणित यमपत्नी ब्राह्मण अतिथिके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए तत्काल सूर्य-पुत्र यमराजसे कहती हैं—सूर्यपुत्र! स्वयं अग्निदेवता ही ब्राह्मण अतिथिके रूपमें घरपर प्रवेश करते हैं। अतः सज्जन मनुष्य अर्घ्य-पाद्यादिके द्वारा उसकी शान्ति करते हैं। अतः आप भी जल ले जाइये; क्योंकि जिसके घरपर ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छाओं, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त कर्मोंके फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदिको वह नष्ट कर देता है—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥
आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥
(कठो॰ १।१।७-८)

अतिथिके उपवास तात्पर्य आचार्य यमराज जब तीन वरदान माँगनेका आदेश देते हैं तो पितृपरितोषके रूपमें प्रथम वरके लिये नचिकेता कहता है—'यमराज! जिससे मेरे पिता वाजश्रवस् मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा आपके भेजनेपर मुझे पहचानकर बातचीत करें—यह मैं आपके दिये हुए तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥
(कठो॰ १।१।१०)

द्वितीय वरके रूपमें नचिकेता स्वर्गके साधनभूत अग्नि-विद्याको माँगता है, जिसे जानकर देवगण अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। अग्नि, विद्याके रहस्यको उपदेशित कर पुनः उसके अनुरूप धारणसे संतुष्ट हो आचार्य यमराज अतिरिक्त वर प्रदान करते हुए उस अग्निको नाचिकेत अग्निके नामसे प्रथित होनेका आशीर्वाद देकर एक विचित्र रत्नोंकी माला प्रदान करते हैं।

तृतीय वरके रूपमें आत्म-विद्याके रहस्यको प्राप्त करते हुए नचिकेता कहता है—'आचार्य! मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह संशय है कि आत्मा है या नहीं—कुछ लोग कहते हैं कि यह आत्मा रहता है तथा दूसरे कहते हैं कि यह नहीं रहता है तो आपके द्वारा उपदेशित मैं इस रहस्यमयी विद्याको भली-भाँति समझ लूँ'—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥
(कठो॰ १।१।२०)

इस तृतीय वरकी गम्भीरता एवं सूक्ष्मताको प्रतिपादित कर तथा इसके अतिरिक्त प्रेयके सम्पूर्ण साधनोंके जैसे—मनुष्यलोकके दुर्लभ भोगकी सामग्रियाँ रथ, घोड़े इत्यादि—प्रलोभनोंके देनेके बाद भी अध्यात्म-भाव सम्पन्न नचिकेता अन्ततः यह कह देता है—'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।' और अध्यात्म-विद्याके रहस्यको तृतीय वरके रूपमें जाननेका आग्रह करता है।

इस प्रकार नचिकेताके वैराग्य-भाव, अनासक्ति एवं निष्काम भावनाको देखकर संसारमें प्रचलित श्रेय और प्रेय किंवा विद्या और अविद्या बतलाकर ज्ञान और

अवगत्का प्रतिपादन कर यमराज नचिकेताके विशुद्ध मति एवं धैर्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥
(कठो० १।२।९)

नचिकेताकी आध्यात्मिक बुद्धिकी प्रशंसाको उपस्थित कर आत्मतत्त्वके महत्त्वको प्रतिपादित कर उसे ओंकार पदसे अभिहित करते हुए पुनः यमराज कहते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(कठो० १।२।१५)

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्गमें हम देखते हैं कि पितृ-भक्तिके बीजसे अङ्कुरित नचिकेताका जीवन-वृक्ष पितृ-परितोषसे सिंचित हो अग्नि-विद्याके रहस्यसे पल्लवित होता हुआ आकर्षक भोगोंके झञ्झावातको प्रभावहीन कर आत्म-तत्त्व या परमात्म-तत्त्वके फलसे परिपूर्ण हो इस लोकमें एक साङ्गोपाङ्ग पूर्ण आदर्श-चरित्रको उपस्थित करता है।

नीति-ग्रन्थोंका चरित्र-निर्माणकारी उद्बोधन

[पञ्चतन्त्रमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक तत्त्व]

(लेखक—डॉ० श्रीसूर्यमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

शास्त्रोंकी परम्परामें ही लोकसंग्रहिणी भावनासे प्रेरित होकर नीतिकारोंने अनेक नीति-ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' विशेष सरल होनेपर भी बड़े महत्त्वका है। यह नीतिग्रन्थ भारतीय जनताके लिये ही प्रेरक नहीं रहा, बल्कि इसकी लोकप्रियता विश्वव्यापिनी हुई। यह बात इसके सैकड़ों विदेशी भाषाओंके अनुवादों तथा दो सौसे अधिक संस्करणोंसे प्रमाणित होती है।* विभिन्न निष्कर्षोंके आधारपर इतिहासकारोंने इसकी रचनाका समय ई० २०० पूर्वके लगभग स्वीकार किया है। कथामुख-खण्डके प्रस्तावनाके रूपमें प्राप्त होनेके कारण शेष पाँच तन्त्रोंमें निबद्ध होकर यह 'पञ्चतन्त्र' नामको सफल करता है। कथामुख-भागमें भारतीय परम्परानुसार देवस्मरण इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरि-
वरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्यु-
दधियुगनगा वायुरुर्वीभुजङ्गाः।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दिति-
रदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्याः।
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसु-
मुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च॥
(श्लोक १)

इन सबका स्मरण निर्विघ्न ग्रन्थकी समाप्तिके साथ लोककल्याणकी भावनासे लेकर प्रकट किया गया है। व्यक्तिगत भावनाओंसे ऊपर उठकर लेखकने लोकमङ्गलकी भावना प्रकट की है। आचार्यने नीतिशास्त्रकी परम्पराका स्मरण ग्रन्थके दूसरे श्लोकमें कर दिया है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥
सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम्।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्॥
(२-३)

कथामुखमें ही आचार्य विष्णुशर्माने मनु, बृहस्पति, शुक्र, व्यास, पराशर एवं चाणक्यादि नीतिशास्त्रोंको स्मरण किया है। कथाकारके इस कथनसे स्पष्ट हो

* इसका विशेष प्रचार-क्रम देखनेके लिये [illegible] देखनी चाहिये।

जाता है कि कथाकार धर्मशास्त्रका पूर्ण पण्डित था। सारी कथाएँ पाँच तन्त्रोंमें विभक्त हैं। कहते हैं, दक्षिणमें महिलारोप्य नामक नगरमें अमरशक्ति नामक एक राजा था। उसके बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामके तीन पुत्र थे। ये तीनों ही महामूर्ख थे। उसने इन बालकोंको सुबुद्ध बनानेके लिये विष्णुशर्मा नामक विद्वान्को इन्हें सौंप दिया था। वे कथा सुनकर सुबुद्ध बने। नीतिकारने अपने ग्रन्थकी उपयोगितापर बल देते हुए लिखा है—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १७ ॥

इस फलश्रुतिके साथ कथामुखभाग समाप्त हो जाता है। शेष ग्रन्थ मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक नामक पाँच तन्त्रोंमें विभक्त है। पाँचों तन्त्रोंको मिलाकर ७१ कथाएँ हैं। इन कथाओंमेंसे २२ मित्रभेद, ८ मित्रसम्प्राप्ति, १६ काकोलूकीय, १२ लब्धप्रणाश एवं १३ कथाएँ अपरीक्षितकारक तन्त्रमें आयी हैं। इनमेंसे ४५ कथाओंमें पशुओं एवं पक्षियोंको पात्र बनाया गया है। शेष २६ कथाओंमें मनुष्योंको पात्र बनाया गया है।* सूक्तियोंके अध्ययनसे नीरसतापूर्वक राजकुमारोंको सुशिक्षित किया जा सकता था, किंतु इस विशाल साहित्यसे लोकव्यवहारज्ञके रूपमें प्रस्तुत करना साधारण कार्य न था। इसी भावनासे प्रेरित होकर कथाकारने साहित्यमें सूक्तियोंका समावेश किया। कथाओंके बीच-बीच नीतिपरकोंका भी अनेक स्थलोंमें ग्रन्थकारने स्मरण किया है। अस्तु! यहाँ हमें कथाके मात्र उन्हीं अंशोंपर विचार करना है, जो आचरणप्रेरक हों। इसमें नीतिकारके लिये पिशुनकर्म महान् दोषके रूपमें स्वीकार हुआ है। इसका मित्रभेद नामके प्रथम तन्त्रके प्रारम्भमें ही—'पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' कहकर पिशुन-कर्मको अति गर्हित कहा गया है।

इसके बाद बिना कामके काम करनेवाले व्यक्तिको अपने आप ही नष्ट हो जाना निश्चित है। जुआ, मदिरापान और कामवासनाको निन्दनीय तथा हितसाधनमें बाधक कहा गया है। धनोपार्जनके लिये कभी भी मनुष्यको अनीतिका सहारा नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अन्यायसे अर्जित किया हुआ धन नष्ट तो हो ही जाता है, अर्जनकर्ता स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस कारण कथाकारने धनार्जनके लिये—'भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा' कहकर नीतिपूर्वक धन अर्जित करनेके लिये कहा है। नीतिके अनुसार कभी भी किसी व्यक्तिपर पूर्ण विश्वास कर अपनी गुप्त जानकारी नहीं देनी चाहिये। यहाँपर असत्य-भाषणपर भी रोक लगायी गयी है। प्रत्येक स्थानपर एक-जैसी ही नीतिका पालन नहीं करना चाहिये। देवताओं और राजाके समक्ष थोड़ा भी झूठ नहीं बोलना चाहिये। अतिथि-सत्कारपर बल देते हुए कहा गया है कि अतिथिका स्वागत करनेसे अग्नि, आसन-दान करनेसे इन्द्र, चरण धोनेसे पितर और अर्घ्य देनेसे शिवजी प्रसन्न हो जाते हैं। कामुक नारियोंकी भर्त्सना करते हुए कथाकारने लिखा है—

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ॥ २०५ ॥

स्त्रियोंके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भावोंको स्पष्ट करनेके लिये मापनेकी सबसे छोटी इकाई गुञ्जाको ग्रहण कर कथाकारने कामिनीसे सदा सचेत रहनेके लिये कहा है। इतना कहनेपर भी स्त्रीकी रक्षाके लिये सदा तत्पर रहनेके लिये भी कहा गया है। गौ, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और स्थानके निमित्त जो लोग प्राणत्याग करते हैं, उन्हें सनातनलोक प्राप्त होता है। किसीको भूमि, मित्र और सुवर्णके लिये ही युद्धाभिमुख होना चाहिये। उदरपोषणकी प्रमुखतापर बल देते हुए कथाकारने कहा है कि 'उदरपोषणके लिये मनुष्य असत्य बोलता है, अभक्ष्यको

* इसके अनेक संस्करणोंमें कथासंख्याओंमें कुछ भिन्नता है। यहाँपर निर्णयसागरप्रेसका संस्करण विशेष प्रामाणिक है।

सेवा करता है, विदेश जाता है। किसीका जो स्वभाव बन गया है, वह अपरिवर्तनीय है। पानीको चाहे जितना गर्म कर दिया जाय, पर कुछ देर बाद वह अपने स्वाभाविक गुण ठण्डेपनमें बदल जायगा।' सेवक और पतिकी तुलना करते हुए कहा गया है—

सेवकस्य पतेर्यद्वद्विषयः पापधर्मयोः ॥

सेवक सब कुछ पापके निमित्त करता है और स्वामी धर्मके लिये, यही दोनोंमें अन्तर है। इसमें जहाँ मित्रद्रोहको जघन्य अपराध कहा गया है, वहीं शत्रुताको प्रेम या उपेक्षादिसे जैसे-तैसे दूर करनेकी बात भी यह कही गयी है। अपनी जातिका कभी अनिष्ट नहीं करना चाहिये। इसमें धर्मबुद्धिकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥*
(१।४३५)

धर्मबुद्धियोंके लिये परकी माता, परधन मिट्टी और सभी प्राणी आत्मवत् ही दिखायी पड़ते हैं। मित्र-सम्प्राप्तिमें प्रीतिके छः लक्षण बताये गये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥
(पञ्च० २।५१ स्कन्दपु० १।२४१। १४६ शुक्रनीति ६।६० आदि)

देना-लेना, गुप्त बात कहना और पूछना, खाना-खिलाना प्रीतिके छः लक्षण कहे गये हैं। मनुष्यके लिये कौन कार्य वर्ज्य हैं—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रंश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत् ॥
(२।११५)

अयश, दुर्गति और स्वर्गभ्रंशकारी कार्य मनुष्यको नहीं करना चाहिये। शत्रु और रोगको कभी भी नहीं बढ़ने देना चाहिये। इनपर ध्यान न देनेसे ये विनाशके कारण बनते हैं। कथाकारने कहा है—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥
(१।१२)

शत्रु और रोगकी यदि उपेक्षा की जाती है तो ये धीरे-धीरे इतना प्रभावपूर्ण हो जाते हैं कि मृत्युका कारण बनते हैं। इसी प्रकार ही, शत्रु, कुमित्र और वेश्याओंको भी कथाकारने मृत्युकारक कहा है—

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥
(१।६२)

इन चारोंसे मित्रता करनेवाला कभी भी जीवित नहीं बच सकता। प्राण और धनकी रक्षा प्रत्येक स्थितिमें मनुष्यको करनी चाहिये—

सर्वनाशे च संजाते प्राणानामपि संशये।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥
(४।२२)

प्राणनाशकी स्थितिमें शत्रुको भी प्रणाम कर प्राण और धनकी रक्षा करनी चाहिये।' इस प्रकार 'पञ्चतन्त्र'में राजनीति आदिके साथ लोकनीतिका निर्धारण है। कहानियोंके अधिक पात्र पशु-पक्षी हैं। मार्कण्डेयपुराणके अधिकांश भागके वक्ता पक्षी ही हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य तो विशेष बोधयुक्त प्राणी है, अतः वह नीतिगत विषयोंसे पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा विज्ञ होता है।

यद्यपि ग्रन्थके कथामुख-भागमें अमरशक्ति नामके राजाके पुत्रोंको ज्ञानवान् बनानेके लिये इसके आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचनाकी बात है, किंतु रचनाके उद्देश्यके प्रतिपादनमें कथाकार यह प्रतिज्ञावाक्य भी दुहराता है कि संसारमें अल्प ज्ञान रखनेवालोंके श्रेयके लिये यह ग्रन्थ भूतलमें प्रवृत्त रहेगा। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकी रचना सर्वसामान्य जनोंके कल्याणकी भावनासे अनुप्राणित होकर ही की गयी है।

* यह श्लोक गरुडपुराण १।१११।१२, स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य० २।११।७, हितोपदेश १।१४ एवं चाणक्यनीति १२।१४ आदिमें भी प्राप्त होता है।

चरित्र-निर्माणकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य)

चरित्रवान् मनुष्य आत्मज्ञानका अधिकारी होता है। जो दुराचारी है, जिसकी इन्द्रियाँ और चित्त शान्त नहीं हैं, वह ज्ञानी होकर भी आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता।[1] गोस्वामी तुलसीदासजीने चरित्रवान् व्यक्तिको भगवान् रामके समान देखा है। इसी दृष्टिसे उन्होंने कहा—'जिस मनुष्यके हृदयपर परकीय नारीके नयन-बाण नहीं लगते, जो क्रोधरूपी अन्धकारसे भरी रात्रिमें जागता रहता है और जिसके गलेमें लोभकी रस्सी नहीं बँधी है, प्रभो! वह तो आपके समान ही है'—

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
(मानस ४।२०।२-३)

अतः चरित्रनिर्माणकी मानवमात्रको बड़ी आवश्यकता है।

चरित्र क्या है? 'चर्' धातुसे 'इत्र' प्रत्ययद्वारा 'चरित्र' और आङ् उपसर्गपूर्वक चर धातुसे ल्युट् प्रत्ययसे आचरण पद बनता है। किसीकी भी आचरणों और वृत्तियोंकी चरित्र संज्ञा है। मनुष्यके बुरे कर्मों तथा निकृष्ट वृत्तियोंको दुश्चरित्र कहा जाता है। बादरि नामके आचार्यने चरित्र शब्दसे सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही ग्रहण किया है—'सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः' (ब्रह्मसूत्र ३।१।११)। आचार्य शंकरने भी चरण, अनुष्ठान और कर्मको पर्यायवाचक माना है—'चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्' (ब्र० सू० ३।१।११ शां० भा०)। अतः चरित्रके अन्तर्गत शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंके और उत्कृष्ट तथा निकृष्ट दोनों वृत्तियोंके होते हुए भी चरित्र शब्द शुभ कर्मों और उत्कृष्ट वृत्तियोंपर ही रूढ़ है। इसीलिये किसी शुभ कर्म करनेवाले उदात्त वृत्तिके मानवको ही चरित्रवान् कहा जाता है। जब सगरने ऋषिसे गृहस्थ मनुष्योंके लिये सदाचार जाननेकी कामना की—'गृहस्थस्य सदाचारं श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने॥' (विष्णुपुराण ३।११।१) तो मुनिने सत्य भाषण, मधुर भाषण, कुलटाका संसर्ग न करना, उदय और अस्तके समय सूर्यको न देखना, किसीके धनका अपहरण न करना, नग्न होकर स्नान न करना इत्यादि कर्तव्य कर्मोंको ही सदाचार कहा।

वस्तुतः चरित्रका ताना-बाना शीलपर आधारित है। हारीतने तेरह प्रकारके शील माने हैं—'ब्रह्मण्यता, देव-पितृ-भक्ति, सज्जनता, किसीको कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, कोमल स्वभावका होना, किसीके प्रति भी क्रूर न होना, मधुर बोलना, सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना, कृतज्ञ होना, शरण देना, पराये दुःखमें करुणार्द्र होना तथा शान्त-चित्त रहना'[2]। धर्मशास्त्रोंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम और शान्ति नामकी वृत्तियोंको धर्मका साधन स्वीकार किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२२)

ये ही वृत्तियाँ सच्चरित्रके भी साधन हैं। वस्तुतः धर्म और सच्चरित्र अन्योऽन्याश्रयी हैं। चरित्रनिर्माणके लिये सात्त्विक भोजन, सत्सङ्ग तथा सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये; इससे बुद्धि सात्त्विक होती है। सात्त्विक बुद्धिके निकषमें वह सद् और असद्, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष—सब कुछ स्वयं ही जाना जा सकता है—

१—कठोपनिषद् १।२।२४ २—द्रष्टव्य मनुस्मृति २।६ की मन्वर्थमुक्तावलीव्याख्या।

✻

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(गीता १८ । ३०)

जिन पदार्थोंके भक्षणसे बुद्धिमें राजसिक और तामसिक विकार प्रस्तुत होता है, उनसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। कुत्सित भोजन करनेसे तथा नीचोंके सहवाससे बुद्धि भी तामसी हो जाती है। इससे मनुष्य हिंसक, दुष्टक, आततायी, दुराचारी, व्यभिचारी, मिथ्याभाषी, पिशुन और परनिन्दक बन जाता है। अतः बुराईसे बचनेके लिये मनुष्यको बुराईके मार्गसे बचना चाहिये। जो अपने चरित्रका निर्माण चाहते हैं, वे सर्वप्रथम अपने भोजनपर नियन्त्रण रखते हैं, सज्जन पुरुषोंके साथ बैठते हैं और अश्लील साहित्य कभी भी नहीं पढ़ते। यह बात बहुत प्रसिद्ध है—'जैसा अन्न वैसा मन।'

इस सम्बन्धमें एक कथा इस प्रकार है—एक राजाका एक बड़ा विश्वासपात्र सेवक था। जब कभी राजा शयन करता तो वह सेवक तलवार लेकर पहरा देता। एक दिन जब राजा सो रहा था तो सेवकके मनमें बुरे विचार आने लगे और उन्हीं नीच विचारोंके कारण उसने प्रसुप्त राजाके शरीरपर प्रहार करने और उसके गलेमें पड़े रत्नजटित सुवर्णके कण्ठेको लेनेका निश्चय किया। उसने नंगी तलवार उठायी। पर ज्यों-ही उसने प्रसुप्त राजाके शरीरपर प्रहार करना चाहा, तबतक पीछेसे किसी अन्य सेवकने उसे पकड़ लिया। उस सेवकने राजाको जगाकर उस दुष्ट सेवकके दुष्कर्मकी सूचना दी और राजासे प्रार्थना की कि उस दुष्ट सेवकको प्राणदण्ड दिया जाय। किंतु राजा बड़ा चरित्रवान् और विचारशील व्यक्ति था। उसे लेशमात्र भी क्रोध न आया। उसने सोचा कि यह सेवक समस्त जीवन मेरी निष्कपट सेवा करता रहा, अतः आज अवश्य इसने कुछ निन्दित भोजन किया होगा, जिसने इसके विचारोंमें इतना परिवर्तन किया। राजाने उसके भोजनके विषयमें पूछा तो उसने कहा कि उसने एक पेड़के नीचे बैठकर वह जली हुई बासी खिचड़ी खायी, जिसे ऊपरसे उस पेड़पर बैठा राक्षस देख रहा था। राजा तत्क्षण ही समझ गया कि यह दोष उस निकृष्ट भोजनका ही है, इसीलिये राजाने उसे तीन दिनतक उपवास रहनेका दण्ड दिया। तीन दिनके उपवाससे उस सेवकके मस्तिष्कमें बुरे भोजनसे उत्पन्न विचार मिट गये और वह पहलेकी ही भाँति फिरसे राजाकी निष्कपट सेवामें तल्लीन हो गया। अतः चरित्रके निर्माणमें भोजनका सविशेष महत्त्व है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि शील, सदाचार, धर्म और सच्चरित्र परस्पर एक दूसरेपर निर्भर हैं। चरित्रवान् व्यक्ति ही सुशील-सदाचारी और धार्मिक बन सकता है, जब कि एक सुशील, सदाचारी और धार्मिक व्यक्ति ही चरित्रवान् माना जा सकता है। मानवीय जीवनके लिये जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप उद्देश्य निश्चित हैं, उनकी प्राप्ति मनुष्यको सच्चारित्र्यसे ही हो सकती है।

पवित्र चरित्रकी अभिव्यक्ति

(रचयिता—श्रीअयोध्याप्रसादजी पाण्डेय 'निर्मल')

सोचिये ! क्योंकि जीवन ! रुचिर गुणसे !
शुभ सत्कार्य ! यशमें बदल जायगा।
भावकी व्यञ्जनामें सरसता रहे,
धर्ममधुरता न उससे पृथक हो कहीं ॥

प्रेम-पथपर सुनिर्मल ! परमदिव्य हो,
पाँव रक्खें ! कुमार्गपर पड़ायें नहीं।
मार्ग जिसका है, खूब सँभल कर चलें,
पूर्ण संतोषसे ध्येय जल जायगा ॥

सती मदालसा

आदर्श विदुषी, सती एवं आदर्श माता मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थी। उसका विवाह राजा शत्रुजित्के पुत्र ऋतध्वजके साथ हुआ था। दोनोंका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय था। सती मदालसा अपनी सेवासे सास-ससुर तथा पतिको सदा संतुष्ट रखती थी। राजकुमार ऋतध्वजको भगवान् सूर्यका दिया हुआ एक दिव्य अश्व 'कुवलय' प्राप्त हुआ था। उसकी आकाश-पाताल सर्वत्र अबाध गति थी। उसका आरोही अजेय एवं दुर्धर्ष होता था। पिताकी आज्ञासे राजकुमार ऋतध्वज, जिसका दूसरा नाम उस अश्वकी सवारीसे कुवलयाश्व भी था, उस घोड़ेपर सवार होकर विप्रोंके रक्षाहेतु पृथ्वीपर विचरण करता था। एक दिन वह एक आश्रमपर पहुँचा, जहाँ इसके पूर्व वैरी दैत्य पातालकेतुका भाई तालकेतु आश्रम बनाकर मुनिवेषमें रहता था। राजकुमारने उसे मुनि जानकर प्रणाम किया। उस कपटतापसने कहा—राजकुमार! मैं धर्मके लिये यज्ञ करना चाहता हूँ। पर दक्षिणाके लिये मेरे पास धन नहीं है। तुम अपने गलेकी रत्नमाला मुझे दे दो और यहीं मेरे आश्रमकी रक्षा करो। मैं जलमें वरुणदेवकी स्तुति कर शीघ्र वापस आऊँगा। यह कहकर वह माला-सहित जलमें घुसा और अदृश्य होकर राजा शत्रुजित्के पास प्रकट हुआ। वहाँ राजासे वह बोला—'महाराज! आपका पुत्र दैत्योंके साथ युद्ध करते हुए मारा गया है। यह उसकी रत्नमाला है।' यह कहकर वह लौट गया।

अब राजमहलमें कुहराम मच गया। मदालसाने पतिमरण सुनकर प्राण-त्याग कर दिया। उधर तालकेतु यमुनाजलसे प्रकट होकर राजकुमारसे बोला—'मैं कृतार्थ हुआ। अब आप *नगरको प्रस्थान करें।*' राजकुमारने घर आकर जब सारा समाचार सुना तो शोकाकुल हो मदालसाके लिये तिलाञ्जलि दी और प्रतिज्ञा की कि मैं मदालसाके अतिरिक्त किसी अन्य स्त्रीसे विवाह या सुखोपभोग नहीं करूँगा। वे स्त्री-सुखसे विमुख हो अपने मित्रोंके साथ मन बहलाने लगे। उनके दो मित्र नागराज अश्वतरके पुत्र थे, जो मनुष्यरूपमें पृथ्वीपर नित्य विचरण करने आते थे और राजकुमार ऋतध्वजके साथ क्रीडा-मनोरंजन करते थे। उन्होंने अपने पिता अश्वतरसे राजकुमारकी स्थिति बतलायी। नागराजने भगवान् शंकरकी आराधना कर मदालसाको पुत्रीके रूपमें प्राप्त कर लिया। उसने अपने पुत्रोंके द्वारा ऋतध्वजको बुलवाकर मदालसाकी पुनः उत्पत्तिकी कथा कह सुनायी और मदालसाको उसे सौंप दिया। उसी समय उसका अश्व भी वहाँ प्रकट हो गया। अश्वारूढ हो राजकुमार पत्नीसहित अपने नगर लौट आया और नगरमें बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया।

कालान्तरमें पिताके स्वर्ग सिधारनेपर ऋतध्वज राजा हुए। रानी मदालसाके प्रथम पुत्रका नाम राजाने 'विक्रान्त' रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगी। कालक्रमसे दो पुत्र और उत्पन्न हुए, जिनका नाम राजाने सुबाहु और शत्रुमर्दन रखा। इन दोनोंके नामपर भी मदालसाको हँसी आयी। वह इन तीनों पुत्रोंको लोरियाँ गानेके ब्याजसे विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश देती थी—

> शुद्धोऽसि न तेऽस्ति नाम निरञ्जनोऽसि
> संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
> संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
> मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

लोरी गाती हुई मदालसा पुत्रसे कहती है—'अरे! तू नित्य शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है, निर्विकार है, संसारकी *मायासे निर्लिप्त है।* अतः संसारमें जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाली इस मोहनिद्राका त्याग कर जाग्रत् हो।'

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥
(मार्क० २६। ११)

'तात! तू शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पञ्चभूतोंका बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। तो फिर किसलिये रो रहा है?'

इस प्रकारके आत्मतत्त्वके ज्ञानोपदेशसे रानी मदालसा गाने करते हुए पुत्रोंको ममताशून्य करने लगी। कुछ दिनोंके बाद चौथा पुत्र हुआ। जब राजा उसका नामकरण करने चले तो देखा कि मदालसा पूर्ववत् मुस्करा रही है। राजाने कहा—'मेरे नाम रखनेपर तुम हँसती हो तो लो अब इस पुत्रका नाम तुम्हीं रखो।' रानीने कहा—'आज्ञा स्वीकार है। इसका नाम अलर्क रखती हूँ।' राजा हँस पड़े—'अलर्कका क्या अर्थ है?' मदालसा बोली—'नामसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसारका व्यवहार चलानेके लिये कोई नाम कल्पना करके रख लिया जाता है। वह संज्ञामात्र है, संकेतात्मक शब्द है। उसका कोई अर्थ नहीं। जैसे आपने तीन नाम रखे, उनका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इस अलर्कका इसकी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

राजा निरुत्तर हो गये। जब मदालसा उसे भी पालनेमें सुलाकर उसे झुलाते समय लोरी-गानद्वारा आत्मतत्त्वका उपदेश देने लगी, तब राजाने आपत्ति करते हुए कहा—'देवि! इसे भी ज्ञानोपदेश कर क्यों मेरी वंशपरम्पराका उन्मूलन करनेपर तुली हो? इसे प्रवृत्तिमार्गमें लगाओ और उसके अनुकूल उपदेश दो।' मदालसाने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली और उसने अलर्कको बचपनमें ही व्यवहारशास्त्र, चारित्र्य और राजनीतिका पूर्ण पण्डित बना दिया। उसके उपदेश ये थे—

धन्योऽसि रे यो वसुधामशत्रु-
रेकश्चिरं पालयितासि पुत्र।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम्॥
(मा० पु० २६। ३५)

'बेटा! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर एकछत्र चिरकालतक इस वसुन्धराका पालन करता रहेगा। पृथिवीके पालनसे तुझे सुखोपभोगकी प्राप्ति होगी और उस धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरता मिलेगी।' तुम अपने चरित्रको इस प्रकार बनाना—

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः॥
(वही श्लोक ३६)

'पर्वों, उत्सवोंपर ब्राह्मणोंको भोजनसे तृप्त करना, बन्धु-बान्धवोंकी इच्छापूर्ति करना, अपने हृदयमें परोपकारका ध्यान रखना और मनको परायी स्त्रियोंसे विमुख रखना।' चारित्र्यके इन गुणोंको अपनाकर ही तुम श्रेष्ठ राजा हो सकते हो।

सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तःषडरीञ्जयेथाः।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः॥
(मार्कण्डेयपुराण २६। ३७)

'अपने हृदयमें सदा हरिका चिन्तन करना, उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतना, ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना, संसार असार-अनित्य है—यह पूरा ध्यान रखना।'

अर्थागमाय क्षितिपाञ्जयेथा
यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः।
परापवादश्रवणाद्बिभीथा
विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथाः॥
(वही श्लोक ३८)

'धन-प्राप्तिके लिये राजाओंको जीतना, यश प्राप्त करनेके लिये धन भी व्यय कर देना। परायी निन्दा सुननेमें डरते रहना तथा विपत्तिके समुद्रसे लोगोंका उद्धार करना।' सदा असहायोंकी सहायता करना। ये चरित्रके उत्तम गुण हैं।

> राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
> साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
> दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
> गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥
> (वही ४१)

'तात! राज्य करते हुए मित्रोंको प्रसन्न करना, साधुओंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंसे हरि यजन-पूजन करना, और पुत्र! रणक्षेत्रमें दुष्ट वैरियोंका विनाश करते हुए गौ और ब्राह्मणोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देना (मृत्युको स्वीकार कर भी गो-ब्राह्मणकी रक्षा अवश्य करना)।'

मदालसासे पूर्ण राजनीति-ज्ञान प्राप्तकर अलर्क धर्म, अर्थ, कामनें प्रवीण हो गया। राजा-रानी दोनोंने अलर्कको राजगद्दी देकर वानप्रस्थ ग्रहण किया और भगवान्‌की तपश्चर्यामें लीन हो गये। अलर्कने गङ्गा-यमुनाके संगमपर अलर्कपुरीको—जिसे आज अरैल कहते हैं— अपनी राजधानी बनाया।

इस प्रकार महासती मदालसाने अपने विशुद्ध चरित्रबलसे पालनेमें ही अपने बच्चोंको तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान और राजनीतिके व्यावहारिक ज्ञानकी चारित्रिक शिक्षा देकर उनका जीवन उज्ज्वलतर बनाया और स्वयं भी पतिके साथ परमात्म-चिन्तनमें मन लगाकर अन्तकालमें ही मोक्षस्वरूप परमपदको प्राप्त कर लिया। आज चरित्रबलके लिये ऐसे ही मातृ-उपदेशकी आवश्यकता है।

सती सावित्री

मद्रदेशके राजा अश्वपति धर्मात्मा एवं प्रजापालक थे; पर वे निःसंतान थे। संतानप्राप्तिकी इच्छासे उन्होंने सावित्री (गायत्री) देवीकी आराधना की। उनकी कृपासे राजाको कन्या-रत्नकी प्राप्ति हुई। चूँकि सावित्रीकी कृपासे यह पुत्री प्राप्त हुई थी, अतः उन्होंने उस पुत्रीका नाम सावित्री रखा।

सावित्री जब सयानी—विवाह-योग्य हो गयी, तब राजाने उससे कहा—'पुत्रि! तू अपने योग्य वर स्वयं ढूँढ़ ले। तेरी सहायताके लिये मेरे वृद्ध मन्त्री साथ जायँगे।' सावित्रीने संकोचके साथ पिताकी आज्ञा स्वीकार कर ली। वह संयमी, चरित्रशील एवं धर्मात्मा पति चाहती थी, अतः राजर्षियोंके आश्रमों एवं तपोवनको देखने लगी।

जब सावित्री यात्रासे लौटी तब राजाके पास देवर्षि नारद विराजमान थे। कन्याने देवर्षि-सहित राजाको प्रणाम किया। देवर्षिने राजासे पूछा—आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी? यह विवाहके योग्य हो गयी है। इसका विवाह क्यों नहीं कर देते?

राजाने बताया कि मैंने इसी कामके लिये इसे भेजा था। आप स्वयं पूछ लें कि यह किसे वर चुनकर लौटी है?

नारदजीके पूछनेपर सावित्रीने बताया कि शाल्वदेशके राजा द्युमत्सेन बड़े धर्मात्मा थे। पर बादमें अन्धे हो गये। शत्रुओंने देखा कि राजा अन्धे हैं और उनका पुत्र अभी बालक है तो उन्होंने उनका राज्य हड़प लिया। अब राजा पुत्र एवं पत्नीके साथ वनमें आकर तप कर रहे हैं। उनका पुत्र सत्यवान् बड़ा हो गया है। वह पिताके साथ वनमें ही रहता है; वह मेरे अनुरूप है। मैंने उसे ही पति-रूपमें वरण किया है। देवर्षि नारदने कहा—'कुमार सत्यवान् सर्वगुणसम्पन्न है, पर उसमें एक दोष ऐसा है, जो सब गुणोंको दबा देता है। वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बाद सत्यवान्‌की मृत्यु हो जायगी।'

सुनते ही राजाने कहा—'पुत्री सावित्रि ! नारदजी सत्यवान्‌को अल्पायु बताते हैं। अतः तुम फिर जाओ और अन्य किसी उपयुक्त वरको ढूँढ़ो।'

सावित्रीने कहा—'कन्यादान एक ही बार किया जाता है।* कोई विचार पहले मनमें आता है, फिर उसे वचनसे कहा जाता है और अन्तमें उसे किया जाता है। इसमें मेरा मन ही प्रमाण है। सत्यवान् दीर्घायु हो या अल्पायु, मैंने उसे मनसे पति मान लिया है। अब किसी अन्य पुरुषका वरण मैं नहीं कर सकती। सचमुच ऐसा करना आर्य-शीलके विरुद्ध है।'

देवर्षि और राजाने कन्याकी चारित्रिक दृढ़ता देखकर अपनी-अपनी स्वीकृति दे दी। राजा अश्वपतिने बड़े धूमधामसे तपोवनमें कन्याका विवाह सत्यवान्‌के साथ कर दिया। विवाहके बाद सावित्रीने पतिके अनुरूप तपस्विनीका वेश धारण कर लिया। वह पति तथा सास-ससुरकी सेवामें संलग्न हो गयी। इस प्रकार जब एक वर्ष बीतनेको हुआ तो तीन दिन पूर्व सावित्रीने व्रत धारण कर लिया। वह रात-दिन एकाग्र ध्यानस्थ बैठी रही। चौथे दिन (जिस दिन सत्यवान्‌की मृत्यु निश्चित थी) प्रातःकाल स्नानादिसे पुनीत हो, उसने विप्रों-गुरुजनोंको प्रणाम किया। उसी समय सत्यवान् समिधाके लिये आश्रमसे निकले। सावित्री भी उनके साथ चल पड़ी। यद्यपि सत्यवान् उसकी निर्बलताके कारण उसे नहीं ले जाना चाहते थे, पर माता-पिताके कहने एवं सावित्रीकी प्रार्थनापर उसे साथ लेते गये।

वनमें सत्यवान् लकड़ियाँ काट रहे थे कि उनके मस्तकमें पीड़ा होने लगी। वे वृक्षके नीचे सावित्रीकी गोदमें सिर रखकर लेट गये। इतनेमें सूर्यके समान तेजस्वी एक भयंकर पुरुष वहाँ उपस्थित हुआ। उसे देख सावित्री खड़ी हो गयी और हाथ जोड़कर कातर स्वरमें पूछा—'आप कौन हैं ? यहाँ कैसे आये हैं ?' उस पुरुषने कहा—'मैं यम हूँ। तुम्हारे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है। अतः मैं स्वयं इसे लेने आया हूँ। चूँकि यह धर्मात्मा तथा गुणी है, अतएव मेरे दूत इसे नहीं ले जा सकते थे।'

यमने सत्यवान्‌के शरीरसे अँगूठेके बराबर जीवको पाशमें बाँधकर निकाला और उसे लेकर दक्षिणकी ओर चल पड़े। दुखिया सावित्रीने भी उनका अनुगमन किया। यमने कहा—'अब तू लौट जा और अपने पतिका अन्तिम संस्कार कर। अब तुम्हें आगे नहीं आना चाहिये।'

सावित्री बोली—'जहाँ मेरे पति जायँगे, वहीं मुझे भी जाना चाहिये। तपस्या, पतिभक्ति और आपकी कृपाके प्रभावसे मेरी गति कहीं रुक नहीं सकती।'

यमने कहा—'तुम्हारी पतिभक्ति एवं सत्यनिष्ठासे मैं संतुष्ट हूँ। तुम सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक वरदान माँग लो।'

सावित्रीने वरदान माँगा—'मेरे अंधे श्वसुरको नेत्र प्राप्त हो जायँ और वे बलिष्ठ एवं तेजस्वी हो जायँ।' यमने कहा—'एवमस्तु' और उसे लौट जानेको कहा। सावित्रीने कहा—'जहाँ मेरे पतिदेव रहें वहीं मुझे रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका एक बारका भी सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता।' तब यमने प्रसन्न होकर सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान देनेको कहा। सावित्रीने कहा—'मेरे श्वसुरका छिना राज्य उन्हें प्राप्त हो जाय।' यमराजने कहा—'एवमस्तु' और उसे फिर लौटनेको कहा। सावित्री बोली—'सभी जीवोंपर दया

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।

करना, दान देना सत्पुरुषोंका धर्म है। सभी यथाशक्ति कोमलताका बर्ताव करते हैं, पर सत्पुरुष तो शरणागत शत्रुपर भी दया करते हैं। कृपया मुझे पतिदेवके साथ चलने दें।'

यमराजने सावित्रीकी प्रशंसा की और सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—'मेरे पिताके कोई पुत्र नहीं है। उन्हें वंशवृद्धि करनेवाले सौ पुत्र प्राप्त हों।' यमराजने 'एवमस्तु' कहकर सावित्रीको पुनः लौट जानेको कहा। सावित्री बोली—'आप धर्मराज हैं, सत्पुरुष हैं, न्यायी हैं। क्या यही आपका धर्म और न्याय है कि पतिव्रता नारीको उसके पतिसे पृथक् कर दें।' यमराजने सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर उससे एक वरदान और माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—'सत्यवान्‌के द्वारा मेरे सौ बलिष्ठ एवं पराक्रमी पुत्र हों।' यमराजने कहा—'एवमस्तु' और फिर उसे लौट जानेको कहा।' सावित्रीने कहा—'आपने सत्यवान्‌से मुझे पुत्र होनेका वरदान दिया है फिर पतिके बिना मैं कैसे लौट सकती हूँ। उनके बिना कैसे आपका वचन (वरदान) सत्य होगा। क्या आप धर्मराज होकर अधर्म करना चाहते हैं या मुझ पतिव्रतासे अधर्म कराना चाहते हैं।' धर्मराज बोले—'देवि! तुम्हारी विजय हुई, मैं हार गया!' यह कहकर उन्होंने सत्यवान्‌के बन्धन खोल दिये और स्वयं अन्तर्धान हो गये। सावित्री वृक्षके नीचे पतिके शरीरके पास लौट आयी। पतिके सिरको गोदमें लेकर बैठी ही थी कि सत्यवान् अँगड़ाई लेकर उठ बैठा और बातें करने लगा। सूर्यास्त हो चुका था। वनमें अन्धकार फैल रहा था। दोनों शीघ्रतासे आश्रमको चल पड़े। चरित्रके चमत्कारकी यह घटना सदा स्मरणीय रहेगी।

इधर आश्रममें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। उन्हें नेत्र-ज्योतिकी तो प्रसन्नता थी, पर पुत्र अभीतक नहीं लौटा, अतः दुःखी भी थे। इतनेमें सावित्री-सत्यवान् आश्रममें पहुँच गये। इन्हें देख सभी प्रसन्न हो उठे। विलम्बका कारण पूछनेपर सावित्रीने सारी घटना, जो वनमें हुई थी, बता दी। सब उसके पातिव्रत्य-धर्मकी प्रशंसा करने लगे। पतिव्रता नारी-चरित्रका यह आदर्श आचन्द्रदिवाकर स्तुत्य रहेगा।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारी आश्रममें पहुँचे। उन्होंने द्युमत्सेनसे कहा—'महाराज! आपके शत्रु राजाको उसीके मन्त्रीने मार डाला है। उसकी सेना भाग गयी है। प्रजाने आपको ही राजा बनानेका निश्चय किया है और इसीलिये हमें आपके पास भेजा है। आप राजधानी पधारें और हम सबका पालन करें। सवारियाँ तथा सेना भी साथ आयी हैं।' राजाने सहर्ष महात्माओंके साथ राजधानीको प्रस्थान किया। उनका राज्याभिषेक हुआ। यथासमय सावित्रीके पिता अश्वपतिको सौ पुत्र प्राप्त हुए तथा कालान्तरमें सावित्री-सत्यवान्‌के भी सौ पराक्रमी पुत्र हुए। सावित्री-सत्यवान्‌की कथा अमर हो गयी।

यह था सावित्रीका चरित्रबल, जिसने न केवल अपने मृत पतिको जीवित कर दिया, अपितु अपने माता-पिता, सास-ससुरको भी सर्वथा सुखी बनाया। यमको भी उससे पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

(महाभारत, वनपर्व २९३–९९ अध्यायोंके आधारपर)

चरित्र-निर्माणमें ब्रह्मचर्यकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्०काम०, एम्०ए०, साहित्यरत्न)

जीवनका आधार ब्रह्मचर्य है। इसीलिये जीवनका अधिकांश भाग ब्रह्मचर्यके नियमोंके लिये नियत है। ब्रह्मचर्य-आश्रम पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)को प्राप्त करा सकता है, यदि हृदयसे उसे व्रतकी संज्ञा दी जाय। उसका परिपालक इससे अपनी अभीप्सित वस्तुओंको प्राप्त कर सकता है। यदि उसे[1] यम-नियमोंमें सम्मिलितकर योगका पालन किया जाय तो साधक शक्ति-सम्पन्न बन सकता है। चरित्र-निर्माणकी आधार-शिला ब्रह्मचर्य है। इसलिये भारतीय मनीषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनपर बल देते हुए उसकी मुक्त-कण्ठसे सराहना की और उसे धारण करनेका संदेश विश्वके कोने-कोनेतक पहुँचाया। ब्रह्मचर्यका सामान्य अर्थ 'काम-संयम' है। पर इसके मूलमें वासनाओं या विकारोंका निरोध भी समाहित समझना चाहिये। जबतक सभी इन्द्रियोंका संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो, तबतक काम-संयम नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योन्याश्रित हैं।

मन ग्यारहवीं करण (इन्द्रिय) है। मनसे विरत मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता; क्योंकि वासनाओं एवं विकारोंका मनमें उदय होनेपर काम-संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है।

ब्रह्मचर्यका शाब्दिक अर्थ है—'ब्रह्मकी खोज' जो अन्तर्दर्शनके माध्यमसे ही सम्भव है। अतः मनसा, वाचा तथा कर्मणा समस्त इन्द्रियोंका सभी विषयोंमें संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म या सत्यकी खोजमें प्रवृत्त होना अथवा सद्विषयक आचार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म या सत्यके शोधके लिये विकाररहित होना नितान्त अपेक्षित है। इन्द्रियोंके निग्रह बिना अर्थात् ब्रह्मचर्यके अभावमें मन विकाररहित नहीं हो सकता। चरित्र-निर्माणके लिये ब्रह्मचर्यका पालन अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्यका पालक—ब्रह्मचारी समान्यतः साधक होता है। ब्रह्मचर्यके अभावमें आसुरी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिलता है और दैवी प्रवृत्तियोंका विनाश होता है, जब कि चरित्र-निर्माणके लिये दैवी प्रवृत्तियोंसे सुसम्पन्न होना अत्यावश्यक होता है। जीवविज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार पशु जिस सीमातक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, मानव उस सीमातक नहीं; क्योंकि पशु जीवित रहनेके लिये खाता है और मानव खानेके लिये जीवित रहता है। साधकको अपने आहार-विहारपर सदैव पूर्ण संयम रखना वाञ्छनीय है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्विकारी होते हैं। वे लोग एक प्रकारसे ईश्वरके ही समान होते हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गीता २। ५९)

चरित्र-निर्माणके लिये सदाचार, उत्तम साहित्य, आदर्श शिक्षा, उपयुक्त मनोरञ्जन, कार्यका निश्चित समय, साधारण पहनावा, रात्रिके प्रथम प्रहरके अन्ततक सोना और ब्राह्ममुहूर्तमें जगना, शुद्ध वातावरण, तन-मन दोनोंका स्वच्छ होना, रहन-सहन इत्यादि सब संतुलित होना चाहिये। सर्वोपरि तथ्य

---

१ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (पातञ्जलयोग, साधनपाद ३१)
शौचेज्या च तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहम्। व्रतोपवासमौनानि स्नानं च नियमा दश॥

यह है कि संयमित जीवन व्यतीत करने एवं भगवान्‌को प्राप्त करने हेतु, उनसे सायुज्य स्थापनकी उत्कट अभिलाषाका होना ब्रह्मचारीका प्रमुख कार्य है।

यहाँ चरित्र-निर्माणहेतु ब्रह्मचारीके लिये कुछ आदर्श नियमोंपर विचार किया जा रहा है। जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यकी कृपाका पात्र बननेमें सक्षम होता है एवं उनके चरणोंकी छायामें रहकर उनके महान् चरित्रसे तथा पुनीत जीवनसे अनुप्राणित होनेका शुभअवसर प्राप्त करनेकी क्षमता रखता है, वही वेदारम्भ-संस्कारसे संस्कृत होकर कम-से-कम पचीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके कठिन तपस्याका अनुष्ठान कर पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिहेतु—'आयुष्मान्तु वेद्धि, अमृतत्वमश्यात्योय' इस श्रुति-वाक्यको अङ्गीकार करनेका पात्र बन जाता है।

आचार्यके पुनीत आश्रममें वन, पर्वत एवं सरिताके संनिध्यमें—गुल्मलता, वनस्पति, ओषधि, विहङ्ग, गवादि पशुओंके मध्य सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशके प्रभावसे प्रभावित होकर कह सकता है—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'—मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ और भूमि मेरी माता है। इन्हीं पुनीत आश्रमोंमें जिज्ञासु ब्रह्मचारी पुनीत ऋचाओंको आत्मसात् करनेका सक्रिय प्रयास करता है और ऐसे साधकके लिये 'तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्'—सरस्वती कामधेनु बनकर पुरुषार्थ-चतुष्टयको स्वयं प्रस्तुत करती है। शिक्षाके समाप्त होनेपर आचार्यका अपने विद्यार्थी ब्रह्मचारीके लिये आदेश, निर्देश एवं उपदेश होता है—

धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदि-तव्यम्।'
(तैत्तिरीय शिक्षावल्ली)

जब यह आदर्श शिक्षा ब्रह्मचारीद्वारा अनुष्ठित होती है, तब आदर्श चरित्रका निर्माण होता है। कामपर विजय पाना बड़ा कठिन है, पर जो कामपर विजय पा लेता है, वह विश्व-विजयी हो जाता है एवं भवसागरको पारकर आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ऐसी वस्तुके प्राप्तिहेतु महान् धैर्यकी आवश्यकता होती है। अल्पाहार अथवा निराहार मनोविजयका श्रेष्ठ साधन है। यदि अग्निपर पकायी गयी वस्तुएँ कम खायी जायँ तो अति उत्तम है। कामोत्तेजक पदार्थोंका सेवन न किया जाय। यद्यपि मात्र आहार-त्यागसे, कामसे मुक्ति सम्भव नहीं, फिर भी विकारोत्तेजक पदार्थोंका सेवन करनेवालोंसे ब्रह्मचर्यके निर्वाहकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। चरित्र-निर्माण एवं ब्रह्मचर्यके पालनमें जिन तत्त्वोंके दर्शन, श्रवणादिसे विकारोंकी उत्पत्ति हो, वे ग्राह्य नहीं हैं। आवास-कक्षमें ऐसे चित्र लगे होने चाहिये, जिन चित्रोंके पीछे कोई महान् चरित्र छिपा हो। आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये अश्लील चित्र एवं अश्लील साहित्यका अवलोकन सर्वथा वर्जित है। अश्लीलताका बीजारोपण तो चलचित्र-व्यवसाय किया जाता है, जो ब्रह्मचर्यव्रतके पालन एवं चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है।

ब्रह्मचर्यका व्यावहारिक रूप यह होना चाहिये कि इस व्रतको जिससे जितना बन सके, उतना अवश्य पालन करे, उसमें कोई बनावटीपन न होने पाये। अपनी शक्ति-के अनुसार जिससे जितना हो सके, उस आदर्शतक पहुँचनेका सक्रिय प्रयास करे, इसमें कोई लज्जा या दुःख-की बात नहीं है। साथ ही काम-वासनाका दमन एवं इन्द्रिय-निग्रह तथा आध्यात्मिक वातावरण आदर्श चरित्रके लिये अपरिहार्य हैं। आध्यात्मिक विचार, समाज-सेवा, देश-सेवा इत्यादि चरित्र-निर्माणके लिये उपयोगी हैं। इसी प्रकार सत्यका पालन, असत्यका त्याग, कर्मनिष्ठा, मधुर एवं अल्प भाषण, सदैव कार्यरत रहना, सदाचार, अतिथिसेवा, सत्सङ्ग, भगवन्नाम-जप, श्रवण, मनन, कीर्तन, इत्यादि आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये नितान्त उपयोगी हैं। चरित्र-निर्माणके लिये अपने धर्म-ग्रन्थोंका अवलोकन

एवं धार्मिक निर्देशोंका अनुपालन तथा शास्त्रमार्गमें विश्वास और उसका अनुसरण करना भी उपयोगी होता है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति ६।९२)

इसके अनुसार धृति, क्षमा, दम, शौच, अस्तेय, धी, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या, सत्य एवं अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं। इन सद्गुण-समूहोंका आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् होता है।

यहाँपर चरित्र-निर्माणमें उपयोगी ब्रह्मचर्यविषयक कतिपय नियमोंको अङ्कित किया जाता है—(१) मन, शरीर एवं वाणीसे वीर्यकी रक्षा करना, (२) विपरीतलिङ्गका शिकार न बनना, (३) सदैव लँगोट बाँधना, (४) प्रतिदिन एक बार नियमितरूपसे व्यायाम करना, (५) एकाकी शयन करना, (६) छः घंटेसे अधिक न सोना और दिनमें न सोना, (७) अनावश्यक बातें न करना तथा कम बोलना, (८) किसीके द्वारा प्रयोगमें लाये हुए कपड़ोंको न पहनना तथा किसीका जूठन न खाना, (९) अनावश्यक किसीको स्पर्श न करना, (१०) हल्का तथा सात्त्विक एवं सुपाच्य भोजन करना और मिताहारी बनना, (११) पूर्णिमा, एकादशी तथा अन्य व्रत करना, (१२) सदैव कार्यरत रहना, (१३) मनको सदैव उत्तम बातोंको सोचनेमें, सुन्दर भावनाओंके धारण करनेमें, अच्छे ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें, भगवान्के नाम लेने, भगवान्के रूपका ध्यान करने और स्तुति-पाठ करनेमें लगाना, (१४) यदि मनमें कोई असत् भावना जाग्रत् हो जाय तो अपने इष्टदेवके नामका जप करना तथा उसका प्रायश्चित्त करना और भगवान्से तदर्थ क्षमा-याचना करना, (१५) प्रतिदिन नियमितरूपसे सोते समय सभी चिन्ताओंको त्यागकर भगवान्के नामका जप और ध्यान करना, (१६) प्रतिदिन अपने सद्विचारों, आदर्श चरित्र और नियमोंका परीक्षण करना तथा दैनंदिनी लिखना, (१७) नित्य श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरित-मानसका पाठ करना एवं उसे कण्ठस्थ करना और (१८) नित्य न्यूनतम दो घंटे भगवान्के नामका जप, ध्यान एवं आराधना करना सबके लिये श्रेयस्कर है।

आत्म-संयमसे मनुष्य मेधावी एवं चरित्रसम्पन्न हो सकता है। वासनाओंकी समाप्तिसे आत्मसुखद्वारा मनुष्यको वास्तविक सुखकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् रखनेसे विषय तो विनष्ट हो ही जाते हैं, साथ-साथ आदर्श चरित्रका निर्माण भी होता है। इससे बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। इन सभीका मूल है ब्रह्मचर्य, जो आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये परम उपयोगी है।

शुभ चरित्रका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्। मानवं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्॥
शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्। तथाऽशुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते॥
(महाभारत अनुशासनपर्व)

'मनुष्य जो शुभ या अशुभ आचरण करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मोंका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता तथा किये हुए कर्मोंका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है। जो शुभ कर्मोंका आचरण करता है उसे शुभ फलकी प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है।'

मानवका सच्चरित्र ही उसकी सर्वोपरि मानवता है

(लेखक—पं० श्रीगोविन्ददासजी संत, धर्मशास्त्री, पुराणतीर्थ)

इस स्थावर-जङ्गमात्मक संसारमें प्रत्येक पदार्थका जोड़ा है। जैसे—सुख-दुःख, दिन-रात, लाभ-हानि, सच-झूठ, सदाचार-दुराचार, सच्चरित्र और दुश्चरित्र इत्यादि। बिना असत्के सत्का भी महत्त्व प्रतीत नहीं होता। सदाचार एवं सद्विचार मानवके चरित्र-निर्माणमें परम सहायक हैं। सद्विचारवान् मानव ही चरित्रवान् बन सकता है। यदि मानवमें चरित्रबल है तो उसकी मानवता सार्थक है, अन्यथा चरित्रहीन व्यक्तिका जीवन ही व्यर्थ है। अर्थात् चरित्र है तो सब कुछ है और चरित्र गया तो सब कुछ गया। शास्त्रोंमें बताया है—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः', सदाचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, चरित्रहीन व्यक्तिका इतना पतन हो जाता है। चरित्र-हीनता मानवको दानव बना देती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥
(मानस १। १८४। १-२)

भगवान् शंकर कहते हैं—'पार्वति! जो अपने माता-पिताको नहीं मानते अर्थात् सेवा नहीं करते और देवी-देवताओंको नहीं मानते तथा श्रेष्ठ (पूज्य) जनोंसे उल्टी अपनी सेवा करवाते हैं, जिनके ऐसे आचरण हैं, वे प्राणी निशिचर (राक्षसों) के समान ही हैं।'

राक्षसराज रावण ब्रह्मज्ञानी ही प्रवीण था। ब्रह्माजीके पुत्र पुलस्त्य, पुलस्त्यके विश्रवा और विश्रवाके रावण। उत्तम कुलमें उत्पत्ति* और वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता, महान् बलशाली यह सब कुछ होनेपर भी चरित्रहीन होनेके कारण उसकी क्या दुर्दशा हुई; इस बातसे तो रामायण पढ़नेवाले सभी महानुभाव सुपरिचित हैं। प्रतिवर्ष विजयादशमीको उसका पुतला बनाकर जलाया जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि शास्त्रोंमें अच्छे या बुरे अर्थात् सच्चरित्र और दुश्चरित्र इन दोनोंके उदाहरण मिलते हैं। जहाँ मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका चरित्र है, वहीं उसके विपरीत दुश्चरित्रवान् रावणका है, एक ओर लीलाबिहारी भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र है तो दूसरी ओर कंसका। महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरके साथ ही अन्यायी पापात्मा दुर्योधनका चरित्र है। पापकी भयंकरताको दिखाये बिना धर्मका महत्त्व प्रकट नहीं हो सकता। इन्हें पढ़नेका अर्थ है—

'रामादिवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्।'

'भगवान् श्रीरामका-सा आचरण हो, रावण-सा नहीं।' देखिये, भगवान् श्रीरामके चरित्र-सम्बन्धमें महर्षि श्रीवाल्मीकि देवर्षि श्रीनारदजीसे पूछते हैं—मुने! इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और किये हुए उपकारको माननेवाला, सत्यवक्ता तथा दृढप्रतिज्ञ कौन है? सदाचार (सच्चरित्र) से युक्त, समस्त प्राणियोंका हितैषी, विद्वान्, सर्वसमर्थ और एकमात्र जिसका दर्शन प्रिय लगे—ऐसा सुन्दर पुरुष कौन है? मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी निन्दा न करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर देवता भी जिससे भय खाते हों ऐसा पुरुष कौन है? महर्षे! यह सब मैं

* मातृकुलके कारण वैश्रवण कुबेरको क्षत्रिय कहा गया है। वाल्मीकीयरामायणमें रावणको भी—'नासि क्षत्रिय-सम्मितः। क्षत्रियो निहतः संख्ये न शोच्य इति निश्चयः॥' (६। १०९। १८) आदि अनेक स्थलोंपर क्षत्रिय कहा गया है। लोक-प्रसिद्धि उसके ब्राह्मण होनेकी भी है। शास्त्रोंमें राक्षसोंकी जाति भी क्षत्रिय ही मानी गयी है। भावक, मरीच आदि, वा० व्याख्याता अनेक प्रमाणोंसे उसे क्षत्रिय ही सिद्ध करते हैं।

सुनना चाहता हूँ, मुझे बड़ी उत्कण्ठा है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमें समर्थ भी हैं।'

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥
(वा० रा० १। १। २-३)

देवर्षि श्रीनारदने उत्तर देते हुए कहा—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
(वा० रा० १। १। ८)

'इक्ष्वाकु' के वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें 'राम' के नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं।' इसके आगे वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ के उपर्युक्त ८ वें श्लोकसे १९ वें श्लोकपर्यन्त १२ श्लोकोंमें श्रीनारदजीद्वारा भगवान् श्रीरामके उत्तमोत्तम उन सद्गुणोंका वर्णन किया गया है, जो चरित्र-निर्माणमें परम सहायक हैं, पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

वास्तवमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका परम पावन दिव्य चरित्र पढ़ने, सुनने तथा स्वरूपका चिन्तन करनेपर साधकोंका मन सच्चरित्रताकी ओर प्रवृत्त होने लगता है। उनके स्वरूपका ध्यान धरते ही मनमें उनकी-से भाव ही झलकने लगते हैं।

जब राम और रावणका युद्ध चल रहा था, तब युद्ध-हेतु रावणने अपने भाई कुम्भकर्णको जगाया। कुम्भकर्ण जगा और उसने अपने बड़े भाई रावणको उदास देखा और उससे पूछा। सभी बात सुनकर उसने रावणसे कहा कि तुम रामका रूप धारणकर सीताको वशमें क्यों नहीं कर लेते तो वह बोला—

रामको रूप धरयो जब मैं
तब मातु-समान लगी पर नारी।

यह है चरित्रका प्रभाव। चरित्रशील श्रीरामका स्वरूप धारण करते ही राक्षसके भी हृदयके कुत्सित भाव बदल जाते हैं। एक बार वनवासमें रहते हुए भगवान् श्रीरामने लोक-शिक्षा-हेतु लक्ष्मणजीसे इसी चरित्रबलके सम्बन्धमें प्रश्न किया—

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा योषिद्यौवनम्।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नो चलते मनः॥

'लक्ष्मण! खिला हुआ पुष्प, पका हुआ फल तथा युवावस्थावाली सुन्दर स्त्री—इन तीनोंको देखकर किसका मन चलायमान नहीं होता?'

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
ताभ्यां यः समुत्पन्नो तस्य नो चलते मनः॥

'प्रभो! जिसका पिता सदाचार-परायण तथा माता पतिव्रता धर्मपरायणा हो, उन दोनोंसे जो सन्तान उत्पन्न हो, उसका मन चलायमान नहीं होता।' इसी प्रकार आगे चलकर सीता-हरण होनेके पश्चात् जब सुग्रीवजीसे मिलना हुआ तो उन्होंने रावणद्वारा अपहरणके समय जानकीजीद्वारा गिराये गये आभूषणोंको दिखाया। भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा—इनको पहचानो।' इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

केयूरे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

'मैं कङ्कण और कुण्डलोंको नहीं पहचानता। हाँ, नूपुर मैं पहचानता हूँ, कारण, नित्य उनके चरणोंमें अभिवादन करते समय इनके दर्शन हो जाते थे।'

इस चरित्रसे हमें शिक्षा मिलती है कि ज्येष्ठ भ्राताकी पत्नी माताके समान और छोटे भाईकी पत्नीको पुत्रीके समान मानते हुए धर्मपालन करें। यह लक्ष्मणके चरित्रबलका उदाहरण है। भगवान् श्रीरामने भी कहा है—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥
(मानस ४ । ९ । ४)

एक समयकी बात है, उद्दालक आदि मुनिवृन्द राजा अश्वपतिके यहाँ पहुँचे । राजाने उठकर अभिवादन करते हुए अर्घ्य, पाद्यादिपूर्वक चरण-पूजन किया और कुछ समयतक अपने यहाँ निवास करनेके लिये प्रार्थना की; किंतु मुनिगणोंको आवश्यक कार्य हेतु शीघ्र ही आगे जाना था, अतः रुकनेसे इन्कार कर दिया । इधर राजाने देखा, मुनिगण निषेध क्यों कर रहे हैं । कोई और तो कारण नहीं समझ रहे हैं। अपने यहाँके शुद्ध वातावरणका परिचय देते हुए अश्वपति राजाने निवेदन किया—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

'भगवन् ! मेरे राज्यमें न कोई चोर है और न कृपण ही है तथा न कोई ऐसा ही है, जो मद्यपान करता हो । कोई ऐसा भी नहीं है, जो अग्निहोत्र न करता हो । कोई मूर्ख भी नहीं है, कोई स्वैरी कामी स्त्री-पुरुष भी नहीं हैं, स्वैरिणीकी तो बात ही क्या है । फिर आपको यहाँ निवास करनेमें क्या शङ्का है ?'

इस प्रकार राजाके चरित्रपूर्ण शुद्ध भाव देख ऋषियोंने शीघ्रतासे आगे जानेका कारण बताते हुए उनको आशीर्वाद देकर प्रस्थान किया । यह है चरित्रबलका सच्चा उदाहरण । आज अश्वपतिका अनुसरण करनेवाले विश्वमें कितने शासक हैं !

एक प्रसङ्ग उस समयका है जिस समय पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे । महर्षि वेदव्यासके आदेशानुसार अर्जुन इन्द्रके यहाँ शस्त्र विद्या सीखने गये थे । एक दिन इन्द्रने रातमें उर्वशी नामकी अप्सराको अर्जुनकी चरित्रसम्बन्धी परीक्षा लेनेहेतु भेजा । उसने आधी रातमें जाकर अर्जुनका दरवाजा खटखटाया । अर्जुन उठे और सामने देखा—उर्वशी सशृङ्गार खड़ी है ।

अर्जुनने कहा—साध्वि ! तुम कौन हो ? कहाँसे आयी हो ? और मुझसे क्या कार्य है ? उत्तर देनेसे पहले यह सोच लेना कि हम भारतीय हैं, कुरुकुलकी सन्तान कभी अधर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं होगी ।

ज्यों ही उर्वशीने अपने भाव प्रकट किये जिस निमित्तको लेकर वह आयी थी, त्यों ही अर्जुनने दोनों हाथ जोड़ चरण-वन्दना करते हुए कहा—हाय-हाय तुम ऐसा क्यों कह रही हो, तुम तो मेरे वंशकी जननी साक्षात् माताके समान हो—

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥
(म० भा० वनपर्व ४६ । ४६-४७)

'अनघे ! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शची (इन्द्राणी-) का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है । तुम पुरु-वंशकी जननी होनेके कारण मेरे लिये सदा परम गुरुस्वरूप हो । वरवर्णिनि ! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरण हूँ, तुम लौट जाओ । मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान परम पूजनीया हो, अतः तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ।'

जब अर्जुन अपने वास्तविक स्वरूपसे न डिगे तो उर्वशीने अन्तमें उन्हें क्रोधमें आकर शाप दे दिया—'जाओ तुम नपुंसक बन जाओगे' । यह कहकर वह चली गयी । इन्द्र अर्जुनकी इस विजयपर परम प्रसन्न हुए और वरदान देते हुए उन्होंने कहा—'जाओ मेरा यह शाप भी तुम्हारे अज्ञातवासमें तुम्हारे लिये हितकर होगा । तुम विराट्के यहाँ एक वर्ष अज्ञातवास करते हुए 'बृहन्नला' के नामसे राजकुमारी उत्तराको नाच-गान-विद्यामें निपुण करके अपना एक वर्ष सुविधापूर्वक काट सकोगे । पश्चात् इस शापसे मुक्त भी हो जाओगे !' धन्य है ! ऐसे-ऐसे महापुरुषोंको, जो घोर कठिन

परिस्थितियोंके आनेपर भी चरित्रबलद्वारा विचलित न हो सके।

एक दूसरी घटना है। राजा दुष्यन्त शिकार-हेतु वनमें गये हुए थे। महर्षि कण्वके आश्रममें बैठी हुई एक परमसुन्दरी कन्याको देखा और पूछा—

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयंगमे।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र मयत्या निर्जने वने॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित्॥
(श्रीमद्भा० ९। २०। ११-१२)

'कमलदललोचने! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली सुन्दरि! तुम इस निर्जन वनमें निवास कर क्या करना चाहती हो? सुन्दरि! मैं स्पष्ट जान रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो; क्योंकि पुरुवंशियोंका चित्त कभी अधर्मकी ओर नहीं झुकता।' यह है चरित्रबलकी विशेषता।

नीतिशास्त्रमें भी बताया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥*

'जो परस्त्री माताके समान, परधन मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोंका सुख-दुःख अपनी आत्माके समान देखता है, वही संसारमें पण्डित (ज्ञानीजन) है।' यदि मानव जीवनपर्यन्त उपर्युक्त इन तीनों बातोंको विधिवत् पालन कर ले तो ये तीनों भी चरित्र-बलमें परम सहायक हैं। दूसरोंकी बहन-बेटियोंपर कुदृष्टि डालना अर्थात् उनका अपहरण करना दूसरेके धनको हड़प लेना तथा दूसरोंके साथ हिंसात्मक व्यवहार करना, इन सब पापोंकी रोकथामके लिये ही तो सरकारका आरक्षी विभाग है। यदि 'मातृवत् परदारेषु' इस शास्त्रीय वाक्यके आदेशानुसार मानव चलने लगे तो बतलाइये, हमारी सरकारके आरक्षी विभागको कितनी सुविधा मिल जाय। कानूनकी अपेक्षा धर्मसे संसारकी अधिक भलाई होती है।

वास्तवमें चरित्रबल ही महान् है। छल, कपट, छल-छिद्र, राग-द्वेष, हिंसा-वृत्ति, शोक, मोह, काम, क्रोध, मद, लोभ, संसारासक्ति, मात्सर्य, निन्दा-स्तुति आदि कुत्सित वृत्तियोंका परित्याग ही चरित्रबल है। चरित्रबलसे मानवका जीवन उज्ज्वल बनकर उपकारक हो जाता है अर्थात् मानव मानव ही नहीं, वह देवकोटिमें पहुँच सकता है।

पाश्चात्य मनीषियोंका चरित्र-चिन्तन

(लेखक—श्रीचंदुलालजी अग्रवाल, एम० ए० (संस्कृत-अंग्रेजी), काव्यतीर्थ)

वर्तमान युगको कई चिन्तक—'Crisis of Character' का युग कहते हैं। यह बात बताती है कि समाजके बुद्धिजीवीवर्गको वर्तमान चारित्रिक परिस्थितिसे सर्वथा संतोष नहीं है। महामनीषी लोगोंकी दृष्टिमें विचार-क्रान्ति ही व्यापक चरित्र-निर्माणका उपाय है; क्योंकि मनुष्य जैसे विचारोंका चिन्तन करता है, वह वैसा ही बन जाता है—'As a man thinketh in his heart, so is he.'

विचारोंमें बड़ी शक्ति है, इस बातको ध्यानमें रखकर क्लॉड ब्रिस्टोने कहा है—

'All your thinkings work either for good or for bad. Positive thinking can make you stronger. Negative thinking is exhausting.'

विचार विधेयात्मक एवं विनाशात्मक दोनों प्रकारके होते हैं। यही कारण है कि महर्षियोंने समाजको अच्छे विचारोंको प्रदान किया। हमारे युगके एक महामनीषी बर्नार्ड शाने कहा है—'Men are, what they were.' मनुष्य जो अपने भूतकालमें था, वैसा ही वर्तमानमें भी है।' 'जैसा हमारा वर्तमान होगा, वैसा ही हमारा भविष्य

* इसका भाष्य विशेष (संदर्भ) पृ० १८९ पर देखें।

भी होगा' यह उसी महासिद्धान्तका एक उपसिद्धान्त है । चरित्रके लिये उसके प्रत्येक पक्ष तथा प्रत्येक सद्गुणको अर्जित करना पड़ता है । वह कभी विरासतके रूपमें या भेंटके रूपमें प्राप्त नहीं होता—'Character is a victory, not a gift.' विजय आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं । भारतीय मनीषियोंने दैवी सम्पद्के गुणोंको अर्जित करनेका आदेश दिया है । यह तीव्र प्रयास स्वयं ही करना पड़ता है । एक विद्वान्का यह कथन साक्षी है—'What a man has, may depend upon others, but what he is, depends upon him alone'—केवल अपने आपके बलपर ही आन्तरिक समृद्धिको अर्जित किया जा सकता है । और एक बार जब इस प्रकारकी आन्तरिक सम्पदा हासिल हो जाती है, तब हम किसी अन्यके लिये उदाहरण बन सकते हैं ।

चरित्र इहलोक और परलोकके बीच एक सेतुका निर्माण करता है । इसी विशेषताकी ओर निर्देश करते हुए किसी विचारकने कहा है—'चरित्र यहाँ अर्जित किया जाता है और यही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम परलोकतक ले जा सकते हैं । अन्य चीजोंके बारेमें तो हमारा पुराना अनुभव है कि उनको तनिक भी ले जाना कभी सम्भव नहीं है । किसी भारतीय विद्वान्ने इस बातका प्रतिपादन बड़ी अच्छी तरहसे किया है'—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

यदि धनको गाड़ दिया जाय तो वह जमीनमें ही रह जाता है । पशु अपनी पशुशालामें ही बँधे हुए रह जाते हैं । पत्नी भी घरके द्वारसे आगे जाकर विदा नहीं देती । मित्र-वर्ग एवं स्वजन भी श्मशानतक आकर ही—विदा हो जाते हैं । देह भी चितासे बढ़कर आगे नहीं जा सकता । जब जीव परलोककी दिशामें प्रस्थान करता है, तब उसके साथ अपने कर्म-चारित्रिक पाथेय ही जाता है । चारित्रिक इमारतकी नींवकी ईंटों या आधारशिलाओंका निर्देश करते हुए एक महामनीषी कैप्टन एडवर्ड रिकनबेकरने बताया है कि उनकी संख्या चार है और वे हैं—

(१) अपने-आप कुछ करनेकी वृत्ति पहलकदमी या उपक्रमक्षमता (Initiative), (२) कल्पनाशीलता, (३) वैयक्तिक प्रतिभा (Individualety), (४) स्वातन्त्र्य । और जिन लोगोंके पास ये चार सद्गुण रहते हैं, वे ही चरित्र एक संस्कारित निर्माण कर सकते हैं और उनकी यह विशेषता रहती है कि वे ही लोग अन्यमें रहे हुए उन गुणोंकी कद्र कर सकते हैं । जब प्रजामें इन गुणोंका ह्रास होता है तो राष्ट्रकी बड़ी हानि होती है ।

वैयक्तिक चरित्र राष्ट्रकी अक्षय-निधि है । समाज वैयक्तिक चरित्रपर बड़ी आशा करता है; क्योंकि समाजका गठन व्यक्तियोंसे बना है और समाजकी यह दृढ़ प्रतीति होनी चाहिये कि चरित्र ही नियति है । यह बात राष्ट्रिय और जागतिक स्तरपर तो और ही सत्य है ।

इस बातको अधिक प्रभावपूर्ण ढंगसे चुनावकी परिभाषामें प्रकट करते हुए एक विद्वान्ने कहा है—'सारा समय चुनाव चलता ही रहता है । ईश्वर आपके पक्षमें अपना मत देता है और शैतान आपके विरुद्ध मतदान करता है और इस मतदानमें निर्णायक मत तो आपका ही रहता है ।' वैयक्तिक चरित्रके बारेमें इससे बढ़कर कौन-सा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है । इस निर्णायक मतके विषयमें भी हम यह न भूलें कि हमारे चारित्रिक गठनमें भी बहुत-सी शक्तियोंका मिश्रण रहता है । जिसे हम आत्मनिर्मित मनुष्य कह सकें ऐसा कोई मनुष्य है ही नहीं । इस विषयमें प्रसिद्ध मेथ्यू अर्नाल्डका विधान चिन्तनीय है—

पूर्ण आत्मनिर्मित कोई मनुष्य नहीं हो सकता। हजारों अन्य लोगोंके द्वारा हमारा निर्माण हुआ है। जिन लोगोंने करुणासे प्रेरित होकर हमारा कार्य कर दिया या जिन्होंने हमें उत्साहित किया उन लोगोंने हमारे निर्माणमें सहयोग किया है। हमारे विचारोंके निर्माण एवं हमारी सफलताओंमें उनका योगदान रहा है। जो बात दूसरोंकी करुणासे किये हुए कार्योंके बारेमें बनती है, वही बात निष्करुण व्यवहारोंसे घटती भी है। केवल उनका प्रभाव विपरीत पड़ता है। यह विपरीत प्रभाव भी हमारे चारित्रिक गठनका एक अंश है।

किसी मनीषीने कहा है—'Reputation is no character,'—मनुष्यकी प्रतिष्ठा कोई चरित्र नहीं है।' मनुष्यद्वारा जिस प्रकारके कार्य किये जाते हैं, उनके द्वारा ही उसका चारित्रिक निर्माण होता है। किसीके चारित्र्यका पता उसके छोटेसे कार्यसे भी चल जाता है—'Character is revealed by very trifling actions'—आल्फ्रेड बरेटे; बूँदसे गयी हुई प्रतिष्ठा हौजोंसे नहीं आती, यह बात तो सुविदित है ही। इस बातको ध्यानमें रखते हुए हम विख्यात मनीषी एपिक्टेटसके निम्नलिखित विचारको समझनेका प्रयत्न करें। वे कहते हैं—'जैसे छोटी-छोटी लकड़ीसे किये हुए प्रकाशपुञ्ज बंदरगाहपर रहकर समुद्रपर भटकती नौकाओंको सहायता पहुँचाते हैं, उसी तरह अशान्तिग्रस्त नगरोंमें अल्पसंतोषी मनुष्य अपने बान्धव नागरिकोंको अपने आशीर्वाद भेज सकता है। संतोषवाले मनुष्यका चारित्रिक गठन कितना प्रभावपूर्ण बन जाता है, यहाँ इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। नगरोंमें लोगोंकी एक शिकायत रहती है; वह यह कि हम संयोगोंके शिकार बने हुए हैं। हम संयोगोंमें कुछ परिवर्तन कर नहीं सकते।' ऐसे लोगोंकी समस्याका हल सूचित करते हुए अंग्रेज चिन्तक कार्लाइलने बड़ा बोधप्रद वचन कहा है—'मनुष्य संयोगोंका सर्जन है। वही यह संयोगोंका निर्माता भी है, ऐसा मानना चाहिये। संयोगोंमें वह अपना अस्तित्व चारित्रिक गठनद्वारा बना लेता है। इमारतका निर्माण करनेकी सामग्री एक ही होती है—चूना-ईंट आदि। किंतु एक उससे महालयका निर्माण करता है और दूसरा गंदी बस्तीका; एक उसमेंसे संग्रहालयका निर्माण करता है तो दूसरा सुन्दर निवास-स्थानका। जो कच्ची सामग्री होती है, वह तो जो होती है वही होती है, उसमेंसे क्या बनाना है, यह बात निर्मातापर निर्भर करती है।'

हम इन तथ्योंका रहस्य समझ लें और उनको जीवनमें स्थान देकर उनसे लाभान्वित होनेका सन्निष्ठ प्रयास करते रहें। तो बहुत लाभ होगा।

संतकी आदर्श क्षमाशीलता

एक संत कहीं जा रहे थे। एक दुष्ट व्यक्ति भी उन्हें गालियाँ देता हुआ उनके पीछे-पीछे चलता आ रहा था। संतने उससे कुछ भी न कहा। वे बहुत देरतक चुपचाप ही चलते रहे। पर्याप्त आगे बढ़नेपर कुछ घर दिखायी पड़ने लगे। अब वे खड़े हो गये और उन्होंने उस व्यक्तिसे कहा—'भाई! देखो! तुम्हें जो कुछ कहना है, यहीं कह लो। मैं खड़ा हूँ। आगे उन घरोंमें मुझसे सहानुभूति रखनेवाले लोग रहते हैं। वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें तंग कर सकते हैं।' इससे मुझे बड़ा क्लेश होगा।

इसपर वह दुष्ट व्यक्ति संतके इस भावनाके विपरीत व्यवहारको देखकर बड़ा लज्जित हुआ और पश्चात्तापपूर्वक क्षमा माँगने लगा।

सत्य ही चरित्र है

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

सत्याचरण और चरित्र दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो व्यक्ति सत्याचारी नहीं, उसे चरित्रहीन कहना असंगत नहीं है। पाणिनिके भ्वादिगणीय 'चर् गति-भक्षणयोः'के आगे 'इत्र' प्रत्ययके योगसे चरित्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्त्यर्थ होता है—आचरण, व्यवहार, व्यापार, चाल-चलन, शील, सदाचार, दुराचार, स्वभाव, कर्मफल, गमन, भक्षण, संदेश आदि। अपने वचन या प्रतिज्ञापालन न करनेवाले असत्यभाषी व्यक्तियोंको भी 'चरित्रहीन' शब्दसे विवेचित किया जाता है; यथा—'अमुक व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं, वह प्रायः असत्य बोलता रहता है, अपनी बातपर अटल नहीं रहता अतः वह चरित्रहीन है; वह व्यक्ति कथमपि विश्वसनीय नहीं हो सकता है।'

चरित्रके परिमार्जन या अर्थ-विश्लेषणमें पातञ्जल-योग एक मान्यतम शास्त्र है। पतञ्जलि मुनिने अपने अष्टाङ्गयोगशास्त्रमें 'यम'को सर्वप्रथम स्थान दिया है। 'यम'के पाँच उपाङ्ग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचोंमें सभी एक-दूसरेके पूरक हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल एक अहिंसामें सम्यक् रूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके लिये शेष चार—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मार्ग अनायास खुल जाता है। इसी प्रकार सत्यमें पूर्ण प्रतिष्ठित होनेपर अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी सुगम होने लगते हैं। तदुपरि अस्तेय (चोरी न करना) इस तृतीय उपाङ्ग-साधनमें प्रतिष्ठा पा लेनेपर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मार्ग सुगम हो जाता है। पुनः ब्रह्मचर्यकी रक्षामें पूर्ण सिद्ध हो जानेपर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-रूप साधन-चतुष्टय सुगम हो जाता है। इसी तरह अन्तिम अपरिग्रह अर्थात् यथाप्राप्त वस्तुसे संतुष्टि—भविष्यके लिये चिन्ता न करना-रूप योगमें पूर्ण सफल हो जानेपर शेष अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-पालनका पथ अत्यन्त सरल हो जाता है। अहिंसा आदि पाँचों उपाङ्गोंकी सिद्धि हो जानेपर अग्रिम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप पाँच नियम स्वयं सिद्ध होने लगते हैं। वस्तुतः यम और नियममें सिद्ध व्यक्ति ही चरित्रवान् है तथा इनमें असिद्ध व्यक्ति तो निश्चित ही चरित्रहीन है।

उपर्युक्त यम-नियम चरित्र-निर्माणके मुख्य सोपान हैं। इनमें सिद्धिप्राप्त व्यक्ति योगके अवशिष्ट अङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानमें प्रतिष्ठ होनेके पश्चात् ही समाधि अर्थात् सबीज और निर्बीज-रूप समाधि उपलब्ध कर सकता है।

उपर्युक्त यम और नियमोंमें वास्तविक रूपसे सत्याचरण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सत्याचरण भी केवल मुखसे उच्चारणमात्र ही आदर्श सत्य नहीं है। मुखसे उच्चारण करनेके अतिरिक्त मनमें सत्यका ही चिन्तन और तदनुसार ही आचरण करना यथार्थ सत्य है—चाहे उसके लिये समाजसे च्युत होना पड़े, या आजीवन जेलमें रहना पड़े। एतदर्थ इसके लिये समस्त यन्त्रणा सहनेके लिये तैयार रहना होगा। इतना होनेपर ही—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(पा० यो० २। ३६)

—क्रियाफलके आश्रयका भाव आ सकता है; अर्थात् जब व्यक्ति सत्यका पालन करनेमें पूर्णरूपसे दीक्षित हो जाता है, उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहती, तब उस व्यक्तिके उच्चरित अमोघ वचन सत्य ही जाते

है। वह सत्यको जलमें और जलको सत्यमें बदल सकता है। उसका कोई वचन निरर्थक न होगा। प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन भी चरित्रहीनता ही है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रको भी प्रतिज्ञाच्युत होनेपर वरुणदेवके शापसे जलोदर-जैसे असाध्य रोगसे पीड़ित होना पड़ा था। एक बार उन्हें स्वप्नमें प्रतिज्ञात राज्य विश्वामित्रको देनेमें विस्मृतिके कारण घोर कष्ट उठाना पड़ा था। दाशरथि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ थे—वे अपनी बात नहीं बदलते थे—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' (वा० रा० ?) सत्यवादित्व आदि रामके सिद्धान्त तथा व्यवहार भी थे।

सत्यमहिमाके सम्बन्धमें भारतीय संस्कृतिका प्रतिपादन है कि 'सहस्रों अश्वमेध यज्ञ तराजूके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरेपर केवल सत्यको, तो तौलनेपर सत्यका ही पलड़ा भारी उतरेगा।' इतनी बड़ी सत्यकी महिमा है। किंतु कैसा सत्य? इस समस्याके समाधानमें नीतिकारकी उक्ति ही आदर्श एवं खरा प्रतीत होती है; यथा—यथार्थ वचन मुँहसे उच्चारण करना और तदनुसार ही व्यावहारिक आचरण करना वास्तविक सत्य है। ऐसे कर्मण्य व्यक्तिको महात्मा कहा गया है और तद्विपरीत सत्यपालनकी उपेक्षा करनेवालोंको दुरात्मा या चरित्रहीन कहना असंगत नहीं है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥
(हितोप०)

सारांशतः आचरित सत्य तथा पालित प्रतिज्ञा चरित्र या सदाचार है और तद्विपरीत अनाचरित सत्य या उपेक्षित प्रतिज्ञा चरित्रहीनता अथवा दुराचार है। अतः चरित्रहीनतासे बचकर चरित्र-निर्माण करना चाहिये।

आन्तरिक शक्ति एवं चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीयोगेन्द्रनारायणजी मिश्र, एम्० ए० (अंग्रेजी तथा समाजशास्त्र), पी-एच० डी०)

विश्वके जितने भी महान् व्यक्ति हुए हैं, उनकी महत्ता किसी शक्ति-बलके कारण नहीं, बल्कि उनके चरित्र-बलके कारण थी। आज राष्ट्रिय चरित्रके ह्रासकी बात तो सभी करते हैं, परंतु उसमें समाहित अपने दायित्वसे प्रायः हम सभी मुकर जाते हैं। यदि आजकी युवा-पीढ़ी दिग्भ्रान्त है, उसमें राष्ट्रिय चरित्रकी कमी दिखलायी पड़ती है, तो उसके लिये वह कम तथा प्रबुद्ध एवं प्रौढ़वर्ग ही अधिक दोषी है। चारित्रिक कमजोरीके प्रमुख दो कारण हैं—प्रथम यह कि समाजका प्रबुद्ध एवं श्रेष्ठ वर्ग, जिसके हाथमें समाजका नेतृत्व है, वह अपना आदर्श चरित्र युवावर्गके समक्ष प्रस्तुत कर सकनेमें अक्षम और असफल रहा; दूसरे यह कि अधिकतर युवा-वर्ग अपनी क्षमताकी क्षमताको पहचानने तथा उसका समुचित उपयोग कर सकनेके योग्य नहीं बन पा रहा है। अतः उससे जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, उनका उसे भान तक नहीं है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने अन्दर सही नेतृत्व दे सकनेकी क्षमताका विकास करें तथा इस प्रकारके वातावरणके सृजनमें सहयोग करें जिसके अन्तर्गत युवावर्ग अपनी अन्तः-शक्तिको पहचान सके और उसका उपयोग कर अपना तथा राष्ट्रका विकास कर सके।

प्रारम्भसे ही हमारी शिक्षाके स्रोत अरण्य रहे हैं वे आज भी हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमें जंगलोंमें जानेकी आवश्यकता है। हम समाजमें रहकर भी पेड़-पौधोंसे शिक्षा तो ग्रहण कर ही सकते हैं। वृक्ष सूर्यकी किरणोंसे, वायुसे, जलसे अपनी खुराक लेता है, जड़ोंको मजबूत बनाता है; इस जड़से ही जो शक्ति पौधेको मिलती है, उसीसे वह अपना समुचित विकास करता है। वृक्षके रूपमें विकसित होकर अपना लाभ औरोंको देता है; यही स्थिति हमारी [illegible]

चाहिये। शरीरके अन्दर आत्मा है। आत्मा परमात्माका अंश होनेके कारण पूर्णतः अत्यन्त शक्तिशाली है। उसका सीधा सम्बन्ध परमात्मासे है। यदि लोग अपनी इस शक्तिको पहचान लें और परमात्माको स्मरण कर अपने कर्तव्योंका निष्पादन करें तो यहाँ भी शान्ति, धर्म, संस्कृति आदिकी विभिन्नताके कारण विलगाव या विघटनकारी तत्त्वोंका अभ्युदय न हो। हम अपनी आत्मशक्तिको न पहचाननेके तथा उस आदि स्रोतके प्रति निष्ठाके अभावके कारण भ्रान्त हो जाते हैं, भटकते रहते हैं। हमारा विकास उस सीमातक तथा उस दिशामें नहीं हो पाता, जिसके लिये हम पूर्णरूपसे क्षमता और योग्यता रखते हैं। लोगोंकी विशेषताएँ उनके अन्दर छिपी रहती हैं। वे न तो उसका लाभ स्वयं उठा पाते हैं और न समाजको ही दे पाते हैं। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक व्यक्तिके पास कुछ-न-कुछ अद्भुत क्षमता होती है। इस क्षमताकी जानकारी जिसको जितनी जल्दी हो पाती है, वह उतनी ही जल्दी संसारका, उस क्षेत्रका सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बन जाता है। किंतु अन्य जन ऐसे ही अपना पूर्ण जीवन व्यर्थमें व्यतीत कर देते हैं। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि लोगोंका ध्यान उनकी विशिष्टताओंकी ओर ले जाया जाय। इससे जहाँ उनकी छिपी शक्ति उभर कर ऊपर आयेगी तथा उससे समाज लाभान्वित होगा, वहीं उसकी अनुपस्थितिके कारण पनपनेवाली चारित्रिक कमजोरियाँ भी घटेंगी। उन्नतिशील शक्तिका विकास और अवनतिशील शक्तिका ह्रास चरित्रनिर्माणके लिये आवश्यक वातावरण है।

व्यक्तिसे व्यक्तित्वका विकास समाजमें होता है। विकासके लिये वातावरण प्रदान करना समाजकी जिम्मेदारी है तथा व्यक्तिको विकसित होकर अपने गुणोंका लाभ समाजको देना कर्तव्य है। उसका समाजसे अलग हटकर कोई महत्त्व नहीं होता। आज स्थिति विपरीत है। सामाजिक दायित्वोंसे हटकर व्यक्ति इतने ऊपर आ गया है। वह समाजसे हट गया है, इससे न तो उसका विकास ही हो पा रहा है और न उसकी क्षमताओंका लाभ ही समाजको मिल पा रहा है। यह स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। अतः हमें उन परिस्थितियोंका निर्माण करना होगा, जिनमें व्यक्तियोंका पूर्ण विकास हो। इससे समाजको उनका समुचित लाभ मिल सकेगा। यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी आन्तरिक शक्तिको पहचानें तथा उसके अनुसार अपने विकासका प्रयास करें। परिवार ही वह इकाई है जहाँसे इसका प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रत्येक परिवारका मुखिया तथा अन्य बड़े लोग अपने आचरणको अनुकरणीय बनायें। ऐसा करनेमें कुछ लोगोंको कुछ समयतक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ सकता है। परंतु आगे चलकर उसके सुपरिणाम अवश्य निकलेंगे तथा नयी पीढ़ी भी दिग्भ्रान्त होनेसे बच सकेगी।

चरित्र-निर्माणकी चुनौती हमारे समक्ष है। इसके अभावमें व्यक्ति और समाज दोनों ही कष्टमें हैं। इसका समाधान हम करना नहीं चाहते। यदि चाहें तो कार्य कठिन नहीं है। जीवनका महत्त्व त्यागमें है। त्यागमय जीवनसे थोड़े समयके लिये कठिनाई अवश्य हो सकती है, परंतु आगे उससे लाभ ही मिलना है। इसके लिये हमें अपनी ही शक्तिको पहचानना है तथा उसीका अपने तथा समाजके विकासके लिये नियोजन करना है। अपनी आन्तरिक शक्तिको पहचान लेनेपर हमें किसी बाह्य शक्तिके सहारेकी आवश्यकता नहीं होगी। यह आत्मशक्ति ही सुदृढ़ चरित्र प्रदान करेगी जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्रको आगे बढ़ानेमें सहायक होगी। अतः आत्मशक्तिको पहचानो; उठो, जागो, श्रेष्ठोंके पास जाकर समझो-बूझो—'उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।'

चरित्र-निर्माता आचार्यका दायित्व

(लेखक—श्रीनृसिंहजी तिवारी, एम्० ए० (अंग्रेजी, समाजशास्त्र), बी० एड्०)

वर्तमान समयमें चारित्रिक उन्नयनकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसका शाश्वत कारण यह है कि चरित्र ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-प्राप्तिकी आधारशिला है। तात्कालिक आवश्यकता है कि राष्ट्रमें व्यवस्था बनी रहे। आज जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें विकासकी गति निःसंदेह पूर्वापेक्षा तीव्रतर है; किंतु चारित्रिक दृष्टिसे हमारा समाज क्रमशः निर्बलतर होता जा रहा है। यह चिन्ताकी बात है। यही कारण है कि न केवल शिक्षा-शास्त्रियोंने चरित्र-निर्माणपर बल दिया है, वरन् युगपुरुष गाँधी एवं विनोबाने भी चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताका अनुभव किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि बालकके चरित्र-निर्माणका दायित्व समाजके किस वर्गपर अधिक है ? यह निर्विवाद सत्य है कि समाज देशकी भावी पीढ़ीको शिक्षकके हाथोंमें इस विश्वासके साथ सौंपता है कि वह उसके सर्वांगीण विकासकी योजना बनाये और उसे क्रियान्वित करे। अतः इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अध्यापक, शिक्षक या आचार्यवर्गपर हो जाता है। शिक्षासे यदि चरित्र न बना तो शिक्षाकी अनन्य साधारण उपयोगिता ही क्या रही ? वास्तवमें शिक्षाका उद्देश्य भी पहले चरित्र-निर्माण ही रहा है। प्लेटो, अरस्तू तथा रूसो आदिने शिक्षाका मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण ही बताया है। आज शिक्षाका उद्देश्य जीविकोपार्जन हो गया है। हम चरित्र-निर्माणके पावन उद्देश्यसे अपनेको विरत नहीं कर सकते। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंमें आचार्य नरेन्द्रदेव एवं डा० राधाकृष्णन्‌ने भी शिक्षाके पाठ्यक्रममें चरित्र-निर्माणसम्बन्धी नैतिक मूल्योंके समावेशपर पूर्ण बल दिया था। इसीका यह शुभपरिणाम है कि स्वतन्त्रताके ३५ वर्षोंके लम्बे अन्तरालके बाद ही सही, पर हमारी सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाका समावेश किया है। पर हमें पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाके समावेशमात्रसे ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। चरित्र-निर्माणका सम्बन्ध उपदेशकी अपेक्षा आचरणसे अधिक है। उपदेश देना तो सरल है, किंतु उस उपदेशको व्यक्तिगत जीवनमें उतारना कठिन है। अतः जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें आचरणकर शिक्षा देते थे, वे ही आचार्य कहलाते थे। उनका मान-सम्मान भी समाजमें अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिका था।

शिक्षा हमें अंधकारसे प्रकाशकी ओर लाती है, अतः चरित्र-निर्माणमें आचार्य अथवा अध्यापक या शिक्षककी भूमिका निर्विवाद महत्त्वपूर्ण है। आचार्य अपने इस दायित्वसे उदासीन नहीं रह सकता। आचार्यका शाब्दिक अर्थ-स्वारस्य है कि जो स्वयं आचरण करता हुआ शिष्योंको सदाचरणकी शिक्षा दे, वह आचार्य है। बालक अपने शैशवकालसे ही आचार्यका सांनिध्य प्राप्त कर लेता है। प्राचीनकालमें शिक्षा देनेका कार्य आचार्य अपने आश्रमोंमें करते थे। आज वह व्यवस्था लुप्त हो चुकी है। आचार्य अपने आचरणसे बालकपर ऐसा प्रभाव डालते थे कि बालक उसी रंगमें रँग जाता था। उसमें धैर्य, क्षमा एवं अस्तेय आदि गुणोंका स्वतः समावेश होकर विकास हो जाता था।

आज परिवर्तित सामाजिक परिवेशमें भी युगपुरुष गाँधी एवं सन्त विनोबाने उपदेशपर कम, किंतु आचरणकी सम्यतापर विशेष बल दिया है। यदि हम ऋषि-महर्षियों-की वाणी नहीं समझ सकते अथवा समझकर भी नहीं मानते तो भी युग-पुरुषकी बात तो माननी ही चाहिये। गाँधीजीने तो राजनीतिके क्षेत्रमें भी नैतिकतापर ध्यान नहीं दिया। उनकी नैतिकतामें सबसे अधिक... [illegible]

आज समाज संक्रमणकी स्थितिसे गुजर रहा है। ऐसी दशामें आचार्यको स्वतः आगे आना होगा। उसे चरित्र-निर्माणके अपने गुरुतर दायित्वको स्वयं वहन करना होगा। बालकको अपने आचार्यका सांनिध्य प्राप्त है। उनसे गुण लेना चाहिये। आचार्यको चाहिये कि वह अपने छात्रोंमें ऐसे सद्गुणोंका समावेश करे, जिसकी संजीवनी शक्ति लेकर बालक समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रवेश कर राष्ट्रका गौरववर्धन कर सके। चरित्रबल सबसे बड़ा बल होता है। जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्रमें चरित्र-बल नहीं होता वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। आज चारित्रिक गिरावट हमारे लिये सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौतीका समर्थ रचनात्मक समाधान वास्तवमें शिक्षकके ही पास है। अतः आजके समाजको शिक्षकसे यह अपेक्षा है कि वह इस चुनौतीको स्वीकार कर अपने छात्रोंके चरित्र-निर्माणके कठिन कार्यमें अपनेको मनसा, वाचा एवं कर्मणा समर्पित कर दे। वह उनमें त्याग, दया, शील, सहानुभूति, स्वावलम्बन, सत्य, शौर्य एवं विश्वबन्धुत्वके पावन एवं शाश्वत गुणोंका समावेश करे। इससे बालक चरित्रवान् नागरिक होकर समाजके विभिन्न दायित्वोंका सफलतापूर्वक वहन कर सकेगा। आज राष्ट्रको आणविक शक्तिसे अधिक चारित्रिक शक्तिकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताको समाजके सच्चे एवं वास्तविक द्रष्टा आचार्य ही पूर्ण कर सकते हैं। भारतका भविष्य आज शिक्षकोंके हाथोंमें सुरक्षित है। शिक्षकोंसे भी यही अपेक्षा है कि वे अपने छात्रोंमें रामका शौर्य, भरतका त्याग एवं लक्ष्मणका सेवाभाव भरें। भारतके ये भावी नागरिक तब भविष्यकी हर चुनौतीका सामना करनेमें समर्थ हो सकेंगे। इसमें रंचमात्र संदेह नहीं कि आजकी विषम एवं विपरीत परिस्थितियोंमें भी यदि आचार्य दृढ संकल्पके साथ तैयार हो जायँ तो वे देशकी भावी पीढ़ीको चरित्रवान् नागरिक बनाकर उसे अधःपतनके गर्तमें जानेसे बचा सकते हैं। महात्मा कबीरने ठीक कहा है—गुरु अथवा शिक्षक गोविन्दका ज्ञान करानेमें सक्षम है। वह अपने राष्ट्रको चरित्रबलसे ही सुदृढ बना सकता है। आवश्यकता है कि आचार्य, प्राध्यापक, अध्यापक या शिक्षकके गौरवमण्डित पदपर प्रतिष्ठित व्यक्ति इस ओर अग्रसर हों। वे आत्म-कर्तव्य मानकर दायित्वपूर्ण कार्यक्रमोंसे इस अपेक्षाकी पूर्ति करें। यदि यह वर्ग ऐसा कर सका—जो आज भी इस स्थितिमें भी समर्थ है तो भारत पुनः विश्वका जगद्गुरुत्व या आचार्यत्व कर सकेगा।

छात्रोंमें चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता

(लेखक—आचार्य श्रीदेवानन्दजी गौड़)

शिक्षा-जगत्का अधिष्ठाता आचार्य या गुरु है। एक समय था, जब गुरु गौरवशाली, ब्रह्मज्ञानी, त्यागी, तपस्वी और समाज-संचालक थे। उस समय वे सर्वाधिकारी होकर दिव्य गुणोंके आधारपर स्वतन्त्र विचरण करते थे। भारतीय संस्कृतिके पोषक गुरु अपने जीवनमें शिष्यसे—पुत्रसे पराजय चाहते हैं—'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'। इसी गरिमाके कारण वे धन्वन्तरि, ब्रह्मर्षि और गौतमसे भी सम्पन्न थे। उन्हें—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' पदपर सम्मानित किया जाता था। पर आज वसिष्ठ, समर्थ गुरु रामदास, मुनि सांदीपनि, गर्गाचार्य आदिकी कल्पनामात्र शेष है। शिक्षाजगत्के प्रहरी मानो सुप्त हैं।

शिक्षाजगत्की आधारशिला है—विद्यार्थी। उसका मन, उसकी बुद्धि बड़ी कोमल और स्वच्छ होती है। माता-पिता पहले उनके चरित्र-निर्माणके लिये ही आचार्यके पास भेजते थे। वहीं उनके हृदयमें धार्मिक रश्मियाँ प्रस्फुटित होती थीं। वह 'आचार्यदेवो भव' का पालन कर मंगल-

'आचार्यदेवो भव'के आदर्श

श्रीकृष्ण-सुदामा

एकलव्य

आरुणि

उपमन्यु

क्षमा, संतोष, स्वाध्यायको परमनिधि समझता था। वृद्धोंकी सेवा और गुरुजनोंकी प्रणतिसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धिसे 'सादा जीवन उच्च विचार' उसके व्यक्तित्वमें साकार हो उठता था। उपनिषदें प्रमाण हैं—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' उसे यहाँ आत्मदर्शन भी होता था—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

गुरुके आश्रम अरण्यमें थे। राजा लोग तन-मन-धन-जनसे उनकी सेवा करते थे। विद्यार्थी समाजके अन्नसे पलता और राष्ट्रसे संरक्षण पाता था। वह समाज और राष्ट्रका ऋणी था। आजीवन समाज-सेवा, राष्ट्र-संरक्षण ही उसका चिन्तन था। वह अपने लिये नहीं, परार्थके लिये जीवित था। विद्यार्थीका एक सार्थक नाम छात्र है। छात्र शब्द छत्रसे बना है। छत्र (छाता) वर्षा-आतपसे रक्षा करता है। विद्यार्थी भी गुरुके दोषोंको आच्छादित कर समाज और राष्ट्रकी छत्रवत् सेवा करता था। वह स्वयं आपत्तियोंको झेलता, जलता और मरता, पर दूसरोंकी अहर्निश सेवा करता था। वह—'वयमपाम वयं राष्ट्रे पुरोहिताः' का प्रतीक था। अतः उपमन्यु, एकलव्य, उपमन्यु, कौत्स, गाँधी-जैसे उच्चादर्श छात्र इतिहासके रत्न बन गये। पर आज शिक्षाका आधार पूर्णतः खोखला है। विद्या विवेककी जननी है। मनुष्यका सर्वोत्तम आभूषण विद्याका सौरभ है—विनय। जिसकी परिणति है—पात्रता, योग्यता। उससे धन, धनसे धर्म और धर्मसे प्राप्त होता है—आन्तरिक सुख। विद्याके बिना मनुष्य पशु है। वह आत्मस्वरूपसे विमुख रहता है। मानव-जीवनमें विद्या सर्वोपरि है। ऋषियोंने पद-पदपर कहा है—'सा विद्या या विमुक्तये, विद्ययामृतमश्नुते।' विद्याका लौकिक क्रमिक फल था धर्म एवं सुख—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥
(हितोपदेश, पद्मपुराण)

विद्याका लक्ष्य केवल अर्थोपार्जन, उदरपूर्ति नहीं था। शिक्षा काञ्चन-कामिनी-कामनासे दूर—धर्म, मोक्ष-प्राप्तिका सोपान थी। वह अध्यात्म-विचारोंकी अधिष्ठात्री, मानवीय गुणोंकी उपदेशिका और अध्यात्मचरित्रकी उन्नायिका थी।

आज स्थिति भयावह है। इस जगत्के शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा ये तीनों अङ्ग आत्मस्वरूपसे विमुख हैं। इसका प्रमुख कारण है—धर्म-निरपेक्ष प्रशासनका अनर्थीकरण, धर्मनिरपेक्षताका वास्तविक अर्थ न जानकर धर्म, नीति, संस्कृतिपर कुठाराघात। लार्ड मेकालेकी दुरभिसंधि सफल हुई; जो शिक्षा अमृतकल्प थी, वह विषवल्लरी बन गयी। उसका विष राष्ट्रके हर क्षेत्रमें फैलता जा रहा है। इसका सबसे अधिक कुप्रभाव विद्यार्थि-वर्गपर पड़ा। इससे वह वेशभूषा, आचार-विचारसे कलङ्का नास्तिक डॉक्टर, इंजीनियर और अध्यापक बनकर अपने वातावरणको दूषित करता रहेगा।

धर्मविहीन आधुनिक शिक्षाने पुजारीओंको एवरेस्टकी चोटीसे उठाकर एक ऐसी अँधेरी तलहटीमें औंधे मुँह पटक दिया है, जहाँ उसकी चेतना, मानवीय भावना, सामाजिक, राष्ट्रिय और धार्मिक साधना लुप्त हो गयी है। सद्भाव, सत्साहित्य और सत्सङ्गसे विमुख होकर हड़ताल, तोड़-फोड़, लूट-खसोट करनेमें गुरुजनोंकी अवहेलना, किशोरावस्थामें अनायास सुलभ दुर्व्यसनोंमें फँसना, अनुशासनहीनता, नेतागिरी, निन्दनीय कार्योंमें नेतृत्व करना उसकी शान है। वह ढोल बजाकर अपने साथियोंको बरगलाता हुआ कहता है—'गुरुमें श्रद्धा रखना दकियानूसी, सेवा करना चाटुकारी, आज्ञा मानना भोंदूपन और अनुशासनमें रहना कायरता है। अध्ययन करता है तो क्या एहसान करता है? यह भी केवल नाम है!'

धर्मनिरपेक्षताको भारतके केन्द्र शिक्षा-[illegible] विद्यार्थियोंके लिये धर्म-निरपेक्ष शिक्षा

धर्मनिरपेक्षताकी आड़में शिक्षा धर्मविमुख, चरित्रहीन होती जा रही है। आज देशमें प्रत्येक स्तरपर हर दिशामें जन-जनके मानसमें त्रास, पतन, उथल-पुथल मच रही है; राजनीतिमें अनाचार, भ्रष्टाचार, समाजमें बलात्कार, चोरी, डकैती, अपहरण, हत्या बढ़ रही है। व्यक्तिमें सजावट, दिखावट, बनावट पनप रही है। भारतीयता दूर हटती जा रही है। हिन्दुत्व मिटाया जा रहा है। संस्कृति-पर नया रंग पोता जा रहा है। शिक्षाके प्राण चरित्रका हनन हो रहा है। अत्यन्त विषम परिस्थिति तो यह है कि विद्यार्थीका जीवन जर्जर है। उसके कर्तव्य, आदर्श और धर्म खोखले-से हैं। फलतः उसमें विनयके स्थानपर उद्दण्डता, स्वतन्त्रताके नामपर स्वच्छन्दता और अनुशासनमें बन्धनकी गन्ध आने लगी है। फलतः ऋषिभूमि और ज्ञानभूमिका विद्यार्थी पिछड़ और ऊसर भूमि बनकर रह गया। एक समय था, जब आचार्य द्रोणके संकेतपर एकलव्यने अँगूठा काटकर उन्हें गुरु-दक्षिणा दी थी। पर आजका विद्यार्थी गुरुदक्षिणामें गुरुको अँगूठा दिखा देता है। माँ सरस्वतीके पावन मन्दिरका पुजारी जुआरी, विद्यालय अब राजनीतिके अखाड़े और छात्रावास असामाजिक तत्त्वोंके अड्डे बने हैं। वस्तुतः उसमें न संयत आचरण है और न विद्याकी कोई चाह ही।

ऐसी विषम परिस्थितिमें समाज और प्रशासनका चिन्तित होना स्वाभाविक है। उसके आदर्शों और चरित्रकी रक्षाके लिये अनेक समितियाँ बनीं, आयोग गठित हुए। राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्रीतकने शिक्षामें आमूलचूल परिवर्तनकी बात कही। सबोंने एकमतसे शिक्षामें धर्म-शिक्षा-नैतिकताके समावेशकी महत्ता स्वीकार की। पर विचार-विमर्श ही रह गये। ज्ञान है, पर महत्ता नहीं। इन्सान है, इन्सानियत नहीं। शिक्षा है, पर सदाचार नहीं। संख्यात्मक दृष्टिसे विद्या, विद्यालय, विद्यार्थी, शिक्षकोंकी भरमार है। पर गुणात्मक दृष्टिसे कुछ नहीं।

विद्यार्थी सृष्टिका शृंगार है। उसमें चरित्रनिर्माण हो, ऐसी नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। धर्म नैतिकताका जनक है, अतः धर्मसमन्वित शिक्षा ही नैतिक शिक्षा है। सत्-असत्‌मूलक शिक्षा विद्यार्थी-जीवनमें रक्षाकवच है। धार्मिक शिक्षा समाजको स्वस्थ, संतुलित एवं धर्म-अर्थके लिये प्रेरित करती है तथा वैयक्तिक-सामाजिक विकास, देश, राष्ट्र, धर्मकी सुप्त चेतनाको जन्म देती है। यह केवल धर्मतक ही सीमित नहीं, अपितु जीवनको सदैव संस्कार-सम्पन्न करती है। 'सत्-शिक्षा यह दिव्यौषधि है जिसके सेवनसे विद्यार्थिवर्ग सन्मार्गपर चलेगा। धार्मिक शिक्षा ही विद्यार्थीको प्रगतिशील और उदीयमान भास्करकी भाँति चमकायेगा।

विद्यार्थी समाजका श्रेष्ठ अङ्ग है। उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पण है। उसपर समाजके दुश्चरित्रोंका, चलचित्र-सभा-गोष्ठियोंका, अभद्र क्रियाकलापोंका, अश्लील पत्रिकाओंका, चमकीली चुस्त वेशभूषाका, 'सेक्स' पुस्तकोंका और छायाचित्रोंका तुरन्त व्यापक प्रभाव स्वतः हो जाता है। निन्दनीय नेता, व्यसनी आचार्य, अन्धा, गूंगा, बहरा प्रशासन भी उसके अधःपतनके कारण हैं। अतः विद्यार्थियोंके चरित्रनिर्माणके लिये इन बाधक तत्त्वोंको मिटाना आवश्यक है, अन्यथा इस अवस्थाकी भूल भी जीवनभरके लिये अभिशाप बन सकती है। उसके सुधारके लिये माता-पिता, गुरु, परिवार, मित्र-समाज और प्रशासनतंत्रकी सजगता अत्यावश्यक है। एक विद्यार्थीका सुधार केवल एक इकाईका सुधार नहीं, वह अनेक व्यक्तियोंका सुधार है।

विद्यार्थीके चरित्र-निर्माणके लिये ये दस बातें नितान्त अपेक्षित हैं—१–सुसंस्कृत बालक ही जीवनमें प्रकाश और शक्ति दोनों प्राप्त करते हैं, २–उनकी प्रारम्भिक शिक्षा योग्य सदाचारी अध्यापकद्वारा सम्पन्न हो, ३–विद्यार्थियोंमें दार्शनिक महात्माओंके आदर्शोंपर चलनेकी भावनाकी व्यवस्था हो, ४–अतीत साहित्य, धार्मिक, रोमांचक, महापुरुषोंकी

पुस्तकोंपर प्रतिबन्ध लगे, ५—पूर्ण मनोयोगके साथ अध्ययन, ६—गुरुजनोंका अभिवादन, ७—नित्यका काम नियमित करना, ८—सादा जीवन, ९—ब्रह्मचर्यव्रत-पालन तथा १०—मादक पदार्थोंका त्याग भी आवश्यक है।

आज विद्यार्थियोंके चरित्र-निर्माणकी व्यापक आवश्यकता है। इस विषम परिस्थितिमें इन सिद्धान्तोंको नकारा नहीं जा सकता। अतः समाज और प्रशासनका सब ओरसे ध्यान केन्द्रित कर एक इसका सुधार अवश्य करना चाहिये।

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण—आजका जाग्रत् प्रश्न

(लेखक—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय' एम० ए०)

भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृतिके उषःकालसे ही लोकोत्तर चारित्र्य-सम्पदासे समन्वित एक दिव्य देश रहा है। यहाँ माताकी गोदसे ही चरित्र-निर्माणकी शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। यही परिणतवयमें दिगन्त-व्यापक, अनुकरणीय विभूति बनकर समग्र राष्ट्र किंवा विश्व-ब्रह्माण्डको विद्योतित करती थी। ऋग्वेद ५। ५१। १५ की मन्त्रशृङ्खलामें अनुप्राणित है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

'हम कल्याणमार्गके उपदेष्टा—जाग्रत् प्रहरी सूर्य और चन्द्रका अनुसरण करते हुए अपना चरित्र-निर्माण करें'—यह इस राष्ट्रकी सामान्य जनभावना थी। इसने इसको 'विश्वगुरु'की महनीय पदवीमें प्रतिष्ठित कर दिया था। इसीलिये भारत 'भा-रत' (सारस्वत-सेमुषी-संलग्न) था; क्योंकि यह मूलतः आर्योंकी मातृभूमि, तात्स्वरूपी 'आर्यावर्त' था। आर्यशीलता यहाँ नागरिकताकी अनिवार्य शर्त रही।

'आर्य' किसी ऐतिहासिक जातिका अभिधान नहीं है, प्रत्युत प्रधानतः जीवनकी प्राञ्जल अर्थवत्ताका बोधक चारित्र्य-संकेत है। आर्य वह है, जो कर्तव्यका आचरण और अकर्तव्यका परित्याग करे। प्रकृतिके नियमोंका अतिवर्तन न करते हुए जो देश-काल, परिस्थितिके अनुसार अपने शास्त्रोचित समुदाचारका पालन करे*।' 'अपने सुखमें जो अधिक हर्षित नहीं और दूसरेको कष्टमें देखकर प्रसन्न नहीं होता। जो विहित दान आदि धर्माचरणोंमें धनका व्यय करके फिर लोभवश पश्चात्ताप नहीं करता†।' प्राचीन भारतमें आर्यशील सत्पुरुषका यह वृत्तविशेष ही समष्टिका चारित्रिक-मानदण्ड माना जाता था। यहाँका प्रत्येक व्यक्ति इसी आदर्शके अनुसार अपनेको ढालनेकी चेष्टा करता था। दूसरे शब्दोंमें आर्यशीलताकी यह साधना ही चरित्र-निर्माणकी पद्धति थी। इसके द्वारा व्यक्ति, परिवार, जाति और समाजके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र उपकृत होता था।

इस देशके मन्त्रद्रष्टा मनीषियोंने मानव-मनोविज्ञानका निःशेषतया अध्ययन किया था। उन्होंने यह जान लिया था कि उन्मुक्त स्वेच्छाचार उसके हितमें नहीं है। मनुष्यके लिये देवत्व और अमृतत्वकी ओर पदन्यास करनेमें निर्गल-आचरण सर्वदा बाधक रहा है। मानव-व्यक्तित्वका संघटन उसके आचार-व्यवहारसे ही निर्मित होता है। श्रुतिका निर्णय है—

---

*—कर्तव्यमाचरन् कामम् अकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्राकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथोचितं यथास्थिति। व्यवहारमुपास्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥
(सोमनाथिन्द्र ६। २। १३६। ५४-५५)

†—न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः। दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं न कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
(महाभारत, विदुरप्रजागर)

स यथाकारी यथाचारी तथा भवति।
(बृह० उप० ४ । ४ । ५)

'जो जैसा कर्म तथा आचरण करता है, वह क्रमशः वैसा ही होता जाता है।' साधु कर्मोंका अनुष्ठाता सच्चरित्र तथा दुष्कर्मोंका आचरण करनेवाला दुश्चरित्र हुए बिना नहीं रह सकता। 'यथाकारी'—'यथाचारी'का तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार है—

'करणं नाम नियता क्रिया, विधिप्रतिषेधादिगम्या। चरणं नामानियतमिति विशेषः।' (उक्त बृहद० ४ । ४ । ५ पर शाङ्करभाष्य)

'यथाकारी'में करणका तात्पर्य 'यह करो—यह मत करो'—इस प्रकारकी विधि-निषेध-प्रणालीसे उपलक्षित शास्त्रीय धर्माचरणसे है। 'यथाचारी'में 'चरण' पद विधि-निषेध-निर्मुक्त अनियत स्वैराचारका बोधक है। नियम यह है कि जिन कार्योंका विवेकपूर्वक सावधानतासे अनवरत अनुष्ठान किया जाता है, वे ही आगे अत्यन्त सहज बनकर चरित्र, आचार, वृत्त और शीलकी संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं—'चरणं चरित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्' (न्यायसू० ३ । १ । ९ पर वा० भा०)।

सद्गुणोंकी बीज वंशपरम्परामें दायके रूपमें प्राप्त हो सकते हैं। पर उन्हें अङ्कुरित करके सार्वभौम चारित्र्यका रूप देनेके लिये व्यक्तिको स्वयं प्रखर साधना और अध्यवसाय करनेकी आवश्यकता है। [illegible] सद्गुणसे हीन कोई व्यक्ति केवल अपने [illegible] कुलके [illegible] आधारपर ही [illegible] नहीं प्राप्त कर सकता था—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
(महा० उद्योगपर्व ३४ । ४०)

[illegible] (इसका प्रमाण है) चरित्र- [illegible] होते हैं (आनुवंशिक [illegible] परम्परा, पर्यावरण और परिस्थिति केवल उसको प्रेरणा ही दे सकते हैं, उसका स्थान नहीं ले सकते। निष्कर्ष यह कि चारित्र्य अर्जित किया जाता है, उत्तराधिकारसे प्राप्त नहीं हो जाता।

यह अर्जित सुचारित्र्य भी सर्वथा निश्चिन्त नहीं। न जाने कौन-सी ऐसी परिस्थिति आ जाय, जिससे प्रभावित होकर हम अपने आदर्शभूत चारित्र्यका परित्याग कर बैठें। इस बातको लक्षित करके ही भारतीय महापुरुषोंने इसे कुल, धन, किंबहुना जीवनसे भी अधिक महत्त्वशाली चित्रित किया है*। यों तो सद्वृत्तका विघात करनेमें अनेक स्थितियाँ कारण हो सकती हैं, किंतु कामोपभोगपरायण, अधिक धनसंग्रह करनेकी मनःस्थिति अर्थात् लोभकी वृत्ति इसमें प्रमुखरूपसे कार्य करती है। कहा जाता है—'लोभः पापस्य कारणम्।'

जब व्यक्ति समाज या राष्ट्रमें 'धर्मार्थकाममोक्ष' के पुरुषार्थचतुष्टयमें केवल 'काम' और उसके प्रमुख साधन 'अर्थ' को ही अपना या अपने युगका परम पुरुषार्थ मानने लगता है, तब सारे उदात्त आदर्शोंकी आन्तर-भित्ति शनैः-शनैः धराशायी होने लग जाती है। फलतः व्यष्टि या समष्टिका चरित्र-निर्माण संकटमें पड़ जाता है। पाश्चात्त्य प्रभावसे आज हमारे भारतवर्षकी भी चिन्त्य दुःस्थिति हो रही है। पाश्चात्त्य भौतिकवादी विचारधाराने क्रमशः कुछ ही शताब्दियोंमें सहस्राब्दियोंसे चली आ रही सांस्कृतिक-नैतिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन-धाराको अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न कर दिया है। विचारकी अंधाधुन्ध प्रगतिकी दौड़में अब किसीको कुछ भान रहा, न सोचने-विचारनेका भी अवसर रह गया है। आजका सम्पूर्ण प्राधान्य 'अर्थ' का है, जिसके लिये सर्वोपरि अर्थोपार्जन ही अनिवार्य आवश्यकता

* [illegible] कुले [illegible] न कुलेन न [illegible] ॥
(महा० [illegible] । १०)

बन गया है। विज्ञानके अत्यधिक यान्त्रिक विनियोगसे उत्पन्न बदलावने भारतकी आर्यचरित्र-मर्यादाको भी अक्षुण्ण नहीं रखा; परिणामतः सर्वत्र अशान्ति और उच्छृङ्खलताके बादल मँडराते दीखते हैं।

हमारी प्राचीन राष्ट्रिय-मान्यता सर्वथा निवृत्तिपरक ही हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्तिका अर्जन, संरक्षण और उपभोग—तीनों विहित आवश्यक कार्य माने जाते थे; किंतु तब इन सबके मूलमें शुद्ध-सात्त्विकताकी प्रेरणा अनिवार्य वस्तु थी। वैदिक ऋषि व्यक्ति और राष्ट्रकी सुख-समृद्धिके लिये शुद्ध उपार्जनका ही व्रत लेते थे। पुण्य-शालिनी लक्ष्मी ही उनकी उपास्या थी। पतनकारिणी पापमयी वैभव-विभूति उन्हें आकाङ्क्षित न थी। अथर्ववेद (७। ११५। ४) के मन्त्र-द्रष्टा ऋषिका कथन है—पुण्यसे अर्जित की गयी सम्पत्ति ही मुझे प्राप्त हो, पापसे धन कमानेकी वृत्तिको मैंने नष्ट कर डाला है'—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

पर आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। पाप-पुण्यका विचार अन्धविश्वास बन गया है। शास्त्रों और स्मृतियोंमें प्रतिपादित अनुशासनों और चारित्र्य-विधायक सूक्तियोंका मात्र साहित्यिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे उपयोग किया जा रहा है अथवा अपनी दैनिकचर्यामें इन आदर्शोंका उसी सीमातक पालन किया जा रहा है, जहाँतक वे प्रभूत द्रव्यसंग्रहमें बाधा न डालते हों। उदारता भी प्रचारकताकी साधिका हो रही है। फलतः व्यक्तिके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र आज अर्थको उद्देश्य बनाकर चल रहा है। परिसर्जना या राजनीति, समाज-सेवा हो या साहित्यिक गतिविधि अथवा समाजके उत्थानकी कोई योजना हो, सर्वत्र सबके मूलमें सभी अर्थनीति ही अनुस्यूत दीखती है। इसके लिये हमें अपने सुन्दर सांस्कृतिक चरित्रकी भी बलि देनेको विवश नहीं तो साहसिक होना पड़ता है। हमारे राष्ट्रिय ग्रन्थ महाभारतमें अनेक 'वित्त-संरक्षण'-की अपेक्षा वृत्त-संरक्षण अर्थात् चरित्र-रक्षाका ही माहात्म्य अधिक वर्णित है। वित्त अर्थात् धन-सम्पत्ति तो आने-जानेवाली है, अतएव उसके लिये अपने व्यक्तित्वके स्थैर्य-भूत चारित्र्यकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है। धन-सम्पत्ति वस्तुतः व्यक्तित्वका अङ्ग नहीं है, अतएव उसके क्षीण हो जानेपर भी व्यक्तित्वकी कोई क्षति नहीं होती; किंतु चरित्र तो व्यक्तित्वका साधारण अङ्ग ही नहीं, अपितु उसका प्राण है; अतः उसके नष्ट हो जानेपर तो व्यक्तिका सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महाभारत ५। ३५)

स्मृतिकार महाराज मनु भी अर्थोपार्जनकी शुद्धिको ही मनुष्यकी सच्ची शुद्धि (और अलंकृति) मानते हैं। इसके बिना मिट्टी (साबुन) और जल आदिसे केवल शरीर तथा वस्त्रोंकी शुद्धि कर लेना वास्तविक शुद्धि नहीं है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
(मनुस्मृति ५। १०६)

अर्थकी शुचिताका यह शास्त्रीय सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक भूमिपर स्थित है। अन्याय और असदाचारसे उपार्जित धन प्रारम्भसे ही दुर्भावना-दूषित होता है, फिर इसके उपभोगसे और भी अधिक दुर्भावनाएँ जागती हैं; परिणामतः अनय और दुराचारका यह चक्र एक व्यापक वृत्त-सा बनकर सार्वजनीन 'चरित्र' का हनन करने लग जाता है। आज यह व्यापक—बल्कि विराट् रूप धारण कर चुका है। यद्यपि मानवके चरित्रनिर्माणमें अर्थशुचिताके अतिरिक्त और भी अनेक

का प्रश्न है। विज्ञानके अमर्यादित यान्त्रिक विनियोगसे उपज अज्ञानने भारतकी आर्यचरित्र-मर्यादाको भी अक्षुण्ण नहीं रखा; परिणामतः सर्वत्र अशान्ति और अव्यवस्थाके बादल मँडराते दीखते हैं।

हमारी प्राचीन राष्ट्रिय मान्यता सर्वथा निवृत्तिपरक ही हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्तिका अर्जन, संरक्षण और उपभोग—तीनों विहित आवश्यक कार्य माने जाते थे; किंतु तब इन सबके मूलमें शुद्ध-सात्त्विकताकी प्रेरणा अनिवार्य वस्तु थी। वैदिक ऋषि व्यक्ति और राष्ट्रकी सुख-समृद्धिके लिये शुद्ध उपार्जनका ही आश्रय लेते थे। पुण्य-शालिनी लक्ष्मी ही उनकी उपास्या थी। पतनकारिणी पापमयी वैभव-विभूति उन्हें आकृष्ट न करती। अथर्ववेद-(७।११५।४) के मन्त्र-द्रष्टा ऋषिका कथन है—पुण्यसे अर्जित की गयी सम्पत्ति ही मुझे प्राप्त हो, पापसे धन कमानेकी वृत्तिको मैं नष्ट कर डालता हूँ—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

पर आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। पाप-पुण्यका विचार अन्धविश्वास बन गया है! शास्त्रों और स्मृतियोंमें प्रतिपादित अनुशासनों और चारित्र्य-विधायक सूक्तियोंका मात्र साहित्यिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे उपयोग किया जा रहा है अथवा अपनी दैनिकचर्यामें इन आदर्शोंका उसी सीमातक पालन किया जा रहा है, जहाँतक वे प्रभूत द्रव्यसंग्रहमें बाधा न डालते हों। इसमें ही प्रचारकता की सार्थकता हो रही है! फलतः व्यक्तिके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र आज अर्थको उद्देश्य बनाकर चल रहा है। परिसर्जना या राजनीति, समाजीय-सेवा हो या साहित्यिक गतिविधि अथवा समाजके उत्थानकी कोई योजना हो, सर्वत्र सबके मूलमें आज अर्थनीति ही अनुस्यूत दीखती है। इसके लिये हमें अपने सुन्दर सांस्कृतिक चरित्रकी ही बलि देनेको विवश नहीं तो साहसिक होना पड़ता है। हमारे राष्ट्रिय ग्रन्थ महाभारतमें अनेक 'वित्त-संरक्षण'-की अपेक्षा वृत्त-संरक्षण अर्थात् चरित्र-रक्षाका ही माहात्म्य अधिक वर्णित है। वित्त अर्थात् धन-सम्पत्ति तो आने-जानेवाली है, अतएव उसके लिये अपने व्यक्तित्वके स्वयं-भूत चारित्र्यकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है। धन-सम्पत्ति वस्तुतः व्यक्तित्वका अङ्ग नहीं है, अतएव उसके क्षीण हो जानेपर भी व्यक्तित्वकी कोई क्षति नहीं होती; किंतु चरित्र तो व्यक्तित्वका साधारण अङ्ग ही नहीं, अपितु उसका प्राण है; अतः उसके नष्ट हो जानेपर तो व्यक्तिका सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महाभारत ५।३६)

स्मृतिकार महाराज मनु भी अर्थोपार्जनकी शुचिताको ही मनुष्यकी सच्ची शुद्धि (और अलंकृति) मानते हैं। इसके बिना मिट्टी (साबुन) और जल आदिसे केवल शरीर तथा वस्त्रोंकी शुद्धि कर लेना वास्तविक शुद्धि नहीं है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
(मनुस्मृति ५।१०६)

अर्थकी शुचिताका यह शास्त्रीय सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक भूमिपर स्थित है। अन्याय और असदाचारसे उपार्जित धन प्रारम्भसे ही दुर्भावना-दूषित होता है, फिर इसके उपभोगसे और भी अधिक दुर्भावनाएँ जागती हैं; परिणामतः अनय और दुराचारका यह चक्र एक व्यापक वृत्त-सा बनकर सार्वजनीन 'चरित्र' का हनन करने लग जाता है। आज यह व्यापक—बल्कि विराट् रूप धारण कर चुका है। यद्यपि मानवके चरित्रनिर्माणमें अर्थशुचिताके अतिरिक्त और भी अनेक

रहा जाता है, विलास-सामग्रियोंकी चकाचौंधसे उन्मत्त होकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये हिंसा और विध्वंसके रास्तेपर अग्रसर हो जाता है। विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें आये दिन होनेवाली हड़तालें और तालाबन्दी, मारपीट और धर-पकड़ इसके प्रत्यक्ष परिणामी उदाहरण हैं।

देशकी अन्तरराष्ट्रिय राजनीतिसे लेकर सामान्य प्रशासन-व्यवस्थातक सर्वत्र संकीर्ण स्वार्थ, छल-कपट, दम्भ, जाति, प्रान्त और भाषावादका प्रभाव, राष्ट्रकी चारित्रिक दीप्तिको धूमिल बना रहे हैं। आध्यात्मिक मान्यताके अभाव तथा नैतिकताकी दोलायमान परिस्थितिमें आज केवल क्षुद्रस्वार्थकी पूर्तिके लिये व्यक्ति व्यक्तिसे दूर हो रहा है, परिवार खण्डित हो रहे हैं, सम्बन्ध बिखर रहे हैं और अब तो राष्ट्रके भी खण्ड-खण्ड होनेकी स्थिति पहुँचायी जा रही है! पर इसके लिये किसे चिन्ता है! नेता हो, प्रशासक हो, समाजसुधारक हो या साहित्य-प्रणेता—सभी इस सर्वग्रासी अन्धकारमें निमग्न हो रहे हैं। आज तो देवदुर्लभ भारतवर्षके विषयमें भी यह कहनेको विवश होना पड़ता है कि 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

आज वैदिक ऋषिकी राष्ट्रके सभी संदर्भोंमें जागरूक रखनेवाला—'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (यजुर्वेद ९। २३)

(हम राष्ट्रको आगे ले चलनेवाले (पुरोधा—मार्गदर्शक) सदैव जाग्रत् रहें) यह मन्त्र आज हमारे लिये प्रेरणाशून्य बन गया है; इसे अपने दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जाय!

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कैसे हो! यह आजका समसामयिक अथच ज्वलन्त प्रश्न है, किंतु ऐसी स्थितिमें भी यह सर्वथा अनुत्तरित नहीं है। हम आज भी गम्भीरतासे विचार करके इस समस्याका समाधान निकाल सकते हैं। प्राचीनकालमें भी ऐसी स्थिति रही है—ऐसा प्रतीत होता है। भारतवर्षमें अनेक बार इसी प्रकारके राष्ट्रिय प्रश्न उठे होंगे, ऐसे ही चारित्रिक संकट भी आये होंगे, तभी तो उस समय हमारे युगद्रष्टा महर्षियोंने राष्ट्रके कल्याण-हेतु अपने वैयक्तिक सुखोंका बलिदान करके त्याग, तपश्चर्या और सर्वभूतोंके हितकारी यज्ञ, दानादिकी दीक्षाके द्वारा समाजका—मोहाच्छन्न मानवताका—उद्बोधन किया और तब यह राष्ट्र पुनः बल और ओजसे भास्वर हो उठा था—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्॥
(अथर्ववेद १९। ४१। १)

भारतवर्ष जीवनकी प्रत्येक दिशाकी भाँति चारित्रिक दिशामें भी जगद्गुरु रहा है। यह वही देश है, जहाँका (अश्वपति-जैसा) प्रशासक मुक्तकण्ठसे कहता था—'मेरे देशमें कहीं कोई चोर, कृपण, मद्यपायी, दैनिक अग्निहोत्र न करनेवाला, मूर्ख और स्वैराचारी व्यक्ति निवास नहीं करता; फिर स्वैराचरण करनेवाली स्त्री तो कहा हो ही कैसे सकती है!'

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य-उप० ५। ११। ५)

इसकी चरित्र-सम्पत्ति इतनी विराट् और सार्वभौम थी कि सारे विश्वके मानव इससे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ले सकते थे, यहाँका अग्रजन्मा ही विश्वका अग्रनेता महापुरुष था*।' ऐसे अप्रतिम देशके लिये राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कोई असम्भावित बात नहीं है। आवश्यकता बस उसी स्वर्णिम अतीतपथपर दृष्टिपात करके चल देनेकी है; सत्य और ऋतका पथ सुगम है। सत्य और ऋतका मार्ग कभी विषम और कण्टकाकीर्ण नहीं होता—'सुगा ऋतस्य पन्थाः' (ऋग्वेद ८। ३१। १३)।

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

तत्त्व हैं, (जिनकी चर्चा कारणवश यहाँ नहीं की जा सकी है) तथापि उन सबके मूलमें प्रथमतया इसीका उल्लेख शास्त्रकारोंने किया है। अतएव यहाँ हमने कुछ विस्तारसे इसपर विचार किया है।

अब यह देखना है कि व्यक्तिकी अर्थ-लोलुपतासे समाज और राष्ट्रके चरित्रपर क्या प्रभाव पड़ता है ! व्यक्तिविशेषके शिथिलचरित्र होनेसे पूरे राष्ट्रपर चरित्र-संकट कैसे उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः व्यक्ति पूरे राष्ट्रका एक घटक है। अनेक व्यक्तियोंसे मिलकर एक परिवार, अनेक परिवारोंसे एक कुल, अनेक कुलोंसे एक जाति या समाज तथा अनेकानेक जातियों और समाज-समुदायोंसे मिलकर ही एक राष्ट्र बनता है। आज लोग जब राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणकी बात करते हैं, तब वे स्वयं उस राष्ट्रके एक आधारक घटक हैं—इस बातको प्रायः विस्मृत कर जाते हैं। हम अनियन्त्रित व्यवहारद्वारा भोगसंचय करके औरोंको सच्चरित्रताका उपदेश देते हैं; वाणीसे, लेखनसे और कभी-कभी ऊपरी आचार-व्यवहारसे इसके लिये स्वयंको सचिन्त प्रदर्शित करते हैं। पर जब जीवनमें उतारनेकी बात आती है, तब सभ्यता और संस्कृतिके बदलते मानदण्डोंका हवाला एवं समय और परिस्थितिको उपालम्भ देकर मुक्त हो जाते हैं। हमारा यह नैतिक छद्माचरण समूचे राष्ट्रमें संक्रामक-विभीषिका बनकर प्रसृत हो गया है और हमारे न चाहते हुए भी प्रतिध्वनिकी भाँति और भी सशक्त होकर स्वयं हमारे ही पास लौट आता जा रहा है। क्या हम इस विभीषिकासे भयाक्रान्त एवं संत्रस्त नहीं हैं !

अर्थोपार्जनका कौशल और क्षमता अपने-आपमें बहुत ही श्लाघ्य वस्तु है। इसके द्वारा सुख-समृद्धिके साथ-साथ पौरुष, श्रमशीलता और आत्मनिर्भरता-जैसे सद्गुणोंका प्रचार-प्रसार भी होता है; किंतु इस कौशल या क्षमताका विनियोग संकीर्ण स्वार्थमें नहीं होना चाहिये; तभी ये चरित्र-निर्माणके सहयोगी बन सकते हैं। अथर्ववेद (३ । २४ । ५) कहता है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

'सौ हाथोंसे उपार्जन करो और हजार हाथोंसे उसका वितरण करो।' वेद भगवान्‌का यह आदेश जबतक हमारा आदर्श नहीं बनेगा, तबतक उपार्जित द्रव्यको हम समाज या राष्ट्रके हितमें प्रयुक्त नहीं कर सकेंगे और तबतक हम मानवजीवनके उद्देश्यपर नहीं पा सकेंगे। मनुष्यकी कामनाएँ अनन्त हैं। 'पृथ्वीमें प्राप्य सभी व्रीहि-यवादि अन्न, सुवर्णादि धन, पशु तथा स्त्रियाँ कामनासे पीड़ित किसी एक मनुष्यको भी तृप्त नहीं कर सकते।' अतः अर्जनमें जबतक विसर्गकी भावनाका संनिवेश न होगा, वह आर्थसंतुलनको अक्षुण्ण रखनेमें अक्षम ही रहेगा। पर क्या हमारी अर्थ-लोलुपता इस दिशामें हमें बढ़ने देगी !

अर्थकी इसी विषमताके कारण अन्य देशोंकी भाँति भारतमें भी वर्गसंघर्ष और सामाजिक-क्रान्तिकी संवेगात्मक धाराएँ फूट पड़ी हैं। इससे आये दिन बेकार लूट-खसोटके दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। समाजमें सामूहिक रूपसे चरित्र-हननकी भावना भी दृढ़ होती जा रही है। उदात्त चारित्र्यके अभावमें यह सामाजिक-भ्रष्ट हो जाता है, जो अत्यन्त चिन्त्य है।

एक वर्ग, जिसने येन केन प्रकारेण आवश्यकतासे अधिक धन संचय कर लिया है, जिसके विविध-विचित्र उपादानों और अन्याय-अनाचारके साधनोंसे राष्ट्रको जर्जर कर रहा है तो दूसरा वर्ग जो श्रमिक और शोषित

यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १३)

रहा जाता है, विलास-सामग्रियोंकी चकाचौंधसे उन्मत्त होकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये हिंसा और विध्वंसके कगारपर आ खड़ा हो जाता है। विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें आये दिन होनेवाली हड़तालें और तालाबन्दी, मारपीट और धर-पकड़ इसके प्रत्यक्ष परिणामी उदाहरण हैं।

देशकी अन्तरराष्ट्रिय राजनीतिसे लेकर सामान्य प्रशासन-व्यवस्थातक सर्वत्र संकीर्ण स्वार्थ, छल-कपट, दम्भ, जाति, प्रान्त और भाषावादका प्रभाव, राष्ट्रकी चारित्रिक दीप्तिको धूमिल बना रहे हैं। आध्यात्मिक मूल्योंके अभाव तथा नैतिकताकी दोलायमान परिस्थितिमें आज केवल क्षुद्रस्वार्थकी पूर्तिके लिये व्यक्ति व्यक्तिसे पृथक् हो रहा है, परिवार खण्डित हो रहे हैं, सम्बन्ध बिखर रहे हैं और अब तो राष्ट्रके भी खण्ड-खण्ड होनेकी स्थिति पहुँचायी जा रही है! पर इसके लिये किसे दोष दिया जाय! नेता हो, प्रशासक हो, समाजसुधारक हो या साहित्य-प्रणेता—सभी इस सर्वग्रासी अन्धकारमें विलीन हो रहे हैं। आज तो देवदुर्लभ भारतवर्षके विषयमें भी यह कहनेको विवश होना पड़ता है कि पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

आज वैदिक ऋषियोंके राष्ट्रके सभी संदर्भोंमें जागरूक रखनेवाला—'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (यजुर्वेद ९।२३)

(हम राष्ट्रको आगे ले चलनेवाले (पुरोधा—अग्रणी) सदैव जाग्रत् रहें) यह मन्त्र आज हमारे लिये प्रेरणाशून्य बन गया है; इसे अपने दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जाय!

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कैसे हो? यह आजका समसामयिक अथच जाग्रत् प्रश्न है, किंतु ऐसी स्थितिमें भी यह सर्वथा अनुत्तरित नहीं है। हम आज भी तन्मयतासे विचार करके इस समस्याका समाधान निकाल सकते हैं। प्राचीनकालमें भी ऐसी स्थिति रही है—ऐसा प्रतीत होता है। भारतवर्षमें अनेक बार इसी प्रकारके राष्ट्रिय प्रश्न उठे होंगे, ऐसे ही चारित्रिक संकट भी आये होंगे, तभी तो उस समय हमारे युगद्रष्टा महर्षियोंने राष्ट्रके कल्याण-हेतु अपने वैयक्तिक सुखोंका बलिदान करके त्याग, तपश्चर्या और सर्वभूतोंके हितकारी यज्ञ, दानादिकी दीक्षाके द्वारा समाजका—मोहाच्छन्न मानवताका—उद्बोधन किया और तब यह राष्ट्र पुनः बल और ओजसे भास्वर हो उठा था—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्॥
(अथर्ववेद १९।४१।१)

भारतवर्ष जीवनकी प्रत्येक दिशाकी भाँति चारित्रिक दिशामें भी जगद्गुरु रहा है। यह वही देश है, जहाँका (अश्वपति-जैसा) प्रशासक मुक्तकण्ठसे कहता था—'मेरे देशमें कहीं कोई चोर, कृपण, मद्यपायी, दैनिक अग्निहोत्र न करनेवाला, मूर्ख और स्वैराचारी व्यक्ति निवास नहीं करता; फिर स्वैराचरण करनेवाली स्त्री तो भला हो ही कैसे सकती है!'

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य-उप० ५।११।५)

इसकी चरित्र-सम्पत्ति इतनी विराट् और सार्वभौम थी कि सारे विश्वके मानव इससे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ले सकते थे, यहाँका अग्रजन्मा ही विश्वका अग्रनेता महापुरुष था*।' ऐसे अप्रतिम देशके लिये राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कोई असम्भावित बात नहीं है। आवश्यकता बस उसी स्वर्णिम अतीतपरपर दृष्टिपात करके चल देनेकी है; सत्य और ऋतका पथ सुगम है। सत्य और ऋतका मार्ग कभी विषम और कण्टकाकीर्ण नहीं होता—'सुगा ऋतस्य पन्थाः' (ऋग्वेद ८।३१।१३)।

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २।२०)

आइये हम मङ्गल-आशंसा-सहित उसी पथसे चलनेका दृढ़तम निश्चय करें जिससे राष्ट्रिय चरित्रका निर्माण हो सके और गुरुभारतको गौरव पुनः विश्वको आदर्श दे सकें।

स्वस्त्यस्तु गोविप्रेभ्यो वर्धन्तां धर्मसंचयः।
प्रकामं लभतां शान्तिं त्रिविधा भारतीप्रजा॥

यही हमारी आजकी सामयिक शुभाशंसा है।

श्रीकौसल्यामाताके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक— श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

महाराज स्वायम्भुव मनु और महारानी शतरूपाने भगवत्प्राप्तिके लिये राज्य त्यागकर नैमिषारण्यतीर्थमें घोर तपस्या की। परम प्रभु भगवान्‌का (रामरूपमें) दर्शन पाकर उन्होंने उनसे अपना पुत्र बननेका वर प्राप्त किया। साथमें श्रीशतरूपा-(कौसल्याजी-)ने कहा—'प्रभो! निज भक्तोंकी भाँति मुझको विवेकादि सुखोंको भी प्रदान कीजिये।' भगवान्‌ने उनकी ऐसी रुचि देखकर कहा—'इस समय जो कुछ भी तुम्हारे मनमें इच्छाएँ हो रही हैं—यदि कथनसे कुछ छूट भी गया है, उन सबोंको भी मैंने प्रदान कर दिया। मातः! मेरे अनुग्रहसे तुम्हारा अलौकिक विवेक कभी न मिटेगा—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥

इसपर जब श्रीस्वायम्भुव मनुने देखा कि उनकी पत्नी शतरूपाजीने—'जो बरु नाथ चतुर नृप मागा' कहकर 'चतुर' शब्दसे यद्यपि मुझे आदर दिया है, तथापि इनके मनमें यह बात अवश्य बैठ गयी है कि केवल पुत्र बननेका वर अपर्याप्त है, इसलिये मैं विवेकादि सुखोंको भी क्यों न माँग लूँ! इससे यह टपक रहा है कि ये केवल पुत्र बननेके वर माँगनेसे हमारी अदूरदर्शिता समझ रही हैं।' अतः अपने माँगे हुए वरपर ही बल देनेके लिये मनुजीने उनके चरणोंमें प्रणाम कर फिर कहा—

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी।
अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥
सुत बिषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
अस बरु मागि चरन गहि रहेऊ।
एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥

'प्रभो! मेरी एक और विनती है। आपके चरणोंमें मुझको पुत्र-भावकी ही प्रीति हो, चाहे मुझे लोग महामूढ़ ही क्यों न कहें। जिस प्रकार बिना मणिके सर्पके प्राण नहीं रहते, बिना जलके मछली नहीं जी पाती, उसी प्रकार आपके वियोगमें मेरे प्राण न रह सकें।' ऐसा वर माँगकर उन्होंने प्रभुके चरण पकड़ लिये। तब करुणानिधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर उसको भी स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि 'अभी आप दोनों इन्द्रपुरमें निवास करें, जब अयोध्यामें आपलोग राजा दशरथ और कौसल्या होंगे तब मैं वहाँ आकर आप लोगोंका पुत्र बनूँगा।'

तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥

समय आनेपर भगवान् दशरथजी (स्वायम्भुव मनुजी) के यहाँ कौसल्याके गर्भसे प्रकट हुए और अपने पूर्व प्रदान किये हुए वरके अनुसार विवेकजनित सुखोंको माता कौसल्याके भागमें रखकर दम्पतिको पुत्र-विषयक आनन्द दिया—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।

प्रकट होते समय भगवान्‌ने अपना जो चतुर्भुजरूप दिखाया, उसको केवल कौसल्याजीने ही देखा—

'रचित महतारी''''अद्भुत रूप बिचारी।' इसीसे यहाँ केवल 'कौसल्या-हितकारी' पद आया है। जब भगवान्‌ने पूर्व वरदानकी कथाको श्रीकौसल्याजीसे कहकर उनको संतुष्ट कर दिया—

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।

—तब उन्होंने प्रार्थना की कि 'प्रभो! अब आप शिशुलीला करें।'—

कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।

उसके पश्चात् भगवान् जब नर-बालक बनकर रुदन करने लगे—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा॥

—तब दूसरोंको ज्ञात हुआ। श्रीदशरथादिजीको भी नर-बालकस्वरूपका ही दर्शन मिल सका। पर वह गौ, ब्राह्मण, देवता और संत आदि सबका हितकारी हुआ—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

तथापि भगवान्‌के बाल-चरित्रके मूलमें दशरथ और कौसल्याका तप ही विशेष हेतु था, पर विवेकादिकी लीलाएँ अकेले कौसल्याजीके ही सामने रहीं—

एक बार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
जब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥

(रामच० मा० १। २००-२०१)

सूर्यवंशी कुलके इष्टदेव भगवान् श्रीरङ्गनाथजीकी पूजाके समय जब नैवेद्यका भोग लगाया गया तो श्रीरामजी स्वयं भोजन करते पाये गये और इधर पलनेपर भी सोते हुए दिखायी पड़े। अतः दोनों जगह एक ही समान दो बालकोंको देखकर माता श्रीकौसल्याजी आकुल हो उठीं। तब श्रीभगवान्‌ने मुसकराकर अपने उस अद्भुत रूपको, जिसके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड थे, दिखाया। परंतु इस रूपका दर्शन कौसल्याजीको ही हुआ, श्रीदशरथजीको नहीं। बल्कि श्रीमुखसे इस रहस्यको दूसरोंसे बतलाना भी रोक दिया गया—

हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥

अतएव भगवान्‌के माधुर्यचरित्र—जैसे बाललीला, कर्णवेध, उपवीत, विवाहादिका सुख दम्पतिको मिला तथा ऐश्वर्यलीला अर्थात् चतुर्भुजरूप और विश्वरूपके दर्शनादिका आनन्द केवल कौसल्याजीको प्राप्त हुआ। जब वनगमनकी कोशलका अवसर आया और श्रीरघुनाथजी माता कौसल्यासे विदा लेने लगे, तब श्रीअम्बाजीने विवेकसूचक वचनोंसे उन्हें रीति-नीतिकी कैसी शिक्षा दी, उसे देखिये—

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
धरम सनेह उभयँ मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥
बहुरि समुझि तिय धर्म सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥

कौसल्यामाताने जब धर्मका विचार किया तो 'नारि धर्म पतिदेव न दूजा' ही समुचित जान पड़ा। पर हृदयमें पुत्रस्नेहकी भी ... थी। धर्म और स्नेह दोनोंमें

रोकते बनता था और न जानेकी आज्ञा देनेका ही साहस होता था। सोचने लगीं—'यदि पुत्रको रोकती हूँ तो अपना पातिव्रत-धर्म जाता है। आपसमें बन्धु-विरोध भी होता है। यदि जानेके लिये कह देती हूँ तो बड़ी हानि है।' ऐसे धर्म-संकट और वियोग-दुःखरूपी चिन्तामें पड़कर रानी विवश हो गयीं। उनकी दशा साँप और छछूँदरकी-सी हो गयी।* पर सोचकर उन्होंने पातिव्रतधर्मको प्रधानता दी और अपने सगे पुत्र राम तथा सौतेले पुत्र भरतको एक समान मानकर सरल स्वभावसे बोलीं—'तात! तुमने बहुत उत्तम निश्चय किया है। पिताकी आज्ञाका पालन करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। तुमको पिताने राज्य देनेका वचन दिया था, परंतु वन दे दिया—इसका मुझको लेशमात्र भी दुःख नहीं है। चिन्ता इस बातकी है कि तुम्हारे बिना भरत, स्वयं श्रीराजाजी और समस्त प्रजा आदि सबको बड़ा भारी कष्ट होगा। अतएव यदि केवल पिताकी आज्ञा है तो माताकी आज्ञा न होनेके कारण तुम अपने इस धर्मका विचार करके रुक सकते हो कि पुत्रको पिता-माता दोनोंकी आज्ञाओंमेंसे माताकी आज्ञाको सहस्रगुना अधिक गौरव देना चाहिये—

सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते।
(मनुस्मृति २। १४५)

पर यदि दोनोंकी आज्ञा है, तो तुमको वनको ही सौ अयोध्याके समान मानना उचित है। यदि मैं तुम्हारे साथ चलनेके लिये कहती हूँ तो तुम्हारे मनमें संदेह पैदा हो जायगा। (जैसे—माताजी मुझको तो ऐसी धर्म-शिक्षा दे रही हैं और स्वयं पातिव्रत-धर्मसे हट रही हैं। ऐसी धर्मज्ञा माताके इस कथनमें अवश्य कोई संदेहकी बात है अथवा पिताकी आज्ञा उदासीन होकर रहनेकी है और एक माता साथमें चलनेके लिये कहती हैं तो मैं किसकी आज्ञाका पालन करूँ?) अतएव मैं साथ चलनेके लिये नहीं कहती हूँ।' पुत्र! तुम सबको परम प्यारे हो—सबके आत्मा हो। सबके प्राणोंके प्राण हो और सब जीवोंके जीवन अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो। फिर भी तुम हमको अपनी माता बनाकर—स्वयं पुत्र बनकर, मुझसे कह रहे हो—'मैं वनको जा रहा हूँ।' और ऐसे हृदय-भेदक वचनको सुनकर भी मैं जीवित हूँ—बैठी-बैठी पछता रही हूँ (अर्थात् ऐसी अवस्थामें मुझको मर जाना उचित था)। अतः मैं अपने स्नेहको झूठा मानती हूँ और ऐसे झूठे स्नेहको बढ़ाकर हठ करना अनुचित समझती हूँ। तुमको पुत्र माननेका मेरा नाता तो झूठा हो गया, परंतु तुम जो मुझको अपनी माता मान चुके हो उस नाते मेरी स्मृति न भुला देना।'

श्रीकौसल्या माताके चरित्रमें प्रथम पातिव्रत-धर्मकी शिक्षाके साथ दो बातें विशेष ध्येय हैं। पहली बात यह कि स्त्रियोंको अपनी छोटी-बड़ी सभी सौतों—जेठानी-देवरानियोंके साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिये—इसकी शिक्षा इनके चरित्रसे ही मिलती है। यद्यपि कैकेयीजी-की घोर अनीति उनके सामने थी, वे बिना अपराधके ही प्यारे पुत्र रामजीको वनमें भेजवाकर कोई भी हक न रखनेवाले अपने बेटे भरतको राजगद्दी दिलवा रही थीं, तथापि श्रीकौसल्या माताके हृदयमें तनिक भी द्वेषका संचार नहीं हुआ। बल्कि वे अपने प्राणप्रिय पुत्रको ही शिक्षा देने लगीं—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

दूसरी बात यह कि सारे जगत्की माताओंको अपने सगे-सौतेले आदि लड़कोंके साथ कैसा प्रेम

---

* यदि साँप छछूँदरको पकड़कर निगल जाता है तो उसके कुष्ठरोगसे पीड़ित होकर मर जानेका भय रहता है और यदि छोड़ देता है तो उसकी दृष्टिसे अन्धा हो जानेकी आशङ्का रहती है। अतएव दोनोंमेंसे उसे कोई भी करते नहीं बनता।

स्त्रा उचित है—इसकी भी शिक्षा श्रीकौसल्यामातासे ही मिलती है। उन्होंने वैसी द्वेषजनक परिस्थितिमें पड़कर भी—'राम भरत दोउ सुत सम जानी'के निश्चयको दृढ़ रखा। इतना ही नहीं—दोनों पुत्रोंको समानरूपसे चाहनेका प्रमाण भी दे दिया। जिस समय श्रीभरतजी अपने ननिहालसे लौटकर आये और विकल होकर श्रीकौसल्यामातासे मिलने गये। उस समयकी अवस्था देखिये—

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥
× × ×
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

श्रीभरतजीको देखते ही वे आतुर होकर दौड़ीं, परंतु विकलताके कारण मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जब भरतजी जल्दीसे उनके समीप पहुँचे, तब उनको हृदयसे लगाकर इस तरह सुखी हुईं, मानो श्रीरामजी ही वनसे लौटकर आ गये। श्रीभरतजी नाना प्रकारसे शपथ खा-खाकर अपनेको निर्दोष साबित करने लगे। इसपर श्रीकौसल्यामाताजीने यह कहा कि इस कर्ममें जो कोई तुम्हारी सम्मति बतलायेगा, वह स्वप्नमें भी सुख और सुयशका भागी न होगा, और फिर श्रीभरतजीको हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके दोनों स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गये। भला 'राम भरत दोउ सुत सम जानी'का इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या होगा? क्योंकि माताके स्तनोंसे अपने ही बच्चेके लिये दूध टपकता है, दूसरेके बच्चेके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त जब चित्रकूटमें जनकजीकी धर्मपत्नी सुनयनासे भेंट हुई, उस समयके 'मोरे सोच भरत कर भारी' तथा—

पर सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

—आदि वचन इस कथनकी और भी पुष्टि कर रहे हैं।

श्रीकौसल्याजीके चरित्रमें पातिव्रतधर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनके सम्पूर्ण आदर्श चरित्र एकमात्र पतिदेवताकी अनुकूलताके लिये ही थे। मानस-में प्रमाण देखिये—

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत॥

परंतु उनके चरित्रसे एक और भी शिक्षा मिलती है। वह यह कि लोकहितके लिये पतिका अनुगमन छोड़कर दूसरी राह पकड़नेकी धृष्टताको कौन कहे, परलोक-हितके लिये भी यदि कोई स्त्री अपने पतिके अनुगमनको छोड़कर आगे बढ़ती है तो उसके परिणाममें उसको पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उदाहरणमें पूर्वोक्त वृत्तको श्रीकौसल्यामाताको ही लीजिये। वे जब श्रीशतरूपाजीके रूपमें थीं, तब उन्होंने श्रीमनु महाराजसे आगे बढ़कर विवेकादिका वरदान माँगा था। अतः उसके फलस्वरूप श्रीकौसल्यारूपमें उनको पश्चात्ताप करना पड़ा, अपने ही मुँहसे अपने स्नेहको झूठा बतलाना पड़ा और प्राण न दे सकनेके कारण—

अस बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।

—तक कहना पड़ा। साथ ही अपने पतिदेव श्रीदशरथजीके उसी 'सुत बिषइक तव पद रति'को जो उनको मनुरूपमें वरदानके नाते—'फनि बिनु मनि जिमि जल बिनु मीना'की तरह प्राप्त हुआ था और 'सत्य प्रेम जेहि राम पद'के रूपमें पर्यवसित हुआ, उन्हें खुले मुँह सराहना करनी पड़ी—

जिएँ मरें भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

इसलिये धर्मज्ञ और पतिप्राणा स्त्रियोंको श्रीकौसल्याके चरित्रसे शिक्षा लेकर लोक-परलोक दोनों अर्थोंमें पतिकी अनुगामिनी बनना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

सत्यवादी युधिष्ठिर

महाराज पाण्डुकी दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर थे। ये धर्मके अंशावतार थे, अतः धर्मराज भी कहलाते थे।

युधिष्ठिर स्वभावसे ही वैर-क्रोध एवं अभिमानशून्य थे। ये क्षमाशील, धैर्यवान्, सत्यनिष्ठ, विद्वान्, शान्त, मृदु, पवित्रात्मा, उदार, त्यागी तथा समदर्शी थे। इसीलिये ये अजातशत्रु भी कहलाते थे। उदात्त चरित्रके सभी गुण इनमें विद्यमान थे। ये चरित्रके आदर्श प्रयोक्ता थे।

युधिष्ठिरका आरम्भिक जीवन बड़े कष्ट एवं अपमानमें व्यतीत हुआ। पिता पाण्डु असमय मृत्युको प्राप्त हुए। अन्धे धृतराष्ट्र लोक-लाजवश पाण्डवोंका कुछ ध्यान रखते थे, पर अपने उद्दण्ड पुत्र दुर्योधनके आगे उनकी एक न चलती थी। अतः ये दुर्योधनके विविध षड्यन्त्रोंके शिकार हुए। इन्हें राजसी सुविधा प्राप्त नहीं हुई। दुर्योधनने लाक्षागृहमें सभी पाण्डवोंको जला दिया था। इनके भाई भीमको विष दिया गया। जुएके छलसे इन्हें हराया गया। सारी राज्य-सम्पत्ति छीन ली गयी। स्त्री द्रौपदीको भी नंगी करनेका, उसे अमर्यादित करनेका प्रयास किया गया। उसके पातकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णको दौड़ना पड़ा।

भीष्मपितामहने अपने सत्प्रयाससे कौरवों-पाण्डवों दोनोंकी शिक्षाके लिये द्रोणाचार्यजीको हस्तिनापुर बुला लिया था। वे सभी राजकुमारोंको शास्त्र-ज्ञानके साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रकी भी शिक्षा देते थे। पाण्डवोंपर उनका विशेष प्रेम था। गुरु द्रोणाचार्य अपने शिष्योंसे पिछला पाठ भी पूछते रहते थे। एक दिन जब सब कुमारोंने कई पृष्ठ पाठ याद कर सुनाया तब युधिष्ठिरने अपनी बारीपर बताया कि उन्हें केवल दो वाक्य याद हैं, वे भी अभी अपूर्ण हैं। गुरुको क्रोध आ गया। उन्होंने युधिष्ठिरको दो-तीन छड़ी जड़ दी। पर युधिष्ठिर शान्त रहे। इनके मुखपर कोई भाव-परिवर्तन न देखकर द्रोणको आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'तुम्हें कौनसे दो वाक्य याद हैं?' युधिष्ठिरने कहा—'सत्य बोलना और क्रोध न करना'; जब आप मुझे छड़ीसे मार रहे थे, तब मैं अपने मनको समझा रहा था कि क्रोध नहीं करना चाहिये।' यह सुनकर आचार्य पानी-पानी हो गये। उन्होंने युधिष्ठिरको गले लगाते हुए कहा—'यथार्थ पाठ तो तुम्हींने पढ़ा है।' क्रोध न करना चरित्रका मूल गुण है।

तत्कालीन परिपाटीके अनुसार क्षत्रियोंके लिये युद्ध और जुआ दोनों धर्मसंगत थे। दोनोंमेंसे किसी एकका भी निमन्त्रण अस्वीकार करना क्षत्रियके लिये कायरता माना जाता था। इसी धर्मसंकटमें पड़कर युधिष्ठिरने दुर्योधनका द्यूतनिमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसमें शकुनिके छलसे वे हार गये। स्त्री भी दाँवपर लग गयी। राज्य चला गया। वे सर्वस्व हार गये। फिर उन्हें वनवास—जो १२ वर्षका सामान्य तथा एक वर्षका अज्ञातवास था। युधिष्ठिरने सब सहन किया। समर्थ होते हुए भी वे भाइयोंके साथ वन चले गये।

युधिष्ठिर दस हजार श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको भोजन कराकर ही यज्ञका शेषान्न भोजन करते थे। वे ब्राह्मण भी उनके साथ वन चल पड़े। युधिष्ठिर बड़े धर्म-संकटमें पड़े। स्वयंके भोजनका ठिकाना नहीं था, इन्हें कैसे खिलाते। अन्तमें उन्होंने भगवान् सूर्यकी स्तुति की। सूर्यने उन्हें एक बटलोई (अक्षयपात्र) दी। उसकी यह विशेषता थी कि जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर लेगी, तबतक उसमें पका हुआ अन्न समाप्त नहीं होता था; चाहे जितने व्यक्ति उससे भोजन कर सकते थे। पर द्रौपदीके भोजन कर

भेजन समाप्त हो जाता था। इस पात्रके प्रभावसे वनवासमें भी धर्मराज युधिष्ठिरने अपना अन्नसत्र—ब्राह्मण-भोजन निरन्तर चालू रखा।

वनमें दुर्योधन पाण्डवोंकी हत्याके लिये गया था, पर अर्जुनके मित्र गन्धर्व चित्रसेनने कौरवों तथा उनकी स्त्रियोंको पकड़कर बन्दी बना लिया। उनकी चीख-पुकार सुनकर जहाँ भीम प्रसन्न हुए, वहाँ युधिष्ठिर को अप्रसन्न प्रतीत हुआ। उन्होंने कहा—

वे शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने।
परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाधिकं शतम्॥[1]

पुरुषसिंहो! दौड़ो और कुलकुलकी लाज बचाओ।' फिर क्या था? गाण्डीवी अर्जुनने धनुषकी टंकार करते हुए गन्धर्वोंको ललकारा तथा उनसे कौरवों तथा उनकी स्त्रियोंकी रक्षा की। वनवासकी अवधिमें ही प्यासे पाण्डव पानीकी खोजमें एक-एक कर यक्ष-सरोवरके पास पहुँचे और यक्षके प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना प्यासकी बेचैनीमें जल पीते ही मरने लगे; तब सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीमकी मृत्यु हो जानेके बाद धर्मराज युधिष्ठिर जलाशय पर पहुँचे। यक्षने उनसे भी वही प्रश्न किया। युधिष्ठिर ज्ञानीके साथ-साथ धर्मात्मा भी थे। उन्होंने अपनी तृषाके चलते वेगको रोककर यक्षके प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दिया, जो यक्ष युधिष्ठिर-संवादके नामसे महाभारतमें प्रसिद्ध है; जैसे यक्षने पूछा—'किमाश्चर्यमतः परम्।'

युधिष्ठिरने उत्तर दिया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

'नित्य (आये दिन) प्राणी यमपुरीकी यात्रा करते हैं, पर शेष यहीं स्थायी निवास करना चाहते हैं—इससे बढ़कर अन्य कोई आश्चर्य क्या हो सकता है!'

यक्ष युधिष्ठिरके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर बोला—'तुम चारोंमेंसे किसी एकको, जिसे कहो, मैं जीवित कर दूँ।' युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये।' यक्षने हँसते हुए कहा—'युधिष्ठिर! तुम बड़े भोले हो। क्या नकुलकी सहायतासे तुम महाभारत युद्ध लड़ोगे? उसके लिये तो भीम और अर्जुनकी अत्यन्त आवश्यकता है। तुमने नकुलको क्यों माँगा?'

युधिष्ठिरने कहा—'यक्षराज! मेरी दो माताएँ हैं, कुन्ती और माद्री। कुन्तीका एक पुत्र मैं जीवित हूँ। माद्रीका भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिये। मुझे राज्यकी चिन्ता नहीं है।' यह था युधिष्ठिरका न्याय, उनका धर्म, उनका आदर्श चरित्र। यक्षने प्रसन्न होकर सबको जीवित कर दिया।

वनमें द्रौपदी और भीमने युधिष्ठिरको बहुत उकसाया कि समर्थ क्षत्रिय होकर आपका वनमें तापस-जीवन बिताना शोभा नहीं देता। आपको छलसे जुएमें हराकर राज्य छीनकर वनवास दिया गया है। आप इस शर्तको न मानें, चलकर राज्य करें। पर युधिष्ठिरने स्पष्ट मना कर दिया—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥

'मेरी सत्य प्रतिज्ञा सुनो। मैं धर्मको अमरत्व एवं जीवनसे श्रेष्ठ समझता हूँ। सत्यके समक्ष राज्य, पुत्र, यश, धन आदिका कोई मूल्य नहीं है।' धर्मनिष्ठा ही चारित्र्यकी नींव है।

महाभारतके युद्धके पीछे कुछ दिन राज्य करनेके पश्चात् युधिष्ठिरको वैराग्य हो गया। वे पाँचों पाण्डव

[1] १—परस्परके झगड़ेमें तो कौरव सौ भाई हैं और हम पाँच भाई हैं, पर दूसरोंके साथ झगड़ा होनेपर हम दोनों मिलकर एक सौ पाँच भाई हैं।' यदि भारतवासियोंने युधिष्ठिरके इस चरित्रसे शिक्षा ली होती तो भारतके टुकड़े न हुए होते। अब भी यह आदर्श उपादेय है।

द्रौपदी-सहित हिमालयमें गलने चले गये । जब द्रौपदी-सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीम सभी हिममें विलीन हो गये तो युधिष्ठिरने पीछे मुड़कर देखा तक नहीं । कुत्ता इनके साथ अन्ततक रहा । देवराज इन्द्र रथ लेकर प्रस्तुत हुए । बोले—'धर्मराज ! आप इस रथपर सवार हो सदेह स्वर्ग चलें ।' युधिष्ठिरने कहा—'मेरे साथ अन्ततक यह कुत्ता रहा है । इसे छोड़कर अकेला स्वर्ग जाना मुझे स्वीकार नहीं है । मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता ।' इन्द्रने बहुत समझाया । पर युधिष्ठिर अपने निश्चयपर दृढ़ रहे । अन्तमें कुत्ता अदृश्य हो गया । वहाँ साक्षात् धर्म खड़े थे । बोले—'मैं आपकी परीक्षा ले रहा था । आप सफल निकले । अब आप स्वर्ग चलें ।' धर्मराज युधिष्ठिर अपने धर्माचरणके बलपर सदेह उस रथपर आरूढ़ हो गये और धर्मके साथ स्वर्गको प्रयाण कर गये ।

युधिष्ठिर सत्यधर्म और अपने वचनके पक्के राजा थे । उनका अवदात चरित्र चरित्रगठन करनेवालोंके लिये सदा आदर्श बना रहेगा ।

चारित्रिक व्यवस्था

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, सभी राष्ट्रोंको उन्नति एवं सुख-शान्तिके लिये अपने देश-काल-परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए चरित्र-विधानकी सदा आवश्यकता रही है और रहेगी । 'यह करो, यह न करो',—इस प्रकार हितकारक आचरणका विधान ही चरित्रविधान शब्दसे निर्देश्य है । यह विधि-निषेधात्मक चरित्र-विधान यदि न बनाया जाय तो नासमझ मनुष्य अपनी चरित्रहीनतासे राष्ट्रकी ही नहीं, अपितु अपनी सुख-शान्तिका भी सत्यानाश कर डाले । इससे स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रकी आवश्यकता सभी राष्ट्रोंको सदा रहनी चाहिए ।

'किसीके धनके प्रति लोभ न करो'—इस निषेधात्मक हितकारक राष्ट्रके चरित्रविधानका जो लोग प्रकटरूपमें अतिक्रमण करते हैं, सरकार उन्हें कारागार भेज देती है । किसीने एकान्तमें किसीको मारकर दस लाख रुपये लूट लिये । उस धनसे सारा जीवन आनन्दमय बिताकर वह मर गया । यहाँ यह प्रश्न होता है कि उसे चरित्रविधानके अतिक्रमणपर कुछ दण्ड होगा या नहीं ?

जो राष्ट्र ऐसा मानेगा कि 'जब वह मर ही गया, तब उसे दण्ड कैसे मिलेगा ?' तो वह राष्ट्र शब्दान्तरमें यह स्पष्ट कह रहा है कि एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेसे कोई दण्ड नहीं होता । ऐसा कहनेवाला राष्ट्र कभी भी अपनी उन्नति तथा सुख-शान्तिकी स्थापना न कर सकेगा, क्योंकि लोग एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेमें न डरेंगे । अतः प्रकटरूपमें या एकान्तमें जब अपराध किया है तो उसका दण्ड प्राप्त होना ही चाहिये । इस न्याययुक्त दृष्टिसे तथा राष्ट्रकी उन्नति, सुख-शान्तिकी दृष्टिसे एकान्तके अपराधका भी दण्ड होता है, यह स्वीकार करना चाहिये । जो सरकार इसे स्वीकार करेगी, उसे जन्मान्तर भी स्वीकार करना पड़ेगा । क्योंकि जब इस जीवनमें दण्ड नहीं मिला । तब जन्मान्तरमें दण्ड मिलेगा । इसे माने बिना समस्याकी संगति नहीं लग सकेगी ।

जन्मान्तर मान लेनेपर ईश्वरको भी स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा । क्योंकि किस जीवने एकान्तमें कब, कहाँ और क्या अपराध किया है तथा उसे जन्मान्तरमें—कब, कहाँ और क्या दण्ड देना चाहिये, यह सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ ईश्वर ही जान एवं कर सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि जिस राष्ट्रका चरित्र-विधान ईश्वरीय विधानके अनुरूप होगा, उसके अनुसार ईश्वर जन्मान्तरमें दण्ड-विधान करेगा तो यह प्रश्न होता है कि उस अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादन—दो, चार, दस-बीस हजार वर्षवाले सादि पौरुषेय शास्त्रोंद्वारा नहीं हो सकता। ऐसी दशामें अनादि अपौरुषेय वेदोंको ही अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादक मानना होगा। तभी चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था हो सकेगी। इसके अनुसार जन्मान्तर-में ईश्वर दण्ड दे सकेगा। इसी प्रकार एकान्तमें किये गये 'भोगकाम'—रूप विवेकात्मक चरित्रविधानका फल भी ईश्वर जन्मान्तरमें तभी देगा, जब वह विधान ईश्वरीय चरित्रविधानके अनुरूप होगा।

ऊपर किये गये विवेचनका मनोयोगपूर्वक मनन करने-वाले सज्जनोंको यह स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि राष्ट्रकी उन्नति एवं सुखशान्तिके लिये चरित्रविधानकी आवश्यकता सभीको सदा रहती है और रहेगी। एकान्तमें किये गये चरित्रविधानके पालन-अपालनका फल पानेके लिये जन्मान्तर तथा सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ ईश्वरका मानना अनिवार्य है। चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था अनादि ईश्वरीय चरित्रविधान-प्रतिपादक अनादि वेदोंसे ही हो सकती है, सादि शास्त्रोंसे नहीं हो सकती।

इस विवेचनसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो राष्ट्र चरित्रविधानके पालन-अपालनका कर्ता शरीरको ही मानते हैं, उसीके लिये इसी जीवनमें तथा इसी लोकमें दण्डादिकी व्यवस्था करते हैं, उनकी व्यवस्था अधूरी है। शरीरसे पृथक् जीवात्मा मानकर जन्मान्तरमें तथा परलोकमें भी दण्डादिकी व्यवस्था करनेवाले वैदिकोंकी अनादि सनातन धर्मानुसार की गयी व्यवस्था ही पूर्ण है। अतः चरित्र-निर्माणको चाहिये कि वेद और वेदानुसारी ग्रन्थोंसे चरित्र-विधान जानकर तदनुसार आचरण करें।

सत्यकाम जाबाल

गौतम ऋषिके आश्रममें एक दिन एक छोटा-सा बालक आया। उसने बड़ी नम्रतासे ऋषिके चरणोंमें प्रणाम कर प्रार्थना की—'भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आपके चरणोंकी सेवा करना चाहता हूँ। आप मुझे स्वीकृति प्रदान करें।' महर्षिने स्नेहपूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

बालक बोला—'मैंने अपनी मातासे यह बात पूछी थी। उसने बताया कि जब वह तरुणी थी, तब मेरे पिताके घर बहुतसे अतिथि आया करते थे। मेरी माँ उनकी सेवामें बराबर लगी रहती थी। इसीसे वह पितासे गोत्र न पूछ सकी। मेरी शैशवावस्थामें ही पिता परलोक सिधार गये। इसलिये मुझे इतना ही ज्ञात है कि मैं माता जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

ऋषिने प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य! ब्राह्मणको छोड़कर अन्य कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो। मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कर देता हूँ।'

उपनयनके पश्चात् ऋषिने अपनी गोशालाकी चार सौ दुबली-पतली गायें चुनकर सत्यकामको दीं और कहा—'पुत्र! इन्हें चराने वनमें ले जाओ। जबतक इनकी संख्या एक सहस्र न हो जाय, तबतक लौटकर यहाँ मत आना।'

बालक सत्यकामने गुरुकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार की। धैर्यके धनी ज्ञानपिपासु उस सच्चरित्र बालकने गायोंको चारे-पानीकी पर्याप्त सुविधावाले वनमें ले जाकर उनकी सेवा आरम्भ कर दी। उसकी सेवासे कुछ ही वर्षोंमें

गोवंशकी संख्या हजारपर पहुँच गयी। तब एक दिन वृषभने आकर मनुष्यकी वाणीमें उससे कहा—'सत्यकाम! अब हमारी संख्या एक सहस्र हो चुकी है। तुम हमें गुरुदेवके आश्रममें ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्मके एकपादका उपदेश करता हूँ। दूसरे पादका उपदेश अग्निदेव करेंगे।' सत्यकामने श्रद्धापूर्वक उनसे ब्रह्मके एकपाद प्रकाशवान्‌का उपदेश ग्रहण किया और वह गायोंसहित गुरुके आश्रमको चल पड़ा।

अगले दिन सायंकाल उसका पड़ाव एक जलाशयके तटपर पड़ा। वहाँ अग्निदेवने प्रकट होकर 'अनन्तवान्' नामक ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश उसे दिया। तीसरे पड़ावपर हंसने 'ज्योतिष्मान्' नामक ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश दिया। चौथे पड़ावपर जलमुर्गने 'आयतनवान्' रूपसे ब्रह्मका उपदेश दिया।

इस प्रकार सत्यकामने गुरुसेवा तथा गोसेवाके प्रतापसे वृषभरूपमें वायुदेवता, अग्निरूपमें अग्नि देवता, हंस रूपमें सूर्यदेवता तथा जलमुर्गरूपमें प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। एक सहस्र स्वस्थ गाएँ लेकर जब वह गुरुदेवके आश्रममें पहुँचा, उसका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। उसे स्वस्थ एवं तेजोमय देखकर महर्षिने पूछा—'पुत्र! तू ब्रह्मज्ञानीके समान दिखायी देता है। तुझे किसने ब्रह्मज्ञान दिया?'

विनीत होकर सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्राप्त हुआ है। पर आप जैसे आचार्यद्वारा प्राप्त विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अब आप मुझे उपदेश करें'—कहकर सत्यकामने विद्याप्राप्तिकी पूरी बात कह सुनायी।

अपने भक्त सेवक एवं विनम्र उस सच्चरित्र शिष्यको महर्षिने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया—'पुत्र! तूने जो कुछ जाना है, वही ब्रह्मतत्त्व है। अब तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है।'

चरित्र और चरित्रवान्

(लेखक—आचार्य श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी, एम० ए०)

संसारके सभी देशोंमें प्रत्येक नागरिकसे सदा यह आशा की जाती रही है कि वह समाजका उपयोगी अङ्ग बनकर समाजमें शाश्वत शान्ति, सद्भाव और सहयोगके साथ दूसरेका हित करनेकी भावनासे कार्य करता रहेगा। शिष्ट, सभ्य और सुशील नागरिक बननेके लिये वाणी और व्यवहारकी शुद्धि या मन-शुचिता आवश्यक और अनिवार्य है। प्रत्येक नागरिकको अपनी वाणी और व्यवहारसे अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको संतुष्ट करनेका यत्न करना चाहिये। यही शील है। यही चरित्रका आधार है। वाणी और व्यवहारकी इस शुचिताके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थामें ही माता-पिता, अभिभावक या गुरु उसे सम्यक् शिष्टाचारकी शिक्षा प्रदान करें। इससे वह अपने घरमें और समाजमें अपनेसे बड़ों, अपने बराबरवालों और अपनेसे छोटोंके साथ आदर, सद्भाव और स्नेहका व्यवहार करेगा। इसीलिये प्राचीनकालमें गुरुकुलोंमें यह नियम था कि बालकको गुरु सर्वप्रथम शौच, शिष्टाचार आदि ही सिखाते थे—

> उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
> आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
> (मनु० २। ६९)

शिष्टाचारके अन्तर्गत घरके वृद्धजन—पितामह-पितामही, माता, पिता, चाचा आदिके प्रति आदरपूर्ण, श्रद्धापूर्ण तथा सेवाभावित व्यवहार, अपने भाई-बहनोंमेंसे बड़ोंका आदर और सम्मान, छोटोंके प्रति स्नेह और सद्भाव, उनकी भावनाओंका आदर और तोषण, उन्हें

दुखी, प्रसन्न और संतुष्ट करनेका प्रयत्न, घरके सेवकोंके प्रति सदय व्यवहार, अपने पड़ोसियोंसे स्नेह और सहयोगके साथ निर्वाह, गुरुकुल या विद्यालयमें अपने गुरुओंके प्रति आदर और सेवाका भाव, अपनेसे बड़े छात्रोंके प्रति आदर और अपने समवयस्क साथी छात्रोंके प्रति सहयोग, सत्यनिष्ठा, और सहायता-का भाव तथा अपनेसे छोटी कक्षाके छात्रोंके प्रति उदारता, सहयोग, स्नेहका भाव आदि सब संनिहित हैं। समाजमें वृद्धजनोंका आदर और सम्मान करना, मन्दिर, सभा आदि सार्वजनिक स्थलोंमें शान्त और मौन होकर वहाँके क्रियाकलापमें मर्यादा और शान्तिपूर्वक आवश्यक सहयोग एवं परामर्श देना, अपने देशके प्रति पूर्ण भक्ति तथा निष्ठा रखते हुए (अपने देशके) पर्वत, नदी, नगर, ग्राम, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि सबके प्रति ममत्वपूर्ण स्नेह बनाये रखना और उनकी निरन्तर रक्षा करनेमें तत्पर रहना, कोई भी ऐसा काम न करना जिससे देशका असम्मान हो तथा अन्य धर्मों, धर्मस्थानों एवं धर्मावलम्बियोंके प्रति हार्दिक सद्भाव और सहन-शीलता बनाये रखना—शिष्टाचार, शील या चरित्रका प्रथम सोपान है।

इन समस्त शिष्टाचारोंका बीज वाणीके संस्कारपर पूर्णतः निहित है। इसीलिये—'वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते'* कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

तुलसी मीठे बचन तें सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर॥

वाणी और व्यवहारका यह माधुर्य ही समष्टिरूपसे शील या चरित्र कहलाता है। अपने मनका सम्पूर्ण अहंकार निकालकर ऐसी स्निग्ध वाणीका प्रयोग करना चाहिये, जिसका प्रयोग स्वयंको भी अच्छा लगे और दूसरोंको भी सुख दे। शीलवान् पुरुषका मुख्य लक्षण भी यही है कि वह अपनी वाणीसे कभी किसीको किसी प्रकारका मानसिक कष्ट नहीं पहुँचाता। वह जिससे बात करता है, वह उसकी बातपर ही मुग्ध होता रहता है। इसीलिये कहा जाता है कि गुड़ न दे तो गुड़-जैसी बात ही करे। इस प्रकारकी वाणीका व्यवहार करनेवाले शीलवान् पुरुषका सर्वत्र समादर होता है। उसका लक्षण ही यह है कि वह न तो अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करता है, न दूसरोंसे ही अपनी बड़ाई कराता है और यदि कोई उसकी प्रशंसा करने भी लगता है तो वह तत्काल उसे टाल जाता है। शीलवान् पुरुषका दूसरा लक्षण यह है कि वह 'त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः'—सदा दूसरोंका उपकार करता रहता है, पर वह भूलकर भी कभी किसीसे उसकी चर्चा नहीं करता। फारसीमें कहावत है—'नेकी कुन दरिया अंदाज'—दूसरेकी भलाई करो और उस भलाईकी बात नदीमें बहा दो।' भलाई करके उसका ढंका पीटना, उस भलाईके महत्त्वको समाप्त कर देता है।

शीलवान् पुरुषका तीसरा लक्षण यह है कि—यदि उसके प्रति किसीने छोटा-से-छोटा भी उपकार किया हो या उसकी सहायता की हो तो वह उसे सदा बहुत बड़ा बनाकर निरन्तर कृतज्ञतापूर्वक उसकी प्रशंसा करता रहता है। अपने प्रति किये हुए उपकारको जो नहीं मानता, वह कृतघ्न नराधम व्यक्ति समाजमें रहनेके योग्य ही नहीं है। भगवान् रामके शीलके सम्बन्धमें कहा जाता है—

सुनि सीतापति सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

श्रीहनुमान्‌जीने उनके लिये सीताजीकी खोजका सेवा-कार्य किया था। उसके लिये वे हनुमान्‌जीके

* सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्यका ऐसा दिव्य अलंकार है, जिससे मनुष्य सदा सम्मानित और लोकप्रिय होता है।

प्रति निरन्तर चर्नोंई (कृतज्ञ) बने रहे। शबरीने जो उन्हें बेर खिला दिये थे, उन बेरोंके स्वादको वे मिथिला और अयोध्याके राजसी भोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वादिष्ट बताते रहे। इसके अतिरिक्त अपने पिता, माता—यहाँतककी वनवास दिलानेवाली विमाताके प्रति भी उन्होंने सदा शीलयुक्त व्यवहार किया। अपने भाइयों, अपने मित्र विभीषण और सुग्रीव तथा अपनी प्रजाके प्रति भी उनका प्रेम आदर्श रहा। महर्षि विश्वामित्र और गुरु वसिष्ठके प्रति उनका आदर-भाव संसारमें अद्वितीय रहा है। ऐसा शीलयुक्त व्यवहार मनुष्यताका प्रथम और नितान्त अभीष्ट अङ्ग है, जिसका आधार हृदयकी उदारता और वाणीका माधुर्य है।

शीलयुक्त वाणीके चार अङ्ग माने जाते हैं—वह शुद्ध हो, अर्थात् वाणीमें व्याकरण अथवा सामाजिक शीलकी कोई त्रुटि न हो; कलात्मक हो, अर्थात् उसे सुनकर श्रोता तत्काल उसकी ओर आकृष्ट होकर खिल उठे। वह वाणी इतनी मधुर हो कि श्रोता उसके बोलनेके ढंगपर ही मुग्ध हो उठे; साथ ही वह वाणी प्रभावशाली भी हो, अर्थात् ऐसी मधुरताके साथ कही गयी हो कि श्रोतापर उसका समुचित प्रभाव पड़े और वह कहनेवालेके मन्तव्य समर्थन करने लगे। इसीलिये संसारके सभी देशोंके महापुरुषों, मनीषियों तथा महान् शिक्षा-शास्त्रियोंने शीलको ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है और इसीलिये सभी देशोंमें समान रूपसे उन सब तत्त्वोंको आवश्यक शिक्षाके अन्तर्गत स्वीकृत कर लिया गया है, जिनसे मनुष्यमें मनुष्यता आती है। सार्वभौम, सार्वकालीन अर्थात् शाश्वत शिक्षाके सर्वमान्य सिद्धान्तोंके अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठ नागरिकको अनुशासित, सभ्य, नम्र, पर-हितकारी तथा परार्थमानित नागरिक होना ही चाहिये। इन गुणोंकी पुष्टिके लिये उपर्युक्त वाणीका माधुर्य और व्यवहारकी शुद्धि अर्थात् सत्यनिष्ठा परम आवश्यक है। यही सच्चरित्रता है।

योगक्षेम—प्रत्येक व्यक्तिको अपना जीवन-निर्वाह तो करना ही पड़ता है। इसके लिये उसे अपनी योग्यता, परिस्थिति, वातावरण, साधन तथा परिवेशके अनुसार तत्तत्स्थानीय सुलभ पदार्थों और अवसरोंके आधारपर सत्यता और सद्वृत्ति-(ईमानदारी) के साथ अपना और अपने आश्रितोंका योगक्षेम वहन करनेके लिये अपने परिवारके बड़े-बूढ़ों अथवा गुणीजनोंसे अपने कुल व्यवसाय-(कुलीनिका-)का वह आवश्यक कौशल अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये, जिसके द्वारा वह सबको संतुष्ट करते हुए सद्वृत्तिके साथ अपने कर्तव्य और अधिकारका निर्वाह करते हुए अपने परिवारका पोषण कर सके। साथ ही जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें वह आये, उन्हें अपनी मधुर वाणी, स्नेहपूर्ण व्यवहार, सत्यनिष्ठा, तत्परता और सद्भावसे तृप्त भी कर सके। केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करना ही अर्थ-सिद्धिके लिये आवश्यक नहीं है, उसके साथ व्यवहारशुद्धि (ईमानदारी), शील और वचनपालन भी नितान्त आवश्यक है—'अर्थशौचं परं स्मृतम्।' (मनुस्मृ० ५। १०६)

पारिवारिक चरित्र—प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवारका स्वाभाविक अङ्ग होता है, चाहे वह परिवार माता-पिता, भाई-बहनका हो, चाहे किसी आश्रममें गुरु अथवा सहयोगी अन्तेवासियों या सहाध्यायियोंका हो, चाहे अन्य किसी समुदायका हो। पर आवश्यक यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने उस परिवारके लिये उपकारी अवश्य सिद्ध होना चाहिये। अर्थात् मनुष्य जिस प्रकारके परिवारमें भी रहे, वह शुद्धतम पारस्परिक सद्भाव, सहयोग, सहायता और सेवाकी भावनासे कार्य करे, दूसरोंपर अपना रोब जमाने, प्रभुत्व दिखाने और दूसरोंको दबाने करनेकी भावना उसमें न हो। उसका धर्म यह होना चाहिये कि वह स्वयं कष्ट और असुविधा सहकर भी अपने परिवारके अन्य सदस्योंके हित और कल्याणका उपाय सोचे और यथाशक्ति सबकी सहायता करता रहे।

सामाजिक शील—प्रत्येक व्यक्ति जहाँ एक ओर परिवारका आवश्यक और स्वाभाविक अङ्ग होता है, वहीं वह उस समाजका भी अङ्ग होता है, जिसमें वह जन्म लेता, जिसके बीच वह रहता, काम करता, अपनी जीविका चलाता तथा व्यवहार करता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिके कई प्रकारके समाज बन जाते हैं। परिवारका एक समाज, जातिका दूसरा समाज, पड़ोसका तीसरा समाज, धर्मका चौथा समाज, व्यवसायका पाँचवाँ समाज, खेलकूद या विनोद आदिका छठा समाज, विद्या और शिक्षाका सातवाँ समाज, विचार या राजनीतिक दलका आठवाँ समाज आदि अनेक प्रकारके समाजोंमें प्रत्येक व्यक्ति एक होते हुए भी अलग-अलग ढंगसे अपने विभिन्न समाजोंकी नीतिके अनुसार व्यवहार करता है। इन सभी प्रकारके समाजोंमें उसे उपकारी, सहयोगी, सहनशील और सेवापरायण होनेके साथ-साथ सद्भाव-सम्पन्न होना ही चाहिये। तभी वह अपने इस समाजकी समुचित सेवा भी कर सकता है, उस समाजमें आदर भी प्राप्त कर सकता है, उस समाजको समुन्नत भी कर सकता है और उसके द्वारा लोक-कल्याणके कार्य भी कर सकता है।

देशभक्ति और मानवता—जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार या समाजमें रहता और व्यवहार करता है, उसी प्रकार वह एक देशमें भी रहता है। उस देशके जन-समाजकी भावनाओं, कामनाओं, आकाङ्क्षाओं, अभिलाषाओं आदि सबमें उसका भी यथोचित भाग, अधिकार और कर्तव्य निहित रहता है। देशके निवासीके रूपमें वह अपने देशके विभिन्न समुदायों, धार्मिक सम्प्रदायों, राजनीतिक दलों तथा सम्पूर्ण जन-समाजका अनिवार्य अङ्ग बन जाता है। ऐसी स्थितिमें उसका कर्तव्य हो जाता है कि न तो स्वयं वह कोई ऐसा काम करे न दूसरोंको करने दे, जिससे देशके सम्मान, सम्पत्ति और स्वाभिमानको ठेस लगे। उसे सबसे मिलकर इस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये कि देश समृद्ध, शक्तिशाली और समुन्नत हो। उसपर किसी अन्य देश, जाति अथवा व्यक्तिका शासन न होने पाये। जो देशके विरोधी या शत्रु हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये उसे अपना सर्वस्व त्याग करनेको भी सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। जो व्यक्ति, जाति, राष्ट्र या समाज अपने देशको किसी प्रकारकी हानि पहुँचानेका प्रयत्न करें अथवा अपना या अपने परिवारका स्वार्थ सिद्ध करना चाहें, उनका निर्भय और निष्पक्ष होकर विरोध करना चाहिये। उस विरोधके लिये जो भी कष्ट सहना पड़े, उसके लिये भी सदा तत्पर रहना चाहिये।

देश-भक्तिकी भावनासे भी ऊँची मानवतावादी या विश्वहितकी भावना है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रयत्नपूर्वक यह मनाते रहना चाहिये कि विश्वके सारे प्राणी सब सुखी हों, और सुखी रहें। परस्पर बन्धुत्व-भावसे एक दूसरेकी सहायता करें। प्रेम और सद्भावके साथ रहें, समष्टिरूपसे लोक-कल्याणका उपाय करते रहें और कोई भी ऐसा कार्य न करें, जिससे मानवजाति, यहाँतक कि पशु-पक्षी या वृक्षादिका भी संहार और विनाशकी किसी भी प्रकार सम्भावना न हो—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

स्वस्थ शरीर और संतुलित मन—ऊपर प्रत्येक सच्चरित्र नागरिकके लिये जो अनेक प्रकारके व्यवहारों और कर्तव्योंका निर्देश दिया गया है, वह तबतक सम्भव नहीं है, जबतक मनुष्यका शरीर पूर्णतः स्वस्थ और सक्रिय न हो, उसका मन अविग, निर्भय और संतुलित न हो और उसमें उदार शीलयुक्त व्यवहार-बुद्धि न हो। जबतक मनुष्यका शरीर सक्रिय नहीं होता, उसका मन व्यवस्थित, स्थिर और सन्तुलित नहीं होता तथा उसकी बुद्धि व्यवहारशील नहीं होती, तबतक वह परिवार, समाज या देशमें रहकर भी अपने कर्तव्यका

कर सकता । इसलिये सर्वतोभावेन मनुष्यको नीरोग रहनेके लिये सरल, सात्त्विक भोजन, नियमित और संयत जीवन, निरालस कार्य-संलग्नता और तत्परता नितान्त आवश्यक है । जबतक यह सामर्थ्य नहीं होती, तबतक वह किसी प्रकारसे भी अपना या दूसरोंका कोई हित-साधन नहीं कर सकता । समाजका प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकारके मादक पदार्थोंका त्याग करके यदि संतुलित, सात्त्विक आहारका आश्रय ले, ठीक समयपर रातको शीघ्र सोकर प्रातः शीघ्र उठकर समयसे व्यायाम, प्राणायाम, भोजन एवं भगवद्भजन करके अपना नित्य और नैमित्तिक कर्म करता रहे तथा गर्मी, सर्दी वर्षासे सुरक्षित रहकर ऋतु-परिवर्तनके दोषोंसे बचता हुआ जीवन-यापन करे, ईश्वरमें श्रद्धा रखकर और निर्भर होकर कार्य करे तो वह चरित्रवान् पुरुष निश्चय ही दीर्घजीवी होकर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण करता हुआ सबका श्रद्धा-भाजन बनकर यश और कीर्ति अर्जित कर सकता है—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ (मनु०)

धार्मिक सहिष्णुता—संसारमें बहुत-से देश हैं । उनमें अनेक प्रकारके सम्प्रदाय और धर्म प्रचलित हैं । उन सभीकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड और सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक व्यवस्थित बुद्धि और संतुलित व्यक्तित्ववाले सदाचारी पुरुषका धर्म है कि वह अपने विश्वासके अनुसार अपनी उपासना-पद्धति और कर्म-काण्डका अनुगमन करे, पर यथासम्भव उसे दूसरोंकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्डका तथा उनके धार्मिक उत्सवों और पर्वोंका भी सम्मान करना चाहिये । देशमें, और विश्वमें शान्ति बनाये रखनेके लिये इस प्रकारकी धार्मिक सहनशीलता आवश्यक है । यह वृत्ति तभी आ सकती है, जब प्रत्येक व्यक्तिमें धर्मबुद्धि जाग्रत् हो, दूसरेका हित सोचनेकी, किसीकी हिंसा न करनेकी और लोक-कल्याण करनेकी भावना विद्यमान हो । यह भावना तभी पुष्ट होती है, जब प्रत्येक देशका नागरिक अपने देशके सब निवासियोंकी भावनाओंका आदर करना सीख ले और अपने देशके महापुरुष, पर्वत, नदी, नद, तीर्थस्थान, नगर, पशु, पक्षी, बिल्व, तुलसी आदि वृक्ष-पौधे सबको अपना आदरणीय एवं आत्मीय समझकर सबके संरक्षण और समुद्धरणके लिये निरन्तर प्रयास करता रहे । जब हम इस प्रकारकी व्यापक उदार भावना अपने देशके नागरिकोंमें भर सकें, तब हमें समझना चाहिये कि हम उन्हें उच्च चरित्रकी ओर अग्रसर कर रहे हैं ।

आजकल प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि हमारी शिक्षा-प्रणाली बड़ी दूषित है, किंतु इसी शिक्षा-प्रणालीमेंसे ही तो महामना मालवीयजी, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य अनेक उदारचेता देशभक्त, यशस्वी, सदाचारवान् महापुरुष उत्पन्न हुए हैं । अतः शिक्षा-प्रणाली जो भी हो, हम निश्चितरूपसे इसी शिक्षा-प्रणालीके अन्तर्गत चरित्र-शिक्षाकी योजना भी सिद्ध कर सकते हैं । किंतु उसके लिये ऐसे नियोजित और सुव्यवस्थित व्यक्तित्ववाले अध्यापकों और धार्मिक नेताओंकी आवश्यकता है, जो चारित्रिक शिक्षामें निष्ठापूर्वक विश्वास रखते हों और स्वयं आदर्शचरित्र हों । चारित्रिक आदर्श पुस्तकों, व्याख्यानोंकी अपेक्षा आचरणसे अधिक प्रभावकारी होता है । अतः उसकी विशेष आवश्यकता है । सारे संसारको चरित्रकी शिक्षा देनेवाला भारत तब अपना आदर्श पुनः स्थापित कर सकता है ।

महान् चरित्र-निर्माता समर्थ गुरु रामदास

(लेखक—डॉ० श्रीविष्णुवासुदेवजी मुळे)

आज विश्वमें जो चरित्रहीनताका दर्शन होता है, प्रायः कुछ वैसी ही चरित्रहीनता समर्थ गुरु रामदासस्वामीजीके समय थी। यवनोंके बारंबार होनेवाले आक्रमणोंसे सर्वत्र अंधकार छा गया था। स्त्रियोंको भ्रष्ट किया जा रहा था। सर्वत्र धन, धान्य, संपत्ति और स्त्रियोंका अपहरण होता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ हो रही थी। इस अंधाधुंध वर्तावसे समाजमें अनीति, चरित्रहीनता, दुर्व्यसन तथा नैराश्य आदिकी वृद्धि हो रही थी। इन्हीं दिनों श्रीरामदासस्वामीजीने बारह साल्तक भारतवर्षमें आसेतुहिमाचल तीर्थाटन किया। इस यात्रामें उन्होंने भारतीय जनतामें फैले चारित्र्यहीनताका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन किया और इस चारित्र्यहीनताको दूर करनेके लिये क्या किया जाय? यह विचार कर वे जनतामें सच्चरित्रताका प्रसार करनेके लिये कटिबद्ध हुए।

उन्होंने जनतामें फैली हुई निराशाको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम युवकोंको शक्ति-बुद्धिके देवता श्रीहनुमान्-जीकी उपासनाकी ओर प्रेरित किया। फिर व्यायाम और कर्मोंके खेलोंद्वारा उनका विशेष संघटन किया। उन्होंने अपने उपदेशोंके माध्यमसे लोगोंको सच्चारित्र्यकी भी शिक्षा दी। श्रीरामदासस्वामीजीने इसके लिये प्रायः एक हजार प्रचार-संस्थान अर्थात् मठ, अखाड़े भारतमें स्थापित किये और वहाँ अत्यन्त शीलसम्पन्न, अनुभवी, निःस्पृह प्रचारकोंको भेजकर, रखकर जनसामान्यको चारित्र्यवान् बनानेका प्रयास किया। उन्होंने ग्राम-ग्राममें शक्ति-बल-बुद्धिदाता श्रीमहारुद्र हनुमान्‌जीकी मूर्तिकी स्थापना कर प्रत्येकके सामने हनुमान्‌जीका आदर्श रखनेका प्रयत्न किया। इनके परिणामस्वरूप उन्हींके शिष्य छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजद्वारा महाराष्ट्रदेश यवनोंकी दासतासे मुक्त होकर ...

उन्होंने अपने 'दासबोध' तथा अन्य दूसरे काव्यों-द्वारा कलियुगी चारित्र्यहीनताका दर्शन करवाया है। साथ ही इस चारित्र्यहीनताको हटाकर चारित्र्यसम्पन्नता कैसे प्राप्त की जाय, इसका भी योग्य मार्गदर्शन अपने काव्योंमें तथा ग्रंथराज 'दासबोध'में कराया। वे कहते हैं—

रूप लावण्य अभ्यासतां न ये। सहज गुणांसी न चले उपाये।
कांही तरी धरावी सोये, आगंतुक गुणाची॥
(दासबोध)

मानव अपना नैसर्गिक रूप तो नहीं बदल सकता, किंतु अपनेमें जो दुर्गुण निवास कर रहे हैं, उन्हें प्रयत्न कर सद्गुणोंमें परिवर्तित कर सकता है। इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दासबोध'में 'उत्तम लक्षण' आदि प्रकरणोंद्वारा और बहुत-से काव्योंद्वारा सच्चारित्र्यवान् मानव बननेके लिये अनेक मार्ग प्रदर्शित किये हैं। बालक और विद्यार्थियोंमें सदाचार सम्पन्नता हो—इसके लिये उन्होंने बहुत-से काव्य रचे। एक काव्यमें वे कहते हैं—'बच्चो! सत्य बोलो। बुद्धिको विवेकयुक्त रखो और चित्तमें सदा सद्गुणोंको ही धारण करो। अपना शरीर और वस्त्र स्वच्छ रखो। गंदगीसे सदा दूर रहो। अपनेमें जो वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध हैं उनकी सेवा करो, उनका सम्मान करो और उनके उपदेश सदा हृदयमें धारण करो।'

श्रीरामदासस्वामीजीका 'मनोबोध' अर्थात् मनको बोध नामक २०५ श्लोकोंका काव्य है। इसे उपनिषद्-सार समझा जाता है। इसका महाराष्ट्रके घर-घरमें पठन किया जाता है। इस काव्यके आरम्भिक इक्कीस श्लोकतक स्वामीजीने सच्चरित्रताके लिये कैसा बर्ताव ... इसका अत्यन्त सुंदर मार्गदर्शन किया

है। वैसे कहें तो श्रीरामदासस्वामीजीने अपने सम्पूर्ण वाङ्मयद्वारा चारित्र्यहीन मानवको चारित्र्यसम्पन्न बनानेका महान् प्रयत्न किया है। उनके सम्पूर्ण वाङ्मयका यथार्थ दर्शन करनेका प्रयत्न इस लेखके द्वारा करना विस्तारभयके कारण असंभव है। 'दासबोध' और 'मनोबोध'—इन दोनों ग्रंथोंके हिंदी भाषान्तर प्रकाशित हो चुके हैं। पाठक वर्ग-इन ग्रंथोंमें ऊपर निर्दिष्ट प्रकरणोंको देख सकते हैं। अस्तु !!

'जय जयरघुवीर समर्थ।'

प्राचीन भारतमें शिक्षासे चरित्र-निर्माण

(लेखिका—डॉ० (कु०) कृष्णा गुप्ता, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतवर्ष प्राचीनकालसे ही ज्ञान एवं विज्ञानका प्रेमी रहा है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के अनुसार इस देशमें प्रमुख ब्राह्मण अर्थात् दार्शनिक और वैज्ञानिक ही रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों-के सम्बन्धमें भारतके विद्वानोंने इतनी गवेषणा की है और इतने श्रेष्ठ ग्रन्थोंकी रचना की है, जिससे सारा संसार उनके सामने नतमस्तक है। अतीत इस बातका साक्षी है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने आध्यात्मिक स्वरूपको अचल रखते हुए देशको गौरवान्वित किया है। यहाँकी आदर्श एवं गौरवमय संस्कृतिकी आत्माका दर्शन यहाँकी शिक्षामें होता है। हमारे पूर्वजोंकी शिक्षा रही है—'ज्ञान जहाँसे मिले वहाँसे ग्रहण करो और युक्तियुक्त, न्याययुक्त और ज्ञानवर्धक शिक्षाको ग्रहण करो।' वैदिक धारणाके अनुसार देवता लोग सर्वज्ञ होते हैं—'विद्वांसो हि देवाः' (शतपथ० ३।७।३।१०)। मनुष्यमें भी विद्यासे दिव्यताका प्रवेश होता है। विद्याविदोंने विद्याको नेत्र, वात्सल्य और कामधेनुतक माना है—

> मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
> कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
> लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
> किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥
> (भोजप्रबन्ध)

अथर्ववेदके अनुसार शिक्षा एवं ज्ञानसे चक्षु, प्राण और प्रजा पानेकी शिक्षा है—

> यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
> तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
> (अथर्व० १०।२।२९)

उपनिषदोंमें तो ब्रह्मज्ञानका सर्वाधिक महत्त्व रहा। ब्रह्मज्ञानके द्वारा स्वयं ब्रह्म बनना, अपने कुलको ब्रह्मज्ञानकी प्रतिष्ठा करना, शोकसे पार करना, पापरहित होना, अमरता तथा गुहा-ग्रन्थिसे मुक्ति पाना सम्भव माना गया है। (मुं० उ० ३।२।९) अध्ययन और नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धर्मका प्रमुख अङ्ग माना गया है। (छा० २।२३।१) विद्यासे अमरता पानेकी भी सम्भावना बतायी गयी है (ई० ११, पू० आ० १।५।१६)। अर्थशास्त्र (३।२०) में पूज्य लोगोंमें विद्या और बुद्धिसे युक्त लोगोंके लिये सर्वोच्च स्थान नियत किया गया है (अर्थशास्त्र ३।२०)। महाभारतके अनुसार भी ब्राह्मणोंमें पूज्यता विद्यासे उत्पन्न होती है—

> यो विद्यया तपसा जन्मना वा
> वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम्।
> (महा० ३।८४।२)

मनुने ब्राह्मण-समाजकी प्रतिष्ठाका आधार ज्ञानको ही बनाया है। उनके अनुसार वही ब्राह्मण ज्येष्ठ है, जो सबसे अधिक ज्ञानी है। अशिक्षित ब्राह्मण काठके हाथीके सदृश अपने नामको सार्थक नहीं करता (मनु० २।१५७-८)। मनुने विद्याकी प्रशंसा करते हुए विवेचन किया है कि ब्राह्मणके लिये तप और विद्या

दोनों निःश्रेयस्कर हैं। इनसे तपके द्वारा वह पापको नष्ट करता है और विद्याके द्वारा अमरपद पाता है। इनकी महिमाका निर्देश करते हुए मनुने कहा है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(मनु० १२। १०२)

पुराणोंमें वेदोंका ज्ञान एवं अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना गया। इनका अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, जितना यज्ञोंको धारण करना। वेद मनस्तके लिये परिधान-सदृश हैं—

पानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं यध्याय चेष्टते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्॥
(वि० पु० २। ६। ४९)

इस प्रकार विद्या और ज्ञानको मनुष्यका जीवन प्रदान करनेवाला माना गया है और इसीके द्वारा अमरत्व प्राप्त होता है। यह विद्या धन, बन्धु, कर्म, जाति, अवस्था सबसे प्रमुख है और ज्ञान इनसे भी श्रेष्ठ माना है— विद्या ददाति विनयम्—विद्यासे विनय प्राप्त होता है। वित्तं बन्धुः कर्म जातिर्वयश्चैव पञ्चमी मान्यानि। परं परं गरीयांसि। श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः। (गौतमधर्मसूत्र ६। २०—२२)

उन दिनोंमें प्रायः प्रत्येक आचार्यकी यही कामना रहती थी कि उसका शिष्य विद्वान् बनकर यश प्राप्त करे और आचार्य बनकर शिष्योंको पढ़ाये। इससे शिष्यपरम्परासे ज्ञान अमर रहेगा। विद्यार्थीको अपनानेसे पूर्व आचार्य उसके शील और चरित्रकी परीक्षा लेते थे। पिप्पलादने कौसल्यको प्राण-विद्याकी शिक्षाके योग्य इसी कारण माना था कि वह अशिष्ट था। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (१। १) के अनुसार मान (अभिमान)का न होना विद्या प्राप्त करनेके लिये सर्वोत्तम गुण था। प्राचीन भारतमें शिक्षाकी धारणा विस्तृत एवं बहुमुखी थी। विद्या सभी प्रकारकी लौकिक सम्पदा एवं पारलौकिक आनन्दकी आधार थी। विद्याके द्वारा विद्यार्थी अपनी वैयक्तिक चेतनाओंको जागरित तथा अपने व्यक्तित्वका विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदयके लिये प्रवृत्त होता था। ऐसे विद्यार्थियोंके लिये आधिभौतिक ऐश्वर्यकी मनोहारिता बहुत अधिक स्पृहणीय नहीं होती थी। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरणरज पाकर अपनेको धन्य मानता था। ईशावास्योपनिषद्में उपासनाके दो भेद माने गये हैं—ज्ञान एवं कर्म—

विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(ईशोप० ११)

'विद्या या ज्ञानके द्वारा विद्यार्थी अमरत्वको प्राप्त करता है एवं कर्मके द्वारा भौतिक समृद्धिको। उपासकके द्वारा कामना की गयी है कि परमात्मा उसे असत्से सत्, तमसे ज्योति एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले चलें—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय। (बृहदा० उप०)

प्राचीन भारतमें विद्यार्थीका जीवन ज्ञान एवं कर्तव्य-पालनमें व्यतीत होता था। उस समय बिना आचार पालनके शिक्षाके आदर्शोंकी प्राप्ति प्रायः असम्भव थी। शिक्षाका आदर्श मात्र बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना न था। उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उसका आचरण था। इसके द्वारा विद्यार्थीमें अनेक मानवीय गुणोंका विकास होता था। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता था। विद्यार्थी जीवनके नैसर्गिक धरातलसे सांस्कृतिक धरातलको प्राप्त करता था, जिसके द्वारा शैक्षणिक संस्कार—विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ आदिका जन्म हुआ। इन संस्कारोंके साथ उसको नियमित दिनचर्या व्यतीत करनी पड़ती थी, जिसके द्वारा उसका आचरण अनुशासन एवं शीलयुक्त होता था। इस प्रकार एक विशेष साँचेमें ढला हुआ विद्यार्थी बुद्धिसे प्रखर एवं मनसे महान् होता था—'आचरणमतः

कर्णवन्तः मनोजवेष्वसमा बभूवुः (ऋ० १०। ७१।७)। विद्यार्थीमें एक विशेष प्रकारका तेज, परिज्ञान एवं नेतृत्व प्राप्त होता था। सुसंस्कृत व्यक्ति विद्यासे सुख, यश, कीर्ति, ज्ञान, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता था—

विद्यया प्राप्यते सौख्यं यशः कीर्तिस्तथातुला।
ज्ञानं स्वर्गः सुमोक्षश्च तस्माद्विद्याप्रसाधनम्॥
(पद्मपुराण)

प्राचीनकालमें शिक्षाके आदर्श मूलरूपमें व्यावहारिक थे। इस समय विद्याध्ययन केवल गौणरूपसे ही धन कमानेके लिये है। उस समय सुसंस्कृत छात्र ही सच्चे अर्थोंमें विद्यार्थी बनते थे एवं समाजके लिये उपयोगी नागरिक होते थे। उनका जीवन विनय, शील एवं संयम आदि गुणोंसे परिपूर्ण होता था। उनका चित्त स्वाध्यायसे एकाग्र हो जाता था। इससे इन्द्रियोंपर संयम होता था। उनकी प्रज्ञा बढ़ जाती थी। उन्हें लौकिक यशकी प्राप्ति होती थी और वे लोकको अभ्युदयकी ओर लगा देते थे। वे अपने ज्ञानके द्वारा समाजके प्रति उत्तरदायित्वको पूर्ण करते थे। इसके बदले समाज अपनी आदर भावनासे, दानसे और सुरक्षासे उन्हें संतुष्ट करता था।

चरित्र-सम्बन्धी कुछ प्रेरक प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीरामप्रतापजी व्यास, व्याख्याता, एम्० ए०, एम्० एड्०, साहित्यरत्न)

चारित्र्य सम्पूर्ण गुणोंका एक ऐसा जगमगाता पुञ्ज है, जो दानवको मानव एवं मानवको देवताकी श्रेणीमें ला खड़ा कर देता है। चरित्रवान् मानव समाजमें सदासे पूजनीय रहे हैं। उनके सद्गुणोंसे हजारों मनुष्योंको प्रेरणाएँ मिली हैं और अपने जीवनको सन्मार्गकी ओर मोड़नेमें लोगोंने सफलताएँ प्राप्त की हैं। यहाँ चरित्र-सम्बन्धी कतिपय महापुरुषोंके जीवनसे कुछ ऐसे ही प्रेरक प्रसङ्ग दिये जा रहे हैं—

१—'आप मेरी माता हैं'

छत्रसाल बड़े प्रजापालक थे। वे अपनी प्रजाकी पुत्रवत् देखभाल करते थे। वे राज्यका दौरा करते और जनतासे उसकी कठिनाइयाँ पूछते थे। एक बार एक युवती महाराजकी ओर आकर्षित हुई। वह उनके पास आकर बोली—'राजन्! आपके राज्यमें मैं दुःखी हूँ।' यह सुनकर छत्रसाल बड़े दुःखी हुए। वे बड़े सोचमें पड़ गये। मन-ही-मन कहने लगे—'मेरे लगातार प्रयत्नशील रहनेपर भी राज्यकी जनता दुःखी रहे, यह मेरे लिये लज्जा है।'

उन्होंने महिलासे कहा—'देवि! बताइये आपको क्या कष्ट है। मैं उसे दूर करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।'

'ऐसा आश्वासनभरी बातें सभी करते हैं, पर उसे पूरी करनेवाले विरले ही होते हैं। पहले आप वचन दें तो मैं अपनी बात बता सकती हूँ।'—युवतीका उत्तर था।

'हाँ! हाँ!! आप अपनी बात निःसंकोच कहिये'—सरल हृदयी महाराजका उत्तर था।

'मैं चाहती हूँ कि आप जैसी संतान मेरे भी हो'—रमणीका जवाब था।

महाराज यह सुनकर स्तब्ध रह गये। फिर विवेक व संयमसे काम लेते हुए, उन्होंने उस महिलाके चरणोंमें मस्तक झुकाकर निवेदन किया—'माँ! आप जिस पुत्रकी कल्पना कर रही हैं, सम्भव है, वह वैसा हरद न हो, इसलिये आजसे आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार करें।'

नरेशका यह उत्तर सुनकर नारीको मूर्च्छा आगी। उसे अपनी त्रुटिका बोध हो गया। राजा जीवनभर उसके प्रति राजमाताके समान सम्मान रखते रहे।

२—सभ्यताकी कसौटी

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका गये थे तो एक दिन वे जब गेरुए वस्त्रमें एक सड़कसे गुजर रहे थे, तो कुछ लोगोंको उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य लगा। वे लोग उनके पीछे-पीछे चलने एवं हँसी-मजाक बनाने लगे। शायद उन लोगोंने सोचा होगा कि यह कोई मूर्ख है।

जब काफी भीड़ इकट्ठी हो गयी, तो स्वामीजी पीछे मुड़कर भीड़की ओर देखकर बोले—'श्रीमानो! आपके यहाँ सभ्यताकी कसौटी पोशाक है, पर हमारे देशमें मनुष्यकी पहचान उसके कपड़ोंसे नहीं; चरित्रसे होती है।'

स्वामीजीका इतना कहना था कि भीड़ धीरे-धीरे बिखर गयी।

३—सचाई हर जगह चलती है

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास जब छोटे थे, तब उनके चाचाने उनसे पूछा—'तुम बड़े होकर क्या बनना पसन्द करोगे?'

'मैं चाहे जो बनूँ, किंतु वकील न बनूँगा।' चित्त-रञ्जनदासने उत्तर दिया। चाचा फिर बोले—'ऐसा क्यों भला?'

'वकालत करनेवालेको कदम-कदमपर झूठ बोलना पड़ता है। बेईमानी करनी पड़ती है'—दासने कहा।

परंतु भाग्यकी विडम्बना देखिये कि चित्तरंजनदास बड़े होकर वकील हो बने। किंतु उनकी वकालत सबोंसे भिन्न थी। वे झूठे मुकदमे कभी न लेते। अपना पारिश्रमिक भी जितनी मेहनत करते उतना ही लेते। उनकी योग्यताका लाभ दीन-हीन, असहाय एवं देशभक्त ही उठाते। कभी-कभी गरीबोंकी पैरवी वे निःशुल्क ही करते। जो भी मुकदमा लेते, उसमें पूरी रुचि दिखाते तथा सम्बन्धित व्यक्तिको जीतानेका प्रयत्न करते। साथ-ही ऐसा प्रयत्न करते कि उसे कम-से-कम सजा मिले।

इस प्रकार चित्तरञ्जनदासने यह सिद्ध कर दिया कि वकालत-जैसा बदनाम व्यवसाय भी सत्य, न्याय तथा ईमानदारीके साथ सम्पन्न किया जा सकता है।

४—सर्वोत्तम शक्ति चरित्र

चन्द्रगुप्त इस बातसे घबराया-सा था कि मेरी इतनी कम सेना नन्दवंशका सामना किस प्रकार कर सकेगी? वह अपनी शंकाको दूर करने गुरुदेव कौटिल्यके पास गया तथा अपना मन्तव्य कह सुनाया। चाणक्य पहले मुस्कराये, पर फिर बोले—'इन्द्रियजयशक्ती चतुरङ्गोऽपि विनश्यति'—यदि किसीके पास विशाल चतुरङ्गिणी सेना हो, किंतु चरित्र न हो, तो वह अपनी इस दुर्बलताके कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।'

चन्द्रगुप्तको गुरुकौटिल्यका आशय ज्ञात हो चुका था। उसने शीघ्र ही मगधपर आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की।

चरित्र-बलके ऐसे सैकड़ों प्रसङ्ग गिनाये जा सकते हैं, जिनपर चलकर उन महापुरुषोंने अपना जीवन तो सफल बनाया ही है, साथ-ही प्रकाशस्तम्भ बनकर औरोंके जीवनको भी बदल दिया है। धन्य हैं, वे महापुरुष तथा धन्य हैं, वे अनुगामी जिन्होंने उनसे प्रेरणा पाकर मानव-समाजको एक आदर्श पाठ पढ़ाया है।

यशोधरा

यशोधराका आरम्भिक नाम गोपा था । वे कपिलवस्तुके पड़ोसी राज्यके महाराज दण्डपाणिकी बड़ी सुन्दर एवं गुणवती कन्या थीं । बड़ी होनेपर उनके रूप एवं गुणकी ख्याति सर्वत्र फैल गयी । अतः उनके स्वयंवरमें देश-देशान्तरके प्रायः सभी राजकुमार उपस्थित हुए । पड़ोसी राजकुमार सिद्धार्थ भी उस स्वयंवरमें उपस्थित हुए । उनकी शस्त्रास्त्र विद्याकी अपूर्व योग्यता तथा अनुपम सौन्दर्यसे प्रभावित होकर गोपाने उनके गलेमें जयमाला डाल दी । मणि-काञ्चनका योग हो गया । बड़ी धूमधामसे विवाहोत्सव हुआ । राजकुमारी गोपा वधू बनकर कपिलवस्तुके राजमहलकी शोभावृद्धि करने लगी ।

पतिपरायणा गोपा सिद्धार्थ-जैसा मनोऽनुकूल पति पाकर छायाकी भाँति उनकी अनुगामिनी बन गयी । वह सुख-दुःखमें सदा पतिका साथ देती थी । इस प्रकार दस वर्षोंका वैवाहिक जीवन बड़े सुखसे बीत गया । गोपा-जैसी सुशीला गृहिणी पाकर गौतमकी सारी चिन्ताएँ दूर हो गयीं । संसार-त्याग करनेके निश्चयी गौतम गोपाको देखकर उसके सुशील स्वभावपर मुग्ध होकर अपने निश्चयको कार्यान्वित न कर पाते थे । ग्यारहवें वर्ष गोपा गर्भवती हुई । अब गौतमने संसार-बन्धन त्यागनेका निश्चय किया । एक रात गोपा सोते-सोते सहसा चौंक पड़ी । स्वप्न देख उसने पतिसे घबराया और रोती हुई बोली—'स्वामिन् ! आज मैंने तीन विचित्र स्वप्न देखे हैं, उससे मैं भयभीत हो गयी हूँ । मैंने देखा है कि एक श्वेत साँड़ है । उसकी सींगें फैली हुई हैं । उसके मस्तकपर एक मणि चमक रही है । वह धीरे-धीरे नगरद्वारकी ओर बढ़ रहा है । किसीके रोके रुकता नहीं है । इतनेमें इन्द्र-मन्दिरसे ध्वनि आती है कि यदि साँड़ चला गया तो नगरकी कीर्ति भी चली जायगी । मैं रोती हुई उस साँड़के गलेसे लिपट गयी और उसे रोकनेका प्रयत्न करने लगी । मैंने लोगोंसे नगरद्वार बन्द करनेको कहा; पर साँड़ नहीं रुका द्वारके बाहर निकल गया । मैं निराश रह गयी ।'

पुनः सो जानेपर दूसरा स्वप्न देखती हूँ कि चार अलौकिक महापुरुष अपरिमित गणोंके साथ आकाशसे उतरकर नगरमें प्रवेश कर रहे हैं । उनके साथ इस पुरीके प्रवेशद्वारकी सुनहली पताका भग्न होकर नीचे गिरती है और उसके स्थानपर एक चमकती पताका प्रकट हो जाती है, जिसमें चाँदीके तारोंसे मणियाँ गुँथी हुई हैं । उसे देखकर सभी जीव आनन्दविभोर हो रहे हैं । उषाकालकी मार्मिक वेगमें पुरवा हवाके चलनेसे वह पताका फहराने लगी और नभसे सुमन-वृष्टि होने लगी ।

इसके बाद ज्यों ही आँख मूँदी कि तीसरा भयानक स्वप्न देखा और मैं काँप उठी । मैंने देखा कि मैं आपके पास आ रही हूँ, पर आप गायब हैं । मैं घबड़ाकर उठी तो मेरे वक्षःस्थलके नीचे दबी हुई आपकी माला साँप बन गयी । मेरे पाँवके पायल निकल पड़े, हाथके स्वर्णकंगन टूटकर गिर गये । केशोंके गुँथे सुमन धूलमें मिल गये । तत्पश्चात् उसी श्वेत साँड़की ध्वनि सुनायी दी, वही पताका पुनः फहराने लगी और यह ध्वनि आयी—'वह समय आ गया ।' इसे सुनते ही मैं चौंककर उठ गयी ।

इतना कहकर गोपा सिसकियाँ लेने लगी । गौतमने उसे भाँति-भाँतिसे आश्वासन दिया । वह सो गयी, पर गौतम सोचते रह गये—स्वप्न सही है, वह समय आ गया । अब हमें संसारके उद्धारके लिये सांसारिक बन्धन त्यागने चाहिये ।

इसी विचार-क्रान्तिकी अवधिमें गोपा (यशोधरा) से एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। अब गौतमकी वैराग्य भावना और उत्कट हो उठी। एक रात्रि पुत्रको हृदयसे लगाकर सोती हुई यशोधराको छोड़कर उन्होंने वनकी राह ली।

प्रातः उठनेपर यशोधराने देखा, उनके पतिदेवका कहीं पता न था। उन्होंने पता लगाया, पर कहीं उनका पता न चला। यह जानकर कि उनका प्रिय अश्व कन्थक तथा सारथि छन्दक भी नहीं हैं, गौतमके पलायन-का निश्चय हो गया। लौटकर छन्दकने जो वृत्तान्त सुनाया उससे तो उसे स्वप्नकी घटना प्रत्यक्ष सत्य होती हुई दिखायी पड़ी।

परिपरायणा गोपाको पति-वियोग असह्य हो गया। वह बहुत दुखी हुई। उसकी दासियाँ, सखियाँ उसे सान्त्वना देतीं, समझातीं। किसी तरह अपनेको आश्वस्त कर धैर्य धारण कर उसने भी संयम भरा जीवन आरम्भ कर दिया। पर उसे पतिके चुपकेसे पलायनकी टीस खले रहती थी। वह सखियोंसे कहती—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरवकी बात।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात॥
× × ×
सखि वे मुझसे कहकर जाते।
कह तो क्या मुझको वे पथ-बाधा ही पाते।
× × ×
स्वयं सुसज्जित करके क्षणमें, प्रियतमको प्राणोंके पणमें।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्मके नाते।'
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

अर्थात् हम क्षत्राणियाँ जब अपने पतिको, पुत्रको कवच सजाकर, आरती उतारकर, टीका कर रणके लिये भेज देती हैं तो क्या सिद्धिके लिये प्रस्थान करनेवाले स्वामीको न भेजती जो कि मेरे लिये गौरवकी बात होती। इसमें चोरी-चोरी जानेकी बात मुझे टीसती रहती है।

पति वनमें तप कर रहा है, पत्नी गोपा राजमहलमें संन्यासिनीके समान सादा वेस बनाकर तप कर रही है; साथ ही पतिकी थाती पुत्र राहुलका भी क्षत्रियोचित पालन करती है। जब वह मचलता है तब उसे सारी व्यथा-गाथा कहनी पड़ती है। इस विपत्तिमें राहुल ही उसका अवलम्बन है, सम्बल है। वह सखियोंसे कहती है कि आर्यपुत्र तो परीक्षा दे चुके, अब मेरी बारी है। मुझे वज्रसे कठोर और कुसुमसे भी कोमल बनना पड़ेगा। वह पतिकी सफलता-हेतु मङ्गल कामना करती है कि 'हे नाथ! तुम्हें सिद्धि, मुक्ति प्राप्त हो, तुम्हारी तपश्चर्यामें अप्सराओंका विघ्न न आ सके; क्योंकि तुमने यशोधराका पाणिग्रहण किया है।'

अन्तमें गौतमकी तपस्या फलीभूत हुई। बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई। वे पदयात्रा करते हुए सारनाथ, काशी आदि सर्वत्र धर्मप्रचार-धर्मोपदेश देते कपिलवस्तु भी पधारे, पर राजकुमारके रूपमें नहीं, भिक्षुकके रूपमें—मुंडित शिर, नग्न पैर, गैरिक चीर धारण किये भिक्षापात्र हाथमें लिये।

सारा कपिलवस्तु उनके स्वागतमें उमड़ पड़ा, सब बाहर आ गये—राजद्वारपर, राजपथपर महलोंकी छतपर। पर गोपा अपने कक्षमें शान्तभावसे बैठी रही। सखियोंके, सास-श्वशुरके बारम्बार समझानेपर भी वह बाहर न निकली। उसने नम्रतासे यही कहा, मैंने उन्हें नहीं छोड़ा है, अपितु वे ही मुझे छोड़कर गये हैं। अतः जहाँसे मुझे छोड़कर गये हैं, वहीं दर्शन देने आयेंगे।

अन्तमें यशोधराकी विजय हुई। गौतम बुद्धको यशोधराके उस कक्षमें आना पड़ा, जहाँ उसे सोती हुई छोड़कर वे रातमें चुपकेसे चले गये थे। यशोधराने भी उठकर द्वारपर आये संन्यासीका स्वागत किया—

पधारो भव भवके भगवान्।

आज गोपाको गौतमकी महत्ताका वास्तविक पता चला। वह कृतार्थ हुई। किंतु इतने महान् भिखारीको

उसके और अपने अनुरूप भिक्षा देनी चाहिये, आखिर वह स्वाभिमानी राजपुत्री जो ठहरी। अन्तमें उसने गौतमकी थाती, अपने लाल राहुलको भिक्षामें उन्हें समर्पित कर दिया—

तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी।

धन्य है गोपा, जिसने पतिके अपनाये मार्गपर चलें, पर कठोर संयम आचरण कर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। गौतमकी सिद्धिमें गोपाका त्याग, उसकी तपश्चर्या अधिक सहायक हुई। गोपाके आदर्श त्याग, तप एवं चरित्र-भण्डार ही गौतम महात्मा गौतम बुद्ध हो सके।

चरित्रकी विशेषता

(लेखक—महाकवि श्रीवनमालीदासजी शास्त्री)

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः
सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां
तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥
(नैषधीयचरित ५। १७)

स्वर्गमें अपने निकट आये हुए श्रीनारदजीसे इन्द्रने कहा था—'देखो! पहले जन्मके किये हुए पुण्यके प्रतिफलमें ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। पर विचार करनेपर वे बहुत पुण्य नष्ट करनेवाली एवं अन्तमें दुःखदायिनी दीखती हैं। अतः मुझे तो वे विपत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं। पर इन्हें ही यदि किसी योग्य पात्रके करकमलोंमें अर्पण कर दें तो वे शान्तिदायक हैं। यही विधि शास्त्रोंमें देखी गयी है' जिसे ब्रह्माजीने ऐसा कहा है।' (नारायणी टीकाका सारांश)। आज यहाँ इस प्रसङ्गमें पात्रपर ही विचार करना है। भगवान् श्रीकृष्ण एवं विदुर आदि भी कहते हैं—'देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥' (गीता १७। २०; विदुरनीति,) पवित्र देशमें, पुण्यप्रद कालमें एवं योग्य पात्रको दिया गया दान सात्त्विक कहा गया है। योग्य पात्रका लक्षण याज्ञवल्क्यने इस प्रकार बतलाया है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। २००)

'केवल विद्या या तपसे ही पात्रता प्राप्त नहीं होती, जिस व्यक्तिमें चरित्र (सदाचरण), विद्या एवं तप—ये तीनों विद्यमान हों, वही योग्य पात्र है।' इसके विपरीत दुराचारी व्यक्तियोंको तो जैसे पंख निकलनेपर पक्षी घोंसलेको छोड़कर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें छोड़ देते हैं। शास्त्रोंमें कहा है—

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।

चरित्रहीन व्यक्तिके विषयमें मृच्छकटिकनाटकके आठवें अङ्कमें कहा गया है—

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं
चित्तं न मुण्डितं कस्मात् मुण्डितम्।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं
साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम्॥
([illegible] ८। १)

'जिस व्यक्तिने सिरका मुण्डन करा लिया, मूँछ भी मुँड़ा ली, परंतु अपने चित्तका मुण्डन न किया तो क्या मुण्डन किया? और जिसके चित्तका मुण्डन हो गया, उसीके सिरका मुण्डन भलीभाँतिसे हुआ है, ऐसा समझना चाहिये।' इस नाटकके उसी अङ्कमें कहा गया है—

संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम्॥
([illegible] ८-२)

'अपने उदरको वशमें रखो तथा ध्यानरूपी नगाड़ेकी चोटसे नित्य ही जागते रहो। ये इन्द्रियरूपी

घोर बड़े भयंकर हैं। ये चिरकालसंचित धर्मरूपी धनको शीघ्र ही लूट लेते हैं। जिस व्यक्तिने इन्द्रियरूपी पाँच दुरजनोंको मार दिया, और मायारूपिणी कामिनीको मस्त शरीररूपी ग्रामको सुरक्षित कर लिया एवं निर्मल क्रमरूपी चाण्डालको मार दिया, वह मनुष्य अवश्य ही सर्वथा अनुशीलन कर रहा है।'

ऐलोपाख्यानमें भगवान्‌ने भी उद्धवसे कहा है—

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
(श्रीमद्भा० ११।२६।१२)

'जिसके मनको स्त्रियोंने अपहरण कर लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं। उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्फल ही है।' अतएव महाभारतके अनुसार श्रीरूप-गोस्वामीने अपने 'उपदेशामृत'में ठीक ही कहा है कि—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत मर्त्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥
(महा० ५)

'अपने हृदयको शुद्ध बनानेके लिये जो धीर व्यक्ति अपनी वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, जिह्वाके वेगको, उदरके वेगको एवं जननेन्द्रियके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है; अर्थात्—ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्तिके प्रायः सभी जन वशवर्ती हो जाते हैं।' तात्पर्य काम-क्रोध-लोभ आदि दोष मानवके मनमें उत्पन्न होकर, वाणीके वेगद्वारा अर्थात् प्राणिमात्रको उद्विग्न करनेवाले वचनके प्रयोगके द्वारा, मनके वेगद्वारा अर्थात् अनेक प्रकारके मनोरथोंके द्वारा, क्रोधके वेगके द्वारा अर्थात् प्रीतिशून्य कटु वचनोंके प्रयोगद्वारा, जिह्वाके वेगद्वारा अर्थात् खट्टे-मीठे रसोंकी लालसाके द्वारा, उदरके वेगद्वारा अर्थात् अधिक भोजनके द्वारा, उपस्थके वेगद्वारा अर्थात् स्त्री-पुरुष-संयोगरूप लालसाद्वारा मनको असद्विषयोंमें आविष्ट कर देते हैं। ऐसे दूषित मनमें शुद्ध भक्तिका अनुशीलन नहीं हो पाता। भक्ति-अनुशीलनके समय, उक्त छः प्रकारके वेग कच्चे साधकके साधनमें भारी बाधा डालते हैं। अतः भजनशील व्यक्तिको इन छः वेगोंको रोकनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।' तभी चरित्रकी विशेषता होती है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यकी सच्चारित्र्य-शिक्षा

(लेखक—श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव, 'प्रेमनिधि')

सच्चरित्र-निर्माणके लिये आचार्य श्रीरामानन्द प्रभुने प्रत्येक मन्त्रोपदेशक सद्गुरुको आदेश दिया है कि वे सांनिध्यमें आये मुमुक्षुको एक वर्षपर्यन्त अपने अनुशासनमें रखकर पूर्ण सुयोग्यताकी परीक्षाके लिये मन्त्रोपदेश करें—

परीक्ष्य शिष्यं समुपासयं गुरुं
वर्षं समभ्यर्च्य हिरण्यरेतसम्।

अन्य सभी आगमोंमें भी ऐसा ही निर्देश है। यदि इस आज्ञाका यथार्थ पालन किया जाय तो आज एक महान् सम्माननीय साधु-समाजका निर्माण हो सकता है। प्रारम्भिक युगसे लेकर अबतकके सभी सन्त इस दिशामें सर्वथा एकमत हैं; क्योंकि सच्चरित्रता ही सन्तोंका भूषण है—'सन्तश्चारित्र्यभूषणाः' (वाल्मी० युद्ध० ११६)। भगवान् श्रीरामका सम्पूर्ण जीवन ही चरित्र-निर्माणसे ओत-प्रोत है। श्रीशुकदेवजीने श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'—आपका मानव-लोकमें अवतार मानव-धर्मकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये ही हुआ है, ऐसा कहलाया है। वस्तुतः श्रीराम साक्षात् मूर्तिमान् धर्म हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः।'

त्रिकालसंध्यामनुपास्य यात्वा
क्षिपेत्सपैयाविकयेध कालम्।
रामार्चनेनैतमेन गीता-
दिना सभाष्येण न भारतेन या ॥१'५'१॥
स्याच्चेदशक्तः शृणुयात् कुतश्चिद्
सम्यानमून् शुद्धसमाहितुरः।
संकीर्तनं श्रीरघुरामनाम्नो
दयानुसंधानमथो विदध्यात् ॥१'२६॥

—त्रिकाल-सन्ध्योपासन करना चाहिये, श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायणका पाठ करना चाहिये। श्रीरामपूजन करना चाहिये तथा श्रीमद्भगवद्गीता, आचार्यप्रणीत भाष्य तथा महाभारतादिक सद्ग्रन्थ पढ़ते रहना चाहिये। यदि पढ़नेकी शक्ति न हो तो किसी सच्चरित्र शुद्ध श्रीवैष्णवके मुखसे एकाग्र होकर सुनना चाहिये। श्रीराम-नामका संकीर्तन तथा मन्त्र-मन्त्रार्थका अनुसन्धान करते रहना चाहिये। सब प्रभु-कर्मोंको प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पण करना चाहिये।

शुभानि कर्माणि समर्पयेत् सदा
रामाय भक्ष्यं निवेद्य भक्षयेत्।
मदर्थिवं स्यायनिवृत्तकामिनो
विमुक्तधीः स्याद् भवभीतिवर्जितः ॥१४५॥

श्रीरामजीको नैवेद्य भोग लगाकर उसी प्रभु-प्रसादका सेवन करना चाहिये, रात-दिन अपने पापोंका निवारण कर विमुक्तिकी इच्छासे जो इस प्रकार करता है, वह भवभयसे छूट जाता है। बाह्य सदाचारमें भी—

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां
धृधच्च मालाममलां हि कन्धरम्।
सञ्जन्मकर्माणि हरेः सदा स्मरेत्
गुणांश्च नामानि शुभप्रदानि ॥१३७॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, तुलसीमाला धारणकर प्रभुके पावन जन्म-कर्मोंका स्मरण करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार—

जितेन्द्रियः प्रपन्नस्तं बुध आत्मरतिर्हरिम्।
आप्नुयात्परमं स्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं मतम् ॥

प्रभुका प्रपन्नशरणागत विचारवान् विवेकी जितेन्द्रिय आत्मा जो इस सिद्धान्तको मानकर श्रीप्रभुसे प्रेम करता है, वह श्रीरामके परमधामको प्राप्त करता है। इस प्रकार आपने सच्चरित्रवान् बनकर प्रभुकी शरणागति ग्रहण करनेवालेको आशीर्वाद दिया है। सभी धर्माचार्योंने सच्चरित्र-निर्माणपर पूर्ण सावधानी रखनेका दिव्य उपदेश दिया है; विशेषतः वैदिक श्रीवैष्णवाचार्योंने तो प्रभु-कृपाप्राप्तिका आधार ही चरित्र-निर्माण बताया है। स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यकी यह शिक्षा सभीका परम कल्याण करनेवाली और चरित्र-निर्माणमें साधकको सम्बल प्रदान करनेवाली है। इसका श्रद्धासे अनुष्ठान करना कर्तव्य है।

चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृति—संस्कृतभाषाके दर्पणमें

(लेखक—डॉ० श्रीशशिधरजी शर्मा, 'आचार्य', एम० ए०, डी० लिट्०)

भारतीय संस्कृति चरित्र-प्रधान मानी गयी है। 'चरित्र' शब्द गत्यर्थक भ्वादि (१ । ५५९) परस्मैपदी 'चर्' धातुसे कृत्प्रत्यय 'इत्र' लगाकर बनता है। जिसमें गतिका अर्थ होगा—आचरण, अर्थात् आचार। इस प्रकार सदाचारको ही चरित्र कहा गया है। इस शब्दकी व्याख्या करते हुए मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूकने स्पष्ट किया है कि यह शिष्ट पुरुषोंका आचरण है—'शिष्टसमाचारम्।' (देखिये 'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च।' (मनु० ९।७) पर मन्वर्थ मुक्तावली व्याख्या।)

भारतको धर्मप्राण देश माना गया है। धर्मका मूल भी सदाचार ही है। शास्त्रविहित अनिन्द्य कर्म ही धर्म है। महर्षि जैमिनिने धर्मका लक्षण कहा है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसा १।२)। मनुके शब्दोंमें तो 'आचारः परमो धर्मः' (मनु० १। १०८) सुप्रसिद्ध ही है।

चरित्र क्या है?

'चरित्र क्या है?' इसे जाननेके लिये वेदोंके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पचासों स्मृतियाँ, अठारहों महापुराण,

मेधृ हिंसनयोः (१ । ८४८) धान्तायिति स्वामी। (सिद्धान्तकौमुदी भा० ३ पृ० २०१ ।)

धर्म और अधर्म (पाप)

उदात्त और उन्नायक आचारोंकी समष्टिको 'धर्म' शब्दसे पुकारा जाता है । पूर्व भारतीयोंका जीवन-विषयक आदर्श कैसा रहा होगा । इस बातकी पर्याप्त झलक 'धर्म' शब्दसे मिलती है । जीवनमें धारण (आचरण) करनेपर जो धारणकर्तांका धारण (रक्षण) करता है, वह 'धर्म' है । 'धर्म' शब्दका व्युत्पत्ति-प्राप्त अर्थ भगवान् कृष्णद्वैपायन स्पष्ट घोषित करते हैं—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यस्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
(महा० कर्णपर्व ६९ । ५८)

धर्मके सामान्य धर्म, विशेष धर्म ये दो मुख्य भेद हैं। विशेष धर्म जहाँ भारतवर्षका विशेष सत्त्व बना रहा, वहाँ सामान्य धर्मसे सारे संसारकी शान्ति और समृद्धिके द्वार उद्घाटित किये गये, जिन्हें भगवान् मनुने संतोष, क्षमा, मनःसंयम, परकीय धनका अग्रहण, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, शास्त्रज्ञान, आत्मज्ञान, सत्य और अक्रोध—इन दस अर्थोंमें नियमित किया है । पाप इसके सर्वथा विपरीत है । इसे 'दुरित' और 'दुष्कृत' भी कहते हैं । जिसके आचरणसे व्यक्तिका पतन हो जाय या उसकी करनी बिगड़ जाय उसे 'पाप' समझना चाहिये—'दुष्कृतम्, कल्मम् अनेनेति।' पापको 'एनस्' भी कहते हैं । इस शब्दका अर्थ है—'एति अधः अनेनेति' इसीके कारण मनुष्यका अधःपतन होता है ।

मनुष्य प्रमादधर्मा है । अतः पाप बन ही जाय तो उससे निराश होनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसको प्रायश्चित्तद्वारा और घोर पश्चात्तापपूर्वक सर्वथा छोड़कर मनुष्य पुनः चरित्रनिर्माणकी ओर चल सकता है—'मङ्गलेः गच्छति प्रायश्चित्तं दानादिना।' 'पाप' शब्दकी व्युत्पत्ति भी यह बताती है कि हिंदू यत्नपूर्वक अपनेको इससे बचाया करते थे—'पात्यस्मादात्मानम्' इति पापम्।

वस्तुतः पापका नाम लेना भी वे अनुचित समझते थे । इसीलिये उसका नाम 'अघ' पड़ा—भयग्रपष्ययौ गर्ह्यपणितव्या निरोधेषु (अष्टाध्यायी ३ । १ । ११०) । इसी-लिये महाकवि माघने कहा था—'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः (शिशुपालवध २) ।'

चोरीसे भारतीयोंको नितान्त घृणा थी । यह 'चुर्' धातु एवं 'अस्तेय' शब्दोंसे सिद्ध है ।

आर्योंका वाग्-व्यवहारमय चरित्र

संस्कृतकी एक प्राचीन सूक्तिके अनुसार मन, कर्म और वचनमें एकरूपता महापुरुषोंका और इनमें विभिन्नता दुष्ट पुरुषोंका लक्षण है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥
(चाणक्य० २ । १०)

आर्योंमें मन, क्रिया और वाणी, तीनों एक थे । अब वे क्या और किस प्रकार बोलते थे—यह देखें । वे मृदु बोलते और पानी माँगनेपर दूध पिलाते थे । यह बात गाँवोंमें जहाँ भारतकी आत्मा बसती है, आपको आज भी मिल जायगी । हम किसीसे न माँगें, पर दूसरे लोग हमसे खूब माँगें, यह बात भारतीयोंकी प्रार्थनामें आज भी सदा सुनी जाती है—'याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन।' संस्कृतका प्रसिद्ध 'वदान्य' शब्द भी इसका खूब जीवित-जाग्रत् प्रमाण है । बहुत देनेवालेको 'वदान्य' कहा जाता है—

शिक्षा और चरित्र-निर्माण

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी शास्त्री)

प्राचीन भारतमें शिक्षा एकमात्र जीवनको समुन्नत बनानेके उद्देश्यको लेकर चलती थी। शिक्षाका लक्ष्य जीवनको सरल बनानेके साथ अपने स्वरूपके ज्ञानमें भी था। जीवात्मा अपने कल्याणकी ओर प्रवृत्त होकर इहलोकके साधनके साथ परलोकका साधन भी सम्पन्न कर ले—यह है भारतीय संस्कृतिमें शिक्षाका लक्ष्य। शिक्षाका अर्थ साक्षरतामात्र न होकर सद्गुणोंका सीखना है। शिक्षा उत्तम गुणोंका आश्रय है—'शिक्ष-विद्योपादाने' धातुसे ल्युट् प्रत्यय लानेपर 'शिक्षण' और 'अ' से 'शिक्षा' शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ विद्याका उपदेश एवं ग्रहण करना भी है। सद्गुणोंकी उपलब्धि शिक्षा है। नैतिकता शिक्षाका अङ्ग है। आज शिक्षाका स्वरूप नैतिकतासे अलग हो गया है। शिक्षाका आचार या चरित्रसे अलग होना अमान्य है। यदि शिक्षाका चरित्रसे सम्बन्ध जोड़ा न जाय तो शिक्षाका स्वरूप विकृत होकर अनैतिक परम्पराका पोषक बन जायगा। सब जीवोंके कल्याण-भावसे जीवनको सदुद्देश्यकी ओर लगानेवाली आचार-समन्वित शिक्षा ही मानव-जीवनकी वास्तविक शिक्षा है। नैतिक शिक्षाका तात्पर्य भी चरित्रके सम्बन्धको लेकर ही है। 'नयनं नीतिः' अर्थात् आगे ले जाना—मानव-जीवनको अपने स्वरूपकी ओर ले जाना ही 'नीति' है। अतः 'नीति' शब्द धर्माश्रित है। नैतिकताकी शिक्षा धर्माचरणको लेकर ही चलती है।

प्राचीन समयमें मानवका जीवन धर्ममय था। आत्मदर्शनकी प्रवृत्ति ही मानव-जीवनकी सफलता है। पर आधुनिक शिक्षित समाज चरित्र-निर्माणको शिक्षाका लक्ष्य नहीं मानता—जब कि 'आचारः प्रथमो धर्मः आचारप्रभवो धर्मः' कहकर आचारको प्रथम धर्म माना गया है। आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है। धर्मके नियामक भगवान् श्रीविष्णु हैं। चरित्र ही विचारोंकी कसौटी है। चरित्रके अभावमें विचारोंका कोई महत्त्व नहीं। चरित्रके आश्रयसे मनुष्यके सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। वाल्मीकीयमें आये 'चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः' (उत्तम चरित्रसे सम्पन्न पुरुष कौन है ?) महर्षि वाल्मीकिके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए देवर्षि नारद कहते हैं कि इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न लोगोंके द्वारा सुने गये 'नियतचित्त' महान्, बलशाली, धीर, जितेन्द्रिय, श्रीराम हैं—

> इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
> नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
> (वा० रामा० प्रथम सर्ग)

'धर्मं चर' धर्मका आचरण करो, इस श्रुति-वचनमें धर्मको चरित्रमें उतारनेकी बात कही गयी है। मनुष्यका जैसा चरित्र होता है वैसा ही उसके सहज विचार होते हैं। विचारोंकी पवित्रताके लिये बाहरी चरित्रका उत्तम होना आवश्यक है। इसीसे विचारकी अपेक्षा आचारका प्रथम स्थान है। शास्त्रोंमें बाल्यावस्थासे ही चरित्र-शुद्धिपर विशेष ध्यान देनेकी शिक्षा दी गयी है। शास्त्रोंमें व्यवहारमें शरीर-सम्बन्धी आचारोंका उठने-बैठनेसे लेकर शौचादि संपूर्ण क्रियाओंके पालनका यथाविधि पाठ चरित्रशुद्धिके लिये ही पढ़ाया गया है। पाँच वर्षके बालकका उपनयन कर गुरुके आश्रममें जाकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक सदाचारी होकर गुरुसेवा करते हुए सद्गुरुसे वेद-शास्त्रोंके अध्ययनका प्रयोजन चरित्र-निर्माण था। सदाचार, सच्चरित्रताकी शिक्षा सबके लिये समान होते हुए भी ब्राह्मणको उसमें विशेष नियन्त्रित किया है। शास्त्रोंमें ब्राह्मणपर समाजके प्रति विशेष [illegible] डाला गया है—'एतद्देशप्रसूतस्य'

मेरे पिताजीने अपना धर्मशिक्षक बनाया है । मैं उनके इस कर्मकी निन्दा करता हूँ'—

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥
कस्यैतद्वानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं कुलदूषणम् ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥
निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवं विधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥
(वा० रा० अयो० १०९ । ३-४, ७, ११)

जिज्ञासुओंके लिये यह सम्पूर्ण प्रकरण द्रष्टव्य है । श्रीरामकी चरित्रशीलता दर्शनीय एवं अनुकरणीय है । चरित्रशाली महापुरुषोंका जीवन हमारा आदर्श है । उपनिषदोंमें, तैत्तिरीयोपनिषद्में, दी गयी शिक्षा चरित्रशिक्षाकी दृष्टिसे मानवके लिये परम उपयोगी है ।

चरित्रकी महत्ताके साथ आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होनेकी सत्प्रेरणा प्राप्त होती है । श्रुति डंकेकी चोटसे कहती है, जो पुरुष दूषित चरित्रसे निवृत्त नहीं है, जो अशान्तमन है, सावधान नहीं है, वह सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा भी इस परमात्माको नहीं पा सकता—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ०)

शान्ततपस्वी ऋषियोंके चरित्रबलसे ही उनके आश्रमोंमें सहज वैरी मृग-सिंहादि जीव साथ-साथ खेलते थे । द्वैत वनमें महाराज युधिष्ठिरके समीप आ रहे महर्षि वेद-व्यासके आगमनका वर्णन करते हुए महाकवि भारवि कहते हैं कि अपने मधुर निरीक्षणसे स्वच्छन्द जीवोंको भी शान्ति प्राप्त कराते हुए वे वहाँ आ रहे थे—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः
(किरातार्जुनीय)

शिक्षा और चरित्रका सहज सम्बन्ध है । शिक्षा चरित्र-निर्माणकी पूरक है । चरित्र-निर्माणमें जहाँ शिक्षा आधार है, वहाँ चरित्र-निर्माणसे शिक्षाकी सफलता सिद्ध होती है । चरित्र-निर्माणके बिना शिक्षाका क्या महत्त्व है । चरित्र-निर्माणके बिना शिक्षाका उदाहरण रावणका चरित्र ही हो सकता है । 'क्रिया हि वस्तु विनयि नाद्रव्यम्'—'शिक्षा सुपात्रको विनीत करती है, अपात्रको नहीं' कहकर कामन्दकने यही बात बतलायी है । उत्तम शिक्षाका सम्बन्ध केवल इस जन्म, इस लोकसे ही नहीं, अन्य जन्मों, अन्य लोकोंसे भी मान्य है ।

भारतीय संस्कृति चरित्र-निर्माण तथा आचारपर ही प्रतिष्ठित है । इसके उन्नायक हैं निःस्पृह त्रिकालदर्शी महर्षिगण; भले ही आजका मात्र स्वार्थपरायण धन और विषयभोगोंकी प्राप्तिके लिये स्वधर्म, भगवान् और आत्माकी भी बलि देनेवाला उच्छृङ्खल मानव इसका महत्त्व न समझे; भले ही वह भरतके भ्रातृस्नेहवश राज्य-त्यागको मूर्खतापूर्ण कह ले; शास्त्रीय आचार-परम्परा, स्नान, पूजन, नित्यकर्म, खान-पानकी शुद्धिका उपहास कर ले और इसके वैज्ञानिक स्वरूपको न समझे । पर सत्पुरुष उनकी इन बातोंको कोई महत्त्व नहीं देते । बुद्धिकी संकीर्णतामें चलनेवाले लोग यदि अपनी स्वच्छन्दताके समर्थनके लिये शास्त्रीय आचार-परम्पराओंको कोसते हैं तो यह भारतीय संस्कृतिकी देन नहीं है । सच तो यह है कि चरित्रबलके बिना कोई मानव वास्तविक सफलता नहीं पा सकता । आज कोई भले ही शास्त्रीय आचारोंसे अपनेको स्वतन्त्र कर ले, पर जन्म, जरा-व्याधि, मृत्यु आदिसे वह अपनेको स्वतन्त्र नहीं कर सकता, जिनसे हमारी संस्कृतिका निर्माण हुआ है ।

मानव-जीवनको सफल बनानेके अनुभूत प्रयोग बतलानेवाले शास्त्रोंकी रचना कुछ ही दिनोंके लिये अथवा कुछ मनुष्योंकी सुख-सुविधाका विचारकर नहीं की गयी और न वे स्वार्थपरायण अनाप्त पुरुषोंद्वारा रचे गये हैं ।

विशेरन्० इत्यादि कहकर मनुने ब्राह्मणको समाजके चरित्रशिक्षणका उच्च पद दिया है।

ब्राह्मणका शरीर विषय-भोगोंकी सामग्रीके अर्जन और उनमें लिप्त होनेके लिये नहीं, उसे संतोषी, जितेन्द्रिय, शालीन और शान्त, निःस्पृह रहनेके लिये मिला है। स्थान-स्थानपर उसके कर्मयोग्य निदर्शन किया गया है। चरित्रके साथ विचारोंकी उन्नति हमारी शिक्षाका उद्देश्य था। केवल विचारोंकी श्रेष्ठता ही अपेक्षित नहीं थी। हमारी शिक्षा उपदेशप्रधान नहीं, आचरणप्रधान थी। आजकी शिक्षाके प्रभावसे बड़े-बड़े विचारशील पुरुषोंका भी चरित्रशुद्धिपर ध्यान कम जाता है। फलतः चरित्रभ्रष्टता उनके विचारोंको धूलिमें मिला देती है—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।' रामायणमें राम-रावणका, महाभारतमें कौरव-पाण्डवोंका संघर्ष चरित्र-संघर्ष है। मनुष्य इन्हें समक्ष रखकर अपने मार्गका चयन कर सकता है। रामादिवत् वर्तितव्यं न क्वचित् रावणादिवत्—राम आदिके समान चलो, रावण आदिके समान नहीं।' यह है चरित्र-शिक्षा। महापुरुषोंके उदात्त जीवन-चरित्र लोककी उन्नतिके लिये विशिष्ट उदाहरण हैं।

प्राचीन समयमें सम्पूर्ण शिक्षाक्रम चरित्र-शुद्धिपर ही आधारित था। कायशुद्धि, वाक्शुद्धि, मनःशुद्धिपर अधिक ध्यान, चौबीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य-पालन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, परोपकार आदि शिक्षार्थियोंके ज्ञानार्जनके विशेष अङ्ग थे। प्रातःसे सायंपर्यन्त उनकी दिनचर्या चरित्र-निर्माणसे ओतप्रोत थी। संतोष, शुचिता, निष्कपट व्यवहार, जितेन्द्रियता, गुरुजनोंकी अनुकूलता, संध्योपासन, भिक्षाटन, शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति आदि गुरुकुलनिवासके मुख्य प्रयोजन थे। दैनन्दिनी-विहित नित्यकर्मोंका पालन अनिवार्य था। उस समय गुरुजनोंके दोषाचरण छात्र—जीवनके अन्न—गुरुके गुणोंके प्रकाशक होते थे। पूर्वतः सुयोग्य विद्वान् गुरुजनोंका सङ्ग पाकर वे

सच्चरित्र दृढ़शील होते थे। सदाचारपूर्ण सच्चरित्रताकी दृढ़ताने ही भारतीय संस्कृतिको अद्यावधि जीवित रखा है। सच्चरित्रताका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। चरित्र ही मनुष्यको शिष्ट या अशिष्ट सिद्ध करता है। सच्चरित्र मनुष्य दुर्दान्त मनको भी वशमें कर लेता है। सच्चरित्र पुरुषका हृदय दृढ़, प्रसन्न और निर्मल रहता है। वह दीर्घायु तथा शुद्धान्तःकरण होता है और दूसरोंका कल्याण चाहता है। उसका मन शुभ वासनाओंसे वासित होता है। सद्विचारोंका पोषण सच्चरित्रतासे ही सम्भव है।

कृत्रिम आचरणवाले पुरुषोंके हृदयोंमें लोगोंमें अपने प्रति श्रद्धा-सम्मान उत्पन्न करनेके लिये सद्विचारोंका प्रदर्शन भले ही हो, पर वे वहाँ स्थायी नहीं होते। सच्चरित्र पुरुष निर्भय, स्थिरचित्त, सत्यमार्गी होता है। भगवान् श्रीरामका जीवन-चरित्र सदाचारका प्रतिबिम्ब है; इसलिये कहा गया है—'रामो विग्रहवान् धर्मः।' 'रामराज्य'शब्द आज भी सभी वर्गके लोगोंमें चमत्कार-सा बना हुआ है। 'वाल्मीकीय रामायण' या 'रामचरितमानस'का स्वाध्याय करनेवाले मानसको यह समझनेमें विलम्ब नहीं होगा कि श्रीरामके विचारोंका सामञ्जस्य उनके चरित्रमें था। शास्त्रीय धर्ममर्यादाके विरुद्ध बोलनेवाले अपने पूज्य पुरोहित महर्षि जाबालिको उत्तर देते हुए श्रीराम कहते हैं—'मर्यादारहित, पापाचरणसे युक्त, चरित्रनाशक पुरुष सत्पुरुषोंमें मान नहीं पाता। चरित्र ही मनुष्यको कुलीन, अकुलीन, श्रेष्ठ, पवित्र, अपवित्र बतलाता है। कर्तव्य, अकर्तव्यका विवेक रखनेवाला कौन बुद्धिमान् मनुष्य संसारमें लोकदूषक आपके कहे मार्गमें चलनेवाले, दूषित चरित्रवाले मुझ-जैसे मनुष्यको आदर देगा? आपकी बुद्धि विषम मार्गमें स्थित है। आप वेदविरुद्ध मार्गका आश्रय करनेवाले हैं। आप घोर नास्तिक और धर्म-मार्गसे दूरवर्ती हैं। ऐसी पाखण्डपूर्ण बुद्धिवाले आपको

मेरे पिताजीने अपना धर्मशिक्षक बनाया है। मैं उनके इस धर्मकी निन्दा करता हूँ'—

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥
कस्वेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं कुलदूषणम् ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥
निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवं विधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥
(वा० रा० अयो० १०९ । २-४, ३३)

जिज्ञासुओंके लिये यह सम्पूर्ण प्रकरण द्रष्टव्य है। श्रीरामकी चरित्रशीलता दर्शनीय एवं अनुकरणीय है। चरित्रशाली महापुरुषोंका जीवन हमारा आदर्श है। उपनिषदोंमें, तैत्तिरीयोपनिषद्में, दी गयी शिक्षा चरित्रशिक्षाकी दृष्टिसे मानवके लिये परम उपयोगी है।

चरित्रकी महत्ताके साथ आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होनेकी सत्प्रेरणा प्राप्त होती है। श्रुति डंकेकी चोटसे कहती है, जो पुरुष दूषित चरित्रसे निवृत्त नहीं है, जो अशान्तमन है, सावधान नहीं है, वह सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा भी इस परमात्माको नहीं पा सकता—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ०)

शान्ततपस्वी ऋषियोंके चरित्रबलसे ही उनके आश्रमोंमें सहज बैरी मृग-सिंहादि जीव साथ-साथ खेलते थे। द्वैतवनमें महाराज युधिष्ठिरके समीप आ रहे महर्षि वेद-व्यासके आगमनका वर्णन करते हुए महाकवि भारवि कहते हैं कि अपने मधुर निरीक्षणसे स्वच्छन्द जीवोंको भी शान्ति प्राप्त कराते हुए वे वहाँ आ रहे थे—

मधुरैरपयानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः
(किरातार्जुनीय)

शिक्षा और चरित्रका सहज सम्बन्ध है। शिक्षा चरित्र-निर्माणकी पूरक है। चरित्र-निर्माणमें जहाँ शिक्षा आधार है, वहाँ चरित्र-निर्माणसे शिक्षाकी सफलता सिद्ध होती है। चरित्र-निर्माणके बिना शिक्षाका क्या महत्त्व है। चरित्र-निर्माणके बिना शिक्षाका उदाहरण रावणका चरित्र ही हो सकता है। 'क्रिया हि वस्तु विनयि नाद्रव्यम्'—'शिक्षा सुपात्रको विनीत करती है, अपात्रको नहीं' कहकर कामन्दकने यही बात बतलायी है। उत्तम शिक्षाका सम्बन्ध केवल इस जन्म, इस लोकसे ही नहीं, अन्य जन्मों, अन्य लोकोंसे भी मान्य है।

भारतीय संस्कृति चरित्र-निर्माण तथा आचारपर ही प्रतिष्ठित है। इसके उन्नायक हैं निःस्पृह त्रिकालदर्शी महर्षिगण; भले ही आजका बाबा स्वार्थपरायण धन और विषयभोगोंकी प्राप्तिके लिये स्वधर्म, भगवान् और आत्माकी भी बलि देनेवाला उच्छृङ्खल मानव इसका महत्त्व न समझे; भले ही वह भरतके भ्रातृस्नेहवश राज्य-त्यागको मूर्खतापूर्ण कह ले; शास्त्रीय आचार-परम्परा, स्नान, पूजन, नित्यकर्म, खान-पानकी शुद्धिका उपहास कर ले और इसके वैज्ञानिक स्वरूपको न समझे। पर सत्पुरुष उनकी इन बातोंको कोई महत्त्व नहीं देते। बुद्धिकी सङ्कीर्णतामें चलनेवाले लोग यदि अपनी स्वच्छन्दताके समर्थनके लिये शास्त्रीय आचार-परम्पराओंको कोसते हैं तो यह भारतीय संस्कृतिकी देन नहीं है। सच तो यह है कि चरित्रबलके बिना कोई मानव वास्तविक सफलता नहीं पा सकता। आज कोई भले ही शास्त्रीय आचारोंसे अपनेको स्वतन्त्र कर ले, पर जन्म, जरा-व्याधि, मृत्यु आदिसे वह अपनेको स्वतन्त्र नहीं कर सकता, जिनसे हमारी संस्कृतिका निर्माण हुआ है।

मानव-जीवनको सफल बनानेके अनुभूत प्रयोग बतलानेवाले शास्त्रोंकी रचना कुछ ही दिनोंके लिये अथवा कुछ मनुष्योंकी सुख-सुविधाका विचारकर नहीं की गयी—और न वे स्वार्थपरायण अनाप्त पुरुषोंद्वारा रचे गये

उनके मूल स्रोत ज्ञानराशि वेद हैं और रचयिता हैं विश्वहितैषी वीतराग महर्षि। मानवकी आत्यन्तिक, ऐकान्तिक (निश्चित) दुःखनिवृत्ति ही शास्त्ररचनाका प्रयोजन है। यह बाह्य साधनोंसे सम्भव नहीं, भरपूर बाह्य साधनोंसे सम्पन्न होते हुए भी आजका मानव अशान्त, रोगी, व्याकुल हो रहता है। अतः जीवनके वास्तविक अभ्युदयके लिये स्वाध्यायके साथ 'चरित्रनिर्माण' भावी जीवनकी आधारभित्तिके रूपमें मान्य है। इस चरित्रनिर्माणकी उपेक्षाके कारण ही हम विकाससे ह्रासकी ओर तेजीसे बढ़ रहे हैं। चरित्र-निर्माणमें एकमात्र सहायक शास्त्रोंके उपदेशोंको आचरणमें लानेसे ही हम पुनः शक्तिसम्पन्न हो सकते हैं। जिनसे अर्जुनका व्यामोह दूर हुआ था, उन उपदेशोंकी पात्रताके लिये हमें चरित्रबलकी आवश्यकता है। चरित्र-निर्माण पहली सीढ़ी है।

आचार्य शब्द भी 'आचार' और चरित्र-निर्माणको लेकर ही बना है। आचार्य वह है, जो शास्त्रोंके अर्थ संगृहीत करता—आचार-मार्गमें दूसरोंको स्थापित करता और स्वयं उनका आचरण करता है—'आचार्यः कस्मात् आचारं ग्राहयति आचिनोति, आचिनोति बुद्धिम्' इति वा (निरुक्त उपो० १२)। यही बात वहाँ तथा स्मृति-पुराण-व्याकरणादिके ग्रन्थोंमें भी निर्दिष्ट है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य उच्यते।

इसी अभिप्रायसे श्रुतिमें प्रशस्त आचार्यसे युक्त व्यक्ति पुरुष ही तत्त्वसाक्षात्कार करता है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। मन्वादि सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंने वर्णाश्रम-भेदसे मानवोंके कल्याणके लिये सामान्य-विशेष आचारोंका प्रतिपादन किया है। उनके पालनसे ही चरित्रबल सम्भव है। पर आधुनिक शिक्षाने हमारे पदम-सदम आचार-विचार—इन सबपर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया है। खानपान, स्वदेश, स्ववेशके ... पर पूर्ण आक्रमण हो चुका है। इसपर उसे सफलता भी प्राप्त है। लार्ड मैकालेकी शिक्षाके जादूने आधुनिक शिक्षित भारतीय युवकोंके मनमें पाश्चात्त्य सभ्यताके प्रति आकर्षण पैदा कर दिया है। पाश्चात्त्य संस्कृतिने भारतीय संस्कृतिके प्रभावको संकुचित कर डाला है। आधुनिक शिक्षामें भारतीय संस्कृति और सभ्यता एक पाखण्ड—आडम्बर मात्र है। उसके विचार दकियानूसी हैं। उसकी दृष्टिमें हम विकासकी ओर बढ़ रहे हैं। पर हमें वास्तविकताको पहचानकर अपने कल्याणके लिये अपना और राष्ट्रका चरित्र-निर्माण करना है। आज अचेतनकी खोजमें चेतनतत्त्व ही खपता हो रहा है। मानव अपने द्वारा लायी गयी व्यवस्थाओंसे, अहम्मन्यतासे स्वयं जूझते हुए व्याकुल होकर किंकर्तव्य-विमूढ हो चुका है। मानवकी दृष्टि विनिकाय और दिग्भ्रान्त-सी हो गयी है। अपनी वस्तुओंसे उसे वैराग्य हो गया है। वास्तविक कर्तव्य-ज्ञानके लिये उसे समय नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन पुरुषार्थोंमें धर्म और मोक्षके मध्यवर्ती धर्म-संगत अर्थ-काम मोक्ष-साधक होने चाहिये। पर आज अर्थ-काम ही धर्म-मोक्षके विरोधी बनकर मानव-जीवनके साध्य बन गये हैं। धर्म और मोक्ष गौण हो गये हैं। मानवकी सारी प्रवृत्ति अर्थ-कामपरायण हो चुकी है। उसकी अर्थकाम-पिपासा अपूरणीय वडवानल-सी हो गयी है। वह स्वयं अन्तःसन्तुष्ट नहीं है। मनकी उद्दाम वासनाएँ, इन्द्रियोंको उच्छृङ्खल बनाकर उसके पतनमें पूर्ण सहायक हो रही हैं। पूर्ण जीवन बीत जानेपर भी अर्थकाम-तृष्णा शान्त नहीं है। कामपदार्थोंके उपभोगके बढ़ानेसे कभी कामकी शान्ति नहीं हुई है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।' (मनु०)

नग्न प्रदर्शनमें आज कुत्सित दृश्योंकी ही प्रधानता है। चलचित्र-जगत्‌ने चरित्रनिर्माणकी बात तो दूर, बचे-खुचे चरित्रके भी सर्वनाशमें शीघ्रता ला दी है। इसके प्रभावसे छोटे-छोटे बच्चोंके भी मुखसे अश्लील गीत

रहे जा रहे हैं। सिनेमाने भले घरोंके लड़के-लड़कियोंके भी मस्तिष्कको विकृत कर डाला है। उसके प्रभावसे वे धड़ल्लेसे अकर्तव्य-परायण हो रहे हैं। कौन किसकी सुनता है! कामाग्निमें मानवजीवन भस्म हो रहा है। आज मानवके पास न विवेकका साधन है और न उसे उसकी चाह है। धर्म-नियन्त्रित परतन्त्रता स्वतन्त्रताकी जननी है—इसपर उसे विश्वास ही नहीं है। इस अवस्थामें शिक्षा और चरित्रनिर्माणकी बात ही कहाँ उठती है। पर वास्तवमें धर्म, नैतिकता, शिक्षा और चरित्रका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

मनुष्यके आचार-विचारोंको देखकर उसके आस्तिक एवं नास्तिक होनेका परिचय प्राप्त होता है। मनुष्यके प्रकोष्ठमें लगे चित्र उसके हृदय और मनके चित्र होते हैं। आजकी निरुद्देश्य शिक्षासे चरित्र-निर्माणकी आशा आकाश-कुसुमवत् है। शिक्षाका उद्देश्य तो मानवकी आसुरी प्रवृत्तियोंको हटाकर दैवी शक्तियोंको जागृत करना है। हमारा अपने और दूसरोंके प्रति क्या कर्तव्य है, हमारे आचार-विचार अपने देशकी संस्कृति-सभ्यताके अनुकूल हैं या नहीं—इन सबका सम्बन्ध हमारी शिक्षासे ही है। भगवान् श्रीराम एक पत्नीव्रतधारी, राजर्षियोंके समान परम पवित्र चरित्रशाली थे। वे गृहस्थोचित स्वधर्मकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं स्वधर्मका आचरण करते थे—

> एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
> स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥
> (श्रीमद्भा० ९।१०।५५)

हमें उनके आचरणको आदर्श मानकर चलना चाहिये। तभी शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य पूर्ण हो पायेगा और हम चरित्रशीलोंमें आदर्श हो सकेंगे।

सीतायाश्चरितं महत्

(लेखिका—सुश्री सुनीता शास्त्री, एम्० ए०, लोकप्रभा)

भारतीय संस्कृतिकी पवित्र धारा वैदिक कालसे अद्यावधि अविच्छिन्नरूपसे प्रवाहित होती आ रही है। कालक्रमानुसार सामान्य भेदसे भिन्न-सी प्रतीत होनेपर भी यहाँकी संस्कृति मधुर मिश्रणके समान उन भेदोंको आत्मसात् करती हुई जनमतको सर्वथा आबद्ध रखती है। भारतवर्ष एक धर्मप्रधान देश है। यहाँकी संस्कृति तथा सभ्यताका मूलाधार धर्म है। तैत्तिरीय आरण्यकमें कहा गया है कि धर्म सम्पूर्ण विश्वकी प्रतिष्ठा है। धर्ममें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिये धर्मको श्रेष्ठ कहा गया है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति सर्वे। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।'
(१०।६३)

वाल्मीकीय रामायणकी नायिका अलौकिक धर्मज्ञा श्रीरामपत्नी भगवती सीता भी धर्मको ही जगत्का सारसर्वस्व बताती हैं। उनका कथन है—धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे ही सुखका उदय होता है, धर्मानुष्ठानद्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है—

> धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
> धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
> (वाल्मी० रामा० ३।९।३०)

धर्मकी सुदृढ़ भित्तिपर स्थित भारतीय संस्कृतिके अन्तरालमें अनेक आदर्श चरित्र अपने विशाल, उदार एवं अमृतपूर्ण आचरणोंद्वारा आज भी विश्वके पथ-प्रदर्शक एवं शिक्षाकेन्द्र बने हुए हैं। स्वयं जगन्नियन्ता परमात्मा भी इसी धर्म तथा पवित्र संस्कृतिकी स्थापना एवं रक्षा-हेतु समय-समयपर भूमण्डलपर

अवतीर्ण होते हैं। उनका कथन है—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।' लोककण्टक दशग्रीव रावणद्वारा जब विशेषरूपसे धर्मका हनन होने लगा, तब देवताओंकी प्रार्थनासे प्रभुने अपनी अनपायिनी शक्तिसहित भारतवर्षमें अवतार ग्रहण किया। राक्षसराज रावणका वध कर दशरथनन्दन श्रीरामने विपुल कीर्ति प्राप्त की एवं धर्मकी स्थापना की। श्रीरामके इस पवित्र चरित्रमें उनकी पतिव्रता पत्नी जनकनन्दिनी जानकीजीने जिस सहायिका शक्तिके रूपमें अपने दिव्य नारीस्वरूपको प्रकट किया, वह नारी-जगत्के लिये एक अविस्मरणीय तथ्य है। अनसूया, सावित्री, सुकन्या, मदयन्ती, दमयन्ती आदिके नारी-चरित्र आज भी आदर्श भारतीय संस्कृतिका साक्ष्य वहन कर रहे हैं। जनकनन्दिनी जानकीमें भारतीय संस्कृतिके सम्पूर्ण सद्गुणोंकी सर्वथा उपलब्धि होती है। इसीलिये महर्षि वाल्मीकिने—'सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः' इस उक्तिसे उनके वैशिष्ट्यको प्रस्फुटित किया है।* घनकेशित्वको छोड़कर सामुद्रिकशास्त्रोक्त उत्तम स्त्रीके सम्पूर्ण लक्षणोंसे मिथिलेशकुमारी युक्त हैं। अतएव वे सर्वश्रेष्ठ ही हैं। जिस प्रकार भगवान् श्रीराम पुरुषोत्तम हैं उसी प्रकार रामानुरूपा श्रीसीता भी नार्युत्तमा हैं। वस्तुतः मैथिलीके अभूतपूर्व त्याग, अलौकिक पातिव्रत्य, धैर्य, सहनशीलता, करुणा, क्षमा, शरणागतवत्सलता इत्यादि अनेक गुण उनके दिव्य चरित्रके जगमगाते हुए रत्न हैं।

श्रीविदेहवंश-वैजयन्ती सीता न केवल सौन्दर्य-सौकुमार्यसम्पन्न चक्रवर्ती नरेन्द्रनन्दन श्रीरघुनन्दनका वरण करती हैं, अपितु राज्यश्रीविहीन वनवासी पति श्रीरामका भी सहर्ष अनुगमन करती हैं। श्रीराम ही एकमात्र उनके सर्वदा, सर्वकालमें प्रियतम हैं। अत्रिपत्नी अनसूयाके समक्ष वे अपने इस पवित्र हार्दिक भावको प्रकट करती हैं—

'यद्यप्येष भवेद् भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः।
अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत्॥'

इतना ही नहीं, प्रियतम श्रीरामचन्द्रको वनवासोचित वल्कल-वस्त्र धारण करते देख वे भी राजसी वेशभूषाका सहसा परित्याग कर तदनुरूप चीर-वस्त्र धारण करने लगती हैं—

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना।
बबन्धैव तदा चीरं सीतया तुल्यशीलया॥

जो अभी-अभी अपने पति श्रीरामको यौवराज्य-पदपर अभिषिक्त संभावितकर स्वयं भी उच्चसिंहासनपर आसीन होनेका स्वप्न देख रही थीं, वे तत्काल स्वप्नभंग हो जानेके कारण विपरीत परिस्थितिके आगमनसे किंचित् भी विचलित नहीं होतीं। किसीको वनप्रदानका हेतु समझकर न तो उपालम्भ देती हैं, न विमाता कैकेयीको ही कटु शब्द कहती हैं; अपितु अपने शरीरके सौकुमार्य और सुख-सुविधाओंका भी ध्यान न रखकर राज्यवैभवका परित्याग कर वनगमनके लिये उद्यत हो जाती हैं। वनमें भी श्रीरामकी सेवा करती हुई वे कभी निराहार रहती हैं तो कभी श्रीरामके आहार-विहारानुकूल आहार-विहार करती हैं। मृदु स्वभावसे वे सभीको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। सदाचारसम्पन्ना चारुस्मिता श्रीसीता राजधर्मोंकी पूर्ण ज्ञात्री हैं—'अभिज्ञा राजधर्माणाम्'... इसके साथ ही वे अन्य धर्मोंका भी सम्यक् ज्ञान रखती हैं। अतएव श्रीरामचन्द्रकी दुःखसहभागिनी, धर्मपत्नी होनेके साथ-ही-साथ सहधर्मचारिणी होनेके कारण श्रीरामको भी उनके पूर्वप्रतिज्ञात अहिंसा-धर्मके परिपालनमें प्रवृत्त करती हैं। आदिकविने अरण्यकाण्डमें विस्तारपूर्वक इन विषयोंका वर्णन किया है।

लंकेश्वर रावणद्वारा त्रैलोक्यके ऐश्वर्यका प्रलोभन देनेपर भी परम असहाय श्रीजानकी उस ऐश्वर्यसे आकृष्ट नहीं हो सकीं; इससे उनकी उदात्तचरित्रताका परिचय प्राप्त होता है। वनगमनके समय ही उनके

* स्थूलजङ्घो यथा रामः चक्रगामी च लक्ष्मणः। घनकेशी यथा सीता भवन्ते दुःखभाजनम्॥
(ग० पु० पूर्व० सामुद्रिकलक्षणाध्याय)

उत्कट त्याग, पतिव्रतोचित प्रगाढ़ पतिप्रेम, शरीरकी अनासक्ति तथा धैर्यका प्राकट्य हो गया था; अतः सुदृढमना पतिव्रताशिरोमणि श्रीसीता निशाचर रावण एवं उनके ऐश्वर्यको तृणवत् तुच्छ समझें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? रामचरणोंमें नतमस्तक भगवती जानकी राक्षसराज रावणके प्रणयको ठुकराकर उसे बाँयें चरणसे स्पर्शकी कामनासे भी विहीन हैं—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।'

उनके इस अलौकिक पातिव्रत्यसे मुग्ध होकर रावण-पत्नी मन्दोदरीने उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की थी—भगवती श्रीसीतादेवी अरुन्धती एवं रोहिणीसे भी उत्कृष्ट पतिव्रता हैं, मान्या एवं पूज्या हैं; पर दुर्बुद्धि रावणने उनका हरणरूप अत्यन्त अनुचित कार्य किया—

अरुन्धत्या विशिष्टां तां रोहिण्याश्चापि दुर्मते।
सीतां धर्षयता मान्यां त्वया ह्यसदृशं कृतम्॥

भूषणटीकाकार श्रीगोविन्दराजने मान्याका अर्थ करते हुए लिखा है—श्रीअरुन्धत्यादिकी भाँति मैथिली पातिव्रत्यमात्रसे युक्त नहीं हैं; अपितु मातृत्वगुणसे सम्पन्न हैं, जगज्जननी हैं। इसीलिये मन्दोदरीजीको इस कथनमात्रसे संतोष नहीं हुआ; क्योंकि वे श्रीसीताराम-जीकी भगवत्तासे सुपरिचित थीं। उन्होंने श्रीरामकी भगवत्ताका अभूतपूर्व वर्णन किया है, अतः नारायणा-वतार श्रीरामकी पत्नी महालक्ष्मीस्वरूपा सीताके सहज स्वरूपको प्रकट किये बिना वे न रह सकीं। यदि विदेहराजनन्दिनीमें श्रीहनुमान्‌की पूँछमें लगी अग्निको शीतल करनेकी सामर्थ्य थी एवं—'नाग्निरग्नौ प्रवर्तते' के अनुसार अग्निकी कारणस्वरूपा होनेसे अग्निमें श्रीसीताको दग्ध करनेकी सामर्थ्य न थी तो क्या वे पतिव्रताशिरोमणि दुष्ट रावणको भस्म नहीं कर सकती थीं ? इस शङ्काका परिहार करते हुए स्वयं मन्दोदरीजीने कहा—उनमें रावणको भस्म करनेकी पूर्ण सामर्थ्य थी और वस्तुतः वह पतिव्रतपरायणा श्रीसीताके तपोमय तेजसे पहले ही भस्म हो चुका था; किंतु बाह्य रूपसे अत्यन्त क्षमाशील होनेके कारण देवी सीताने उसे भस्म नहीं किया था; क्योंकि वे वसुधाकी भी वसुधा हैं अर्थात् पृथ्वीकी अपेक्षा उनमें क्षमा-गुणकी प्रबलता है तथा श्रीकी भी श्री एवं श्रीरामकी प्राणप्रिया भर्तृवत्सला हैं—वसुधायाश्च वसुधां श्रियः श्रीं भर्तृवत्सलाम्। (वा० रा० ६। ११०। २१) इसीलिये गरुडपुराणमें जनकात्मजाको पतिव्रताशिरोमणि देवी अनसूयासे भी अधिक गरिमामयी कहा है—पतिव्रतान-सूयायाः सीताभूदधिका किल। (वा० रा० ६) देवी अनसूयाका पातिव्रत्य जगत्प्रसिद्ध—लोकविदित है; किंतु वे जगज्जननी परब्रह्म नहीं हो सकतीं, यह सौभाग्य-महिमा मात्र जगज्जननी भगवती सीताको ही प्राप्त है; अतः उन्हें देवी अनसूयासे भी उत्कृष्ट कहा गया। परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीरामकी मनःकान्ता एवं वक्षःस्थल-विहारिणी होती हुई अखण्ड सौभाग्यफलकको भी चारुता-पात्र हैं। अतः नार्युत्तमा श्रीसीताकी समता त्रैलोक्यमें कहीं नहीं; एतावता आदिकविको अपने महाकाव्यकी नायिकाके उदात्त चरित्रपर गौरव होना स्वाभाविक ही है। अतएव उनका 'सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः' (वही २। १। २७) कथन भी सर्वथा सुसंगत है। पर श्रीनत्वके मर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकिको अपने इस कथनसे पूर्ण संतुष्टि न हो सकी; अतः उन्होंने अपने रामायण महाकाव्यको ही 'सीताचरित' कह दिया—'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्' (१। ४। ७) सम्पूर्ण रामायण महाकाव्य श्रीसीताजीका महान् चरित है।

प्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् भूषणटीकाकार गोविन्दराजने 'सीतायाश्चरितं महत्' की व्याख्या करते हुए अनेक मूतन प्रसङ्गोंको तर्कसंगतरीतिसे रखा

रामायणको सीताचरित ही स्वीकार किया है। उनका कथन है कि रामायणमें रामचरितका 'अप्राधान्येन एवं प्राधान्येन'—प्रधानरूपसे सीताचरितका प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये आदिकविने सम्पूर्ण रामायणको सीता-चरितपरक कहा है। अतएव श्रीगुणरत्न-कोशमें स्वामी श्रीपराशरभट्टने संकेत किया कि श्रीमद्रामायण भी आपके चरित्रसे ही उज्जीवनको प्राप्त कर रहा है—'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणीति त्वच्चरित्रैः'। श्रीरामादिके चरित्रसे रामायण जीवनमात्र धारण करता है; किंतु सीताचरितसे उत्कर्षपूर्वक उत्कृष्ट जीवन धारण कर रहा है। यदि रामायण रामचरितपरक स्वीकार किया जाय तो धीरोदात्त* नायक श्रीराम स्वयं अपना चरित्र कुश-लवद्वारा सभामें श्रवण करें यह सम्भव नहीं; क्योंकि महर्षि वाल्मीकिद्वारा रचित रामायण महाकाव्यको वेदोंके उपबृंहणके लिये सीतापुत्र कुश-लवने महर्षिकी आज्ञासे कण्ठस्थ कर लिया था; तब वे अनुपमरूप बालक वीणाके ऊपर इसका रामायणका गान करते हुए एक बार अयोध्याकी वीथियोंमें विचरण करने लगे। भगवान् श्रीरामकी दृष्टि उन बालकोंपर पड़ी। उन्होंने सम्मानपूर्वक कुश-लवको राजमहलमें आमन्त्रित किया और भरतादि भ्राताओंको भी उस मधुर काव्यको श्रवणके लिये प्रेरित किया। उनका गान सुनकर सभी श्रोतागण आनन्द-समुद्रमें निमग्न हो गये। जनसभामें होनेवाला वह गान श्रवणेन्द्रियोंको अत्यन्त सुखद था। चरित्रकी दृष्टिसे श्रेयस्य तो था ही। श्रीरामने अपने भ्राताओंका ध्यान आकृष्ट कर कहा—यद्यपि ये दोनों कुमार मुनिवेषमें हैं तथापि राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न एवं संगीतज्ञ तथा तपस्वी हैं। महान् प्रभावसे युक्त यह चरित मेरे लिये भी अभ्युदयकारक है, अतः आपलोग भी इसका श्रवण करें। श्रीरामकी आज्ञासे प्रेरित उन दोनों भ्राताओंने जब मार्गविधानकी रीतिसे रामायणकाव्यका गान प्रारम्भ किया तो सभामें उपस्थित श्रीराम भी शनैः-शनैः गानश्रवणमें तन्मय हो गये।

> इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
> कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ।
> ममापि तद्भूतिकरं प्रचक्षते
> महानुभावं चरितं निबोधत॥
> ततस्तु तौ रामवचः प्रचोदिता-
> वगायतां मार्गविधानसम्पदा।
> स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
> र्बुभूषयासक्तमना बभूव ह॥
> (वा० रा० १।४।१०-११)

पूर्वाचार्योंकी टिप्पणी है—'नायं प्रबन्धो रामचरित्रपरः, किंतु सीताचरित्रपरः'—यह प्रबन्ध रामचरित्रपरक न होकर श्रीसीताचरित्रपरक है। इसीलिये श्रीराम एकाग्रचित्त होकर उसका श्रवण करते हैं।

इसमेंका मुख्य कारण था—चरित्रका परम होना। भूषणकारने 'महानुभाव' का अर्थ किया 'स्वस्मादप्यतिशयितवैभवमित्यर्थः'—अपनेसे (श्रीराम-से) भी उत्कृष्ट अतिशय वैभव श्रीमैथिलीका है; क्योंकि श्रीराघवेन्द्रने शरणागत जयन्त एवं विभीषणकी रक्षा तथा कृपा की; किंतु अकारण-करुणावरुणालया श्रीजानकीजीने निरवधिक अपराध करनेवाली संत्रस्त राक्षसियोंकी परमागमन हनुमान्के भयंकर कोपसे रक्षा कर श्रीरामकी गोष्ठीको लघुतर कर दिया—जबकि वे राक्षसियाँ श्रीजानकीजीकी शरणमें भी नहीं गयी थीं; अपनी ओरसे श्रीजीने उनकी रक्षा की थी। उनकी निर्हेतुकी कृपा-क्षमा महान् अपराधियोंको भी सुखी करे—

* धीरोदात्त नायकका लक्षण इस प्रकार है—'क्षमावानविकत्थनो दयालुः'—जो अपनी प्रशंसा न स्वयं करे न सुने।

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधस्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥
(श्रीगुणरत्नकोश ५०)

विभीषण-शरणागतिमें भगवान् श्रीरामकी यह उक्ति कि 'दोष होनेपर भी शरणागतकी रक्षा करनी चाहिये, उसे ग्रहण करना चाहिये', दोषका दर्शन तो कर ही रही है— 'दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्' (वा० ६।१८।३)। किंतु भगवती श्रीसीता तो किसीके दोष या अपराधपर दृष्टिपात ही नहीं करतीं 'न कश्चिन्नापराध्यति'। (वा० ६।११३।४५)—अतः श्रीरामचरितकी अपेक्षा सीताचरित उत्कृष्ट है। वे अपना हरण कराकर रावणके लंकास्थ कारागृहमें आबद्ध हो जाती हैं, केवल इसलिये कि देवकन्याओं आदिको उस कारागृहसे मुक्त कराकर सुख प्रदान किया जाय। अतः श्रीरामसे भी अधिक आश्रित-रक्षणमें अतिशय त्वरायुक्त हैं। जगत्पिता परमेश्वर श्रीराम जब पितृत्वप्रयुक्त हितकी कामनासे अपराधी जीवोंपर कुपित हो जाते हैं तब मातृत्वप्रयुक्त वात्सल्यके कारण आप राघवेन्द्रके द्वारा उन जीवोंको क्षमा प्रदान करवाती हैं; अतः करुणा, क्षमा आदि गुणोंका वैशिष्ट्य भगवती जानकीमें है। इसलिये श्रीसीताचरित महामहिमामय है। इस प्रकार 'सीतायाश्चरितं महत्' पङ्क्तिमें 'महत्' विशेषणकी सार्थकता स्पष्ट प्रतिपादित है।

तनिस्लोकी-कार—यात्रा श्रीमहोबल स्वामीने तो रामायण शब्दकी व्युत्पत्ति ही सीताचरित्रपरक कर दी— 'रमाया इदं चरितं रामम्, तस्यायनमिति वा व्युत्पत्तिः' रामशब्दका लक्ष्मीत्यादि-शब्दकी भाँति स्त्रीपुरःसरनिर्देश प्रबन्धके लक्ष्मी-प्राधान्य ज्ञापनके लिये ही है। अतएव महर्षिने रामायणका सीताचरित नामकरण उचित ही किया। श्रीसीताचरितसे देवी सीताका प्रबन्धनायिकात्व कहा गया। सापराधी जीवोंमें भी जानकीजीका रक्षणप्रवणत्व प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण है, अतः नारायण-कथाकी अपेक्षा श्रीचरित महान् है। इस दृष्टिसे श्रीमद्रामायण आदिकाव्य-का शरणागतिमन्त्रोपबृंहणत्व व्यक्त होता है। समस्त-विभूतिनायक मेरे लिये भी सम्पत्कर—अभ्युदयकारक यह चरित है, तब 'किमुत अन्येषाम्' औरोंकी तो बात ही क्या! जब आनन्दप्रदायक सर्वसम्पत्कर परमप्रभुको भी यह चरित प्रसन्न करनेवाला आनन्दप्रद है तो अन्य जीवोंको यह सीताचरित आनन्द एवं अभ्युदय प्रदान करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या! उन परमाराध्या प्रियतमाके बिना मेरी भी सत्ताका निर्वाह नहीं होता, दशरथनन्दन श्रीरामके इस कथनकी परिपुष्टि श्रीजानकी-स्तवराजके निम्न प्रसङ्गसे हो जाती है।

एक बार भूतभावन भगवान् शंकरने अखिलकोटि-ब्रह्माण्डाधिनायक श्रीरामके पररूप देखनेकी इच्छासे एकान्तमें परम स्थिर चित्तसे आचार्यविधि तथा वेदविधिद्वारा दिव्य सौ वर्षतक जाप्य श्रीराम-मन्त्रराजका जप किया। करुणाकर प्रभुने प्रसन्न होकर दर्शन दिया तथा संकेत किया कि यदि आप मेरे मायनातीत रूपका दर्शन करना चाहते हैं तो मेरी आह्लादिनी पराशक्तिकी स्तुति करें; क्योंकि शम्भो! मैं उन्हींके सहित आराध्य हूँ, उन्हींके साथ रमण करता हूँ, उन्हींके अधीन हूँ, उनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता हूँ; क्योंकि वे मेरा परम जीवन हैं—

तदाराध्यस्तदारामः तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥
(जानकीस्त०, श्लोक ८)

इस प्रकार श्रीजनकनन्दिनी जानकी श्रीरामकी अनपायिनी शक्ति हैं, सत्ताप्रदायिका प्राणधारिका हैं। इसीलिये श्रीरामतापनीयोपनिषद्में कहा गया है—चिदा-नन्दमयी, स्वर्णवर्णा, द्विभुजा सर्वालंकारालंकृता कमल-

धारिणी श्रीसीतासे स्निग्ध होकर ही कौसल्यानन्दवर्धन रघुनन्दन पुष्ट होते हैं—

हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कारयाचिता।
श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः॥

एतावता श्रीराममनःकान्ता-श्रीसीताचरित दुर्विज्ञेय महिमायुक्त है। श्रीगुणरत्नमञ्जरीकारकी ऐसी अनेक उत्प्रेक्षाएँ हैं। श्रीपराशरभट्टने भी क्षुब्ध होकर कहा—'जननि! आप श्रीरामकी सर्वथा सहचरी बनकर हमलोगोंकी रक्षाके लिये इस भूमण्डलपर अवतीर्ण होती हैं, किंतु लोक आपकी इस महिमाको जानने एवं सुननेमें बधिर (बहरा) है; क्योंकि संसारमें अवतार लेकर आश्रितरक्षण-तत्पर होनेके कारण आपको नाना प्रकारके कष्ट सहन करने पड़े थे—

मेतुर्मिरयसहायिनी जननि नस्त्रातुं त्वमत्रागता
लोके त्वन्महिमावबोधबधिरे प्राप्ता विमर्दं बहु।
(श्रीगुणरत्नकोश ५२)

श्रीरामवल्लभाका रहस्यमय वास्तविक चरित उनकी कृपासे ही कोई जान सकता है। महामहिमाशालिनी मैथिलीका चरित प्रभु सिंहासनासीन होकर कुश-लवद्वारा श्रवण कर रहे थे, किंतु उक्त सिंहासनपर अवस्थित होनेके कारण श्रीराम स्वयंको अकेला अनुभव करने लगे। अतः मन्दगतिसे शनैः-शनैः सिंहासनसे उतरकर परिषद्में आ गये; क्योंकि शीघ्रतासे उठकर सभामें आनेसे रसभङ्ग हो जाता। 'एका स्वादु न भुञ्जीत' इस न्यायसे श्रीरघुनन्दन सबके साथ गान-रसका रसास्वादन करनेके लिये, श्रोत्रसुखानुभवार्थ कान्ता-कथाश्रवणद्वारा स्वसात्म्यकी इच्छासे सभाके मध्यमें आकर गान-श्रवणमें अमृतस्थित हो गये। इससे सिद्ध हो जाता है कि रामायण वास्तवमें श्रीसीताचरित है।

एकमात्र प्रियतम श्रीराम ही प्रियतमा श्रीसीताजीके चरित्रकी वस्तुस्थितिसे अभिज्ञ हैं, अतएव वे स्वयं उपर्युक्त प्रसङ्गसे वैदेहीके उत्कृष्ट चरित्रको प्रकट कर देते हैं। अतः आदि कविकी—'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्' की बात ठीक ही है।

भारतीय संस्कृतिका प्रबल पक्ष है—'शरणागत-वत्सलता।' महाभारतादि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक शरणागतरक्षणके आख्यान प्राप्त होते हैं। इस परम्पराका सम्यक् निर्वाह शरणागतवत्सला अकारण करुणावरुणालया श्रीजनकजाके अद्भुत चरित्रसे हो रहा है। उनके सुकुमार हृदयमें जीवमात्रके प्रति करुणाका विशाल समुद्र तरङ्गायित होता रहता है। श्रीजीके आकर्ण-दीर्घ अर्धोन्मीलित नयनोंसे अनवरत कृपापीयूषकी वर्षा होती रहती है। तभी तो उनके श्रीचरणोंकी शीतल-सुखद छायामें अपराधी जीव भी शाश्वत शान्तिका अनुभव करते हैं—

औदार्यकारुणिकताश्रितवत्सलत्व
पूर्वेषु सर्वमतिशायितमत्र मातः।
श्रीरङ्गधाम्नि यथुताग्र्यगुणाहरन्ति
सीतावतारमुखमेतदमुष्ययोग्यम्॥
(श्रीगुणरत्न० ५७)

नारीजगत्की तो वे विशेषरूपसे आदर्शभूता हैं। सम्पूर्ण नारियोंका योगक्षेम वहन करनेमें ऐश्वर्यशालिनी श्रीसीता ही समर्थ हैं—'सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं विधास्यति।' श्रीसीताचरित वह महान् प्रकाशपुञ्ज है, जिसके आलोकमें अज्ञानी जीवोंको मार्गप्रदर्शन करनेकी क्षमता एवं ज्ञानी जीवोंको मोक्षप्रदान तथा सरस भक्तोंको अनुपम रसका रसास्वादन करानेकी अलौकिक दिव्य शक्ति संनिहित है। अतएव हमारी विदेहवंश-वैजयन्ती भगवती श्रीसीताका उदात्त चरित महान्-से-महान् एवं परम पुनीत है। ('जानकीचरितामृतम्' आदि ग्रन्थोंमें उनके ऐसे शतशः दिव्य चरित्रोंका संग्रह है।)

अनसूयाका आदर्श चरित्र-शिक्षण

भारतीय सती-साध्वी नारियोंमें अनसूयाजीका अपना विशिष्ट स्थान है। इनके पिता महर्षि कर्दम थे। माता देवहूति स्वायम्भुवमनुकी राजकन्या थीं। अनसूयाके छोटे भाई कपिल मुनि थे, जो साक्षात् विष्णुके अवतार थे और सांख्यदर्शनके प्रणेता थे। अनसूयाको अपने वंशके सभी उत्तम गुण—सत्य, धर्म, शील, सदाचार, विनय, लज्जा, क्षमा, सहिष्णुता एवं तप आदि उत्तराधिकारमें प्राप्त हुए थे। आयुके विकासके साथ-साथ उक्त सभी गुणोंका उत्तरोत्तर विकास उनमें होता गया। इनके उक्त गुणोंके कारण ब्रह्माके मानसपुत्र महर्षि अत्रिने इन्हें पत्नीरूपमें स्वीकार किया।

अनसूया परम पतिव्रता नारी थीं। ये तपश्चर्यामें भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं। इन्होंने अपने तपोबलसे चित्रकूटमें अपने आश्रमके पास गङ्गाकी पावन धारा मन्दाकिनी प्रवाहित कर दी, जो पाप-तापका शमन करती है। अनसूया नारी-जातिके लिये पति-सेवा ही परम कल्याण-साधन मानती थीं। उनके कथनके समान—

'एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥'
नारि परमु पति देव न दूजा।

उनके पतिव्रत-धर्मके वशीभूत हो ब्रह्मा-विष्णु-महेशको भी छः-छः मासका शिशु होकर उनकी गोदमें खेलना पड़ा तथा उनका दुग्धपान करना पड़ा। उनकी पतिभक्तिके आगे तीनों देवियों—ब्रह्माणी, लक्ष्मी एवं सतीको झुकना पड़ा तथा उन्हें माता कहकर क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी। ब्रह्मा-विष्णु-महेशको उनकी पतिभक्तिपर रीझकर अपने-अपने अंशसे उनके पुत्रके रूपमें अवतार लेना पड़ा। वे तीनों पुत्र थे—चन्द्रमा, दत्तात्रेय और दुर्वासा।

अनसूयाका चरित्र जैसा आदर्श था, वैसी ही शिक्षा वे नारी-जातिको देती थीं। आदर्श चरित्र-शिक्षणके लिये वे प्रख्यात थीं। वनवासके समय जब भगवान् श्रीराम लक्ष्मण-जानकी-सहित महर्षि अत्रिके अतिथि हुए थे, तब अनसूयाने सीताका बड़ा सत्कार किया था। अत्रिने श्रीरामसे अनसूयाका गुणगान किया था और कहा था कि अनसूया देवी तुम्हारे लिये माताकी भाँति पूजनीया हैं। समस्त प्राणियोंके लिये वन्दनीया हैं। सीताजी इनके पास जायँ और शिक्षा ग्रहण करें।

अत्रिकी प्रेरणा एवं श्रीरामकी आज्ञासे सीताजी आश्रमके भीतर अनसूयाके पास गयीं और शान्तभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया। कुशल-परिचयके पश्चात् सीतापर प्रसन्न होती हुई वे बोलीं—'सीते! तुम धन्य हो, जो राजसुख त्यागकर वनवासी पतिकी अनुगामिनी बनी और वनके कष्ट सहन करती हो।' इसके पश्चात् उन्होंने सीताजीको जो पतिव्रत-धर्म, स्त्री-धर्मका उपदेश दिया, वह नारी-वर्गके लिये कण्ठहार है तथा सर्वथा अनुकरणीय है। आदिकवि वाल्मीकि अनसूयाके आदर्श चरित्र-शिक्षणका वर्णन करते हैं—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥
(वा० रा०, अयो० ११७। २३-२४)

अर्थात्—'पति चाहे नगरमें हो, या वनमें, अच्छा हो या बुरा हो, जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं (जो सदा उनकी अनुगामिनी होती हैं) उन्हें शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है। उत्तम स्वभाववाली स्त्रियोंके लिये पति श्रेष्ठ देवताके समान होता है—भले ही वह पति बुरे स्वभावका हो स्वेच्छाचारी हो या निर्धन हो।' आगे सीताजीको पतिभक्तिकी शिक्षा देती हुई अनसूया कहती हैं—'सीते! बहुत विचार-कर देखनेके बाद भी मुझे पतिके समान हितकारी बन्धु

नहीं दिखायी पड़ता । तपके अक्षय फलकी तरह पति इस लोकमें और परलोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें सक्षम है । जो अपने पतिपर भी शासन करती हैं वे अधम नारियाँ पतिका अनुगमन नहीं करतीं; उन्हें गुण, दोष, पाप-पुण्यका ज्ञान नहीं होता । ऐसी नारियाँ दुष्कर्मोंमें फँसकर पथभ्रष्ट हो जाती हैं और लोकनिन्दाको प्राप्त होती हैं । किंतु जो तुम्हारी भाँति लोक-परलोकको जाननेवाली सती नारियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त हो सत्कर्मोंमें लगी रहती हैं । अतएव तुम इसी प्रकार अपने पति श्रीरामकी सेवामें संलग्न रहो, सती-धर्मका पालन करो । पतिको ही आराध्य देवता समझो और सदा उनका अनुगमन करती हुई उनकी सहधर्मिणी बनो । इससे तुम्हारे लोक-परलोक दोनों बनेंगे, धर्म और सुयश दोनोंकी प्राप्ति होगी ।

मानसमें गोस्वामी तुलसीदासने अनसूयाके उपदेशका बड़ा मार्मिक एवं प्रभावशाली वर्णन किया है जो सरल, सरस, सुबोध एवं गीतमय होनेके कारण प्रत्येक नारीके लिये सदा स्मरणीय है । वे कहती हैं—

> मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
> अमित दानि भर्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
>
> × × ×
>
> जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ॥
> उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
> बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
> पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ॥
> बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
> सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ ।
> जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥

अन्तमें सीताजी पतिभक्तिपर परम प्रसन्न सती अनसूया उन्हें हार-वस्त्र, आभूषण, अङ्गरागादि देकर उन्हें आशीर्वाद देकर प्रेमपूर्वक विदा करती हैं । अनसूयाके उपदेशको आदर्श मानकर माननेवाली नारी पतिव्रताओंमें अग्रगण्य होती है ।

भक्तश्रेष्ठ ध्रुव

राजा उत्तानपाद अपनी प्रिय रानी सुरुचिके साथ सिंहासनपर आसीन थे । उनकी गोदमें बालक उत्तम खेल रहा था । इतनेमें बालक ध्रुव खेलता हुआ आ पहुँचा । वह भी पिताकी गोदमें बैठनेको उत्सुक हुआ । भला, विमाता सुरुचिको यह सहन कैसे हो सकता था ! उसने ध्रुवको राजाकी गोदमें बैठनेके लिये मचलते देखकर ईर्ष्यासे डाँट दिया—'ध्रुव ! तूने मेरे पेटसे जन्म तो लिया नहीं है, फिर महाराजकी गोदमें, उनके सिंहासन-पर बैठनेका प्रयत्न क्यों करता है ? यदि उत्तमकी भाँति तुझे भी राज्यासन या पिताकी गोदमें बैठना हो तो पहले तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न कर और मेरे गर्भसे जन्म ले !'

विमाताके वचन ध्रुवको बाण-से लगे । यद्यपि वह पाँच वर्षका छोटा बालक ही था, पर क्षत्रिय-रक्त था । अमर्षमें उसके नथुने फड़कने लगे । मुख लाल हो गया । पितासे निराश हो जोर-जोरसे रोता हुआ अपनी माँ सुनीतिके पास चल पड़ा । किंतु राजा चुपचाप देखते रहे, वह छोटी रानीके वशमें जो थे । माता सुनीतिने बड़े स्नेहसे पुचकारकर बालकको गोदमें उठा लिया और रोनेका कारण पूछा । ध्रुवने रोते-रोते सारी बातें बता दीं । सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई । उसने अश्रुपूर्ण नेत्र हो लम्बी साँस लेते हुए कहा—'बेटा ! सुरुचि ठीक कहती है । जब महाराज मुझे अपनी पत्नी कहनेमें संकोच करते हैं, तब तुम्हें पुत्रके रूपमें गोदमें कैसे उठा सकते हैं ! यह तुम्हारा दुर्भाग्य था कि तुम मेरी कोखसे जन्म लेनेके कारण राजाकी गोदसे वञ्चित होते हो । विमाताने ठीक ही कहा है कि यदि उत्तमकी भाँति सिंहासनपर राजाकी गोदमें बैठना है तो भगवान्‌की आराधना करो ।

भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कोई तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला नहीं है।' ध्रुव माताकी चरणरज लेकर घरसे निकल पड़ा। माँने हृदयपर पत्थर रखकर आशीष देकर अपने शिशुको विदा किया। ध्रुव तपस्याके लिये चल पड़ा।

ध्रुव तपस्याके लिये घरसे निकल तो पड़ा, पर उसे उसके विधि-नियम कुछ भी ज्ञात न थे। इतनेमें उसे मार्गमें नारदजी मिल गये। नारदजीने उसकी अबोध अवस्थापर तरस खाकर तपकी कठिनाइयों और विघ्न बताकर उसे रोकना चाहा, पर उसकी दृढ़ निष्ठा और निश्चय देखकर उसे द्वादशाक्षरमन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय)की दीक्षा दी और भगवान्‌की पूजा, ध्यानविधि बताकर उसे यमुनातटपर मधुवनमें जानेका संकेत किया। नारदसे बालकके तपोवन जानेकी बात सुनकर राजाको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। देवर्षिने उन्हें सान्त्वना दी।

बालक ध्रुव यमुनाके तटपर मधुवनमें अखण्ड तपस्या करने लगा। भगवान्‌की पूजाकर वह द्वादशाक्षरमन्त्रका अखण्ड जप करने लगा। प्रथम मासमें तीन दिनके उपवासके बाद चौथे दिन वह कैथ, बेर, मनैले फल खा लेता था। दूसरे मासमें सप्ताहमें एक बार वृक्षसे स्वयं गिरे पत्ते या सूखे तृण खाकर जप करता रहता। तीसरे मासमें ९ दिन बीतनेपर केवल एक बार जल पीता था। चौथे मासमें बारह दिनपर एक बार वायु भोजन करता और पाँचवें मासमें श्वास लेना भी छोड़ दिया। पाँच वर्षका बालक ध्रुव एक पैरपर खड़े होकर भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो द्वादशाक्षरमन्त्रका अविरत जप करता रहा। जब पैर बदलता, तब पृथ्वी डगमगाने लगती थी। उसके श्वासरोधसे त्रिभुवनके प्राणियोंका श्वास बन्द होने लगा। अतः विश्वकी रक्षाके लिये और अपने भक्त ध्रुवकी मनःकामना पूर्ण करनेके लिये भगवान् चतुर्भुजरूपमें उसके समक्ष प्रगट हो गये। पर यह क्या! ध्रुव तो उधर देखता ही नहीं, वह तो ध्यानमग्न है। अतः भगवान्‌ने ध्रुवके हृदय-(ध्यान-) से अपना रूप अन्तर्हित कर लिया। तब तो भगवान्‌का अन्तर्दर्शन न पाकर व्याकुल हो बालकने आँखें खोल दीं तो सामने भगवान्‌को मन्द मुस्कानके साथ स्थित देखा। उसके आनन्दकी सीमा न रही। पर आनन्दकी अधिकताने उसे मूक बना दिया। वह कुछ बोल ही न सका। तब अन्तर्यामी प्रभुने अपने शङ्खसे उसके कपोलका स्पर्श करा दिया। बस, उसी समय ध्रुवके हृदयमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश हो गया जिससे उसे सम्पूर्ण विद्याएँ उद्भासित हो गयीं।

उसने भावविभोर हो भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम कर स्तुति की। यद्यपि ध्रुवने प्रभुसे कोई वरदान नहीं माँगा, तथापि अन्तर्यामी प्रभुने कहा—'वत्स! मैं तुम्हारी हार्दिक इच्छाको जानता हूँ, अतः तुम्हारे न माँगनेपर भी तुम्हें वह ध्रुव पद देता हूँ, जो दूसरोंको दुष्प्राप्य है, जहाँ आजतक कोई पहुँचा ही नहीं है तथा सभी ग्रह-नक्षत्र-तारामण्डल जिसकी परिक्रमा करते हैं। पिताके वानप्रस्थ लेनेपर तुम पृथ्वीका शासन दीर्घकालतक करोगे और अन्तमें मुझे स्मरण करते हुए मेरे उस सर्वश्रेष्ठ धामको पहुँचोगे, जहाँ जाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता है।' यह वरदान देकर भगवान् अन्तर्हित हो गये।

भगवान्‌के दर्शन एवं वर पाकर ध्रुव घर लौटा। भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर सब प्रसन्न हो जाते हैं। राजभवनका वातावरण ही बदल चुका था, सब ध्रुवकी बाट जोह रहे थे। राजाको जब ध्रुवके लौटने और भगवद्दर्शनका समाचार मिला तो बड़े धूम-धामसे उसके स्वागत-हेतु वे सपरिवार आगे बढ़े। उन्होंने पुत्रको गोदमें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उनके आनन्दाश्रुओंसे बालक भीग गया था। ध्रुवने पिताके पश्चात् विमाता सुरुचिको प्रणाम किया। सुरुचिने उसे गलेसे लगाकर आशीर्वाद दिया। माता सुनीतिको तो मानो उसका प्राण ही मिल गया। उसने पुत्रको छातीसे लगा लिया। उसके स्तनोंसे दूधकी और आँखोंसे उमड़ती आनन्दाश्रुकी धारा ध्रुवका मानो अभिषेक

करने लगी। सब सुनीतिके पुण्य-प्रभावकी प्रशंसा करने लगे।

कुछ दिनोंके पश्चात् राजा उत्तानपादको वैराग्य हो गया। वे ध्रुवका राज्याभिषेक कर तपोवन चले गये। ध्रुवने प्रजाका पुत्रवत् पालन किया। विमाता सुरुचि तथा उसके पुत्र उत्तमके साथ उनका उत्तम एवं आदर्श व्यवहार रहा। उन दोनोंको वे अपनी माता एवं अपना सहोदर ही समझते रहे। उत्तम चरित्रवान् सबसे उत्तम व्यवहार करते ही हैं।

यह था ध्रुवका आदर्श चरित्र, जो मात्र पाँच वर्षकी अवस्था होते हुए भी अपनी तपस्या, भक्ति, सच्चरित्रता और मनोयोगसे भगवद्दर्शनकर माता सुनीतिके दुःखका निवारण करते हुए अपने अधिकारको प्राप्त कर सका।

सुरुचि और सुनीतिके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—पं० भीमकृष्णजी, उद्धवजी शास्त्री, आयुर्वेदालंकार)

उपनिषदोंमें जिन्हें 'प्रेय' और 'श्रेय' कहा गया है, पुराणोंमें उन्हें आख्यानोंद्वारा समझाकर जीवनमें वरणीय चरित-तत्त्वका उद्बोधन किया गया है। सामान्य लोगोंके लिये पुराण-कथाओंद्वारा उपनिषद्-वर्णित जो कथा रूपकात्मक दृष्टिसे लिखी गयी है, वह है—'ध्रुवाख्यान'। ध्रुव भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। राजा उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। उनमें राजाको सुरुचि अत्यन्त प्रिय थी, अतः उसको महारानी पद दिया गया था। सरल स्वभाव और धर्मप्रेमके कारण सुनीति उपेक्षित होकर अलग रहती थी। एक दिन सुनीतिका पाँचवर्षीय बालक ध्रुव अपने पिता उत्तानपादकी गोदमें बैठनेकी चेष्टा करने लगा। यह देखकर सुरुचिने ध्रुवका तिरस्कार कर दिया और कहा—तू अभागिनका पुत्र होनेके कारण राजाकी गोदमें बैठ नहीं सकता। सुरुचिके मोहपाशमें बँधे उत्तानपाद इस निर्दोष बालक ध्रुवकी वेदनाको समझ न सके। फलतः माताकी आज्ञा लेकर यह बालक वनमें चला गया और नारदजीके उपदेशसे उसने परमपिताकी कृपा पानेके लिये जप, तप किया। परिणामस्वरूप ध्रुवको परमात्मदर्शन हुआ और भगवान्‌ने उसे मानवीय जीवनका ध्रुवतारा बना दिया। पर सुरुचिके प्रति मोहान्ध उत्तानपादको क्या मिला? मौखिक तिरस्कार और जीवनभरका पश्चात्ताप तथा महारानी बनी हुई सुरुचिके पुत्र उत्तमकी अकाल मृत्युका शोक, खेद, अपयश। वह पश्चात्तापमें आजीवन जलती रही और सुनीति माननीया बन गयी। चरित्रशीला सुनीति भाग्यशीला बनी।

विदेशी शासनसे मुक्त हुए आज प्रायः २५ वर्ष हो चुके। परंतु स्वातन्त्र्य-प्राप्तिका लाभ हमें आजतक नहीं मिला। उसका कारण श्रीमद्भागवतके इस आख्यानमें वर्णित है। जिन धर्मग्रन्थोंके आधारपर भारतीय जनता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको हस्तामलकवत् सिद्ध कर लेती थी, उसके विपरीत बनानेवाले साहित्यको प्रोत्साहन देकर आज आगे बढ़ाया जा रहा है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि साक्षर कहलानेवाले हिन्दू लेखक भी हिन्दू-संस्कृतिके उन्मूलनमें हाथ बँटा रहे हैं। भड़कानेवाले कृत्रिम वेशभूषासे सुसज्जित होकर सुरुचिवर्ग हाथमें शृङ्गारिक चरित्र एवं धर्मध्वंसक साहित्यको लिये हुए सर्वत्र घूमता फिरता है। विदेशी धर्म, विदेशी आचार-विचार, मद्यादिव्यसनकी शिथिलता और स्वच्छन्दताका पोषक होनेके कारण भारतकी युवापीढ़ी इसीको अपना रही है। इन्हीं विचारोंको दूसरे लोग भी अपना रहे हैं।

इस कुछ लोग विदेशोंमें जाकर रंगराग और सिनेमा आदिके मोहपाशमें खिंचे चले आ रहे हैं।

यहींसे चारित्र्यकी भ्रष्टता आरम्भ होती है। विदेशोंसे आयात की गयी आजकी राजनीति भी उसी धनसत्ताकी चल्लासे भरी हुई होनेके कारण संस्कृतिके नामपर अनाचार और मिथ्याचारको फैला रही है। इसी प्रकार अतिव्यय करानेवाले विदेशी खेल-कूद-क्रिकेट आदि, अश्लील सिनेमा-नाटक और विविध विदेशी नृत्य-गानादिको विविध नाम-रूप देकर भारतीय संस्कृतिका सर्वनाश किया जा रहा है। आज व्यक्तिका प्रधान लक्ष्य है—मुनाफा। प्रत्येक राजकामी कमानेके हेतु ही इस क्षेत्रमें आता है। प्रजाके खून, पसीना और आँसुओंकी इन लोगोंको चिन्ता नहीं है। अल्पमतिवाले बहुसंख्यक प्रजाजन भी इन लोगोंको श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसे लोग या तो स्वार्थान्ध होते हैं अथवा गतानुगतिक होते हैं। प्रचार-माध्यमोंद्वारा ये भोगके भिखारी लोग स्वयंको सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करानेमें कोई कसर नहीं रखते। आजके बहुसंख्यक प्रजाजनोंकी मति और गति भी इन्हीं लोगोंके अनुकरणमें लगी है। अपनेको श्रेष्ठ मनवानेवाले ये लोग विदेशोंमें जाकर आचार-विचार और आहारादिका विवेक छोड़कर उन्हीं आदतोंकी जड़ हमारी युवापीढ़ीके हृदयमें बद्धमूल कर रहे हैं।

प्रजाके धर्मके विरुद्ध विकृत संस्कृतिके प्रचार एवं शोषणद्वारा अपनी मनमानी करनेवाले प्राचीनकालमें राजाओंके अनेक दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं। उनमें चार राजाओंकी स्वेच्छाचारितासे प्रजाकी चारित्र्य-सम्पत्ति-का ह्रास और उनके दुष्परिणामका उल्लेख हम यहाँ संक्षेपमें करेंगे—

अङ्गपुत्र 'राजा वेन'—प्रजाके धन एवं संस्कृतिका सर्वनाश सर्वप्रथम महाराज अङ्गके पुत्र 'वेन' ने किया। अङ्ग राजाकी विजातीय पत्नी सुनीथाकी सन्तान होनेके कारण उसके द्वारा धर्म, संस्कृति और चारित्र्यका विनाश होना सम्भावित हो गया; क्योंकि उसने यह आज्ञापत्र निकाल दिया कि—'न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यं कदाचन'। धर्मके ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया। प्रजाके मनोरञ्जनके निमित्त उद्यानों एवं मेलोंमें आमोद-प्रमोदके सस्ते साधन उपलब्ध होने लगे। इसके कारण प्रजामें काम, क्रोध, ईर्ष्या, वैर, लोभ, लालच आदि बढ़ने लगे और धर्म तथा चारित्र्यका सर्वनाश होता रहा। स्वेच्छाचारके नशेमें प्रजा परस्पर लड़ती रही और महाराजा वेन स्वयं अनाचार और भोगरत होकर धर्मद्रोही और ईश्वरविमुख बन गया। परिणाम यह हुआ कि राज्यमें अनाचार एवं अकाल फैल गया, पर वेनकी आँखें न खुलीं। ऋषि-मुनियोंने उसे समझानेका विफल प्रयास किया। मोहान्ध राजाने उनका तिरस्कार किया। ऋषियोंने राजाको शापदग्ध कर दिया और उसकी मृत देहके शुद्ध भ्रमियोंके मन्थनद्वारा महाराजा 'पृथु' को प्रकट कर शान्ति स्थापित की और राष्ट्रिय संस्कृतिकी रक्षा हुई।

इसी प्रकार—ब्रह्माजीके वरदानसे उन्मत्त हिरण्यकशिपुने भी भगवान्‌का घोर विरोध किया। भगवद्भक्तों, संत-महात्माओं, देवों और धर्मका सर्वनाश करके त्रिलोकीका साम्राज्य हस्तगत कर लिया। अपने ही पुत्र भक्त प्रह्लादको मारनेके भी अनेक उपाय किये। अन्तमें स्वयं प्रभुने खम्भेसे प्रकट होकर उसका विनाश किया। रावणने समुद्रमें बसी हुई सुवर्ण-नगरी लंकाका राज्य किया। उसने विषय-लम्पटताके कारण भगवती सीताका हरण किया। असुरोंद्वारा सती स्त्रियों एवं कुमारियोंका अपहरण होने लगा। धर्मप्राण प्रजा पीड़ित होने लगी। भारतके ऋषि-मुनियोंका विनाश होने लगा। अन्ततः भगवान् रामने रावणका समूल संहार कर भारतमें रामराज्यकी स्थापना की। दुश्चरित्रतापर सच्चरित्रताकी विजय हुई।

भारतकी संस्कृति आज विषम स्थितिमें आ पड़ी है, अन्धानुसरणकी आँधीमें भारतके अनेक तथाकथित सभ्य लोग भी विदेशीय पद्धतियोंको अपनाकर अपनी संतानोंका चारित्र्य विनाश करते हुए अपनेको सुधारवादी कहलानेका गर्व कर रहे हैं। इसी कारण आजकी अधिकांश जनता गौ, ब्राह्मण, वृद्धजनों और सन्तोंकी अवहेलनापूर्वक मानवीय मर्यादाओंका परित्याग कर भोगाभिमुख हो रही है।

पशुषु देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥
(श्रीमद्भा० ७।४।२७)

ऐसी दशामें लेखकों एवं पत्रकारोंको राष्ट्रहितके लिये कर्तव्य-भावनासे सच्चारित्र्य-पोषक विचारोंको ही प्रकाशित करके भावी सर्वनाशसे भारतकी जनताको सन्मार्गपर लाना चाहिये। समाजके प्रौढ़ विचारकोंको भी भारतीय जनताको सुरुचिके बदले सुनीतिकी ओर आगे बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। रुचिकी अपेक्षा नीति सदा कल्याण-कारिणी होती है; क्योंकि रुचि वैयक्तिक होती है और नीति सामाजिक हित-पद्धति।

नीति, धर्म एवं चरित्र-निर्माण

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपेशजी)

नीति, धर्म एवं चरित्र परस्पर सम्बद्ध हैं। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। एकको हटा देनेसे शेष दो अर्थहीन हो जाते हैं। इन तीनोंके संतुलित समन्वयका प्रतिफल चरित्र है। कणादके अनुसार—जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस (कल्याण) सम्पन्न होता है, वही धर्म है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

धृति शब्दमें 'धृ' धातु है। धर्म शब्द इसीसे बनता है। जीवनको धारण करना तथा उसे कल्याण-पथपर अग्रसर करना धर्मका स्वभाव है। नीति शब्द 'नी' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़नेसे निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—साथ ले चलना। जो वृत्ति मानवको असत्यसे सत्यकी ओर, कुमार्गसे सन्मार्गकी ओर, अज्ञानसे ज्ञानकी ओर, मरणसे जीवनकी ओर ले जाती है, वह नीति है। मानवकी श्रेष्ठता उसकी बुद्धि और वृत्तिपर ही आधारित है। यही वृत्ति मानवको अन्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ बनाती है। इसीके अस्तित्वके कारण मनुष्यको विवेकशील, सदाचारी और ज्ञानी कहा जाता है। गीता (३।२१में) कहती है—श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरणके द्वारा ही अन्य लोग परिचालित होते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

महाभारतमें यक्षने युधिष्ठिरसे कहा है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' श्रेष्ठ पुरुषके आचरण-का अनुसरण चरित्रकी धारा है। अतएव यह निर्विवाद है कि नैतिक चेतना ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। चरित्रका अर्थ है चलना या व्यवहार। प्रोफेसर जी० एफ० हेलियन कहते हैं—'मनुष्यका पारस्परिक संगठन-मूलक व्यवहार चरित्र है।' भारतीय विद्वान् रामेन्द्र-सुन्दरका भी मत है—'मनुष्य-जीवनमें धर्म और नीतिके संयुक्त प्रति-दानका नाम ही है—चरित्र।' मानव-जीवनमें धर्म और नीतिकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति ही जब चरित्र है तब इनमेंसे प्रत्येकका मानव-जीवनमें किस रूपमें प्रतिफलन है, इसके विश्लेषणकी आवश्यकता है।

भारतमें विभिन्न संस्कृतियाँ, परम्पराएँ, जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। विभिन्न धर्म और विभिन्न मतवादोंके कारण ही यहाँ व्यक्तिके जीवनकी धार्मिक समस्याका समाधान कठिन हो गया है। किंतु मानवीय चरित्रके दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो जितना कठिन यह लगता है, उतना वास्तवमें है नहीं। कारण यह कि भारतीय धर्म और नीतिकी

सदाचार इसके मूलमें है। उदाहरणके लिये—चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, परस्त्रीहरण न करना या पारस्परिक संवेदना और सहयोग रखना हमारे धर्मके मूल तत्त्व हैं। इसी प्रकार धर्मके मनूक्त दस लक्षण धृति, क्षमा, दम आदि सब धर्मोंके मूलतत्त्व हैं। चरित्रवान्‌का लक्षण भी यही है। प्राचीनकालमें ऋषिकुलमें शिष्यका चरित्र-निर्माण करते समय गुरु शिष्यको इसी प्रकार शिक्षा देते थे—'सत्यं वद। धर्मं चर।'

नीतिके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। नैतिकता भी चरित्रका एक अङ्ग है। वास्तविक आदर्श चरित्र इन दोनोंके सम्मिश्रणसे ही निर्मित होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनका समन्वय होना चाहिये। दृष्टान्त-स्वरूप 'काम' यदि मर्यादित न हो तो धर्मपथपर चलना असम्भव है। इसके लिये विवेककी आवश्यकता है। अर्थ इसका साधन है। मोक्ष इसका साध्य तत्त्व है। इसी कारणसे नीति-विदोंने अर्थ-काम-मोक्षकी सम्मिलित त्रिधाराको ही मनुष्य-जीवनका आदर्श चरित्र गठन करनेकी कुंजी बताया है। धर्म इन तीनोंका सुसंयोजन है। अतएव व्यावहारिक रूपमें हम जिसे नीति कहते हैं, उससे यह समझना चाहिये कि सत्य बोलना, वयोवृद्धजनोंके प्रति सम्मान-प्रदर्शन, आत्म-नियन्त्रण, सहिष्णुता, सहानुभूति, मानव-प्रीति, क्षमा, परोपकारिता, सहयोगिता, सदिच्छा आदि गुण जिस व्यक्तिमें प्रतिफलित हैं वही चरित्रवान् है।

अब यह विचारणीय है कि मानव-चरित्रमें इन सब गुणोंका प्रस्फुटन कैसे हो? मनोविज्ञानके विद्वान् बोरापस सिंघने मानसिक और चारित्रिक विकासके लिये तीन अवस्थाएँ बतायी हैं। वे हैं—१—शैशव, २—कैशोर एवं ३—यौवन और यौवनोत्तर। लोग्से आदि मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार शैशवसे पूर्व माताके गर्भमें ही चरित्र-निर्माणका कार्य आरम्भ हो जाता है। पोर्ट एन्डरका कथन है कि मातृ-गर्भमें आरम्भसे माता और पिताके गुण शिशुमें आरोपित होने लगते हैं। इसी कारणसे एन्डरके मतानुसार गर्भाधानके बाद ही पिता-माताका कर्तव्य है कि शिशु-चरित्र-गठन-हेतु सुकर्म और सत्-चिन्तन-रत रहें। भारतीय ऋषियों-मुनियोंने भी इसका समर्थन किया है। इसी कारण उन्होंने गर्भाधानके बादसे माताके लिये विविध प्रकारके धार्मिक और वैदिक क्रियाकर्मकी व्यवस्था निर्धारित कर रखी है। निष्कर्ष यह कि चरित्र-गठनकी चार अवस्थाएँ हो जाती हैं।

१—शिशुकी मातृ-गर्भवासकी अवस्था और २—शैशवावस्था—इस अवस्थाकी विशेषता यह है कि यह अनुकरणकी अवस्था है। शिशु अपने आप गुण-दोषसे रहित होता है। इस कारण उसका चित्त गुरुजनोंके व्यवहारसे प्रभावित होता है। अतः माता-पिता, बहन-भाई, चाचा-चाची, मामा-मामी अर्थात् जिनके साहचर्य और देख-रेखमें शिशु रहता है, उनके आचरणका प्रभाव ही इस अवस्थामें उसके चरित्रमें प्रतिफलित होता है। मानव-चरित्र-निर्माणके पथका यह प्रथम चरण है। जिस परिवारके सदस्योंमें अत्याचार, व्यभिचार, पक्षपात, उच्छृङ्खलता आदि देखे जाते हैं, शिशु-चरित्रमें उनकी ही प्रतिच्छवि भी दिखायी पड़ती है। और, इसके विपरीत कर्तव्यनिष्ठा, सद्विचार, संयम, निष्पक्षताको देखकर शिशु उन्हींको ग्रहण करता है। महापुरुषोंकी जीवनियोंमें इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं।

३—किशोरावस्था—वस्तुतः इस अवस्थामें ही मानवका शारीरिक, बौद्धिक और भावात्मक विकास आरम्भ होता है। मनुष्य अब विचारशील होने लगता है; अर्थात् अबतक शिशु अनुकरण-क्षमतासे जो ग्रहण करता था, अब वह विचारपूर्वक ग्रहण करना आरम्भ करता है। इसी समयसे मनुष्यकी इच्छा-शक्ति कार्य करना आरम्भ कर देती है। सत्-असत्, आदर्श-अनादर्श, पुरस्कार-

तिरस्कार, पार्थक्यपूर्ण व्यवहार—इन सबको वह अपने विचारोंकी कसौटीपर कसनेकी चेष्टा करता है। अतएव यही परम महत्त्वपूर्ण समय है। इसी समय चरित्रका गठन जिस प्रकारका हो जायगा, उसीपर शिशुके भविष्यके चरित्रका विकास निर्भर करेगा। पाश्चात्य विद्वान् प्रो० गैरिसनका वक्तव्य भी इसी प्रकारका है—'चरित्रका विकास जिन गुणोंके समूहद्वारा होता है वे हैं आचार-व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा, सेवा, धर्म, संयम अनुशासन आदि। इनका सूत्रपात शैशवमें ही हो जाता है। प्रो० मार्टिन एच० यूम्मेयरने भी कहा है—'चरित्रविकासके दृष्टिकोणसे यदि देखा जाय तो वास्तवमें गुणोंका ग्रहण करना कैशोर-अवस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है।' इस अवस्थाके मानव-शिशुको लक्ष्य करके हमारे ऋग्वेदमें लिखा है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥
(१०।१९१।२)

इमर्सनने कहा है—'मानव-चरित्र ही मनुष्यका परम धन है। चोरी करके क्या कोई धनाढ्य हुआ है? दान करके क्या कोई कंगाल बन गया? असत्यद्वारा क्या सत्यको दबाया जा सकता है? ईश्वर सत्य-पथके पथिककी ही सहायता करते हैं। तुम सत्यमें स्थिर हो, चरित्रवान् बनो। यही तुम्हारे परम लाभका स्वर्णिम अवसर है।'

४—पूर्णावस्था—मनुष्य पूर्वोक्त तीन अवस्थाओंसे यथावसर उत्तीर्ण होकर इस अवस्थामें पहुँचता है तो वास्तवमें चरित्रनिष्ठ होता है। इस अवस्थामें उसके पूर्वार्जित गुण-समुदाय ही उसे महत्-पथपर ले जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोंका चरित्र-बल हर कार्यमें, हर अवस्थामें अक्षुण्ण रहता है। देशभक्तिमें, नारी-जातिको सम्मान देनेमें, वृद्धोंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहारमें, दुर्बलोंके प्रति होनेवाले अत्याचारका निवारण करनेमें, सत्य और आदर्शकी रक्षा करनेमें, सत् एवं शुभ आलोचनाओंमें, स्वावलम्बी होनेमें, परोपकार करनेमें, सदाचारमें, विवेकशीलतामें, शालीनतामें, कर्तव्य-पालनमें, आदर्श सामाजिक, धार्मिक संगठनकी स्थापना करनेमें, संक्षेपमें आदर्श मनुष्य कहनेसे जो भी अर्थ समझा जा सकता है, सामूहिकरूपसे इन सबको करनेमें ये लोग सफल होते हैं। चरित्रवान् पुरुषका यही कार्य है। यही हमारे आर्य ऋषियोंका परम दान है।

उदारचरित्र चन्द्रहास

द्वापर युगमें केरल देशमें मेधावी नामक धर्मात्मा राजा रहते थे। उनका चन्द्रहास नामक एक पुत्र था। चन्द्रहास जब माँकी गोदमें बालक्रीडा कर रहा था, तभी उसके पितापर शत्रुओंने युद्धक्षेत्रमें वध कर राज्यपर अधिकार कर लिया। रानी उन्हींकी चितापर सती हो गयी।

बालक चन्द्रहासकी धाय बड़ी स्वामि-भक्ता थी। वह छिपी प्रथम चन्द्रहासको लेकर कुमारको नगरसे निकलकर कुन्तलपुर चली गयी। वहाँ वह मजदूरी करके बालक चन्द्रहासका पुत्रकी भाँति पालन करती रही, किंतु विपत्ति इतनेतक ही नहीं शान्त हुई। अभी चन्द्रहास तीन वर्षका ही अबोध शिशु था कि धाय भी चल बसी और बालक चन्द्रहास पूर्णतया अनाथ और असहाय हो गया। पर भगवत्कृपासे नगरकी स्त्रियोंको उस अनाथ बालकपर दया आ गयी। वे उसका पालन करने लगीं। संयोगसे देवर्षि नारद घूमते हुए आ निकले। उनकी दृष्टि इस मनोहर बालकपर पड़ गयी। उन्होंने बालकको शालग्रामकी मूर्ति दी और नाम मन्त्र भी दे दिया।

अब चन्द्रहास हरिभक्त हो गया। रात-दिन वह पूजा-पाठ-हरि-कीर्तनमें ही मस्त रहता। उसे प्रतिक्षण ऐसा प्रतीत होता कि उसीके समान कोई छोटा-सा साँवला बालक उसके साथ नाच-गा रहा है और वंशी बजा रहा है।

इधर कुन्तलनरेशके कोई पुत्र न था। उनकी एकमात्र कन्या चम्पकमालिनी थी, जो बड़ी गुणवती और सुन्दरी थी। राजाने राजकार्य धृष्टबुद्धि नामक मन्त्रीको सौंप दिया था और स्वयं भगवद्भजनमें लीन रहते थे। मन्त्री धृष्टबुद्धि यथानाम तथागुण था। उसके दो सुयोग्य पुत्र मदन और अमल थे तथा विषया नामकी एक सुन्दरी कन्या भी थी। मदन भगवद्भक्त था। अतः उसके यहाँ भजन-पूजन चलता रहता था। एक दिन सन्ध्या-समय मदनके यहाँ कुछ ऋषिवृन्द एकत्रित थे। हरिचर्चा चल रही थी। इतनेमें चन्द्रहासकी बालमण्डली मधुर स्वरमें कीर्तन करती हुई सड़कसे निकली। कीर्तनकी मधुर ध्वनिसे आकृष्ट होकर ऋषियोंने मदनके द्वारा बालक चन्द्रहासको भीतर बुला लिया। मन्त्री धृष्टबुद्धि भी वहाँ आ चुका था। ऋषिगण बालकको मन्त्रमुग्ध-से देखते रहे। बालकके शारीरिक लक्षणोंको देखकर ऋषियोंने धृष्टबुद्धिसे कहा—'मन्त्रिप्रवर! यह शुभलक्षणयुक्त सुन्दर तपस्वी बालक है। आप प्रेमपूर्वक इसका पालन करें। यही आपकी सारी सम्पत्तिका स्वामी तथा देशका राजा होगा।'

यह सुनते ही धृष्टबुद्धि जल-भुन उठा। उसने सोचा—क्या यह भिक्षुक बालक मेरी सम्पत्तिका स्वामी होगा! वह बालकोंको भुलावा देकर भीतर ले गया। सभी बच्चोंको मिठाई देकर चलता किया। पर चन्द्रहासको चुपकेसे वधिकके हवाले करते हुए आदेश दिया कि इसे गुप्त रीतिसे वनमें ले जाकर इसका वध कर दो और वधका कोई चिह्न लेते आओ। तुम्हें पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त होगा।

वधिक बालकको लेकर निर्जन वनमें पहुँचा। अपना कार्य करनेके लिये उसने तलवार निकाली। अन्तकाल निकट जान बालक चन्द्रहासने अपने ठाकुरजी 'शालग्राम' की पूजा करनेतक ठहरनेकी अनुमति चाही। संयोगसे अनुमति मिल गयी। बालक शालग्रामकी पूजा करने लगा। उसकी करुण प्रार्थना वनस्थलीके कण-कणमें व्याप्त हो गयी। वधिकका हृदय भी द्रवित हो गया। वह वधके संकल्पसे विरत हो गया। संयोगसे उस बालकके एक पैरमें छः अँगुलियाँ थीं। वधके चिह्नस्वरूप उसी छठी अँगुलीको काटकर वह धृष्टबुद्धिके पास ले गया। अँगुली देखकर धृष्टबुद्धि बहुत प्रसन्न एवं निश्चिन्त हो गया। इधर घोर वनमें अकेला बालक पैरकी पीड़ासे पीड़ित है, पर मुखसे कृष्ण-नाम-ध्वनि निरन्तर निकल रही है। उसे कोई नीली ज्योति अपनी ओर आती दिखायी पड़ी। वेदना जाती रही। संयोगसे कुन्तलपुरके अधीनस्थ रियासत चन्दनपुरके राजा कुलिन्दक उसी वन-मार्गसे कहीं जा रहे थे। उनके कोई संतान न थी। वनमें मधुर कीर्तन-ध्वनि सुनकर बालकके पास आये। उन्होंने असहाय पड़े सुन्दर बालकको लपककर उठा लिया और प्यारसे उसके माता-पिताका नाम-पता पूछा। बालकने कहा—

मम माता पिता कृष्णस्तेनाहं परिपालितः।

अर्थात्—'मेरे माता-पिता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं और उन्हींके द्वारा मैं पालित हूँ।' राजाने प्रभुकी यह अहैतुकी कृपा समझी। बालकको घर लाकर रानीकी गोदमें डाल दिया और उसे दत्तक लेनेकी घोषणा कर दी। चन्द्रहासका नवजीवन आरम्भ हुआ। उसका यज्ञोपवीत एवं विद्याध्ययन-संस्कार हुआ। अल्पकालमें उसने सारी विद्याएँ सीख लीं। अपने सद्गुणों और सद्व्यवहारोंसे वह राजपरिवार एवं प्रजाजनका प्राणाधार बन गया। हरिगुण-गानसे सारी रियासत परिपूर्ण हो गयी। चन्द्रहासके सत्प्रयाससे रियासतकी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई।

चन्दनपुर रियासत प्रतिवर्ष करस्वरूप दस सहस्र स्वर्णमुद्राएँ कुन्तलपुरको देती थी। राजपुरुष

राजको भार उस करके साथ अन्य बहुत-सा उपहार, जो शत्रुओंसे जीतकर प्राप्त किया गया था, भेजा। धृष्टबुद्धिको यह सब देखकर तथा चन्दनपुरके युवराज-की वीरगाथाएँ सुनकर वहाँकी व्यवस्था देखनेकी उत्कण्ठा हुई। वह चन्दनपुर पहुँचा। युवराजको देखते ही वह चन्द्रहासको पहचान गया। उसके क्षोभका पार न रहा। मनोभावको छिपाकर उसने एक पत्र चन्द्रहासको देते हुए कहा—'राजकुमार! यह अत्यावश्यक तथा गोपनीय पत्र है। तुम इसे अभी कुन्तलपुर ले जाकर कुमार मदनको दे देना। किसी अन्यको नहीं।'

राजकुमार अश्वारूढ़ हो कुन्तलपुरको प्रस्थान कर गया। चौबीस कोसकी दूरी पहुँचते-पहुँचते दिन ढल चुका था। थकानसे चूर राजकुमार कुन्तलपुरके राजकीय उद्यानमें लेट गया। शीतल वायुके मन्द स्पर्शसे उसे नींद आ गयी। उसी समय मन्त्रि-कन्या 'विषया' राजकुमारी चम्पकमालिनी तथा सखियोंसहित उद्यानमें भ्रमण-हेतु आयी थी। विषया अकेली कुछ आगे बढ़ गयी। उसे एक सुन्दर राजकुमार सोता हुआ दिखायी पड़ा। वह और पास चली गयी। उसके सौन्दर्यको देखकर वह ठगी-सी रह गयी। राजकुमारके शिथिल हाथमें एक पत्र उसे दिखायी पड़ा। कुतूहलवश उसने पत्रको धीरेसे खींच लिया। पढ़ा तो लिखावट उसके पिताकी थी, जो उसके भाई मदनको लिखी गयी थी। उसमें लिखा था—'इस राजकुमारको पहुँचते ही विष दे देना। इसके कुल, शौर्य, विद्यादिका कुछ भी ध्यान न कर मेरे आदेशका अविलम्ब पालन करना।' विषयाको यह पत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ। पिताजी इतने सुन्दर कुमारको विष क्यों देना चाहते हैं? लगता है कि मेरे अनुरूप वर देखकर विह्वलतामें 'विषयाको' जगह 'विष' लिख गये हैं।' उसने ईश्वरको धन्यवाद दिया, जो पत्र उसके हाथ पड़ गया। झट आँखके काजलसे उसीके समान अक्षरमें 'या' जोड़कर ('विषया दे देना' बनाकर) पत्र बन्द कर कुमारके हाथमें धीरेसे रखकर वह लौट गयी।

कुछ देरके बाद चन्द्रहासकी नींद खुल गयी। उसने जाकर पत्र मदनको दे दिया। मदनको पत्र पढ़कर परम प्रसन्नता हुई। ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उसी दिन गोधूलिके शुभ मुहूर्तमें विषयाके साथ चन्द्रहासका विवाह कर दिया गया। कन्यादानके समय कुन्तलपुरनरेश भी पधारे थे। चन्द्रहासके सौन्दर्य-शौर्यको देखकर उन्होंने भी अपनी राजकुमारी चम्पकमालिनीके लिये उसीको वर तथा अपने राज्यके लिये योग्य उत्तराधिकारी बनानेका निश्चय किया।

तीन दिन बाद जब धृष्टबुद्धि लौटा तो देखा, पासा पलट चुका था; फिर भी वह अपनी क्रूरतापर अडिग रहा। उसने निश्चय किया—पुत्री भले ही विधवा हो, पर इसका वध अवश्य करूँगा। उसने चन्द्रहाससे कहा कि हमारी कुलपरम्पराके अनुसार प्रत्येक शुभ कार्यके बाद भवानीका पूजन होता है। अतः आप आज शामको वहाँ मन्दिरमें जाकर पूजन कर आइये। सरलहृदय राजकुमार पूजनसामग्री लेकर मन्दिरकी तरफ चल पड़ा। इधर धृष्टबुद्धिने एक घातकको पहले ही समझा-बुझाकर मन्दिरमें भेज दिया था कि आज संध्याके बाद मन्दिरमें जो भी आये, उसका सिर धड़से पृथक् कर देना।

इधर कुन्तलपुरनरेशके मनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने उसी दिन वानप्रस्थका निश्चय किया और मन्त्रिपुत्र मदनको बुलाकर कहा—'वत्स, मेरी आज ही वनको प्रस्थान करनेकी इच्छा है। इसके पूर्व मैं चन्द्रहासके साथ चम्पकमालिनीका विवाह कर उसे राज्यका उत्तराधिकारी बना देना चाहता हूँ। तुम तुरंत चन्द्रहासको यहाँ भेज दो।' निश्छल मदन

प्रसन्नमन मदनोंको बुलाने दौड़ा। मन्दिरकी ओर जाते हुए रास्तेमें चन्द्रहास उसे मिल गया। उसे राजाज्ञा सुनाकर तुरंत राजाके पास भेज दिया और स्वयं पूजापात्र लेकर मन्दिरमें पहुँचा। वहाँ जाते ही वधकर्ताकी तलवारने मदनके दो टुकड़े कर दिये। इधर कुन्तलनरेशने चम्पकमालिनीका चन्द्रहासके साथ विवाह कर उसका राज्याभिषेक भी कर दिया।

प्रातःकाल जब धृष्टबुद्धिको ज्ञात हुआ कि चन्द्रहासके साथ चम्पकमालिनीका विवाह तथा उसका राज्याभिषेक भी हो गया और मन्दिरमें मदन घातकद्वारा मार डाला गया तो वह भागा-भागा मन्दिरमें पहुँचा। पुत्रके दो टुकड़े देखकर उसने तुरंत देवीमन्दिरमें मणिमण्डित सिर पटककर आत्महत्या कर ली। इधर चन्द्रहास भी बेचैन मन्त्रीको मन्दिरकी ओर दौड़ते देखकर पीछे-पीछे चल पड़ा। वहाँ अपने साले और श्वसुरको मृत देखकर उसे बड़ी वेदना हुई। वह अपनेको ही इन दोनोंकी हत्याका मूल कारण मानकर आर्तस्वरमें भगवतीकी प्रार्थना करने लगा और तलवार लेकर अपना सिर काटनेको उद्यत हो गया कि भवानीने प्रकट होकर उसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया। उन्होंने प्रसन्न हो वरदान माँगनेको कहा। चन्द्रहासने कहा—'माँ! यदि तू मुझे वर देना चाहती है तो यही वरदान दे कि जन्म-जन्मान्तरमें भी मेरी अविचल भक्ति श्रीहरिचरणोंमें बनी रहे और दोनों पिता-पुत्र जीवित हो जायँ तथा धृष्टबुद्धिका हृदय शुद्ध हो जाय।'

देवी 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयी। मदन और धृष्टबुद्धि इस तरह उठ बैठे मानो सोकर उठे हों। उन्होंने चन्द्रहासको हृदयसे लगा लिया।

धन्य है, उदारचरित्र चन्द्रहास जो अपने शत्रुके प्रति भी उदार भाव रखता रहा। (जैमिनीयाश्वमेध)

चरित्र-निर्माणका दर्शन

(लेखक—प्रो० श्रीसिद्धेश्वरप्रसादजी)

आज सारे संसारमें चरित्रकी गिरावटको लेकर चिन्ता प्रकट की जा रही है। जो लोग यह मानते थे कि सामाजिक-सांस्कृतिक विकास आर्थिक विकासपर निर्भर करता है, उन्हें इस चारित्रिक ह्रासका कोई कारण नहीं मिल पा रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो धार्मिक-सांस्कृतिक आधारको ही चारित्रिक विकासका कारण मानते थे वे स्थितिसे बहुत संतुष्ट हैं; क्योंकि धर्म और संस्कृतिके क्षेत्रमें भी आज उसी प्रकारसे चरित्रका अभाव खल रहा है। अतः आज जो विश्वव्यापी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है, उसमें चरित्र-निर्माणके दर्शनपर नये सिरेसे विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। सभ्यताके आरम्भसे ही दो विचारधाराएँ और जीवन-दृष्टियाँ करीब-करीब समानान्तररूपसे विकसित होती आयी हैं। महाकवि जयशंकर प्रसादने 'कामायनी'में कहा है—

जीवनका लेकर नव विचार
जब चला द्वन्द्व था असुरोंमें प्राणोंकी पूजाका प्रचार
उस ओर आत्म-विश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार।
मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म-मंगल उपासनामें विभोर
उल्लासशीलमैं शक्ति-केन्द्र किसकी खोजूँ मैं शरण और॥

फिर इन दो दृष्टियोंके मूल सूत्रको उन्होंने आगेकी दो पङ्क्तियोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

वह एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंतामें अपनेको समझ रहा प्रवीण।

तबसे आजतक 'दीनदेह' और 'अपूर्ण अहंताको' पूजनेवालोंका यह संघर्ष इसी प्रकारसे चला आ रहा

है। दोनोंका यह हठ दुर्निवार है। दोनों अपनेको शक्तिशाली सिद्ध करनेके लिये युद्धतकका आश्रय लेते हैं। ये दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे चरित्रका निर्माण करते हैं। स्पष्ट है कि चरित्र-निर्माणके लिये स्वस्थ और सामाजिक वातावरणका निर्माण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसीलिये आज महापुरुषोंका दर्शन दुर्लभ होता जा रहा है।

डार्विनके विकासवादने चरित्र-निर्माणके इस वातावरणको और भी प्रतिकूल बना दिया है। सिद्धान्तका आधार रूपात्मक विकास है और उसमें गुणात्मक विकासके लिये नाममात्रका स्थान है। अतः आज सर्वत्र रूपात्मक विकासपर ही बल दिया जाता है और गुणात्मक विकासकी उपेक्षा की जाती है। इसीलिये आज सभ्यता भी रूपात्मक हो गयी है और इसमें बाह्य आडम्बर या दिखावेको ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आज मनुष्यकी मनुष्यता उसके गुणोंसे नहीं बल्कि उसकी रहन-सहनके स्तरसे आँकी जाती है। इसीलिये आजकल मनुष्य 'येन केन प्रकारेण' भौतिक साधनोंको जुटानेके लिये संघर्षरत है। अपनेमें निहित मानवीय शक्तियोंको विकसित करनेकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आज धर्म और अध्यात्मके क्षेत्रमें भी सत्-पुरुषोंका अभाव है। धर्मका स्वरूप विकृत हो गया है और अध्यात्मने अपनी तेजस्विता खो दी है। इसलिये यदि भौतिकतावादी जीवन-दृष्टि हमारे जीवनको आज विकृत कर रही है तो आध्यात्मिकतावादी जीवन-दृष्टि उस विकृतिको रोकनेमें सर्वथा अक्षम हो चुकी है।

विकासके सम्बन्धमें भारतीय मनीषियोंकी धारणा गुणात्मक थी। उपनिषदोंमें जिन पाँच कोशोंकी चर्चा की गयी है, वे गुणात्मक विकासके ही विभिन्न स्तर हैं। अन्नमय कोशसे प्राणमय कोश, प्राणमय कोशसे मनोमय कोश, मनोमय कोशसे विज्ञानमय कोश और विज्ञानमय कोशसे आनन्दमयकोश विकासके निरन्तर ऊँचे उठते स्तरके प्रतीक हैं। यदि चरित्र-निर्माणके लिये यह दृष्टि अपनायी जाती है तो यह जीवनको एक भिन्न धरातलपर प्रतिष्ठित करनेके लिये ऐसे अनुकूल वातावरण की सृष्टि करती है, जिसमें मनुष्य देवोपम हो जाता है। इसी बातको लेकर महापुराण विष्णुपुराण एवं सौरादि पुराणोपपुराणोंमें कहा गया है कि यह भारतभूमि धन्य है, जहाँ जन्म लेनेके लिये देवता भी तरसते हैं।* भारत-भूमिकी इस धन्यताका कारण यह था कि यहाँ मनुष्यने अपनी साधनासे अपने चरित्रको इतना ऊँचा उठा लिया था कि देवता भी उसकी समता नहीं कर पाते थे। इसीलिये देवता ईश्वर नहीं बन सके, परंतु राम और कृष्ण ईश्वर हो गये। इस भारतीय कल्पनामें चरित्र-निर्माणका यह सूक्ष्म बीज निहित है, जिसका सम्पोषण कर भारतमें चरित्र-निर्माणके लिये अनुकूल परिस्थिति आज भी लायी जा सकती है। परंतु इसके लिये सबसे पहले धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंसे जुड़े हुए व्यक्तियोंको स्वयं अपने जीवनको आमूल बदलना होगा। यह किस प्रकार सम्भव है, यह देखें—ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्में कहा गया है—'आत्मवञ्चकः सर्ववञ्चकः।' (१।१०)

अर्थात्—'अपनेको धोखा देनेवाला सबको धोखा देता है।' आज जीवनके हर क्षेत्रमें आत्मवञ्चना परिव्याप्त है। स्थिति इतनी भयानक हो गयी है कि न तो धर्मके क्षेत्रमें कोई इसके विरुद्ध आवाज उठानेमें समर्थ है, न राजनीति, शिक्षा, वाणिज्य-व्यवसाय, प्रशासन या जीवनके किसी अन्य क्षेत्रमें। परिणाम यह हुआ है कि बड़ी-से-बड़ी बातका आज कोई असर नहीं होता और निरन्तर भौतिक-विकासके आँकड़ोंके बावजूद मनुष्यका निरन्तर

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

चारित्रिक ह्रास होता जा रहा है। वैज्ञानिक साधनोंके कारण आज दुनिया चाहे जितनी छोटी हो गयी हो, परन्तु मानवीय हृदयकी संकीर्णताके कारण आज मनुष्य-मनुष्यके बीचकी दूरी बहुत अधिक हो गयी है। आत्मप्रवञ्चनापरिपूर्ण ऐसे वातावरणमें इसके सिवा और हो ही क्या सकता है!

फिर भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं। मनुष्यकी जिजीविषा कभी हार नहीं मानती। विषम-से विषम परिस्थितिमें भी वह जीवनकी रक्षाके लिये मार्ग अवश्य ढूँढ लेती है। इस विषम परिस्थितिमें भी चरित्र-निर्माणके लिये न केवल विश्वव्यापी भूख पैदा होगी और उसके लिये अनुकूल वातावरण बनेगा, बल्कि पुनः चरित्रवान् व्यक्तियोंको ही जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रतिष्ठित होनेका अवसर भी प्राप्त होगा। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि विज्ञानका लक्ष्य सत्यकी खोज है, दार्शनिक और धर्मप्रणेता भी मानते हैं कि धर्म और दर्शनका लक्ष्य सत्यकी खोज है। यदि सभी यह मानते हैं कि उनका लक्ष्य सत्यकी खोज है, तब फिर जीवनका लक्ष्य भी सत्यकी खोजके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यदि सभी आत्मप्रवञ्चनाको छोड़कर सत्यकी खोजके मार्गपर चलें तो आज पुनः सारे संसारमें एक ऐसा वातावरण बन सकता है, जिसमें चरित्र-निर्माणको प्रेरणा देनेकी शक्ति होगी।

जीवनके किसी भी क्षेत्रमें चरित्र-निर्माणका कार्य तभी सम्भव है, जब व्यक्ति, समाज या राष्ट्र परिस्थितियों-की चुनौतियोंको स्वीकार कर संघर्ष करनेके लिये तत्पर हों। यह भी एक तप है। उपनिषद्में तो कहा गया है—'तपसा चीयते ब्रह्म', अर्थात्—'ब्रह्म भी अपना विस्तार तपसे ही करनेमें समर्थ होता है।' यदि आत्मप्रवञ्चनाको छोड़कर आज हम तपकी शक्तिको पहचान लें तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इन सबके चरित्रको एक नया आयाम प्राप्त हो सकता है—ऐसा आयाम जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इन सबका अणु विराट्के स्पर्शसे मण्डित हो सके।

राजर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें धर्मके जिन दस लक्षणोंका वर्णन किया है, उनमें एक लक्षण भी बाह्य नहीं है, अर्थात् सच्चे धर्ममें आडम्बरके लिये कोई स्थान नहीं। पानी-पानी रटनेसे प्यास नहीं बुझती, बल्कि पानी पीनेसे प्यास बुझती है। धर्मको आचरणमें लानेसे ही चरित्रका निर्माण होता है। इसीलिये मनुने कहा है—'आचारः परमो धर्मः' अर्थात्—'आचार ही परमधर्म है।' और तो और दुर्भाग्यकी बात यह है कि आज अपनेको चरित्रवान् कहनेवाले लोग भी चरित्रहीन हो गये हैं। इस सारी स्थितिको सत्यके प्रति अविचलित निष्ठाका वातावरण उत्पन्न कर ही बदला जा सकता है और तभी निर्माणके लिये वातावरण भी अनुकूल हो सकता है। लेकिन अनुकूल वातावरण बनानेके लिये भी तो चरित्रवान् व्यक्तियोंका ही नेतृत्व चाहिये। यह तभी सम्भव है, जब चरित्रनिर्माणके उस जीवन-दर्शनको स्वीकार किया जाय, जो सत्यको सर्वोपरि मानकर चलता है।

चरित्र

(लेखक—श्रीयुगलकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)

शुद्ध ज्ञान जब सक्रिय होता है, तब सच्चरित्रताका उदय होता है (—Character is the transcription of knowledge in to action)। कोई ऐसा जीव नहीं जो चरित्रसे सर्वदा रहित हो। प्रत्येक प्राणीमें एक-न-एक विशेष गुण या स्वभाव विद्यमान रहता है। इस स्वभावका दूसरा नाम प्रकृति है। शास्त्रकारोंका कथन है कि पिछले जन्मोंमें अर्जित धर्म, अधर्म, ज्ञान, ...

वर्तमान जन्ममें अभिव्यक्त होते हैं, उन्हीं संस्कारोंका नाम 'प्रकृति' है।

इस प्रसङ्गमें स्वामी विवेकानन्दकी एक उक्ति स्मरणीय है। उन्होंने कहा है—'अतीत जीवनका जो संस्कार-समूह है, उसीका नाम चरित्र है। प्रत्येक व्यक्तिका चरित्र इस संस्कार-समूहके द्वारा ही निरूपित होता है। यदि शुभ संस्कार प्रबल हैं, तब सच्चरित्र होता है, किंतु संस्कार असत् होनेपर चरित्र भी असत् होता है। इन सत् और असत् चरित्रवान् मानवोंके भीतर भिन्न-भिन्न गुण होते हैं; यथा—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। जो सत्त्वगुणसे भूषित है, वह सात्त्विक कर्म करता है। उसके चरित्रकी विशेषता यह है कि वह आसक्तिशून्य, कर्तृत्वके अभिमान और ममत्वसे रहित, सफलता-विफलतामें हर्ष-विषादसे शून्य होता है। वह निर्विकारचित्तसे धैर्य और उत्साहके साथ कर्म करता है। जो व्यक्ति रजोगुणवाला होता है, उसके चरित्रकी विशेषता है कि वह कर्मफल-काङ्क्षी, लोभी, हिंसा-परायण, शौचाचारहीन तथा सिद्धि-असिद्धिमें हर्षित होनेवाला होता है। जो व्यक्ति तमोगुणवाला होता है, वह तामसी कर्म करता है और वह अस्थिरमति, अशिष्ट, शठ, परवृत्तिनाशक, आलसी, सदा अप्रसन्न चित्तवाला होता है।

इन त्रिविध चरित्रोंके मनुष्योंको भिन्न-भिन्न फलोंकी प्राप्ति होती है; यथा—सात्त्विक कर्म करनेवालोंको निर्मल सुख, राजसी कर्म करनेवालोंके लिये दुःख तथा तामसी कर्म करनेवालोंको परिणाममें अज्ञान मिलता है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद उत्पन्न होता है (गीता १४।१७)।

धृति (धैर्य)—संतोषके कारणके फल-स्वरूप मनुष्य रोग-आरोग्य, शोक, मान-अपमान, दरिद्रता आदिके मध्य रहकर भी शान्ति प्राप्त कर सकता है।

क्षमा—अत्याचारका शिकार होकर भी प्रतिशोधकी सामर्थ्य रखते हुए भी सभी अपराधोंको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करके अपराधीके लिये भगवान्‌से मङ्गल-कामना करना—इसको क्षमा कहते हैं।

दम—मनका दमन करना ही दम है। विषय करके मनको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌के चरणोंमें युक्त करना दम है। महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है कि मुक्तिलाभका परम उपाय दम है। दम-साधनके द्वारा मनुष्य निष्पाप होकर ब्रह्मपद प्राप्त कर सकता है। दम-साधनसे सरलता, दृढ़ता, इन्द्रियजय, क्षमा, स्थिरता, प्रियवादिता, अहिंसा आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

अस्तेय—अन्यायसे दूसरोंका द्रव्य अपहरण करनेको स्तेय कहते हैं। इसके विपरीत ही अस्तेय है। इसके सम्बन्धमें कहा गया है कि—'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' (योगदर्शन, साधनपाद-३७)। अर्थात् 'अस्तेय प्रतिष्ठित होनेसे सकल रत्न उपस्थित हो जाते हैं।' रत्नका यहाँ विशेष अर्थ है—ज्ञानरूपी रत्न। महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन सबको 'यम' कहते हैं। इस यमका तृतीय अङ्ग अस्तेय, अर्थात् लोभशून्यता है।

शौच—शास्त्र-विधिके अनुसार मृत्तिका और जलके द्वारा देहको शुद्ध करना ही शौच है। और, आहारादिकी शुद्धिका नाम भी शौच है—'शौचं चाहारादिकशुद्धिः'। शौच शब्दका आध्यात्मिक अर्थ है आत्मज्ञान।

इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् संयम—इन्द्रिय-निग्रहका अर्थ इन्द्रियको वशमें रखकर उन्हें भगवान्‌की सेवामें नियोजित करना है। इन्द्रिय-समूहको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—ज्ञानेन्द्रिय, कर्णादि, कर्मेन्द्रिय इत्यादि एवं उभयेन्द्रिय (मन)।

भक्तोंकी प्रार्थना है—'प्रभो! तुम्हारे दिये हुए इन इन्द्रिय-समुदायोंसे हम सर्वदा तुम्हारी ही सेवा करते रहें, तुम्हारी सेवामें लगनेके अतिरिक्त इन्द्रियाँ और किसी ओर न दौड़ें, अन्य किसी वस्तुमें प्रयोजित न

हों, सदा तुम्हारी ओर उन्मुख रहें। ये तुम्हारा गुणगान-श्रवण, तुम्हारी रूप-माधुरीका दर्शन, तुम्हारा प्रसाद-सेवन, गंध-ग्रहण करें, तुम्हारे मन्दिरमें गमन करती रहें और सदा केवल तुम्हीं उनपर छाये रहो।

धी—अर्थात् बुद्धि, ज्ञान, सत्त्वबुद्धि। मेधातिथिने कहा है—विद्या आत्मज्ञान और अध्यात्मज्ञान है, बुद्धि कर्मज्ञान है। सम्यक् ज्ञान तथा प्रतिपक्षीके संशयको दूर कर सत् और असत्का निर्णय करनेवाली शक्ति बुद्धि है। यह सर्वदा सच्चिन्तनको सम्मुख रखनेवाली शक्ति है।

विद्या—अर्थात् ज्ञान। भर्तृहरिने नीतिशतकमें कहा है—

विद्या नाम नरस्यरूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

'विद्या मनुष्यको रूपवान् बनाती है। यह उसका छुपा गुप्तधन है और सुखभोग प्रदान करती है। विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। यह विदेश-यात्रामें बन्धु, परम देवता, राजाओंद्वारा पूजित है। विद्यासे वह लाभ होता है, जो धनद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या-विहीन मनुष्य पशुके समान है।' देवीपुराणमें लिखा है—'विद्यादानके समान कोई दान नहीं है। यह सर्वश्रेष्ठ परमपद है।'

सत्य—यथार्थ वचन ही सत्य है। श्रुतिका कहना है—सत्य कथन ही ब्रह्म है। सत्य ही ब्रह्म-विद्याका विशेष साधन है। शास्त्र कहते हैं, सत्य ही परमब्रह्म है। सत्य ही श्रेष्ठ धर्म है। सत्यके बिना कोई धर्म नहीं है। पुण्य सदा सत्यपर ही अवलम्बित है। सत्य वाक्द्वारा ही मनुष्य निःसंदेह सब कुछ प्राप्त कर सकता है। सत्यहीन कार्य करना निष्फल है।

अक्रोध—मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ गुण अक्रोध है। यह मनुष्यको देवत्व प्रदान करता है। अक्रोधी मानव विश्व-विजय करनेमें समर्थ है।

युग-युगान्तरसे साधु-महात्माओंद्वारा चरित्र-गठनके लिये भिन्न-भिन्न शिक्षाएँ निर्दिष्ट की गयी हैं; जैसे श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यने वैष्णवोंके चरित्रगठनके लिये यह निर्देश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
(शिक्षाष्टक)

तृणसे भी तुच्छ बनकर, वृक्षके समान सहनशील होकर, स्वयं मानरहित होकर और दूसरेको सम्मान देकर सदा हरिकीर्तन करना चाहिये। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने कहा है—'मनुष्यका चरित्र ही उसकी सबसे मूल्यवान् वस्तु है। आदर्श चरित्र ही शिक्षाका केन्द्रबिन्दु है और एकमात्र नैतिक शिक्षासे ही सबको शिक्षित बनाया जा सकता है। किसी भी मनुष्यके चरित्रकी पवित्रता ही उसके जीवनकी सर्वश्रेष्ठ सम्पदा है। चरित्र इच्छाशक्तिसे उद्भूत है, चरित्र कर्मद्वारा निर्मित है एवं चरित्र पुनः-पुनः अभ्यास-द्वारा संशोधित होता है।

संत स्वरूपानन्दजीने कहा था—'चरित्र-गठनकी साधना ही जीवन-गठनकी आधारशिला है। जब देश चरित्रवान् नेताओंद्वारा परिचालित होता है, तब देशवासी थोड़े त्यागसे भी विपुल समृद्धिका अर्जन करनेमें समर्थ होंगे और जबतक देश चरित्रहीन व्यक्तियोंके इच्छानुसार परिचालित हो रहा है, तबतक इस देशके कुशल-मङ्गल, और प्रतिष्ठा आदिमें स्थायी होनेकी सम्भावना नहीं।'

अन्तमें यह निवेदन है कि चरित्र-संशोधन करनेके लिये हमें यह समझना चाहिये कि कल्याणकी इच्छा रखने-वालोंकी मर्मपीड़ाको दूर करनेके लिये ही भगवान् अवतार लेते हैं। सामाजिक ताप जब तीव्रतम हो उठता है, संसार दैन्य और हाहाकारसे कराह उठता है, तभी नवीन महात्माओंकी धारामें मानवको प्रवर्तित करनेके लिये लोकोत्तरचरित्रका अवतरण होता है। इसीसे मनुष्य मुक्तिका संधान पाता है। अतः सावधानीसे चरित्रका पालन होना चाहिये।

चरित्र-निर्माण-विधि

(लेखक—डॉ० श्रीरामदेवजी त्रिपाठी, एम० ए०, डी० लिट्०, व्याकरण-साहित्याचार्य)

जिससे चला जाय, उसे चरित्र कहते हैं। चरित इससे भिन्न शब्द है। यह सेट् चर् धातुसे भूतकालमें क्त प्रत्यय करनेसे बनता है, अर्थात् चला हुआ, पार (तय) किया हुआ (मार्ग)। चर्का अर्थ चलना भी होता है और करना भी, जो 'आ' उपसर्ग लगानेसे स्पष्ट हो पाता है। इस भाँति चरितका अर्थ होगा आचरित अर्थात् कृत, विहित अथवा आचरण।

इस प्रकार चरित्र और आचरण पर्यायकी भाँति प्रयुक्त होते हैं। इसी अर्थमें यक्षने युधिष्ठिरसे पूछा था 'का पन्थाः' अर्थात् (उपयुक्त) मार्ग कौन-सा है ? इसका युधिष्ठिरने उत्तर दिया था कि तर्क कहीं कभी स्थिर नहीं हो पाता, श्रुति-स्मृतियाँ परस्पर भिन्न मार्ग बताती हैं, मुनियोंके मतोंमें भी भिन्नता दीखती है। तथ्य यह कि (सनातन) धर्मका तत्त्व पूर्णतः प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, किसी भी दिशासे देखा जाय, पर कोई-न-कोई पार्श्व कुछ-न-कुछ प्रच्छन्न रह ही जाता है; अतः महान् जन अर्थात् महापुरुष तथा बृहत्तर शिष्ट समाज जिससे जाये—लोक-प्रवाह जिसका समर्थन करे, वही (उपयुक्त) मार्ग है (महा० ३। ३१३। ११७)।' महाभारतके इस कथनका स्पष्ट संकेत है कि जीवन-पथ और धर्म एक नहीं तो एक-दूसरेपर पूर्णतः अवलम्बित अवश्य हैं। भर्तृहरिने भी कहा है कि धीर अर्थात् धृतिमान् व्यक्ति न्यायोचित पथसे एक डग भी विचलित नहीं होते, चाहे कोई इनकी प्रशंसा करे या निन्दा, चाहे संपत्ति आये या चली जाय, चाहे आज ही मृत्यु हो रही हो चाहे दूसरे युगमें—

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥
> (नीतिशतक)

यह धृति मनुस्मृतिमें धर्मका प्रथम सोपान बतायी गयी है, क्योंकि धृति और धर्म पर्याय ही हैं, जैसे वृत्ति और कर्म।

कठोपनिषद्में बताया गया है कि यह शरीर ही रथ या यान है, बुद्धि इसका सारथि है, इन्द्रियाँ अश्व, मन बल्गा (रास), आत्मा रथी (रथपर सवार स्वामी) और विषय गन्तव्य स्थल हैं। इस दृष्टिसे चरित्र उस उत्तम रथको कहेंगे, जिसके अश्व, रश्मि, सारथि—सब ठीक हों, जिससे उसका रथी आत्मा उपयुक्त गन्तव्य स्थलतक निरापद पहुँच जाय।

मनुस्मृति कहती है कि दुराचारी व्यक्ति लोकमें निन्दा तो पाता ही है, साथ ही दुःखभागी, रोगी तथा अल्पायु भी होता है।[1] आचारको ही वृत्त भी कहते हैं। यक्षने जब युधिष्ठिरसे पूछा कि राजन्! मुझे स्पष्ट बताओ कि ब्राह्मणता कैसे प्राप्त होती है—कुलसे, स्वाध्यायसे, श्रुतसे अथवा वृत्तसे' तो युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि 'हे यक्षवर! सुनो, न स्वाध्यायसे, न श्रुतिसे, निःसंदेह वृत्त ही ब्राह्मणताका कारण है। सद्वृत्त, सदाचारी, आचारवान् और धार्मिक—ये सारे पर्याय ही हैं। ऐसेको ही सुशील भी कहते हैं। शीलका साधारण अर्थ है स्वभाव; पर यह शब्द भी अच्छा धर्म करनेकी प्रवृत्ति, आचारनैरन्तर्यका ही नाम हो गया है। इस

1.–दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ (मनु० ४। १५७)

प्रकार आचार, वृत्त, शील, धर्म, सत्कर्म सब पर्याय बन गये हैं।[१]

मनुस्मृतिने बताया है कि समस्त वेद, वेदज्ञोंके द्वारा बनायी गयी स्मृतियाँ तथा उनका शील और सज्जनोंका आचार ही धर्मका मूल या लक्षण है।[३] उपनयन- (विद्यारम्भ—विद्यालय-प्रवेश-) के बाद गुरु शिष्यको सर्वप्रथम आचारकी ही शिक्षा दे। मनुस्मृतिमें धर्मका कृत्स्नताके साथ आख्यान किया गया है, कर्मोंके दोष-गुण बताये गये हैं, साथ ही चारों वर्णोंके शाश्वत आचारका भी निर्देश किया गया है।[४] कुल्लूक भट्टकी 'मन्वर्थमुक्तावली' टीकाने स्पष्ट कर दिया है कि आचारका धर्मसे पृथक् निर्देश प्राधान्यख्यापनार्थ है, अर्थात् धर्मोंमें भी प्रधानता आचारकी ही है। अगले श्लोकने यह बात स्पष्ट कर दी है। उसके अनुसार श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आचार ही परम धर्म है, अतः आत्महितेच्छु द्विजको आचारके पालनमें सदा सयत्न रहना चाहिये। श्रुतियोंमें मुख्यतः ब्रह्मके विभिन्न प्रतीकों, नामरूपमय उपाधियों, विभिन्न देवोंका वर्णन है; यों तो वेद सर्वज्ञानमय है, परंतु स्मृतियोंमें विशेषतः धर्म, नीति तथा आचारका ही विधान है। इसीलिये इन्हें धर्मशास्त्र कहते हैं। स्मृतियाँ निबन्धोंके अनुसार पहले लगभग २५० थीं। इन दिनों एक सौके लगभग प्रकाशित मिलती हैं। किंतु इनमें भी मनुस्मृति सर्वोपरि है। मनुस्मृतिने घोषित किया है कि आचारसे हीन विप्र वेद -(पढ़ने-)का फल नहीं पाता, आचारसे संयुक्त व्यक्ति ही सम्पूर्ण फलका भागी बनता है। इस प्रकार मुनियोंने धर्मकी गतिको आचारमूलक समझकर सब तपोंका मूल भी आचारको ही माना है।

महाभारत कहता है कि काम, क्रोध, भय, लोभ आदिके वशमें पड़ने एवं प्राण-संकट उपस्थित होनेपर भी धर्मको नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धर्म ही नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य हैं।[९] गीताकी भी घोषणा है—'मनुष्य अपने-अपने कर्ममें अभिरत रहकर ही सम्यक् सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[१०] इस धर्म और कर्मका सार आचार ही है, यह मनुस्मृतिका वचन ऊपर संकेतित किया जा चुका है।[११] छान्दोग्य ब्राह्मणका कथन है कि 'मनुने जो कुछ कहा है, वही (भवरोगका) औषध है।'[१२] इससे स्पष्ट है कि मनुकी वचनावली कितनी महत्त्वपूर्ण है। बृहस्पतिने भी कहा है कि 'वेद-समर्थित होनेके कारण मनुकी स्मृति ही सर्वप्रधान है। सब शास्त्र, तर्क व्याकरण तभीतक ही सुन्दर लगते हैं, जबतक

२-महा० वन० ३१३। १०७ से १११ तक—
शृणु यक्ष! कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्। कारणं हि द्विजत्वे तु वृत्तमेव न संशयः।
यः क्रियावान् स पण्डितः। चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।

३-(क) वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च (२। ६)
(ख) वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् (२। १२)

४-उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
(२। ६९। ४-१। १०७)

५-आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।   ६-२। ७।

७-आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। १। १०९।   ८-१। ११०।

९-न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये...।

१०-स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः (१८। ४५)। ११-१। १०८ १२-यद् वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्।

१३-वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते।

धर्म, अर्थ और मोक्षके उपदेशक मनु भगवान्‌के वचन (मनुस्मृति) नहीं सुनायी पड़ते' (अर्थात् मनुस्मृति पढ़ लेनेपर उसके सामने सब फीके लगते हैं)। महाभारतका[14] निर्णय है कि 'पुराण, मनुप्रोक्त धर्म (मनुस्मृति), छह अङ्गोंके साथ चारों वेद, उपवेद एवं चिकित्साशास्त्र—ये चार ईश्वरीय आज्ञा-तुल्य हैं, इनको तर्कसे नहीं काटना चाहिये।' और, उस मनुस्मृतिका आदेश है कि 'आचारसे[15] ही आयु, मनोभिलषित संतति-परम्परा तथा अक्षय धनकी प्राप्ति होती है, आचार ही कुलक्षणों, अरिष्टोंका नाश करता है। सब लक्षणोंसे हीन व्यक्ति भी यदि सदाचारवान् है तो वह शतायु होता है।' मनुस्मृतिके उपसंहारमें बताया गया है कि मनुस्मृतिका पाठक आचारवान् होकर स्वर्ग-अपवर्गरूप गतिको प्राप्त करता है।

सज्जनोंका सदाचार क्या है—इस प्रश्नके उत्तरमें मनुस्मृति[16] कहती है कि 'ब्रह्मावर्तमें जो परम्परासे चला आ रहा है, वही सदाचार है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेन 'ब्रह्मर्षि' देश कहलाते हैं, जो ब्रह्मावर्तसे किंचित् ही न्यून हैं। इन 'ब्रह्मावर्त' तथा 'ब्रह्मर्षि' देशोंमें उत्पन्न द्विजोंसे पृथिवीके समस्त मानवोंको अपने-अपने चरित्रकी[17] शिक्षा लेनी चाहिये।' इसका स्पष्ट यह अर्थ निकलता है कि इस क्षेत्रके विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे समस्त संसारको चरित्र-(निर्माण) का पाठ पढ़ायें। इसीलिये वेदका कहना है कि 'विश्वको आर्य[18] अर्थात् सच्चरित्र (श्रेष्ठ) बनाओ।'

पाणिनिके अनुसार आचार्यका व्युत्पत्त्यर्थ होगा—अनुसरण योग्य आचारवाला। यद्यपि आचार्य शब्द रूढ है—उपनयन-(विद्यारम्भ-) के साथ कल्प (कर्मकाण्ड), रहस्य (उपनिषद्, ज्ञानकाण्ड-) सहित सकल वेद-शाखाओंका अध्यापन करानेवालेके[19] लिये—फिर भी साधारणतः आचारके माहात्म्यसे ही आचार्य कहते हैं; तभी तो समावर्तनके समय स्वयं आचार्य ही शिष्यसे अपनी समस्त शिक्षाका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि 'जो हमारे सुचरित हैं, उन्हींका तुम अनुसरण करो, अन्य कर्मोंका नहीं[20]।' श्रुतिकी टिप्पणी[21] ठीक ही है कि जिस भाग्यशालीको अच्छे माता, पिता, आचार्य उपलब्ध हैं, वही सच्चा ज्ञान भी पा सकता है। वसिष्ठस्मृति बताती[22] है कि 'आचारहीन व्यक्तिको छहों अङ्गोंके साथ चारों वेदोंका अध्ययन भी पवित्र नहीं बना सकता।' तात्पर्य यह है कि 'शास्त्रज्ञ[23] भी मूर्ख होते हैं, वस्तुतः शास्त्रोंका

१४—पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥
१५—आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (४। १५६, १५८)
१६—सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ (२। १७-१८)
१७—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (२। १९-२०)
१८—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। १९—मनु० २। १४०।
२०—यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि (१। ११। २)
२१—मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् वेद (शतपथब्राह्मण)
२२—आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥
२३—शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्। २४—ज्ञानं भारः क्रियां विना।

क्रियान्वयन करनेवाला ही विद्वान् होता है। क्रिया-पक्ष—कार्यमें, आचारमें परिणतिके बिना शुष्क ज्ञान भार ही है। चरित्रहीन व्यक्तिकी रक्षा ज्ञानका भण्डार भी नहीं कर सकता। रावण तो वेदोंका महान् ज्ञाता माना जाता था, किंतु अपने दुराचरणसे वह ऋषि-मुनि न होकर राक्षसराज बन गया।

कथा आती है कि दैत्यराज प्रह्लादको अपदस्थ करनेके लिये इन्द्रने विप्रवेश धारणकर उनसे उनके शीलकी ही याचना कर दी। सत्यप्रिय प्रह्लादने वचन-बद्ध होनेके कारण जब अपना शील इन्द्रको दे दिया, तब शीलके बाद एक-एक कर उनके सारे सद्गुण यह कह-कहकर विदा हो गये कि जहाँ शील रहता है, वहीं मैं भी रह सकता हूँ, अकेला नहीं। फलतः अन्तमें श्रीने भी उन्हें छोड़ दिया और वे अपदस्थ हो गये (इन्द्र वहीं बन सके)। यह है शील, चरित्रकी महिमा। वृत्तमें अवस्थित शूद्र भी ब्राह्मणत्व अधिगत कर लेता है; अर्थात् शील, वृत्त, आचार, धर्म या चरित्र ही मनुष्यको महान् बनाते हैं, बड़े कुलमें जन्म, विद्या, धन, ऊँचापन नहीं।

परंतु दुःख है कि आजकी धर्मनिरपेक्ष शिक्षा भारतीय किशोरों, छात्रों, नागरिकोंको प्रतिदिन चरित्रहीन बनाती जा रही है। आजके छात्र कक्षामें मनसे पढ़ते नहीं; चोरीसे, छुरा दिखाकर पुर्जे या पुस्तकसे उत्तर उतारकर, उत्कोच देकर प्रथम श्रेणीकी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। छात्रावासोंमें छुरा, पिस्तौल, बम दिखाकर अधिकारियोंको धमकाकर जबर्दस्ती रहते हैं। चोरी-डकैतीमें भाग लेते हैं। वे बड़ी तीव्रतासे असामाजिक तत्त्व बनते जा रहे हैं। सारा राष्ट्र, देशके सभी गद्दीधारी मन्त्रिगण तथा समाज-सुधारक मूक दर्शक मात्र-से रहे हैं। भारतके तथाकथित 'भगवान्' एवं 'योगिराज' कहलानेवाले, लाखों स्वदेशियों-विदेशियोंको शिष्य बनानेवाले, योगी, भावातीत समाधि आदिका प्रशिक्षण देने तथा अति-मानसकी अवतारणा करनेवाले साधु-संत हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं और भारतकी अगली पीढ़ी अविद्वान्, उद्दण्ड, आततायी बनती जा रही है। अयोध्या, वृन्दावनके व्यासोंके प्रवचनोंसे भी समाजका तीव्रतासे गिरता हुआ चारित्रिक स्तर रुक नहीं पा रहा है। 'विद्या ददाति विनयम्' है, पर यह विद्या व्यर्थ ही नहीं, अनर्थकारी भी है, जिसे ग्रहणकर आजका किशोर—युवकवर्ग अविनीत बनता जा रहा है। क्रमशः यह घुना बीज ही अगले दिन प्राध्यापक, विधायक, आरक्षी, दण्डाधिकारी, पदाधिकारी-जैसे महत्त्वपूर्ण पदोंपर बैठ रहा है। सम्पूर्ण राष्ट्रको इस संकटपर विचार करना चाहिये और शीघ्र ही इस महामारीकी चिकित्सा ढूँढ़ निकालनी चाहिये। आज अधिकांश शिक्षित अशिक्षितोंसे चरित्र-हीन हैं। काले पैसेके लोभने, गद्दीके आकर्षणने छोटे-से-बड़े सभीका ज्ञान हर लिया है, सबकी कण्ठी टूट चुकी है, सभी नारद-मोहमें पड़ चुके हैं।

आजके छात्र ट्रक, बस, कार रोककर छुरा दिखा-कर सरस्वतीपूजा, दुर्गापूजा आदिके नामपर लोगोंसे हजारों रुपयोंका चन्दा लेते हैं। वे उससे मिठाइयाँ खाते और शराबतक पीते हैं। वे मूर्तिके सामने कमर लचकाकर अश्लील रेकार्ड बजाकर नृत्य करते हैं, कव्वालीपार्टीको बुलाते हैं, विद्वान् प्रवक्ताओंको नहीं। चन्देका हिसाब दिखानेके लिये कहनेपर वे चन्दा देनेवालोंको मारनेकी धमकी देते हैं। इन अवसरोंपर लाउडस्पीकरोंसे अनवरत प्रसारित गाने अश्लील तो रहते ही हैं, रातभर लोगोंकी पूजाओंमें भी बाधित करते हैं। ये छात्र हैं या असामाजिक लुण्ठक। आजकलके मन्त्रिगण, विधायक प्राध्यापक, आरक्षी, एवं अधिकारी, पदाधिकारी—सभी गरीब जनताको लूट रहे हैं।

अर्थात्—मैं किसीको अनुशासन नहीं देता, स्वयं वैसा करके दिखाता रहता हूँ' यह प्रक्रिया ही कार्यकर होती है। 'Example is better then precept.' पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥ गाँधीजीने सत्याग्रहको नमक छोड़ना सिखानेके पूर्व स्वयं भी नमकका परित्याग कर दिया। ऐसा ही शासक यह घोषणा कर पाता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

क्या भारतके प्रशासक, नेता इस दिशामें दृष्टिपात करनेका मनोबल जुटा पायेंगे? अपने मनको इस शिव-संकल्पसे परिप्लुत कर सकेंगे? सदाचारके अभाव, अनाचार या दुराचार, चरित्रकी उपेक्षासे ही आज सारा भारत भ्रष्टाचारसे जर्जर हो रहा है। मनुजी कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(मनु० १०।६३)

उपर्युक्त पाँच कर्म चातुर्वर्ण्य अर्थात् मानवमात्रके आधारभूत चरित्रके पञ्चाक्षर हैं, वर्णमाला हैं, जिनपर मानव-संस्कृतिकी गगनचुम्बी अट्टालिका खड़ी की जा सकती है तथा जिनमें किसी एकके छोड़नेपर वह धराशायी हो सकती है। प्रत्येक राष्ट्रको इस दिशामें सतत सावधान रहना चाहिये। भारतके लिये तो यह अत्यन्त सामयिक अनिवार्य कर्तव्य हो गया है।

वेदमें प्रेम, अहिंसा और मैत्री—

शिवसंकल्प करे मन मेरा, शुभसंकल्प करे

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

चरित्रनिर्माणकी आधार-शिला है—अहिंसा, मैत्री और प्रेम। सत्य और सदाचार, कर्म और श्रम, साधना, नैतिकता और प्रामाणिकता, सेवा और त्याग आदि भिन्न-भिन्न आदर्श इसीमेंसे प्रस्फुटित होते हैं। वेद इन्हीं आदर्शोंपर बल देता है। सामान्य मानव ऐसे ऊँचे आदर्शोंके पालनमें पग-पगपर कठिनाईका अनुभव करता है। वह हताश-सा हो उठता है। वैदिक ऋषि मानवकी निर्बलताओंको जानते थे, इसलिये वे उसे 'अमृत-पुत्र' कहकर उसके भीतर छिपी परम ज्योतिको प्रकट करनेके लिये उत्सुक रहते थे। वे कहते हैं—'अमृतपुत्रो! तुम क्या नहीं कर सकते? तुम्हारे पास मन-जैसी अद्भुत, वेगवान्, ज्योतिमान् महान् शक्ति है। उसे पहचानो, उसे समझो, उसका सदुपयोग करो। मत कहो तुम—'पापोऽहं पापकर्माहम्—' 'मैं पापी हूँ, पापकर्मी हूँ।' इससे क्या होगा, तुम सब कुछ कर सकते हो। माना सत्य और त्यागके आदर्श, अहिंसा और प्रेमके आदर्श हिमालय-जैसे ऊँचे हैं, पर तुम्हारा मन तो आदर्शके शिखरपर जाकर विजयकी पताका फहरा सकता है। मनकी अनुपम शक्तिका सदुपयोग करके भी तो देखो। फिर पाप-ताप, भय-विषाद, राग-द्वेष तुम्हारे पास फटकनेका भी साहस न कर सकेंगे। उठो, मनसे कहो—

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥'

'जागतेमें दूर जानेवाला, सोतेमें शरीरमें आनेवाला मेरा दूर जानेवाला मन तथा ज्योतिमान् इन्द्रियोंकी एक ज्योति हो, मेरा वह मन शिवसंकल्प करनेवाला हो, शुभ संकल्प करनेवाला हो।'

'यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥' (यजुर्वेद ३४।३)

'मेरा मन ज्ञानका सम्पादक है, बुद्धिरूप है, स्मृतिका साधन है, अन्तःकरणमें आत्माका

नाशरहित है, ज्योतिःस्वरूप है। मनके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता। मेरा यह मन शिवसंकल्प करनेवाला हो, शुभ संकल्प करनेवाला हो।' मनके संचालनपन, मनकी शक्तियों, मनके कार्यकलापोंका वर्णन करके वेदका ऋषि उसके सदुपयोगका साधन बताता है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभि-र्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ (यजुर्वेद ३४।६)

'जिस प्रकार चतुर सारथि घोड़ोंकी लगाम अपने हाथमें रखकर उन्हें चलाता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यको इच्छानुकूल चलाता है। यह हृदयमें विराजमान है, सबका प्रेरक है, अत्यन्त वेगवान् है, जरा-जीर्णतासे रहित है। मेरा यह मन शिवसंकल्प करनेवाला हो, शुभ संकल्प करनेवाला हो।' मनकी इस महान् शक्तिको समझकर उसे शिवसंकल्पमय, शुभसंकल्पमय बनाया जा सकता है।

साधक पूछता है कि फिर भी यदि मनमें मलिन अथवा अशुभ विचार आ जायँ, तब क्या किया जाय? ऋषि उसका भी उपाय बताता है—'परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये। (अथर्ववेद ६।४५।१)

'ओ मेरे मनके पाप! तू मुझसे दूर हट जा। तू कैसी गंदी बातें करता है, दूर हट जा, मैं तुझे नहीं चाहता।' 'परोऽपेहि!' दूर हट! भाग यहाँसे!—यों कहकर मलिन विचारको दुत्कारकर दूर भगा देना चाहिये। उसे अपने पास ठहरने ही न देना चाहिये। काम, क्रोध आदि विकार मनको फँसाते, लुभाते, ललचाते रहते हैं। ऋषि उनसे मुक्तिका उपाय बताते हैं—प्रार्थना। प्रभुकी प्रार्थना विकारोंके शमनकी रामबाण ओषधि है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(ऋग्वेद ७।१०४।२२; अथर्ववेद ८।४।२२)

'उल्लू, भेड़िये, कुत्ते, चकवा, चकवी, गरुड़ और गीध आदिकी भाँति सदैव मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभकी दुर्वृत्तियाँ मेरे मनको घेरे रहती हैं। हे इन्द्रदेव! इन हिंसक विकारों—दुर्वृत्तियोंको पत्थरसे रगड़-रगड़कर चूर कर दो, जिससे ये हमें प्रभावित न कर सकें। अन्धकारप्रिय, प्रकाशके शत्रु उल्लूकी वृत्ति है संशयीवृत्ति। क्रोधी और क्रूर भेड़ियेकी वृत्ति है—आक्रामक वृत्ति।

दूसरों और अपनोंपर भी गुर्राकर दौड़नेवाले कुत्तेकी वृत्ति है—चाटुकार-वृत्ति। सभी जानते हैं कि कुत्ता किस प्रकार जरा-सी देरमें दुम हिलाने लगता है।

चकवा-चकवीकी वृत्ति है—असामाजिक वृत्ति।

ऊँची उड़ान भरनेवाले गरुड़की वृत्ति है—अभिमानी वृत्ति। दूसरोंकी सम्पत्ति छीन लेनेवाले गिद्धकी वृत्ति है—लोलुप-वृत्ति। ये सारे पशु-पक्षी इन अनेक दूषित वृत्तियोंसे, इन काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि विकारोंसे ग्रस्त होकर रात-दिन इधर-से-उधर ठोकरें खाते रहते हैं। प्रभु हमारी रक्षा करें इन अशुभ वृत्तियोंसे।

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः।
तपिष्ठैरजरो दह॥ (सामवेद पू० २४)

अग्निदेव! तू पापोंसे हमारी रक्षा कर। अपने महान् तापद्वारा तू हमारे हिंसा-द्वेषके मलिन विचारोंको भस्म कर दे।'

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा॥
(यजुर्वेद ७।४३)

'दीप्तिमान् प्रभो ! अग्निदेव ! हमारी समृद्धिके लिये तू हमें सन्मार्गसे ले चल । तुझे सारे मार्ग ज्ञात हैं । तू हमें कुटिल मार्गसे बचा कर परम आनन्दमय मार्गकी ओर ले चल ।' वरुणदेवसे प्रार्थना है—

वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥
(ऋग्वेद १ । २४ । १५)

'वरुण ! हम माता अदितिके लिये समर्पित होकर निष्पाप बनें और सभी बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ ।' 'गायन्तं त्रायते' वाली गायत्री तो हमारी वेदमाता ही है । पण्डित मुंशीराम शर्माने 'अनन्त वीथीके वेदमाता गायत्री' विशेषाङ्कमें विस्तारसे उसकी उपासनाकी महिमाका वर्णन किया है; यह मन्त्र है—(ऋग्वेद ३ । ६२ । १०)

धियो यो नः प्रचोदयात्

'प्रभु हमारी बुद्धिको उत्तम गुण, कर्म और स्वभावमें प्रेरित करें । चरित्रनिर्माण मूलतः बुद्धिपर ही निर्भर करता है । बुद्धि सत्पथपर है तो मनुष्य चरित्रवान् बनता है। बुद्धि बिगड़ी कि चरित्रहीन बनने देर नहीं लगती । इसलिये बुद्धिकी निर्मलता परम आवश्यक है । श्रुति कहते हैं—

यया हिरण्यया मतिरिषमवृकाय दावसे ।
(ऋग्वेद ७ । ६६ । ८)

'तुम्हारी बुद्धि ऐश्वर्यको बढ़ानेवाली और अहिंसा-प्रधान हो ।'

भद्रं मनः कृणुष्व ॥ (सामवेद उ० ११६०)

'हे प्रभु ! हमारे मनको कल्याणमार्गमें प्रेरित करें ।'

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ (ऋग्वेद ५ । ८२ । ५)

'हे सारे जगत्के उत्पादक प्रेरक देव ! तू हमारे सारे दुराचरणोंको दूर कर दे और सभी कल्याणकारी गुण हममें भर दे ।' मनकी अद्भुत शक्तिको भली भाँति समझकर उसका भरपूर सदुपयोग करें । उसके माध्यमसे हम सब कुछ कर सकते हैं । शिवसंकल्पद्वारा, शुभ-संकल्पद्वारा हम ऊँचे-से-ऊँचा आदर्श प्राप्त कर सकते हैं । यदि कभी हमारे पैर लड़खड़ाने लगें तो पापोंको, मलिन विचारों और मलिन विकारोंको लात मारकर 'परोऽपेहि' मन्त्र दुहराकर दूर भगा दें । इस साधनामें सबसे बड़ा संबल है—प्रभुकी प्रार्थना । आइये, हम प्रभु-चरणोंमें यही निवेदन करें—

पाप वासना कभी भूल यदि मनमें मेरे आ जावे ।
'परोऽपेहि, तू दूर भाग तू'—कह कर मैं दूँ भगा उसे ॥

ऋग्वेद-यजुर्वेद-अथर्ववेदके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें चारित्रिक प्रसङ्ग

(लेखक—पं० श्रीशिवाकान्तजी पाण्डेय, एम० ए० (द्वय), आचार्य)

वेदके दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण । मन्त्रोंमें देवताओंकी स्तुतिकी प्रधानता रहती है और ब्राह्मणभागमें मन्त्रार्थ-सहित विनियोगविधि, यज्ञविधिकी प्रधानता होती है । ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञकी प्रक्रिया, उसका विधि-प्रकार एवं साम भी वर्णित है । सायणके अनुसार इनके विधि और अर्थवाद दो मुख्य भेद हैं । पूर्वमीमांसाके अनुसार इनके दश सूक्ष्म भेद हैं । फिर भी गौणरूपसे ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें व्यावहारिक-चारित्रिक प्रसङ्ग यत्र-तत्र मिलते हैं ।

ऋग्वेदके ऐतरेय ब्राह्मणके ३३वें अध्यायके तृतीय खण्डके प्रथम पाँच मन्त्रोंमें इन्द्र रोहितसे कहते हैं—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति ॥१॥

अर्थात् 'श्रमधर्म (कठिन श्रम) न करनेवालेको लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, अकर्मशील (दुश्चरित्र) पापी (तुच्छ) होता है । सदाचारपरायणका सहायक इन्द्र (ईश्वर) होता है । अतः सच्चरित्र बनो, सदाचार-रत रहो ।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति ॥२॥

अर्थात्—'जैसे पुष्पित वृक्षादि सेव्य होते हैं, वर्धिष्णु एवं फलदायी होते हैं, उसी प्रकार चरित्रशील पुरुष

सन्मार्गमें चलते रहनेसे सबके सेव्य होते हैं, कीर्तिमान् होते हैं तथा स्वस्थ रहते हैं। श्रम- (चरित्र-) रूपी तीर्थमें उसके सभी पाप सो जाते (नष्ट हो जाते) हैं। अतः चरित्र-पथपर चलते रहो, चलते रहो।'

'आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥३॥

'क्रियाहीनका सौभाग्य दबा पड़ा रहता है, पर चरित्रके पथमें उद्योगके लिये उठते हुएका सौभाग्य अभिवृद्धिकी ओर उन्मुख होता है। निष्क्रिय सोये हुएका सौभाग्य तो बिल्कुल विनष्ट हो जाता है। केवल आचरण-शीलका सौभाग्य उत्तरोत्तर बढ़ता है। अतः चरित्र-पथपर आगे बढ़ते रहो, बढ़ते रहो।'

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति ॥४॥

'चरित्र- (पथमें)से विमुख (सोते) हुए व्यक्तिके लिये कलियुग रहता (पापादि भोगता) है। उसमें जगा हुआ द्वापरमें रहता (पूर्वापेक्षा सुखी रहता) है, चरित्र-पथमें उठ खड़ा हुआ त्रेतामें रहता (अधिक सुख-यश पाता) है, पर चरित्रपथपर चलता हुआ पूर्ण कृतयुगका लाभ (पूर्ण सुयश) प्राप्त करता है। अतः चरित्र-पथपर बढ़ते रहो, बढ़ते रहो।'

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥५॥

'चरित्रशील पुरुष मधुर फलों- (भोगों-) को प्राप्त करता है। सूर्यकी श्रेष्ठ- (जगद्वन्दनीयता-) को देखो जो अपने चरित्रके पथसे तनिक भी आलस्य नहीं करता (सबको समभावसे प्रकाश तथा ऊष्मा प्रदान करता है)। अतः चरित्र-पथपर बढ़ते रहो, बढ़ते रहो।'

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मणके तृतीय काण्ड प्रपाठक १, अनुवाक ५के छठे मन्त्रमें चारित्रिक प्रसङ्ग सामूहिक रूपसे लिखा है, जो बृहस्पतिमें ब्रह्मवर्चसकी कामना की—'ब्रह्मवर्चसी स्यामिति'। उक्त काण्ड प्रपाठकके अनुवाक ५के ७वें मन्त्रमें पुण्यश्लोक सुननेकी कामना की गयी है तथा पाप-कीर्ति-(निन्दा-) को भगाने—उससे बचनेके लिये प्रार्थना की गयी है—'पुण्यं श्लोकं शृण्वीय। न मां पापी कीर्तिरागच्छेदिति।'

महर्षि भरद्वाजने सच्चरित्र- (वेदाध्ययन-)के लिये ही तपश्चर्यासे इन्द्रको प्रसन्नकर सौ-सौ वर्षकी तीन आयु (१००×३=३०० वर्ष) प्राप्त की और उन तीन सौ वर्षकी आयुको पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ गुरुकुलमें वेदाध्ययनमें ही जीर्ण कर दिया। तदुपरान्त अंग वृद्ध अशक्त लेटे भरद्वाजके पास आकर इन्द्रने पूछा—यदि तुम्हें १०० वर्षकी चौथी आयु और दे दूँ तो उससे कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध करोगे। सच्चरित्र भरद्वाज झट बोल पड़े—ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा, वेदाध्ययन करूँगा—'भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्। किमेनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच' (कृ० य० तै० ब्रा० तृ० का० प्रपा० १० अनु० ११, (३)) यह था आदर्श चरित्र महर्षि भरद्वाजका, जो भार्या एवं शारीरिक सुखोंको ठुकराकर उससे सर्वथा विरक्त होकर उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययनमें जीवनयापन किया। इसी तृतीय काण्डके प्रपाठक ११, अनुवाक १ के मन्त्र १ से ३ में क्रमशः—'तपसः प्रतिष्ठा। तपोऽसि लोके श्रितम्। तेजसः प्रतिष्ठा॥ तेजोऽसि तपसि श्रितम्॥' इत्यादिमें तपका प्रसङ्ग लक्षण या चारित्रिक प्रसंग ही है।

'अथर्ववेदीय गोपथ-ब्राह्मण' भी चारित्रिक प्रसङ्गोंसे भरा पड़ा है। प्रथम प्रपाठकके अनुच्छेद ३३में चरित्रहीनों तथा ब्रह्मचर्यहीनोंको यज्ञके सर्वथा अयोग्य बताया गया है और उनकी हीनतासे यश, इन्द्रिय, ब्रह्मवर्चस्, सम्पत्ति, उभय परलोक (स्वर्ग) सभी नष्ट हो जाता है—

'यद्वेऽकुदस्या अस्त्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्मचर्यम-पराण्या वा तद्वै यज्ञस्य विरिष्टमित्याचक्षते । यज्ञस्य विरिष्टमनु यजमानो विरिष्यते ...... यजमानः पुत्रपशुभिर्विरिष्यते ......योगक्षेमो विरिष्यते ।' (१२)

चरित्रके मुख्य अङ्ग ब्रह्मचर्यकी महिमामें गोपथ ब्राह्मणके द्वितीय प्रपाठक अनुच्छेद २में कहा गया है कि उत्पन्न हुए ब्राह्मणके सात इन्द्रियाँ (यश-स्वप्न क्रोधादि) उत्पन्न होती हैं । जब ब्राह्मण ब्रह्मचर्ययुक्त (पूर्ण ब्रह्मचारी—सच्चरित्र) हो जाता है तो ये दोष भाग जाते हैं । तृतीय अनुच्छेदमें चरित्रशील-(ब्रह्मचारी-) के लिये बताया गया है कि वह ग्राममें केवल भिक्षाके लिये जाय, रागादिके लिये नहीं । कटु वचनसे किसीको कष्ट न पहुँचाये—

'स यद्वदग्रामं प्रविश्य भिक्षामेव परीप्सति न मैथुनम्.................स यद् क्रुद्धो वाचा न कञ्चन हिनस्ति ॥३॥'

उक्त पाँचवें अनुच्छेदमें जनमेजयके पूछनेपर हंस-रूपधारी दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय अग्निने बताया कि ब्रह्मचर्य पुण्य है, ब्रह्मचर्य ही लोकके लिये हितकर है—

'कि पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति । किं लोक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति ।'

गोपथब्राह्मणके ही द्वितीय प्रपाठकके सातवें अनुच्छेदमें सच्चरित्र-(ब्रह्मचारी-)के लिये पलँगपर शयन, नृत्य-गीत आदि सभी वर्जित बताये गये हैं तथा उनसे होनेवाले दोषों-(अनिष्टों-) को भी बताया गया है —

'नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेत् यदुपरिशायी भवत्यभीक्ष्णं निवासा आयन्ते, यद्गायनो भवत्यभीक्ष्णशः आक्रन्दन्धायन्ते, यन्नर्तनो भवत्यभीक्ष्णशः प्रेतान्निर्हरन्ते, यत्सरणो भवत्यभीक्ष्णशः प्रजाः संविशन्ते, यन्निष्ठीवति मध्य एव तदात्मनो निर्धावति ।' (गोप० २ । ७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद-यजुर्वेद-अथर्ववेदके ब्राह्मणग्रन्थ चारित्रिक प्रसङ्गसे भरे पड़े हैं । लेख-विस्तारके भयसे यहाँ कुछ ही प्रसंग उद्धृत किये गये हैं । विज्ञजन स्वयं अन्वेषण करें तो ब्राह्मण-सिन्धुमें चरित्र-मुक्ताओंकी अपार राशि उपलब्ध होगी ।

आयुर्वेदमें चारित्रिक शिक्षण

(लेखक—श्रीभास्करराव भागवत आयुर्वेदाचार्य, डी० आई० एम्०एस्०, आयुर्वेद-वाचस्पति)

चरित्र उन गुणोंका समूह है, जिनका सम्बन्ध व्यवहारसे होता है । आर्य संस्कृतिका आधार चरित्र है । शास्त्र-निर्देश,—लोकमर्यादा, समाजकी आवश्यकता एवं तात्कालिक स्थितिके अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्यका ध्यान रखते हुए व्यवहार करना इसके मुख्य अङ्ग हैं ।

चरित्रका सम्बन्ध शरीरसे है । वह स्वस्थ एवं विकार-रहित हो तो व्याधि उत्पन्न नहीं हो सकती । व्याधिका आश्रय शरीर एवं मन है । मनद्वारा समर्थन पाकर विकार देहका आश्रय लेते हैं; इनका परस्पर अन्य होता है । मन ही देहका आश्रय लेकर सब कर्मोंमें प्रवृत्त होता है; सारी चेष्टाएँ इसीके द्वारा होती हैं—

सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कल्पनासु च ।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम् ॥
(बो० चा०)

इसकी प्रेरणासे देह सत्पुरुषोंकी तरह गुण-अवगुणकी सम्पन्न एवं चरित्रहीन क्रियाएँ करता है । इन सब व्यवहार एवं चेष्टाओंका द्रष्टा एवं शिक्षक आचार्य यह लोक अर्थात् समाज है । अतः लोकाचारके अनुसार प्रशस्त कर्म करना—शरीर एवं मनके द्वारा आचार-विचार, आहार-विहार एवं व्यवहार करना ही चरित्रकी महत्ता है । आयुर्वेदके चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्ग-संग्रह आदि वृहत्त्रयीमें एवं शार्ङ्गधर, भावप्रकाश एवं अष्टाङ्गहृदयमें पृथक्-पृथक्

साधनके लिये आयुर्वेदका अध्ययन करना चाहिये। उन आत्मज्ञानी, धर्मपरायण, धर्मके प्रवर्तन करनेवालोंको माता-पिता-भाई-बन्धु और गुरुजनोंकी विपत्ति-शान्तिके लिये यत्नवान् रहना चाहिये; जो आयुर्वेदोक्त अध्यात्म-विषयोंका अध्ययन करते हैं उन्हें आरोग्य, आनन्दलाभ एवं श्रेष्ठ पुरुषार्थचतुष्टय धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी प्राप्ति होती है।

वाग्भट—भाव-प्रकाश, अष्टाङ्ग-संग्रह, वृद्धवाग्भट आदिमें चारित्रिक उपदेश इस प्रकार है—

सम्पूर्ण प्राणी सुखके लिये प्रयत्न करते हैं। सारी प्रवृत्तियोंका समाधान आत्यन्तिक सुख एवं श्रेयमें होता है। यह सुख बिना धर्मके प्राप्त नहीं होता। यह धर्म दस प्रकारका कहा है—क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, देव-पूजा, हवन, संतोष, तप एवं आर्जव। यह धर्म नित्य कर्तव्य है; परंतु कुछ ऐसे भी आचार एवं विचार हैं, जिनके परिवर्जनद्वारा ही चरित्र-निर्माण होता है। यथा—हिंसा-चोरी-अन्यथा-काम-पैशुन्य-परुष-अनृत संभिन्नालाप, व्यापाद, अभिध्या एवं दृग्विपर्यय—इन दस पाप-कर्मोंको शरीर, मन एवं वाणीसे छोड़ना आवश्यक है। मनसे चिन्तनका दोष नियम-पूर्वक कर्मेन्द्रियोंकी आसक्तिसे भी खराब है—मन-निरोधसे शरीर एवं वाणी पापमें प्रवृत्त हो ही नहीं पाते।

शोषग्रस्त-वृत्तिहीन-व्याधि-शोकपीड़ितोंकी शक्तिपूर्वक सहायता करे, किसी देय अर्थके याचकको विमुख न करे, उनका तिरस्कार एवं उनपर आक्षेप न करे, लोगोंके आशयको जानकर उनको तदनुसार जो संतुष्ट करता है। वह पराराधन पण्डित होता है। धर्म-अर्थ-कामरहित कर्मको आरम्भ न करे एवं करनेवालेका विरोध न करे; अपितु वे स्थितिमें मध्यम मार्गका अनुसरण करे। हाथोंसे तैर-कर नदी पार न करे, रातमें वृक्षके नीचे न रहे, नावमें न बैठे एवं उत्कट आसन न करे।

-। भी भलीभाँति पूर्ण
उपदेश भी आयुर्वेदमें

निर्दिष्ट हैं; यथा—वैर तथा उनके सहायक, अधार्मिक, तस्कर, परस्त्रीसेवन न करे। क्षत्रिय, सर्प, बहुश्रुत ब्राह्मण तथा वृद्ध व्यक्तिका अपमान एवं आक्षेप न करे। (मनु०)

स्वर्ग-अपवर्गको चैतन्यसम्पन्न पुरुष यत्नपूर्वक अर्जित करे। सूर्यास्तके पश्चात् तिल पदार्थ अतिभोजन न करे। ऊर्ध्व शरीरका नाभिके नीचेके पर्वोंमें स्पर्श न करे—शीर्षमें अविलम्ब, दोनों हाथोंसे शिर-खुजाना, पैरसे पैर रगड़ना एवं काँसेके बर्तनमें पैर धोना—ये सब अनाचरणीय हैं। क्रुद्ध गुरु-मुख, रजस्वला, जलविहार करती नग्न स्त्री इत्यादि अदर्शनीय हैं। आत्माभिमान, तिरस्कार एवं स्तुति, परानुतापी एवं मर्मभेदी वाक्य, उच्छिष्ट मुखसे तारका, राहु और चन्द्र-सूर्य-दर्शन, पर-स्त्री-परधर्म-देवतार्चन, चर्मोंमें भ्रमण, सधन, जन्म-स्थान, नक्षत्र, गृह-स्वरूप, गुरु-अपमान, स्वामीकी अवज्ञा-वर्णन, शून्य गृहमें एकान्त सेवन, व्याधि-बहुल, अनाथक एवं वैद्यहीन देश, अधर्म-बहुल देश-वास, जल, ओषधि एवं पण्डितहीन देशमें वास वर्जनीय है।

समस्त बुद्धिमान् गुरु एवं आचार्य समस्त कार्य-कलापोंका द्रष्टा है—लौकिक व्यवहारके ज्ञाताको इसके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥
आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥
नक्तं दिनानि मे यान्ति कथं भूतस्य सम्प्रति।
दुःखभाङ् न भवत्येवं नित्यं संनिहितस्मृतिः॥
(चा० सू० अ० ८.)

इति चरितमुपेतः सर्वलोकोपकारी
प्रथितगुणगणौघो रक्षितो नृपताभिः।
समधिकधनधर्मायुर्निवृत्तः पुण्यकर्मा
व्रजति सुगतिमिष्टां देहभेदेऽपि सुधिम्॥
(वृद्ध वाग्भट)

सब भूतों-(प्राणिमात्र-)के प्रति पुत्रके समान प्रेम एवं दया होना, शरीर, मन और वाणीका संयम, परमार्थमें स्वार्थबुद्धिका होना यथार्थ चरित्र है। इस बातका सदैव ध्यान रखे कि मैंने रात और दिनमें प्राणिमात्रसे कैसा व्यवहार किया है, उसमें सदैव सुधार करता रहे। बुद्धि शुद्ध रखे, ऐसे व्यक्तिको कभी दुःखकी अनुभूति नहीं होती।

उपर्युक्त गुण-राशि एवं चरित्र-धर्म व्यवहार करनेवालेकी देवता रक्षा करते हैं। वह पुण्यात्मा भी धर्म बुद्धिपूर्वक जीता हुआ देह-भेद होनेपर सुगति प्राप्त करता है।

भविष्यपुराणमें चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीरामजी तिवारी, एम० ए०, पी-एच्० डी०, धर्म-विशारद)

चरित्रसे आचारके अतिरिक्त वेदोक्त धर्म, कर्म एवं ज्ञानादिका समुच्चय भी गृहीत है। इनका सम्यक् निरूपण वेद-ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें हुआ है। पर उनका अर्थ-ज्ञान आज बहुत कठिन है। वहाँ उनका उल्टा या अनभिप्रेत अर्थ ही आजके अनुवादोंमें उपलब्ध है। भाष्यों, श्रौतादि-सूत्रों, भाष्यों, निरुक्त, प्रातिशाख्य तथा पुराणों आदिके सहारे ही इनका ठीक अर्थ लग पाता है। पुराणोंमें उनका सरल अर्थ है। साथ ही इन पुराणोंमें भी वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों एवं स्मृतिग्रन्थोंके समान ही चरित्र-निर्माणपर स्वतन्त्ररूपसे भी विस्तारसे विचार हुआ है। अठारह पुराणोंमें चरित्र एवं सदाचारपर प्रायः शताधिक अध्याय हैं; उदाहरणार्थ मात्र भागवतमें ही सातवें स्कन्धके ११ से १५ श्लोकतक और ११वें स्कन्धके १७ से १८ श्लोकतकमें सभी वर्णों एवं आश्रमोंके चरित्रके साथ धर्म-कर्मका भी निरूपण देखा जा सकता है। इसी प्रकार विष्णुपुराणके तीसरे अंशके ११वें एवं १२वें अध्यायोंमें चरित्रका वर्णन हुआ है। स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराणमें इस-इस बार सदाचारका वर्णन आया है, जिसमें स्कन्दपुराणके चौथे काशीखण्डमें ३५वें लेकर ४१ तकके अध्यायोंमें सदाचार या चरित्रनिर्माणका वर्णन प्रायः २४० श्लोकोंमें किया है। ये प्रकरण मनुस्मृति और स्मृतियोंमें निर्दिष्ट सदाचारके प्रकरणोंसे पूर्णतया मिलते हैं। महाभारतमें भी प्रायः सैकड़ों अध्याय सदाचारका निरूपण हुआ है; विशेषकर वनपर्व, उद्योग-पर्व, शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें। भविष्यपुराणमें भी कई बार सदाचारका निरूपण हुआ है, विशेषरूपसे इसके ब्राह्मपर्व, मध्यमपर्व और उत्तरपर्वमें।

भविष्योत्तरपुराणका चरित्रनिर्माण-सम्बन्धी प्रकरण बहुत कुछ महाभारतके उद्योगपर्वसे मिलता है। जिज्ञासु अन्वेषक इस प्रकरणके एक-एक श्लोकको अनेक पुराणों एवं उपनिषदोंमें देखकर आश्चर्यमें पड़ जाते हैं।

वेदोंके वेदत्वसे भी चरित्रको अधिक महत्त्व प्रदान करनेवाला भविष्योत्तरपुराण २०५वें अध्यायका १७वाँ श्लोक इसी पुराणके प्रथम पर्वके ४१ वें अध्यायके ८ वें श्लोकमें भी प्राप्त है। इसके साथ ही यह श्लोक महाभारत उद्योगपर्व (३५ । ४२, ४३ । ५), देवीभागवत महापुराण (११ । २ । १) तथा स्मृतियोंमें-वसिष्ठस्मृति (६ । ३), वृद्धगौतमस्मृति (८ । ७), वृद्धपराशरस्मृति (६ । २५०) और उपनिषदोंमें मुख्यतया मुक्तिकोपनिषद् (२ । १०) आदिमें प्राप्त होता है।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि जैन एवं बौद्धोंके अतिरिक्त वैदिक सनातन-धर्ममें चरित्रपर विशेष बल दिया जाता था।

चरित्र-निर्माणका मूल मन्त्र—'वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च' भी भविष्योत्तरपुराणके इसी

१-आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

अध्यायके १९वें श्लोकमें प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि सभी प्रयत्नोंसे वृत्त या चरित्रकी रक्षा करनी चाहिये। धन तो आता-जाता रहता है। चरित्रसम्पन्न व्यक्ति निर्धन होनेपर भी हीन-दीन न होकर आदरणीय होता है, किंतु चरित्रहीनकी कहीं भी पूछ नहीं होती।[2]

बड़े कुल और धनसे कुछ नहीं होता। हीन जातिके (कबीर, रैदास, तुकाराम, नामदेव आदि-जैसे) लोग भी चरित्रके कारण भारतमें सम्मानित होते रहे हैं। इसीलिये धर्मको चरित्रसे प्रभूत बतलाया गया है और चरित्रयुक्त व्यक्तिको ही सन्त कहा गया है।[3] चरित्र शरीरके अलक्षणोंको भी दूर करता है।[4] अतः चरित्रपर पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। सभी लक्षणोंसे हीन रहनेपर भी चरित्रसम्पन्न श्रद्धालु व्यक्ति सभी कामनाओंको प्राप्तकर अधिक समयतक जीवित रहता है।[5]

चरित्रनिर्माणमें ब्राह्ममुहूर्तका उत्थान, यथासमय स्नान-संध्या आदि आवश्यक हैं। साथ ही कुछ और बातें ध्येय हैं। जैसे निकलते हुए या अस्त होते हुए सूर्यको न देखा जाय। इधर-उधर गोशालामें, अन्न उपजे हुए खेतमें अथवा जलमें भी लघुशङ्का न की जाय। शौचके लिये वल्मीक या चूहेके बिलसे मिट्टी न ली जाय। गुरुओंका अभिवादन और देवार्चन आदि कर्म यथासमय सम्पन्न कर लिये जायँ। त्रिवर्गसाधक धर्मका ध्यान रखा जाय। यथाशक्ति सन्मार्गके द्वारा अर्थोपार्जन किया जाय। शारीरिक निर्वाह, देवपूजन आदि पूर्वाह्णमें ही सम्पन्न किये जायँ।

इनमें भी ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसादि मुख्य हैं। इस दृष्टिसे चरित्र-रक्षणमें यम-नियमोंके पालनका मुख्य स्थान है। रजस्वला स्त्रीसे कभी भाषण (बातचीत) आदि न करे। अपना शौच-लघुशङ्का आदि न देखे। जूँठे हाथसे अपने सिरका स्पर्श न करे। दोनों हाथोंसे सिर न खुजलाये। भोजन करनेके बाद तथा गम्भीर गहरे जलाशयमें पैठकर स्नान न करे। गुरुओंके दोषोंको न कहे। विमल रत्नोंको सर्वदा धारण करे।[6] किसीको कटुवचन कदापि न कहे। व्यर्थ किसीसे वाद-विवाद या झगड़ा न करे। अत्यन्त वेगवाले नद-नदियोंमें अथवा आग लगे हुए गृह आदिमें प्रवेश न करे। वृक्षके अन्तिम शिखरपर न चढ़े। शवको देखकर घृणा न करे। दाँतोंको न कटकटाये। नासिकाको न कुरेदे। बहुत जोरसे न हँसे। नखोंको दाँतोंसे न चबाये। नखोंसे पृथ्वीपर न लिखे। मूँछ-दाढ़ीके बालोंको दाँतोंसे न काटे। मिट्टीके ढेलोंको न मले। गुरुके सामने उनसे ऊँचे आसनपर न बैठे।[7] हड्डी, काँटे, भस्म, भूसा, कटे बाल आदिसे दूर रहे। दूसरोंके द्वारा धारण किये गये वस्त्र, माला, जूते आदिको न धारण करे। रात्रिमें जलको नाकसे न पीये। रात्रिमें दधि, सत्तू आदिका भक्षण न करे। दिनमें भुने हुए अन्नमें तथा रात्रिमें दधि, सत्तू और कचनारमें अलक्ष्मीका निवास होता है। आधी रातके पादके प्रहरोंमें भोजन न करे। वेदों और देवताओंकी कभी निन्दा न करे।[8]

चरित्र-निर्माणसे नीतिका भी सम्बन्ध है। इसलिये चाणक्यनीति, शुक्रनीति, विदुरनीति आदिमें निर्दिष्ट

२–वृत्तं यत्नेन रक्षेत वित्तमेति प्रयाति च। अक्षीणो वित्ततो क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

३–साधूनां च यथा वृत्तं स सदाचार उच्यते। (भवि० पु० ४। २०२। २५)

४–अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥ (वही २६)

५–श्रद्दधानो दीर्घतरसा दीर्घमायुरवाप्नुयुः। सर्वलक्षण हीनोऽपि समं वर्षाणि जीवति (वही ११)

६–गारुडानि च रत्नानि बिभृयात् प्रयतो नरः॥ (वही ५७)

७–नोच्चासने समासीत गुरोरग्रे कदाचन। (वही ६७)

८–नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्॥ (वही ८४)

इसी प्रकार सिद्धान्तकी जाँच सदा उसके परिणामोंसे ही की जाती है।

संसारमें हिंदूधर्म अनुपम है। इसमें हिंदुओंका अद्वितीय चरित्र तथा अलौकिक विशिष्टताएँ प्रतिबिम्बित हैं। हिंदूधर्मकी समता दूसरा कोई धर्म नहीं कर सकता। चरित्र-सम्बन्धी असाधारण विशिष्टता हिंदूधर्ममें ही मिलती है। शास्त्रका कथन है—

अन्यस्थाने वृथा जन्म निष्फलं च गतागतम्।
भारते च क्षणं जन्म सार्थकं शुभकर्मदम्॥

दूसरे देशोंमें जन्म लेना निरर्थक है; क्योंकि वहाँ पुनर्जन्मका चक्र लगा रहता है, परंतु भारतवर्षमें क्षणमात्रका जन्म भी श्रेष्ठ फलदायक है, कारण, यह वैकुण्ठधामका प्राङ्गण है। संसारमें एकमात्र यही ऐसा क्षेत्र है, जहाँ मोक्षप्राप्तिका साधन सम्भव है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। भारतवर्ष निःसंदेह वैकुण्ठका प्राङ्गण है, जो अमर संतों तथा मनीषियोंकी वर्णगङ्गा-सदृश विमल वाणियोंसे प्रमाणित हो चुका है। भारतवर्ष सृष्टिकालके प्रारम्भसे ही वैकुण्ठधाम-सा रहा है। विष्णुपुराण कहता है—

यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः।

भारत कर्मभूमि है। दूसरे देश भोगस्थान हैं। मनुष्यको जो ईश्वरके चरणोंके निकट पहुँचानेमें सहायता करे और अन्ततोगत्वा उनसे मिला दे, वही शुभ एवं शुद्ध चरित्र है। निष्कर्ष यह कि सत्यकी निष्ठा, नैतिकता, ईमानदारी, पवित्रता, सहिष्णुता एवं शौर्य—ये आदर्श एवं महान् चरित्र वैकुण्ठधामके अमोघ पारपत्र (पासपोर्ट) हैं।

सच्चरित्रताकी धारा अनादिकालसे भारतीयोंकी नस-नसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे बहती रही। यह चरित्र सत्यकी चट्टानपर स्थिर है। यही सबसे उत्कृष्ट गुण है, जिसने भगवान्‌की सृष्टिमें भारतीयोंको सर्वोत्तम बनाया है। लगभग २५०० वर्ष पहले ग्रीकस्थ इतिहासकार मेगास्थनीज भारत आया था। उसने हिन्दुओंकी सत्यताके बारेमें आश्चर्यचकित करनेवाली बातें लिखी हैं। वह लिखता है कि 'यहाँके लोग (अपने घरोंमें) ताला-कुंजी (लगानेकी प्रथा) से अपरिचित थे, यद्यपि उनके ज्ञान, वैभव अद्भुत गौरवशाली थे। हिन्दू-समाजके छोटे वर्गमें भी सर्वत्र ईमानदारी भरी पड़ी थी।'

लगभग ५०० वर्ष हुए पुर्तगाली भारत आये थे। वे क्रूरता तथा अमानवीय दुष्कर्मोंके लिये कुख्यात थे। उन्होंने यद्यपि अपने इतिहासमें सत्यसे विरुद्ध अनेक बातें लिखी हैं, फिर भी यह लिखा है कि 'हिन्दूधर्मका शिष्ट प्रभाव केवल उच्च वर्गोंमें ही नहीं था, बल्कि शास्त्रोंमें प्रतिपादित युद्ध-परम्पराको नीची जातियाँ भी मानती थीं। रात्रिमें अथवा छिपकर युद्ध करनेकी प्रथासे वे अनभिज्ञ थे। बिना पूर्व सूचनाके युद्ध नहीं होता था। हिंदुओंमें अपने शत्रुओंके प्रति तनिक भी ईर्ष्या नहीं थी। उनका सिद्धान्त था कि "शत्रूणामपि गुणा वाच्याः।"—शत्रुओंके गुणकी प्रशंसा करनी चाहिये।

पुर्तगाली लेखकोंने सबसे गये-गुजरे हिन्दू सैनिकोंकी भी प्रतिज्ञाकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—'वे अपनी बातोंका असामान्य पालन करते थे। आश्चर्यकी बात थी कि जब युद्ध-बंदियोंको उनके वचनपर छः महीनोंके लिये मुक्त किया जाता था तो वे स्वेच्छापूर्वक कुछ पूर्व ही लौट आते थे। अनादरको मृत्युसे बढ़कर बुरा समझा जाता था—"अकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २। ३४)

राजकीय कला-विद्यालय कलकत्ताके प्राचार्य तथा 'भारतीय स्थापत्य-कला-मण्डपके लेखक मिस्टर हावेल्ने कहा है कि 'भारतीय कृषक यद्यपि पाश्चात्योंकी दृष्टिमें अशिक्षित हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं, तथापि वे संसारमें सबसे सभ्य एवं सुसंस्कृत हैं।'

विनोदी किंतु गम्भीरतापूर्ण रचनाओंके विरोधी लेखकके रूपमें विख्यात बर्नार्ड शाने भी भारत-दर्शन करनेके बाद भारतीय चरित्र तथा परम्पराकी भव्यताके मुक्तकण्ठसे

इसी प्रकार सिद्धान्तकी जाँच सदा उसके परिणामोंसे ही की जाती है।

संसारमें हिंदूधर्म अनुपम है। इसमें हिंदुओंका अद्वितीय चरित्र तथा अलौकिक विशिष्टताएँ प्रतिबिम्बित हैं। हिंदूधर्मकी समता दूसरा कोई धर्म नहीं कर सकता। चरित्र-सम्बन्धी असाधारण विशिष्टता हिंदूधर्ममें ही मिलती है। शास्त्रका कथन है—

अन्यस्थाने वृथा जन्म निष्फलं च गतागतम्।
भारते च क्षणं जन्म सार्थकं शुभकर्मदम्॥

दूसरे देशोंमें जन्म लेना निरर्थक है; क्योंकि वहाँ पुनर्जन्मका चक्र लगा रहता है, परंतु भारतवर्षमें क्षणमात्रका जन्म भी श्रेष्ठ फलदायक है; कारण, यह वैकुण्ठधामका प्राङ्गण है। संसारमें एकमात्र यही ऐसा क्षेत्र है, जहाँ मोक्षप्राप्तिका साधन सम्भव है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। भारतवर्ष निःसंदेह वैकुण्ठका प्राङ्गण है, जो अमर संतों तथा मनीषियोंकी सद्गङ्गा-सदृश विमल वाणियोंसे प्रमाणित हो चुका है। भारतवर्ष सृष्टिकालके प्रारम्भसे ही वैकुण्ठधाम-सा रहा है। विष्णुपुराण कहता है—

यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः।

भारत कर्मभूमि है। दूसरे देश भोगस्थान हैं। मनुष्यको जो ईश्वरके चरणोंके निकट पहुँचानेमें सहायता करे और अन्ततोगत्वा उनसे मिला दे, वही शुभ एवं शुद्ध चरित्र है। निष्कर्ष यह कि सत्यकी निष्ठा, नैतिकता, ईमानदारी, पवित्रता, सहिष्णुता एवं शौर्य—ये आदर्श एवं महान् चरित्र वैकुण्ठधामके अमोघ पारपत्र (पासपोर्ट) हैं।

सच्चरित्रताकी धारा अनादिकालसे भारतीयोंकी नस-नसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे बहती रही। यह चरित्र सत्यकी चट्टानपर स्थिर है। यही सबसे उत्कृष्ट गुण है, जिसने भगवान्‌की सृष्टिमें भारतीयोंको सर्वोत्तम बनाया है। लगभग २५०० वर्ष पहले ग्रीकका इतिहासकार मेगास्थनीज भारत आया था। उसने हिन्दुओंकी सत्यताके बारेमें आश्चर्यचकित करनेवाली बातें लिखी हैं। वह लिखता है कि 'यहाँके लोग (अपने घरोंमें) ताला-कुंजी (लगानेकी प्रथा) से अपरिचित थे, यद्यपि उनके ज्ञान, वैभव अद्भुत गौरवशाली थे। हिन्दू-समाजके छोटे वर्गमें भी सर्वत्र ईमानदारी भरी पड़ी थी।'

लगभग ५०० वर्ष हुए पुर्तगाली भारत आये थे। वे क्रूरता तथा अमानवीय दुष्कर्मोंके लिये कुख्यात थे। उन्होंने यद्यपि अपने इतिहासमें उससे विरुद्ध अनेक बातें लिखी हैं, फिर भी यह लिखा है कि 'हिन्दूधर्मका शिष्ट प्रभाव केवल उच्च वर्गोंमें ही नहीं था, बल्कि शास्त्रोंमें प्रतिपादित युद्ध-परम्पराको नीची जातियाँ भी मानती थीं। रात्रिमें अथवा छिपकर युद्ध करनेकी प्रथासे वे अनभिज्ञ थे। बिना पूर्व सूचनाके युद्ध नहीं होता था। हिंदुओंमें अपने शत्रुओंके प्रति तनिक भी ईर्ष्या नहीं थी। उनका सिद्धान्त था कि 'शत्रूणामपि गुणा वाच्याः।'—शत्रुओंके गुणकी प्रशंसा करनी चाहिये।

पुर्तगाली लेखकोंने सबसे गये-गुजरे हिन्दू सैनिकोंकी भी प्रतिज्ञाकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—'वे अपनी बातोंका असामान्य पालन करते थे। आश्चर्यकी बात थी कि जब युद्ध-कैदियोंको उनके वचनपर छः महीनोंके लिये मुक्त किया जाता था तो वे स्वेच्छापूर्वक कुछ पूर्व ही लौट आते थे। अनादरको मृत्युसे बढ़कर बुरा समझा जाता था—'अकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।' (गीता २। ३४)

राजकीय कला-विद्यालय कलकत्ताके प्राचार्य तथा 'भारतीय स्थापत्य-कला-ग्रन्थ'के लेखक मिस्टर हावेल्टने कहा है कि 'भारतीय कृषक यद्यपि पाश्चात्योंकी दृष्टिमें अशिक्षित हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं, तथापि वे संसारमें सबसे सभ्य एवं सुसंस्कृत हैं।'

विनोदी किंतु भावपूर्ण रचनाओंके विरोधी लेखकके रूपमें विख्यात बर्नार्ड शाने भी भारत-दर्शन करनेके बाद भारतीय चरित्र तथा परम्पराकी भावपूर्ण प्रशंसाकी

कल्पनासे भी यह अधिक सुन्दर है। मैं इस देशके निवासियोंके—विशेषकर ग्रामीणोंके जीवनपर मुग्ध हूँ। यहाँ कोई विदेशी अल्पकाल रहकर इन्हें ठीकसे नहीं समझ सकता।'

सर जॉर्न बर्डवुड अपनी 'फ्लास्ट सिरटन' पुस्तकमें लिखते हैं—'भारतवर्ष और इसके पवित्र लोग अपने बाह्य एवं आन्तरिक पवित्र चरित्रोंसे अपने स्वाभाविक गुणोंको सरलतया प्रतिबिम्बित करते हैं—विशेषकर महाराष्ट्र-राज्यकी पवित्र-चरित्र नारियाँ, शुद्ध-चरित्र पुत्रियाँ, पतिव्रता पत्नियाँ तथा सभी माताएँ। शिवाजीके सभी सैनिक तथा शिविर स्त्री-सम्बन्धी सभी दोषोंसे मुक्त थे। विजित प्रदेशोंकी स्त्रियोंको वे छूतेतक न थे।'

धर्मशीलताकी व्यापकताके सम्बन्धमें 'मद्रास टाइम्स' नामक ऐंग्लो इंडियन दैनिक पत्रका कथन है कि 'भारतीय भिक्षुक धार्मिक महाविद्यालयके आचार्योंसे भी अधिक धार्मिक शिक्षामें सफल होते हैं। वे मधुर स्वरमें पुरातन तथा सुन्दर गीतोंको गाते हैं। वे प्रभुके अनन्त ज्ञान, सर्वव्यापकता तथा असीम कृपापर अपना चित्त स्थिर रखते हैं। वास्तवमें वे प्राचीन तथा आश्चर्य-जनक सभ्यताका प्रतिनिधित्व करते हैं।'

कम्बिरूपीगके विख्यात डॉ० ब्राह्मने विशेषकर सिंधीके भारतीय प्रवासके प्रभावका उल्लेख किया है। वे कहते हैं—'भारतीयोंने उस द्वीपके निवासियोंकी अशिक्षा—जंगलीपनको दूर करनेमें खूब हाथ बँटाया है और उन्हें अधिक सुन्दर जीवनका नियम सिखलाया है। अतः सबसे अधिक पक्षपाती व्यक्ति भी हिन्दुस्थानकी प्रशंसा करनेसे अपनेको नहीं रोक सकता है। एक भारतीय भिक्षुक या कुलीका चरित्र निम्नाङ्कित घटनासे प्रत्यक्ष होता है—

आजसे ३५ वर्ष पहले एक धनी मारवाड़ी दम्पति हरिद्वारसे केदार-बदरीधाम जा रहे थे। तेज बंटेकी पहाड़ी यात्राके बाद उन्हें प्यास लगी और वे निकटके जलसत्रके पास गये। वहाँ हाथ-पैर धोने तथा पानी पीनेकी व्यवस्था थी। वहाँ वे दोनों हाथ-मुँह धोकर फिर आगे चल दिये। दो घंटेतक चलनेके बाद उस महिलाको स्मरण हुआ कि भूलसे उसने हीरेकी अपनी अँगूठी जलसत्रपर छोड़ दी है। तुरंत वे दोनों लौटकर वहाँ गये। उनके आनन्द और आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि एक लंबा भिखारी चिथड़े पहने था, और एक तागेसे उस अँगूठीको अपनी बाँहमें बाँधकर अपनी बाँह ऊपर करके चिल्ला रहा था—'किसकी अँगूठी है! किसकी अँगूठी है!' जब दम्पति उस भिक्षुकके पास पहुँचे और बोले कि 'अँगूठी मेरी है' तो भिखारीने तुरंत उस अँगूठीको उन्हें लौटा दिया और कहा—'तुम बड़े बदमाश हो! जबसे तुम्हारी अँगूठी मिली, तबसे हमारा खाना-पीना कुछ नहीं हुआ। मैं तो लगातार इसी तरह चिल्लाता रहा।' मारवाड़ी महोदय अपनी अँगूठी पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना तोड़ा निकाला और वे भिक्षुकको चालीस रुपये पुरस्कार देने लगे। इससे भिखारी क्रोधित होकर चिल्लाया—'रुपये! किसलिये, क्या मैं चोर हूँ! यह तुम्हारी अँगूठी है और मैंने इसे तुम्हें दे दिया। उसके लिये मैं रुपये क्यों लूँ!' ऐसा कहकर वह चला गया। धनी सौदागर आश्चर्यचकित हो वहाँ खड़ा रहा। यह है, एक भारतीय भिखारीका आदर्श चरित्र।'

भारतीय ईमानदारी तथा सचाईके और दो उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—१—भारतीय लेख-शोधन यन्त्रके एक जर्मन अभियन्ता जीपपर मुँगेर जिलेसे गुजर रहे थे। वे खगड़ियासे बेगूसराय जा रहे थे। सड़क ऊबड़-खाबड़ थी, अतः उनके चमड़ेका सूटकेस, जिसमें एक लाखकी नोट-मुद्राएँ और आवश्यक लेख-कागज थे, जीपसे बिना जानकारी गिर पड़ा। दुर्गाप्रसाद केसरीने उसे पानेपर मार्गपंचायतमें जमा

प्रशंसा करते हुए लिखा है—'भारतीयोंका चरित्र उनकी मुखाकृतिसे प्रकट होता है, परन्तु हमलोगोंके चेहरेपर नकाब है। भारतीयोंके चेहरेपर सृष्टिकर्ताके चिह्न रेखाओंमें देखे जा सकते हैं; अर्थात् हिन्दुत्व तथा हिन्दूकी सत्यनिष्ठा उनके चेहरोंसे झलकती है और अंग्रेजों-(यूरोपियनों-)के सतत मिथ्याचरणसे भगवान्‌की रेखाएँ इनके (अंग्रेजोंके) चेहरेसे मिट गयी हैं तथा नकाब चढ़ गया है।'

मारतके वायसराय लार्ड विलिंग्टनको भी सन् १९१८ ई०में विवश होकर कहना पड़ा था—'भारतीय जाति विश्वमें सबसे सुसभ्य है, जो कभी भी दया और सहानुभूति-(के कार्य-)को नहीं भूलती; वह पृथ्वीपरकी सबसे अधिक कृतज्ञ जाति है। दूसरे शब्दोंमें वह कृतघ्नताके पापसे परे है; क्योंकि कृतघ्नता मनुष्यके लिये सबसे अधम कार्य है। शास्त्रोंका अनुभव-सिद्ध वचन है—'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः'—कृतघ्नका कभी भी निस्तार नहीं होता; क्योंकि वह सबसे अधम पापी है।

किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रका चरित्र ही उसका विशिष्ट लक्षण है, जो उसके आचरणसे प्रतिबिम्बित होता है और अन्योंसे पृथक् करता है। जो व्यक्ति स्वयं आचरणशील सच्चरित्र होता है वही व्यक्ति तथा जातिका उचित मूल्याङ्कन करता है। सर चार्ल्स फ्रेडरिक एम० बी० ने दो दशक भारतमें निवास करनेके बाद भारतीयोंके चरित्रका सारांश निम्नाङ्कित पङ्क्तियोंमें अङ्कित किया है—

'भारतमें २२ वर्षोंतक रहने तथा यहाँ इंग्लैंडमें १७ वर्षोंतक रहनेके बाद अपने देशवासियोंको मैं जितना ही देखता हूँ उतना ही भारतवासियोंको अधिक पसन्द करता हूँ।'

'सातवीं शताब्दीके प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांगका भी कथन है कि 'यदि किसी व्यक्तिके दुःखकी जानकारी हिन्दुओंको होती है तो वे अपने-आपको भूलकर उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ते हैं।'

एक शताब्दीपूर्व भी पाश्चात्य विद्वानोंने भारतको आश्चर्य, प्रशंसा तथा विस्मयकी भूमि निश्चित की है। रेवरेंड शेयरिंगने भी अपनी-बृहत् पुस्तकमें विचार प्रकट किया है कि 'सादा चेहरा, विस्तृत ललाट, चित्ताकर्षक गौरवर्ण, उत्कृष्ट साहसवाले सच्चे ब्राह्मण पाश्चात्य सभ्यतासे अछूते रहते हुए प्रभुके सन्मार्गपर विचरते हैं। वे ज्ञानप्राप्तिमें तेज शुद्ध-बुद्धि होते हैं। वे निपुण राजनीतिज्ञ, प्रभावशाली अधिवक्ता एवं यदि मर्मज्ञ नहीं तो पवित्र न्यायाधीश, निपुण आचार्य तथा प्रभावशाली लेखक होते हैं।'

थॉमस मेरिस अपने 'Indian Antiqints' नामक शोध-ग्रन्थके ५ वें खण्डमें लिखते हैं—'भारतके प्राचीन रीति-रिवाज, वृत्त आदि—साथ ही भारतीयोंके गौरव और अपूर्व बुद्धिके महत्त्व समानरूपसे स्पष्ट झलकते हैं। उनका जीवन तथा रहन-सहन निर्दोष एवं सादा है। उनकी सहिष्णुता, उनकी शुचिता, उनकी गहन अध्यात्मवादिता एवं उनकी राजनीतिक जानकारीने जनसामान्यकी श्रद्धाको जीत लिया है। गद्दीपर बैठनेके बाद राजा-महाराजा भी उनके तेजोमय चरित्रसे प्रभावित होकर उन्हें पूजते हैं।

उनकी उत्तेजना संयमसे नियन्त्रित है। उनकी महत्त्वाकाङ्क्षा आवश्यकताओंकी न्यूनतासे सीमित और मर्यादित है। ब्राह्मण पुजारियोंके विचारोंको कर्तव्य कर्मसे कोई भी विचलित नहीं कर सकता है। पर केवल उच्चतम जाति ब्राह्मण ही नहीं स्नान, ध्यान, दान, स्तोत्र-पाठ आदि धार्मिक कृत्योंके सम्पादन तथा प्रार्थनामें लीन रहते हैं, अपितु अति सामान्य ग्रामीण भी आकर्षक आदर्श चरित्रके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। साधारण भारतीय भी उत्कृष्टकोटिका चरित्रशील होता है।'

सुप्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार मिस्टर जेफरी फरनोल्डका कथन है कि 'भारतने मुझे विस्मित कर दिया है। मेरी

कल्पनासे भी यह अधिक सुन्दर है। मैं इस देशके निवासियोंके—विशेषकर ग्रामीणोंके जीवनपर मुग्ध हूँ। यहाँ कोई विदेशी अल्पकाल रहकर इन्हें ठीकसे नहीं समझ सकता।'

सर जॉर्ज बर्डउड अपनी 'फ्लास्ट सिस्टम' पुस्तकमें लिखते हैं—'भारतवर्ष और इसके पवित्र लोग अपने बाह्य एवं आन्तरिक पवित्र चरित्रोंसे अपने सामाजिक गुणोंको सरलतया प्रतिबिम्बित करते हैं—विशेषकर महाराष्ट्र-राज्यकी पवित्र-चरित्र नारियाँ, शुद्ध-चरित्र पुत्रियाँ, पतिव्रता पत्नियाँ तथा सच्ची माताएँ । शिवाजीके सभी सैनिक तथा शिविर स्त्री-सम्पर्की सभी दोषोंसे मुक्त थे। विजित प्रदेशोंकी स्त्रियोंको वे छूतेतक न थे।'

धर्मशीलताकी व्यापकताके सम्बन्धमें 'मद्रास टाइम्स' नामक ऐंग्लो इंडियन दैनिक पत्रका कथन है कि 'भारतीय भिक्षुक धार्मिक महाविद्यालयके आचार्योंसे भी अधिक धार्मिक, शिक्षामें सफल होते हैं। वे मधुर स्वरमें पुरातन तथा सुन्दर गीतोंको गाते हैं। वे प्रभुके अनन्त ज्ञान, सर्वव्यापकता तथा असीम दयापर अपना चित्त स्थिर रखते हैं। वास्तवमें वे प्राचीन तथा आश्चर्य-जनक सभ्यताका प्रतिनिधित्व करते हैं।'

कविद्वीपोंके विख्यात डॉ० ब्राह्मनने विशेषकर सिनीके भारतीय प्रवासके प्रभावका उल्लेख किया है। वे कहते हैं—'भारतीयोंने उस द्वीपके निवासियोंकी अशिक्षा—जंगलीपनको दूर करनेमें खूब हाथ बँटाया है और उन्हें अधिक सुन्दर जीवनका नियम सिखलाया है। अतः सबसे अधिक पक्षपाती व्यक्ति भी हिन्दुत्वकी प्रशंसा करनेसे अपनेको नहीं रोक सकता है। एक भारतीय भिक्षुक या कुलीका चरित्र निम्नाङ्कित घटनासे स्पष्ट होता है—

आजसे १५ वर्ष पहले एक धनी मारवाड़ी दम्पति हरिद्वारसे केदार-बदरीधाम जा रहे थे। डेढ़ घंटेकी पदयात्राके बाद उन्हें प्यास लगी और वे निकटके जलसत्रके पास गये। वहाँ हाथ-पैर धोने तथा पानी पीनेकी व्यवस्था थी। वहाँ वे दोनों हाथ-मुँह धोकर फिर आगे चल दिये। दो घंटेतक चलनेके बाद उस महिलाको स्मरण हुआ कि भूलसे उसने हीरेकी अपनी अँगूठी जलसत्रपर छोड़ दी है। तुरंत वे दोनों लौटकर वहाँ गये। उनके आनन्द और आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि एक लंबा भिखारी चिथड़े पहने था, और एक तागेसे उस अँगूठीको अपनी बाँहमें बाँधकर अपनी बाँह ऊपर करके चिल्ला रहा था—'किसकी अँगूठी है ! किसकी अँगूठी है ?' जब दम्पति उस भिक्षुकके पास पहुँचे और बोले कि 'अँगूठी मेरी है' तो भिखारीने तुरंत उस अँगूठीको उन्हें लौटा दिया और कहा—'तुम बड़े बदमाश हो ! जबसे तुम्हारी अँगूठी मिली, तबसे हमारा खाना-पीना कुछ नहीं हुआ। मैं तो लगातार इसी तरह चिल्लाता रहा।' मारवाड़ी महोदय अपनी अँगूठी पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना तोड़ा निकाला और वे भिक्षुकको चालीस रुपये पुरस्कार देने लगे। इससे भिखारी क्रोधित होकर चिल्लाया—'रुपये ! किसलिये, क्या मैं चोर हूँ ! यह तुम्हारी अँगूठी है और मैंने इसे तुम्हें दे दिया। उसके लिये मैं रुपये क्यों लूँ !' ऐसा कहकर वह चला गया। धनी सौदागर आश्चर्यचकित हो वहाँ खड़ा रहा। यह है, एक भारतीय भिखारीका आदर्श चरित्र।'

भारतीय ईमानदारी तथा सच्चाईके और दो उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—१—भारतीय तेल-शोधन यन्त्रके एक जर्मन अभियन्ता जीपपर मुँगेर जिलेसे गुजर रहे थे। वे लगड़ियासे बेगूसराय जा रहे थे। सड़क ऊबड़-खाबड़ थी, अतः उनके चमड़ेका सूटकेस, जिसमें एक लाखकी मोट-मुद्राएँ और आवश्यक लेख-कागज थे, जीपसे बिना [illegible] गिर पड़ा। दुर्गाप्रसाद केशरीने उसे [illegible]

कर दिया। ग्रामके निवासियोंने सम्पूर्ण नगद राशि-सहित उसे उस जर्मन अभियन्ताको लौटा दिया।

जर्मन अधिकारीने सूटकेस पानेवाले ग्रामीणको एक सौ रुपयेका एक नोट पुरस्कारके रूपमें दिया। परंतु उसने नम्रतापूर्वक उसे अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं नगद पुरस्कार नहीं चाहता हूँ। कृपया जब आप अपने देश लौटें तो भारतको याद करें।'

(हिंदुस्तान स्टैंडर्ड १-८-६२)

सन् १९५८ में जब रूसके पूर्व-प्रधानमन्त्री श्रीनिकिता ख़ुश्चेव भारतमें आये थे तो वे एक धोबीकी असाधारण ईमानदारीको देखकर विह्वल हो उठे थे। उन्होंने अपना पैजामा धोबीको धोनेके लिये दिया था। धोबीने ख़ुश्चेवके पैजामेके पाकेटमें सात सौ रुपये पाये। रुपये लौटाते हुए धोबीने उनसे कहा—'यह भारतीय परम्परा है, हमने अपने देशकी परम्परा रखी है।'

बासवेल्के प्रसिद्ध नायक सेमूअल जानसनका कहना है कि 'हिन्दू धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, वाणिज्य-निपुण, सत्यके प्रशंसक, दयालु तथा अत्यधिक ईमानदार होते हैं।'

जबलपुरके जिलाधीश कर्नल स्लीमन धूमियों ठगोंके एकदलको दबानेके लिये सन् १९३८में विशेष दौरेपर थे। वे कहते हैं कि मेरे सामने सैकड़ों मुकदमे हैं, जिनमें एकमें हिंदूकी सम्पत्ति स्वतन्त्रता और जीवन वादीके असत्य कथनपर आधारित थे, परंतु उसने झूठ बोलनेसे अस्वीकार कर दिया।'

इतिहासकार मैकमुरिडलका कथन है कि कोई हिंदू ऐसा नहीं मिला, जो असत्य बोलता हो। सीधापन और ईमानदारीके चरित्रसे ही हिंदू पहचाने जाते हैं। वे कभी कुछ अनुचित नहीं करते। इस तरह हम लोग देखते हैं कि चरित्रके लिये सच्चाई अनिवार्य है जो भारतीय गुणकी विशेषता है। और, इस बातसे आगे भी प्रमाणित किया जाता है कि आज भी आदिवासी, जो हिंदुओंके संसर्गसे परिचित हो गये हैं, कहते हैं कि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥

'अति प्राचीनकालसे यह रीति रघुकुलमें चली आयी है कि वचन छोड़नेसे मरना अच्छा है। प्राण जायँ, तो जायँ, वचन (बात) अन्यथा न हो।'

ईसाके १५०० वर्ष पूर्व मोरक्को-पोलोने कहा था—'ब्राह्मण पृथ्वीकी किसी भी वस्तुके लिये झूठ नहीं बोलते।' हमलोग सत्यतासे दूर होंगे—यदि हमलोग यह न कहें कि हिंदूके सत्यरूपी चरित्रपर विदेशियोंके संसर्गने कुल्हाड़ी-प्रहारका काम किया है एवं जिसने भारतीय चरित्रकी पवित्रताको दूषित तथा धूमिल कर दिया है।

सहनशीलता जो हृदयकी निष्पक्षताको प्रकट करती है, महान् और अन्तिम सत्यपर आधारित चरित्र है। सभी प्राणी पवित्र हैं; क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें भगवान् बसते हैं। यही कारण है कि हिंदू कभी हठधर्मी नहीं होते। श्रीख़फ़ीख़ाँ नामक इतिहासकारने लिखा है कि 'शिवाजीने कभी मसजिद और कुरानको हानि नहीं पहुँचायी तथा किसी दूसरे धर्मकी नारीको कष्ट नहीं दिया। उन्हें यदि कुरानकी प्रति मिलती थी तो वे तुरंत उसे आदरपूर्वक किसी मुसलमानको दे देते थे।'

अकबरके दरबारका प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फजलका कथन है कि 'हिन्दू सुशील तथा मिलनसार एवं सभीके प्रति दयालु होते हैं। संसारके किसी व्यक्तिसे उनका वैर नहीं होता है।'

२०-११-१९४८को भागलपुरके एक मुस्लिम सभाको सम्बोधित करते हुए बिहारराज्यके वित्तमन्त्री डॉ० सैयद मोहम्मदने कहा था—'भूमीपर हिन्दू सबसे अधिक स्नेह तथा प्रेम करनेवाले लोग हैं। वे उसे भी प्यार करते हैं, जो उन्हें प्यार नहीं करता है। ऐसा कोई दूसरा मानव-समुदाय नहीं कर सकता है।'

प्रसिद्ध राठौरनरेश दुर्गादास मुगलसम्राट् औरंगजेब-का कट्टर शत्रु था। परंतु जब औरंगजेबकी पौत्री दुर्गादासके हाथों पड़ी तो उसने बड़े श्रमसे अजमेरसे एक मुस्लिम अध्यापिकाको बुलाया और उस औरंगजेबकी पौत्रीको उसीके संरक्षणमें रख दिया, जिससे उसका ठीक मुस्लिम बालिकाकी तरह पालन-पोषण हो सके। क्या यह हिन्दू-सहनशीलताका उज्ज्वल उदाहरण नहीं है?

मिस पोलैंडकी कुमारी दिनोवास्क जब सन् १९३६ ई०में भारत-भ्रमण कर रही थी तो उसने कहा था—'हमलोगोंने भारतमें कभी किसी क्रुद्ध व्यक्तिको नहीं देखा, न घृणाके भावको। यह अद्भुत बात पश्चिम देशोंमें असम्भव है।'

भारतीय चरित्रका यह सामाजिक रूप है। भारतीयोंकी सहनशीलता, सरलता तथा सौहार्द उनमें उच्च भ्रातृत्वका भाव उत्पन्न करता है। यह शुद्ध भावना उनके जीवनकी पवित्रताको प्रकट करती है। सचमुच यह एक विदेशीद्वारा भारतवासियोंके चरित्रकी ठीक जानकारी विरल तथा अपूर्व है और यह शास्त्रके अनुकूल तथा सत्यके बहुत ही निकट है। हमने भारतीय चरित्रके गौरव तथा महत्त्वके विषयमें असंख्य उदाहरणोंमेंसे बहुत ही थोड़ा ऊपर उल्लेख किया है जिसे पाश्चात्योंने विस्मयपूर्ण एवं प्रशंसक नेत्रोंसे प्रत्यक्ष किया है।

हमारी नैतीकता आधार यह सिद्धान्त है कि 'येनाहं नामृता स्यां तेनाहं किं कुर्याम्।' इन भौतिक सम्पत्तियोंसे हमें क्या लाभ, जो अमरता उपार्जन नहीं करा सकतीं। हमारी शिक्षा तो माताके मुखसे प्राप्त होती है, जिसे शास्त्रकार रानी मदालसाके बच्चोंको झुलानेवाले गीतमें स्पष्टतः कहलाते हैं कि 'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमाया-परिवर्जितोऽसि' अर्थात् तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरञ्जन—निर्दोष हो और संसारकी मायासे भिन्न स्वयं परमात्माकी प्रतिमा हो।' ऐसे ही हजारों गौरवपूर्ण और आनन्ददायक सिद्धान्त-सन्देश हैं जिनके आधारपर हमारे वर्णित गुण विकसित हुए हैं। प्राचीन भारतके चरित्रमें क्षत्रियोंकी गरिमा, महत्त्व तथा वीरता तथा ब्राह्मणोंके पवित्र तथा निर्दोष जीवनकी आध्यात्मिक शान्ति और निर्मल प्रकाशक सौंदर्य सम्मिलित हैं। हमें उन सबका अनुसंधान करना है।

आज हमलोग इसके विषयमें विरले ही कहीं सुनते हैं। इसका कारण क्या है? क्योंकि परलोक अभ्रान्त शास्त्रोंसे हमलोग विमुख हो गये हैं और कर्तव्य-परायण तथा धार्मिक ब्राह्मणोंकी बुद्धि एवं तार्किक ज्ञान तथा क्षत्रियोंके साहस और वीरतासे बनी हुई गौरवशाली परम्पराके विपुल अवलम्बनको भूल बैठे हैं। अपनी निर्बुद्धि तथा मूर्खतासे मानवजातिकी रक्षा करनेवाली श्रुतियों और स्मृतियोंसे हमलोग विलग होकर सिकुड़ गये हैं।

इस देशको आज चरित्रकी अत्यन्त आवश्यकता है। हजारों वर्ष पहले मनु महाराज संसारके सबसे प्रथम और महान् विधि-विधायक थे, जिन्होंने चरित्र तथा आचरणकी विचित्र संहिता दी है। वह धरतीपर सिर्फ भारतीयोंको ही सुन्दर चरित्र और व्यवहार सिखानेवाली नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण विश्वके सभी मनुष्योंके चरित्रको उन्नत करनेमें भी सक्षम है। उसके आश्रयसे हम पुनः अपने गौरवमय चरित्रको प्राप्त कर सकते हैं।

आधुनिक अनात्मवादी सभ्यताकी शक्तिहीनता तथा असंतोषके रहते हुए भी हमलोग जो शास्त्रकी मर्यादाको आत्मज्ञानकी पूर्तिके लिये देखते हैं, वह भारतके प्राचीन सर्वद्रष्टा ऋषियोंकी देन हमारे हृदयोंमें है—'सत्यमेव जयते।' और, सत्य ही सच्चरित्रका मूल तत्त्व है।

(अनुवादक—श्रीरामदेवजी ओझा)

भारतीय चरित्रका प्रकाशक रामचरितमानस

(लेखक—राजा श्रीमरकतकुमार सिंहजी)

भारतीय संस्कृतिमें चरित्र ही निधि और संतोष परम सम्पदा है। संतोषको सुखका तथा तृष्णाको दुःखका कारण कहा गया है। असंतोषी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता, जिसके मनमें प्रतिपल नयी-नयी भोगकी वस्तुएँ तथा सुख-साधन प्राप्त करनेकी इच्छाएँ आमद् और बलवती होती रहती हैं; ऐसे व्यक्ति कभी भयंकर कुकृत्य कर डालते हैं। तृष्णा उन्हें सन्मार्गसे हटाकर विपथगामी बना देती है। असंतोषपर विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी इन्द्रियोंको वशमें करना आवश्यक है। ये इन्द्रियाँ ही मनको बहकाती हैं। अपने श्रम-परिश्रमसे जो भी प्राप्त हो उससे अपनेको संतुष्ट करना चरित्रका आधार है। प्रत्येक कार्यको सोच-समझकर करना चाहिये।

प्रतिभा, वीरता या पवित्रता इत्यादि चरित्ररूपी पुष्पके ही फल हैं, हृदयमें जब पवित्रताका प्रकाश होता है, तब मनुष्य सत्पथी ओर चलता है। अपवित्रता पतन कराती है। वही धन्य है, जिसको नित्य-प्रति यह अनुभव होता जाय कि उसकी पशुता दिन-प्रति-दिन मर रही है और देवत्व स्थापित होता जा रहा है। यदि मनुष्य दृढ़ विश्वासके साथ चरित्रकी दिशामें आगे बढ़ता रहे तो उसे आशातीत सफलता मिलेगी, ज्यों-ज्यों वह अपने जीवनको अधिकाधिक सादा बनाता जायगा, त्यों-त्यों उसके लिये संसारके नियम और विधानों-की उलझनें सुलझती जायेंगी। तब उसके लिये गरीबी आमूषण तथा निर्बलता सफलताके रूपमें परिणत होती देखी जायेगी।

जीवन तथा राष्ट्रके क्रिया-कलापोंमें प्रगतिकी एकमात्र ऊर्जा चरित्र है। प्रगतिकी पहली आवश्यकता भी चरित्रकी व्यापकता है, किंतु इस युगमें अधिकतर मनुष्योंके सिरपर जीवनको सफल बनानेकी धुन सवार है। उनकी शीघ्र-से-शीघ्र धनवान् बननेकी आकाङ्क्षा अगणित लोगोंकी नींद हराम कर दी है। वे कर्महीन काम मशीनोंमें और मशीनोंका घटोंमें कर डालनेके आकाङ्क्षी हैं अर्थात् बिना कर्म किये सर्वस्व पानेके लिये उतावले हैं। किंतु एक अपरिग्रही व्यक्ति अपने जीवनको अत्यन्त आनन्दमय तथा स्फूर्तिप्रद बना सकता है।

विवेकानन्दने कहा था—'हमारी मातृभूमि पहलेसे कहीं अधिक गौरव एवं वैभवसे प्रदीप्त होगी। हम प्रचारसे अलग रहकर और केवल परमात्माके लिये, संसारके हितके लिये धर्मकी रक्षा करेंगे। यदि इस युद्धमें असंख्य व्यक्ति गिर जायें तो भी पताकाको कोई-न-कोई थामे रहेगा। चिन्ता नहीं—कौन गिरता है, सत्य संकल्पके पीछे भगवान स्वयं विद्यमान हैं। जो गिरे, वह पताकाको दूसरोंके हाथोंमें सौंप दे और तब वह कभी न गिर सकेगी। हम शिवके गणोंका कार्य है कि जगत् कल्याणके लिये व्यापकरूपसे हर हर महादेवके निनादसे गुञ्जायमान करते रहें।'

शिक्षाका मूल उद्देश्य मनुष्यके चरित्रको विकसित निर्मित तथा पुष्ट करना है। चरित्र अनुकरण तथा विनयसे बनता है। आजके किसी भी राजनीतिक दलके पास न दर्शन है, न आदर्श ही; नहीं किसी दलके विचारधारासे प्रेरित होकर दलके सदस्य दल-विशेषमें प्रवेश ही करते हैं। यही कारण है कि चरित्रहीन होनेसे दिशाहीन राजनीतिक दलोंकी राजनीति केवल जोड़-तोड़, जात-पाँत तथा दाँव-पेंचतक ही सीमित रह गयी है। आजके उपद्रव-पूर्ण जीवनमें चरित्रका दृष्टान्त प्रस्तुत करनेवाला कौन रह गया है!

यह सिद्ध है कि चरित्र-धर्मकी स्थापनाके द्वारा संसारमें विश्वास दृढ़ कर विश्वबन्धुत्वकी स्थापना हो

सकती है। सभी लोग सुखी रह सकते हैं। वेदका संदेश है—'अमृतस्य पुत्राः'—सभी एक ईश्वरकी सन्तान हैं। जब सांसारिक व्यक्तियोंका पिता समान हो तो उनका परस्पर भ्रातृत्व स्वयं सिद्ध है। मनुष्यका भ्रातृत्ववादपर सबका एक समान विश्वास रख होना वर्तमान खींचातानीके परिणाम भौतिक बेईमानीको समाप्त कर सकता है। यदि संसारके सभी वर्ग तथा समाज एक इसी तथ्यपर सम्मिलित होकर विश्वबन्धुत्वकी स्थापना कर सकें तो मानव-कल्याणका क्रियात्मक आदर्श कठिन नहीं रह जायेगा और किसीकी भी पुकारपर तथा व्यथा सुनकर द्रवित हो उठनेका एवं स्वाभाविक मृदुलता, कोमलता और उदारतापूर्ण चरित्रका पुनः विकास हो जायेगा। जहाँ प्रेममूलक आदर्शकी स्थापना हो जाती है, वहाँ न कोई निर्बल होता है, न दीन और न असहाय ही। चरित्रके जगत्में विनाशका कोई स्थान नहीं। वहाँ सर्वाङ्गीण निर्माण और विकासकी परम्पराओंका दौर चलता है। आतङ्क, छीना-झपटी तथा लूट-पाटका कोई स्थान नहीं रह जाता। सभी अपने-अपने श्रमसे संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं।

जन-मनके मनके मानसमें 'रामचरितमानसने' गरीबकी झोंपड़ीसे लेकर बड़े-बड़े महलोंतक व्याप्त अपनी रोचकता, सरलता, श्रेष्ठता और व्यापकताद्वारा पूर्ण शक्तिसे भारतीय संस्कृति और समाजकी आत्माको जीवित रखनेमें पूर्ण योगदान किया है। संत कवि तुलसीदासने मानवकी नैतिक स्थितिका जितनी गहराईसे अध्ययन, मनन और चिन्तन किया, उतने ही श्रेष्ठ तत्त्व मानसकी पङ्क्तिमें भर कर संसारको लुटाया है। भारतीय संस्कृति एवं चरित्रका सार तथा भारतीय इतिहास और जीवनदर्शनका अनूठा संगम 'रामचरितमानस' है। यह चरित्रदीप दरिद्रकी कुटियाको भी आलोकित एवं प्रकाशित कर रहा है। मानसकी गङ्गामें इस देशकी बहुमुखी जीवनधाराके उद्गम झरने अपने अमृतमय जलके साथ एक स्थानपर ही आकर मिल गये हैं। इसका रसस्रोत और अक्षय-कोष प्राप्त कर जनता एक साथ ही सब कुछ पा जानेके सुखका अनुभव करती है।

जन-जनके मनका मानस-नायक श्रीरामका चरित्र सदा सबको आश्चर्यचकित करता रहा है। वे सदा श्रेष्ठ आचरणके ऊँचे स्तरपर बने रहे। राम किसी भी एक प्रदेश, एक जाति, एक समाज अथवा वर्गके नहीं, बल्कि सार्वलौकिक और सार्वजनिक रहे। वे किसीके भी पुकारपर विकल उठते और प्रार्थना सुनकर द्रवित हो उठते। उनके चरित्रका महान् गुण है, उनके स्वभावकी मृदुलता, कोमलता और उदारता। अपने गुण-विशेषके कारण ही आज वे विश्वके बहुत बड़े भूभागपर फैले हुए जनजीवनमें गहराईसे प्रवेश कर चुके हैं। वे निर्बलों, दीनों और असहायोंके बल हैं और उन्हें साधारण प्राणी भी प्रिय है। उन्होंने स्वयं कहा है—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

उन्होंने एक साथ ही निषादराज गुह, वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषणको अपनी बराबरीका स्थान देकर अपना मित्र स्वीकार किया है। ये तीनों मित्र विजातीय, वन्य, तुलनामें असंस्कृत तथा दीन-हीन हैं, किंतु रामके मित्रत्वका आदर्श जाति, कुल, सभ्यता, धन एवं गुण-दोषकी परख नहीं करता; वह मानवताके प्रेममूलक आदर्शकी स्थापनाका आदर्श है; इसीलिये संत तुलसीदासने उनके चरणकमलोंमें ही अपनी प्रतिभाका पुष्प समर्पित करनेका सद्भाग्य प्राप्त किया है। भारतीय नभोमण्डलके सूर्य श्रीरामका व्यक्तिगत आचरण और चरित्रका जीवन-दर्शन सर्वोच्च ऊँचाईके शिखरपर जगमगा रहा है। ऐसे वन्दनीय चरित्रकी कल्पना विश्वके इतिहासमें दुर्लभ है। उनका चरित्र भारतीयका ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवताका आदर्श बनकर युग-युगसे उसे अनुप्राणित और उत्प्रेरित करता रहा है। 'रामचरितमानस'में उनके अनुपम चरित्रोंकी सृष्टि हुई

जो अलग-अलग एक-एक महाकाव्यकी चरित्र-नायकता करनेमें समर्थ हैं; किंतु सभी चरित्रोंका महाकेन्द्र श्रीरामका चरित्र है। वस्तुतः रामचरितमानस जिस उदात्त और महान् भूमिकापर प्रतिष्ठित किया गया है वह विश्व-काव्यके लिये सुदुर्लभ है।

असीम त्याग, कर्तव्यभावना और श्रीरामके प्रति अगाध प्रेमसे भरे हुए भरतके चरित्रकी कल्पना भी कठिन है। बन्धुत्व और स्वकर्तव्य-पालनका ही साकार रूप तथा निःस्वार्थ सेवासे जुड़ा लक्ष्मणका महान् चरित्र एक दूसरेके सुखके लिये, एक दूसरेकी इच्छाओंके लिये, पूर्णरूपसे समर्पित सर्वोच्च आनन्दका आधार भारतीय संस्कृतिकी और चरित्रकी अन्तिम परिणति है। विश्वके इतिहास और साहित्यमें ऐसे चरित्रकी कल्पना भी दुर्लभ है।

जगत्में इस देशको प्राप्त गुरुके सम्मानको यद्यपि लोगोंने भले ही खो दिया हो, किंतु इस सम्मानको विश्वमें आज भी रामचरितमानस सुरक्षित रखे हुए है। अनीबारान्दी सोवियत रूसके प्राच्य-संस्थानसे यूरीस्केस्कोव-द्वारा रचित 'गोस्वामी तुलसीदास' कृतिका प्रकाशन किया गया है। सोवियत पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी तथा दूरदर्शनपर भी मानसके बारेमें विशेष रूपक इसलिये प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे सोवियत जनतामें चरित्रका अभ्युदय हो। रामचरितमानसकी उपयोगिताको ध्यानमें रखकर ही उसका अनेक विदेशी भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है। प्रख्यात रूसी विद्वान् श्रीबारान्निकोवने रूसी भाषामें अनुवादकर रूसी लोगोंका कल्याण किया और चरित्र-ग्रहण करनेके लिये मार्ग भी प्रशस्त किया। मारीशस, नेपाल, थाईलैण्ड, ब्रिटेन एवं दक्षिणी अमेरिकाके सूरिनाम आदि अनेक देशोंमें रामचरितमानसके अनेक भव्य आयोजन बड़े ही धूम-धामसे सम्पन्न किये जाते हैं। मास्को, लेनिनग्राद तथा ताशकन्द आदि स्थानोंके प्राच्य अध्ययन-केन्द्रोंमें गोष्ठियोंका आयोजन कर गोस्वामी तुलसीदास और मानसके महत्त्वपर प्रकाश डाला जाता है।

समाजके सच्चे मार्गदर्शक संत तुलसीदासने लोकहितके निमित्त जनसमुदायके सामने रामचरितमानसके रूपमें ऐसा आदर्श रखा, जिसमें सांस्कृतिक जागरणके बीज भरे हैं। उसकी नयी चेतनाके स्फुरणकी उपयोगिता आज भी पूर्ववत् बनी है। विदेशोंमें रहनेवाले प्रवासी भारतीय रामचरितमानससे प्राप्त चरित्रके कारण ही भारत और भारतीय संस्कृतिसे निरन्तर जुड़े हुए हैं।

रामस्नेहियोंकी सच्चरित्र-शिक्षा

(लेखक—श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायाचार्य श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री)

कलियुगके प्रवेश हुए हजारों वर्ष हो गये, किंतु अब हमारे सामने उसका रूप वर्तमान लोगोंके आचार-विचारमें अधिकाधिक स्पष्ट हो सका है। देखनेसे लगता है कि मनुष्य जो कुछ किया करता है, वही उसका अपना कर्तव्य है। वस्तुतः वह कर्तव्यबोधसे दूर होता जा रहा है। यद्यपि वह अपनी इस मनमानी करनीका दुष्परिणाम जब-तब स्वयं तो भोगता ही है और दूसरोंको भी उसका अनुभव करा देता है, तथापि आँखें मूँदनेके समान सभी दिखावटी और उसका ध्यान नहीं जाता, यह एक महान् आश्चर्य तथा चिन्ताकी बात है। तथ्य तो यह है कि जबतक हम स्वयंको और अपने आचरणको न देखेंगे, तबतक हम कितना भी प्रयास क्यों न करें, सुख, शान्ति, समृद्धि, सद्गति तथा भगवत्तत्त्वसे कोसों दूर रहेंगे। ऐसे लोगोंको मार्गदर्शन करानेके लिये पुराण, उपनिषद्, भागवत, महाभारत, गीता, रामायण आदि अनेक आर्ष ग्रन्थ तथा अनन्त ऋषि, मुनि, आचार्य और संत-महात्मा सदासे चरित्रवान् बनकर 'आत्म-कल्याण' करनेकी शिक्षा दे रहे हैं।

इनके उपदेशोंको हृदयमें धारण करनेवाला महान् भाग्यशाली बन जाता है। बिना इसके हानि-ही-हानि है।

रामस्नेहाचार्यों एवं संतोंने मानवको चरित्रवान् बनानेके लिये अति सुन्दर, सरल तथा हितकर शिक्षा देकर बहुत-से लोगोंको दुर्व्यसनों और दुराचारोंसे बचाया है। वैसे तो रामस्नेहीकी प्रत्येक क्रिया ही सच्चरित्रमय है, किंतु मुख्यतया इसके जो सैद्धान्तिक विचार हैं, उन्हें संक्षेप तथा सारस्वरूपमें यहाँ दिया जा रहा है।

१-रामस्नेही बनें—परात्पर ब्रह्म 'राम'से जो स्नेह (प्रेम) रखता है, वह रामस्नेही है। रामस्नेहीको राम, गुरु एवं संतोंके सत्सङ्गमें ही परम विश्राम मिलता है। वह केवल राममें ही तल्लीन इसलिये रहता है कि उसे उसीमें परम आरामका अनुभव होता है।

रामसनेही जब लगे नामा, हरि गुरु साधु संगति विश्रामा।
रामसनेही रहता राम, रामधाम पावे आराम।

ऐसे राम-स्नेहकी ओर निरंतर लगे रहनेसे और लगाते रहनेसे रामस्नेही 'रामस्नेही' कहलाते हैं। अतः हमें भी अवश्यमेव रामस्नेही बनना चाहिये।

२-साधु (चरित्रवान्) बनें—समाजमें जिसे चरित्रवान् तथा जिसे चरित्रहीन कहा जाता है, संत उसे अपनी सौम्य भाषामें साधु और असाधु कहते हैं। इसीलिये संतोंके उपदेशोंमें वर्णित साधु तथा असाधुके प्रसङ्गमें चरित्रवान् एवं चरित्रहीनके आचरणोंका वर्णन मिलता है। हमें भी इन्हें देखकर चरित्रवान् बनना चाहिये।

(क) साधु—

ज्ञान गरीबी धारणा, मन सब सूँ निर्दोष।
सील सच सन्तोषता, सरधा सिंवरण सोच ॥ १ ॥
साधु साधना राम की, उर अन्तर सुख चैन।
हितकारी सब का सजन, रामा ज्ञान विवेक ॥ २ ॥

(ख) असाधु—

अन्तर में तृष्णा घणी, सूझे नीचा होय।
कपट धार साधु हुआ, ताहि न चीन्हे कोय ॥ १ ॥

३-त्याज्य अवगुण छोड़ें—

त्यागिए कुल कपट अहंकृत, त्याग कुसंग सुनो सब लोभा।
त्यागिए नारि पराइ, तजो परद्रोह अन्याय जगत की शोभा ॥

४-भाव्य सद्गुण धारण करें—

करिए गुरुदेव प्रणाम सदा, अरु मात पिताय संध्या नित ही।
करिए सत्कर्म विचार क्रिया, करिए शुभचिन्तन मैं चित ही ॥

५-नामजप (सिंवरण) करें—

सिंवरण मारग सन्त का, तातें भरम नसाय।
हरिरामा हरि बन्दगी, करिहूँ चित्त लगाय ॥

६-ज्ञानमय क्रिया हो—

ज्ञान बिना किरिया न शुद्धि, ना किरिया बिन ज्ञान।
हरिया किरिया ज्ञान मिल, सो ही आतम ध्यान ॥

७-एक इष्ट और आधार हो—

राम इष्ट आधार इक, राम आश विश्वास।
राम भरोसे रम रह्या, निर्भय रामादास ॥

८-विचारमय क्रियाएँ हों—

बैठिये विचार कर उठिये विचार कर,
बोलिये विचार कर ज्ञान गुरु मानिये।
सोइये विचार कर सोइये विचार कर,
देखिये विचार कर समझमें आनिये ॥
पैरिये विचार कर चैरिये विचार कर,
खाइये विचार कर पाइये प्रमानिये।
गाइये विचार कर ध्याइये विचार कर,
राम राम साच मुख वचन बखानिये ॥

९-कथनी और करनी एक हो—

कथनी तो बहुती कथे, रहणी रंच न काय।
रामदास रहणी बिना, कैसे मिले सुराय ॥

१०-सप्त व्यसनमुक्त हों—जिन व्यसनोंके सेवनसे मनुष्यके शरीर, सम्पत्ति, शक्ति, समय, सम्मान, आयुष्य आदि व्यर्थमें नष्ट होते हैं तथा जो मनुष्यको मनुष्यता-से नीचे गिरा देनेवाले हैं, ऐसे द्यूत आदि सप्त व्यसनोंको त्याग देना चाहिये—

सप्त व्यसन जिन के हृदय, सो नर नीच कहाय।
द्यूत तथा आमिष सुरा, आखेटक दुखदाय ॥
चोरी परनारी रता, रामा निश्चय सोय।
अस्त्र रीत अकरना, आप व्याप दुख होय ॥

जिस प्रकार दुर्जनोंके सङ्गसे उपर्युक्त सात व्यसन-रूप सात सोपान मिले हैं, उसी प्रकार संतोंके सङ्गसे शम, दम, दया आदि कल्याणकारी सात सीढ़ियाँ भी मानवको प्राप्त हैं। जरूरत है, मात्र उधर ध्यान देनेकी—

> गिरिये कुंभी पाक में, सात व्यसन सोपान।
> सिमरेणी शम दम दया, सत्सङ्ग तप तब दान॥

११–सत्सङ्गका आश्रय लें—जैसा सङ्ग वैसा रंगके अनुसार मनुष्यमें ज्ञान-(ज्ञानी और चरित्रवान्-) के सङ्गसे सच्चरित्रकी तथा अज्ञान-(दुर्जन-) के सङ्गसे दुराचारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये सदाचारीको सदा विचारपूर्वक कुसङ्गसे बचे रहकर सत्सङ्गका सेवन सदैव करते रहना चाहिये। सत्सङ्गकी संतोंने तथा ग्रन्थोंने मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है—

> सत्संग जो कोइ करे, सरे सकल ही काम।
> और काम की कुण चली, मिले निरंजन राम॥

इस प्रकार महापुरुषोंके इन विचारोंको गहराईसे देखने, उसपर आचरण करनेसे हममें निरंतर आध्यात्मिक बल, चरित्र-निर्माणकी शक्ति आदि गुण बढ़ेंगे। एक सच्चरित्रवान् व्यक्ति इहलोकमें सुयश, सुख, शान्ति, समृद्धि, सद्गति एवं भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति तो कर ही लेता है, साथ ही वह अपने अनुकरणीय सच्चरित्रके द्वारा परिवार, समाज, गाँव, प्रदेश, देश तथा विश्वका भी महान् हित कर सकता है।

चरित्र-निर्माण छोटी-छोटी बातोंसे भी होता है

(लेखक—श्रीगिरधरशंकरजी राम 'गिरिजेश')

चरित्रके बिना व्यक्तिका अस्तित्व अधूरा है। चरित्र है तो सब कुछ है, चरित्र चला गया तो सब कुछ चला गया। खोया हुआ धन, स्वास्थ्य, यश सब कुछ पाया जा सकता है, पर चरित्रपर यदि धब्बा लग गया तो वह कभी नहीं मिटता। इसीलिये कुसंगतिसे बचना चाहिये। कुसंगतिमें एक बार यदि कोई फँस गया तो जीवनभर पछताना पड़ता है। कुसंगति काजलकी कोठरी है। कहा भी गया है—

> काजल की कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय,
> एक पे न एक लीक लागपर लागिहै।

मदिराकी दूकानपर दूध भी अपनी पवित्रता खो बैठता है तथा दूधको भी लोग मदिरा समझने लगते हैं और दूधका संग पाकर पानी भी दूधके भाव बिकता है। यह सत्सङ्गका प्रभाव है। गेहूँकी संगतिमें पड़कर घुन चक्कीमें पीसा जाता है और फूलकी सुसंगतिमें छोटा कीड़ा देवके मस्तकपर जा विराजता है। कुसङ्ग और कुसङ्गपर प्रायः सभी विद्वानोंने इतना लिखा है कि इस दिशामें इतना संकेत पर्याप्त है।

चरित्र-निर्माणके संदर्भमें यदि छोटी-छोटी बातोंको ध्यानमें रखा जाय तो वे छोटी बातें ही एक सशक्त चरित्रका व्यक्ति बना देती हैं। असत्य-भाषण, परस्त्रीगमन, चोरी, बुरे लोगोंकी संगति, बेईमानी आदि दुर्गुण छोटी-छोटी बातोंसे जनमते हैं और बादमें एक बड़ा रूप धारण कर लेते हैं, जो आदतोंमें शामिल हो जाते हैं। अनेक लोग ऐसे मिलते हैं, जो बात-बातमें शपथ खाते हैं। कसम या शपथ लेना कितनी बड़ी बात है; किंतु उन सज्जनोंके लिये यह तकिया कलाम बन गया है।

मेरे एक मित्र हैं। उनके परिवारमें उनकी पत्नी और दो बच्चे हैं। बच्चे आठ-दस वर्षके होंगे। कभी-कभी मैं उनसे मिलने जाया करता हूँ। एक दिन मैं उनसे मिलने पहुँचा। द्वारपर घण्टी लगी थी। मैंने उसे दबाया।

एक बच्चा दौड़ा आया। संयोगसे वह बच्चा मुझे पहचानता न था। मैंने उससे अपने मित्रके बारेमें पूछा कि वे घरमें हैं? बच्चेने तुरंत उत्तर दिया—'पापा! मुझसे बाहर निकले हैं।' 'कब आयेंगे?' मैं कह नहीं सकता। आपका नाम क्या है?' मैंने अपना नाम बता दिया तथा मुड़कर चल पड़ा। थोड़ी दूर आगे बढ़ा होऊँगा कि मित्रका बालक दौड़ता आया और मुझे आवाज देकर रोका। मेरे रुक जानेपर बच्चेने बताया कि मेरे मित्रने मुझे बुलाया है। मेरे यह पूछनेपर कि तुम तो यह कह रहे थे कि पिताजी घरपर नहीं हैं, फिर वे कहाँसे आ गये? बालक कुछ लज्जित-सा होता हुआ बोला—'बात यह थी कि पिताजीने ही ऐसा कहनेके लिये कहा था।'

घरके अन्दर जाते ही मैंने मित्रसे शिकायत की भाई, बच्चेको झूठ बोलना सिखानेसे क्या लाभ होगा। यदि तुम आवश्यक कार्यमें व्यस्त हो तो यही कहला देते। इसमें कोई शिष्टाचारकी बात नहीं है। पर इस प्रकारकी आदत बच्चोंमें डालनेसे हम अनजानेमें उसे मिथ्या भाषणके लिये प्रेरित करते हैं।' मित्रने अपनी गलती स्वीकार की और आजतक उन्होंने उसे कभी नहीं दुहराया।

इसी प्रकारकी अनेक छोटी-छोटी बातें हैं जिन्हें हम अपने बच्चोंके मनमें अनजानेमें बैठा देते हैं। ये ही बातें बच्चोंके कोमल मस्तिष्कमें जाकर बैठ जाती हैं और कालान्तरमें उनकी वैसी आदत बन जाती है।

बचपनमें पढ़ी वह माधोकी कहानी सभीको याद होगी। विद्यालयसे छोटी-छोटी वस्तुएँ चुराकर लाता था। उसकी माँ इसपर कभी आपत्ति न करती। धीरे-धीरे बालक चोर बना, फिर वह चोरी करते पकड़ा गया और फाँसीकी सजा हुई। फाँसीके पूर्व उसने अपनी माँसे मिलनेकी इच्छा व्यक्त की। माँ जब निकट आयी तो उसके कानमें बात कहनेका बहाना बनाया। माँने जब कान माधोके निकट किया तो उसने दाँतसे यह कहते हुए काट लिया कि यदि तूने मुझे बचपनमें रोका होता तो आज यह गति न होती। माताने बालकको शिक्षा न दी तो बालकने माँको शिक्षा दे दी। माताएँ कहानीसे सीख लें।

क्या हमने कभी यह सोचा है कि हम अपने बच्चोंको माधो बननेकी तो प्रेरणा नहीं दे रहे हैं? छोटी बातोंको छोटी उमरमें नहीं रोका गया तो उमरके साथ वे बढ़ती हैं। फिर यह रोग असाध्य हो जाता है।

बचपनमें पण्डित जवाहरलाल नेहरूने अपने पिताकी मेजपरसे बिना पूछे एक कलम उठा ली। पण्डित मोतीलाल नेहरूने इस बातके लिये उन्हें बुरी तरह प्रताड़ित किया। नेहरूजीने लिखा है कि उस घटनाके बाद मुझे फिर किसीका सामान बिना पूछे छूनेकी हिम्मत न पड़ी। ऐसी ही सीखने उन्हें देशके प्रधानमंत्रीके पदतक पहुँचा दिया।

चरित्रकी इमारतके निर्माणकी नींव बचपनमें ही डाली जानी चाहिये। तभी चरित्रका सही स्वरूप उभरता है। महात्मा गाँधीके जीवनपर सत्यप्रेमी राजा हरिश्चन्द्र और श्रवणकुमार नाटकोंका गम्भीर प्रभाव पड़ा था। कुमार्गपर भूलकर भी पैर नहीं रखना चाहिये। सच्चरित्रताकी लीकसे हटते ही त्रैलोक्यविजयी रावणकी दशा कुत्ते-जैसे हो गयी। गोस्वामीजीने लिखा है—

> जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
> सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
> इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥
> (मानस ३।२८।४, ५)

गोस्वामीजीका 'मानस' वस्तुतः चरित्रका दर्पण है। इसीलिये उसका नाम-

आज चरित्र-निर्माण हमारी इस भौतिक प्रगतिके युगमें गौण हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि समाजमें अनेक विकृतियाँ आ गयी हैं। चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण आदिका बोल-बाला हो गया है। आज सभी यह समझने लगे हैं कि चरित्र-निर्माणके बिना समाजमें शान्ति और सद्भाव नहीं उत्पन्न किया जा सकता। चरित्रके अभावमें सारी भौतिक प्रगति व्यर्थ हो गयी है। चारित्रिक पतनने ईश्वरसे दूर कर दिया है। बिना उसे ठीक किये परम पिता परमेश्वर हमें नहीं अपनायेगा। चरित्रकी सम्पत्ति अर्जित कीजिये, भौतिक सम्पत्ति काम नहीं आयेगी। चारित्रिक बल ही दैव बल है जिसकी सदा विजय होती है।

भक्तराज प्रह्लाद

भक्तराज प्रह्लादके पिताका नाम दैत्यराज हिरण्यकशिपु तथा माताका नाम कयाधू था। पृथ्वीका रसातलसे उद्धार करते समय प्रबल बाधक हिरण्याक्ष (हिरण्यकशिपुके भाई)को भगवान्ने मार डाला था। अतः भाईका बदला लेनेके लिये हिरण्यकशिपु भगवान्पर क्रुद्ध हो गया था। उसने भगवान्का नाम लेना भी अपने राज्यमें मना करा दिया था। वह सभी भगवद्भक्तों, ब्राह्मणों, गायों, साधुओं, वेद तथा धर्मका भी घोर शत्रु हो गया था। जब वह तपस्या कर रहा था और प्रह्लाद माताके गर्भमें थे तभी देवर्षि नारदने गर्भस्थ प्रह्लादको भागवद्भक्तिका ऐसा उपदेश दे दिया कि मातृगर्भमें ही प्रह्लाद सच्चे भगवद्भक्त बन गये और आजीवन भगवद्भक्त रहे। प्रह्लाद जन्मसे ही विनम्र, शान्त, धर्मात्मा और भगवान्के अनन्य भक्त हो गये। उनका मन निरन्तर भगवान्के ही ध्यानमें मग्न रहता था। भगवान्का ध्यानमें दर्शन कर हँसने लगते और गुणगान कर नाचने लगते थे। गर्भस्थ शिशुपर जो चारित्रिक संस्कार पड़ा था वह अमिट था।

हिरण्यकशिपु प्रह्लादसे बड़ा स्नेह करता था। अतः जबतक प्रह्लाद बहुत छोटे थे, हिरण्यकशिपुने इनकी चेष्टाओंकी ओर ध्यान न दिया। पर जब प्रह्लाद पाँच वर्षके हो गये तो अपने गुरु शुक्राचार्यके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास पढ़नेके लिये भेज दिये गये। प्रह्लाद अन्य असुर-बालकोंके साथ गुरुजीका पढ़ाया पाठ पढ़ लेते, याद कर सुना भी देते। पर उसमें उनका मन लगता नहीं था; क्योंकि उसमें अपने-परायेका असद् आग्रह जो था। एक बार हिरण्यकशिपुने पुत्रको गोदमें लेकर पुचकारते हुए पूछा—बेटे! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे कोई अच्छी बात मुझे भी सुनाओ। प्रह्लादने कहा—

> तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
> सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
> हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
> वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥
> (भाग० ७।५।५)

'पिताजी! संसारके जीव झूठे आग्रहमें पड़कर सदा अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। उनके लिये मैं यही अच्छा समझता हूँ कि वे अपने अधःपतनके मूलकारण इस गृहको, जो घास-फूससे ढके अन्धकूपके समान है, छोड़कर वनमें चले जायँ और श्रीहरिका आश्रय लें।'

प्रह्लादकी बात सुनकर हिरण्यकशिपुने समझा कि किसी शत्रुने मेरे पुत्रको बहका दिया है। उसने गुरुपुत्रोंको बुलाकर सचेत किया कि वे प्रह्लादको सुधारें तथा दैत्यकुलके अनुरूप धर्म, अर्थ एवं कामकी शिक्षा दें। गुरुपुत्रोंने प्रह्लादको घर ले आकर पूछा कि तुम्हें यह विपरीत ज्ञान किसने दिया है? प्रह्लादने कहा कि अपने-परायेका भेद अज्ञान है। भगवान्की इस मायासे जीव मोहित हो रहे हैं। जिसपर वे दया करते

असुर-बालकोंको सच्चरित्रका उपदेश देते हुए प्रह्लाद

आज चरित्र-निर्माण हमारी इस भौतिक प्रगतिके युगमें गौण हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि समाजमें अनेक विकृतियाँ आ गयी हैं। चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण आदिका बोल-बाला हो गया है। आज सभी यह समझने लगे हैं कि चरित्र-निर्माणके बिना समाजमें शान्ति और सद्भाव नहीं उत्पन्न किया जा सकता। चरित्रके अभावमें सारी भौतिक प्रगति व्यर्थ हो गयी है। चारित्रिक पतनने ईश्वरसे दूर कर दिया है। बिना उसे ठीक किये परम पिता परमेश्वर हमें नहीं अपनायेगा। चरित्रकी सम्पत्ति अर्जित कीजिये, भौतिक सम्पत्ति काम नहीं आयेगी। चारित्रिक बल ही देव बल है जिसकी सदा विजय होती है।

भक्तराज प्रह्लाद

भक्तराज प्रह्लादके पिताका नाम दैत्यराज हिरण्यकशिपु तथा माताका नाम कयाधू था। पृथ्वीका रसातलसे उद्धार करते समय प्रबल बाधक हिरण्याक्ष (हिरण्यकशिपुके भाई) को भगवान्ने मार डाला था। अतः भाईका बदला लेनेके लिये हिरण्यकशिपु भगवान्पर क्रुद्ध हो गया था। उसने भगवान्का नाम लेना भी अपने राज्यमें मना करा दिया था। वह सभी भगवद्भक्तों, ब्राह्मणों, गायों, साधुओं, वेद तथा धर्मका भी घोर शत्रु हो गया था। जब वह तपस्या कर रहा था और प्रह्लाद माताके गर्भमें थे तभी देवर्षि नारदने गर्भस्थ प्रह्लादको भागवद्भक्तिका ऐसा उपदेश दे दिया कि मातृगर्भमें ही प्रह्लाद सच्चे भगवद्भक्त बन गये और आजीवन भागवद्भक्त रहे। प्रह्लाद जन्मसे ही विनम्र, शान्त, धर्मात्मा और भगवान्के अनन्य भक्त हो गये। उनका मन निरन्तर भगवान्के ही ध्यानमें मग्न रहता था। भगवान्का ध्यानमें दर्शन कर हँसने लगते और गुणगान कर नाचने लगते थे। गर्भस्थ शिशुपर जो चारित्रिक संस्कार पड़ा था वह अमिट था।

हिरण्यकशिपु प्रह्लादसे बड़ा स्नेह करता था। अतः जबतक प्रह्लाद बहुत छोटे थे, हिरण्यकशिपुने इनकी चेष्टाओंकी ओर ध्यान न दिया। पर जब प्रह्लाद पाँच वर्षके हो गये तो अपने गुरु शुक्राचार्यके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास पढ़नेके लिये भेज दिये गये। प्रह्लाद अन्य असुर-बालकोंके साथ गुरुजीका पढ़ाया पाठ पढ़ लेते, याद कर सुना भी देते। पर उसमें उनका मन लगता नहीं था, क्योंकि उसमें अपने-परायेका असद् भाव जो था। एक बार हिरण्यकशिपुने पुत्रको गोदमें लेकर पुचकारते हुए पूछा—बेटे! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे कोई अच्छी बात मुझे भी सुनाओ। प्रह्लादने कहा—

> तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
> सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
> हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
> वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥
> (भाग० ७।५।५)

'पिताजी! संसारके जीव झूठे आग्रहमें पड़कर सदा अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। उनके लिये मैं यही अच्छा समझता हूँ कि वे अपने अधःपतनके मूलकारण इस गृहको, जो घास-फूससे ढके अन्धकूपके समान है, छोड़कर वनमें चले जायँ और श्रीहरिका आश्रय लें।'

प्रह्लादकी बात सुनकर हिरण्यकशिपुने समझा कि किसी शत्रुने मेरे पुत्रको बहका दिया है। उसने गुरुपुत्रोंको बुलाकर सचेत किया कि वे प्रह्लादको सुधारें तथा दैत्यकुलके अनुरूप धर्म, अर्थ एवं कामकी शिक्षा दें। गुरुपुत्रोंने प्रह्लादको घर ले जाकर पूछा कि तुम्हें यह विपरीत ज्ञान किसने दिया है? प्रह्लादने कहा कि अपने-परायेका भेद अज्ञान है। भगवान्की इस मायासे जीव मोहित हो रहे हैं। जिसपर वे दया करते

असुर-बालकोंको अध्यात्मका उपदेश देते हुए प्रह्लाद

है, उसीका चित्त उनमें रमता है। मेरा मन तो उन्हींकी परमकृपासे उनकी ओर सहज खिंच गया है।

गुरुपुत्रोंने प्रह्लादको बहुत डाँटा-धमकाया और उन्हें अर्थशास्त्र-राजनीति आदिकी शिक्षा देना प्रारम्भ किया। प्रह्लाद गुरुका सम्मान, आदर करते थे। उन्होंने गुरुकी शिक्षा ध्यानसे सुनी-सीखी। पर उसके प्रति उनका विश्वास नहीं था। पुनः हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बिठाकर पूछा—बेटे! सबसे उत्तम ज्ञान क्या मानते हो? प्रह्लाद बोला—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(भाग० ७। ५। २३-२४)

'भगवान्‌के नाम-रूप-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी चरणसेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दासता, सख्य, आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति यदि भगवान्‌में समर्पितभावसे की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन मानता हूँ।' प्रह्लादकी बात सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोधमें अन्धा हो गया। उसने गुरुपुत्रोंको डाँटा कि तुमलोगोंने मेरे पुत्रको उल्टी शिक्षा देकर शत्रुका व्यवहार किया है। गुरुपुत्रोंने कहा—इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। तत्पश्चात् प्रह्लादने कहा—इसमें गुरुपुत्रोंका दोष नहीं है, आप रुष्ट न हों; जो गृहासक्त या विषयासक्त है उसकी बुद्धि स्वतः या अन्य किसीकी प्रेरणासे भगवान्‌में नहीं लगती। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग नहीं बता सकता, उसी प्रकार सांसारिक सुखोपभोगमें अनुरक्त लोग जो भगवान्‌के स्वरूपको जानते ही नहीं, वे भला दूसरोंको क्या मार्ग दिखा सकते हैं?

पाँच वर्षके बालककी इस प्रकारकी उपदेशात्मक बात सुनकर वह क्रोधमें पागल हो गया। उसने पुत्रको गोदसे उठाकर भूमिपर पटक दिया। दैत्योंसे कहा—इसे मार डालो। वे दैत्य अस्त्र-शस्त्र लेकर अमोघ हरिभक्त बालकपर टूट पड़े। पर उनके अस्त्र-शस्त्रके प्रहार वैसे ही निष्फल रहे जैसे भाग्यहीनके उद्योग-धन्धे निष्फल होते हैं। अब हिरण्यकशिपु सशङ्क हो उठा। उसने प्रह्लादके नाशके लिये उसे हाथियोंसे कुचलवाया, साँपोंसे डँसाया, पहाड़ोंसे नीचे ढकेला, विषपान कराया, भूखा रखा, बर्फमें दबाया, समुद्रमें डुबाया और आगमें जलाया; पर भक्त प्रह्लादका बाल भी बाँका न हुआ। ठीक ही है—

सीस कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

अब प्रह्लादसे शङ्कित भयभीत स्वयं हिरण्यकशिपुको अपने बचावकी चिन्ता हुई। उसका मुख लटक गया। तब गुरुपुत्रोंके समझानेपर वरुणपाशमें प्रह्लादको बाँधकर फिर आश्रममें शिक्षाके लिये भेज दिया कि गुरु शुक्राचार्यके आनेपर उनकी शिक्षासे शायद इसकी बुद्धि ठीक हो जाय। आश्रममें शिक्षा पूर्ववत् चलती रही। जब गुरुपुत्र किसी कार्यमें लग जाते, तब प्रह्लाद अपने प्रिय साथियों, सहपाठी छात्रोंको अपने पास बुला लेते थे। वे बालक अपने प्रिय साथी प्रह्लादसे बड़ा स्नेह करते थे। प्रह्लाद भी अपनी शिक्षा आरम्भ करते हुए उनसे कहते—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत्॥
(भाग० ७। ६। १-२)

'भाइयो! मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, इसी मनुष्य-शरीरसे ही अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, पर मानव-शरीर स्वयं क्षणभंगुर है, इसलिये जवानी या बुढ़ापेका भरोसा छोड़कर बचपनमें ही (अभीसे) भागवतप्राप्तिके साधनोंका अनुष्ठान कर लेना चाहिये। इस जन्ममें भगवान्‌के चरणोंकी शरणागति ही जीवनकी एकमात्र

सफलता है; क्योंकि भगवान् ही समस्त जीवोंके स्वामी, सुहृद् प्रियतम एवं आत्मा हैं। संसारका बन्धन नरकमें ले जाता है। भगवत्प्राप्तिमें कोई अधिक श्रम भी नहीं है। वे तो हम सबके हृदयमें रहते हैं। सभी प्राणियोंमें भगवान् हैं, अतः किसीको कष्ट नहीं देना चाहिये, मन भगवान्में ही लगाये रखना चाहिये।

सभी बालकोंने प्रिय साथी प्रह्लादकी शिक्षा ग्रहण कर ली, गुरुपुत्रोंकी शिक्षा जहाँकी तहाँ धरी रह गयी। गुरुपुत्रोंने अपनी असफलता देख क्रुद्ध हो प्रह्लादको ले जाकर हिरण्यकश्यपुके समक्ष खड़ा कर दिया और सारी बात कह सुनायी। सुनते ही क्रुद्ध हो हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको अपने हाथसे मारनेका संकल्प ले उनसे पूछा—'बोल, तेरा रक्षक कहाँ है?' प्रह्लादने शान्त भावसे कहा—'सर्वत्र'। हिरण्यकश्यपु गरजा—'क्या इस खम्भेमें भी है?' प्रह्लादने आत्मविश्वाससे कहा—'हाँ'। बस क्या था। क्रोधमें अंधा हो दैत्यराजने खम्भेपर अपने घूँसेका प्रहार किया। अरे यह क्या? भयंकर सिंहनादके साथ नृसिंह भगवान्ने प्रकट होकर उस राक्षस हिरण्यकश्यपुको उठा लिया और अपने नुकीले पंजोंसे उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया। पुष्पवर्षाके साथ देवगण भगवान्की स्तुति करने लगे। भगवान्ने जब प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा तब इन्होंने यही माँगा कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित न हो। दूसरा वरदान माँगा—मेरे पिताने आपकी वास्तविकताको न जानकर जो निन्दा की, मुझसे द्रोह किया, उनके समस्त पाप नष्ट हो जायँ, वे शुद्ध हो जायँ। यह था बालक प्रह्लादका उदार चरित्र।

परोपकाराग्रणी अगस्त्य

वेद-पुराण एवं निबन्धग्रन्थोंमें 'अगस्त्यार्घ्य-व्रत' बहुत प्रसिद्ध है। अगस्त्य ऋग्वेदके अनेक सूक्तोंके द्रष्टा हैं। इनके निर्मित ग्रन्थ भी अनेक हैं। महर्षि अगस्त्य बड़े परोपकारी एवं जनहितकारी महात्मा रहे हैं। वे अपने तपोबलसे सबका कष्ट दूर करते थे तथा दुर्जनोंका विनाश भी करते थे। अनेक सूक्तोंकी द्रष्टी तथा श्रीविद्याकी आचार्या उनकी पत्नी लोपामुद्रा पतिव्रतामें परमाग्रणी थीं।

अगस्त्यके समयमें इल्वल (आतापी) और विल्वल (वातापी) नामक दो दैत्योंने महा-उपद्रव मचा रखा था। वे दोनों ऋषियोंको अपने यहाँ भोजनपर निमन्त्रित करते थे। वातापी स्वयं मायासे उनका भोजन (आहार) बन जाता था। भोजन कर चुकनेपर आतापी उसे पुकारता था। तब वातापी अपने स्वरूपमें प्रकट हो उन ऋषियोंका पेट फाड़कर बाहर आ जाता था। इस प्रकार वे ऋषि मर जाते थे और आतापी-वातापी उनका मांस भक्षण करते थे। इनके इस छल-प्रपञ्चसे ऋषि-विप्रोंका भयंकर संहार हो रहा था। दयालु अगस्त्य मुनिसे यह देखा न गया। वे स्वयं उनके अतिथि बने और वातापीको खाकर जठरानलमें पचा गये। जब आतापीके पुकारनेपर वातापी नहीं निकला तब वास्तविकताको जानकर आतापी उन्हें मारने दौड़ा। इसपर परमतेजस्वी अगस्त्य मुनिने अपने क्रोधाग्नि-(नेत्रानल-) से उसे भी दग्धकर ऋषियोंका कष्ट दूर कर दिया।

जब इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरका वध हो गया, तब कालेय नामक दैत्योंने ऋषि-मुनियोंका संहार करना आरम्भ कर दिया। उनका आश्रय (गढ़) समुद्र था। दिनमें तो ये दैत्य समुद्रमें छिपे रहते, पर रात्रिमें निकल कर आश्रमोंमें ऋषि-मुनियोंपर टूट पड़ते और उन्हें मारकर खा जाते। हजारों ऋषि उनके ग्रास बन गये। तब देवताओंने उन राक्षसोंके विनाशके लिये अगस्त्यकी शरण ली। फिर क्या था, अगस्त्यजीने एक ही चिन्तनमें

इन्होंने समुद्रको पी लिया। अब दैत्य असहाय हो गये। देवता उनपर टूट पड़े। अधिकतर दैत्य मारे गये, शेष पातालमें भाग गये।

उन दिनों विन्ध्याचल पर्वत उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ इतना ऊँचा हो गया कि सूर्यके आने-जानेका मार्ग ही रुक गया। निराश सभी देवताओं तथा सूर्यने अगस्त्य ऋषिकी शरण ली। अगस्त्यजी स्वयं विन्ध्याचलके यहाँ उपस्थित हुए। अपने गुरु अगस्त्यको आया देख उसने ऋषिके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् (प्रणाम) किया। मुनिने उसकी पीठपर हाथ रखते हुए आशीर्वाद देकर कहा—पुत्र! मुझे तीर्थाटनके लिये दक्षिण जाना है। पर तुम्हारी ऊँचाई इतनी अधिक हो गयी है कि उसे लाँघकर जाना बड़ा कठिन है। अतः जबतक मैं दक्षिणकी तीर्थयात्रा न कर आऊँ, तबतक तुम ऐसे ही पड़े रहना। विन्ध्याचलने नम्रतापूर्वक गुरुका आदेश शिरोधार्य किया। वह आज भी वैसे ही लेटा हुआ अपने गुरु अगस्त्यके लौटनेकी प्रतीक्षा बड़े धैर्यके साथ कर रहा है। पर गुरुजी दक्षिण गये तो फिर कभी उधर लौटे ही नहीं। इसी कारण उनके 'अगस्त्य' नामकी सार्थकता है।

जब वृत्रासुरका वध करनेके कारण इन्द्रको ब्रह्महत्या लगनेसे रिक्त इन्द्रासनपर राजा नहुष बैठे, तब उन्हें भी अधिकार-मद हो गया और इन्द्रासनके साथ इन्द्राणीको भी अपने अधिकारमें करना चाहते थे। कामान्ध नहुष ऋषियोंकी उठायी पालकीमें बैठकर उतावलीमें इन्द्राणीसे मिलने चल पड़े। पर ऋषिगण तो ऋषि थे, कहार नहीं थे, अतः धीरे-धीरे जा रहे थे। यह देरी नहुषको असह्य हो उठी। उसने पैरसे ठोकर-संकेतसे एवं ऋषिसे डाँटते हुए कहा—'सर्प-सर्प' (जल्दी चलो, जल्दी चलो)। अगस्त्य मुनिसे यह अत्याचार नहीं देखा गया। उन्होंने तुरंत अन्यायी नहुषको शाप दे दिया; वह अजगर हो गया। इस तरह इन्द्राणीका सतीत्व बच गया और ऋषियोंके अपमानका फल नहुषको भोगना पड़ा। चरित्रसे गिरा मानवतासे भी गिर जाता है।

वनगमनके समय श्रीरामको एकमात्र अगस्त्य ऋषिही ऐसे मिले, जिन्होंने उन्हें राक्षसोंके नाशके लिये विविध अस्त्र-शस्त्र तथा उनके प्रयोगके मन्त्र भी दिये थे। मुनिने उन्हें सूर्योपस्थापनकी विधि भी बतायी। यही नहीं, लंकामें युद्धके समय उपस्थित होकर अगस्त्यने श्रीरामको आदित्यहृदयस्तोत्र बताया। उसके द्वारा शत्रु रावणका विनाश हुआ। उनके द्वारा निर्दिष्ट हुआ आदित्यहृदय-स्तोत्र आज भी भक्तोंके शत्रुओं—रोगोंका संहार करता है। इनकी रचित 'अगस्त्यसंहिता' मन्त्र-तन्त्र एवं उपासनाकी उत्तम पुस्तक है। वेदोंके बहुत-से मन्त्रोंके द्रष्टा अगस्त्यजी हैं। अगस्त्य मुनि सर्वप्रथम आर्य (ऋषि) थे, *जिन्होंने दक्षिण भारतमें आर्य-संस्कृति एवं आर्यसभ्यताका प्रचार-प्रसार किया तथा भारतमें रामके लिये दक्षिण जानेका मार्ग प्रशस्त किया।*

इस प्रकार अगस्त्य मुनिने अपने तपःप्रभावका सदुपयोग तत्कालीन आवश्यकतानुसार *'बहुजनहिताय—बहुजनसुखाय' तथा मर्यादा-धर्मकी रक्षाके लिये किया।* भारतको ऐसे उपकारशील ऋषियोंपर गर्व है।

चरित्र-प्रकाश

(रचयिता—डॉ० श्रीश्यामबिहारीजी मिश्र, एम्० एस्-सी०, पी-एच्० डी०)

है चरित्र वह गुण प्रबल, जो देता सुख शान्ति।
मानवका उत्थान कर, सदा बढ़ाता कान्ति॥
जैसे हीरा काटता, विविध कठिन पाषाण।
त्यों चरित्र हर दोष हर, करता नित कल्याण॥
जिस नर का निज पर नहीं, चल पाता है जोर।
ऐसा दुर्बल चरित्रयुत, जगमें नित कमजोर॥

विचलित होता है नहीं, नरका कभी चरित्र।
सुख-दुखमें यह सर्वदा, परम हितैषी मित्र॥
वस्त्र, वर्ण, सुन्दर वदन, धन-दौलत बेकार।
यदि चरित्र उत्तम नहीं एवं शुद्ध विचार॥
सच्चरित्रतासे सहज, होता सब [illegible]।
इसे प्रभावित कर नहीं, सके [illegible]

शरणागतवत्सल शिवि

पुरुवंशी नरेश शिवि उशीनर देशके राजा थे। वे बड़े दयालु-परोपकारी शरणागतवत्सल एवं धर्मात्मा राजा थे। इनके यहाँसे कोई क्षुधित, पीड़ित, अर्थी निराश नहीं लौटता था। इनकी सम्पत्ति परोपकारके लिये थी। इनका समय परहितचिन्तनके लिये था। इनकी शक्ति आर्तत्राणके लिये थी। ये अजातशत्रु थे। इनकी प्रजा सुखी-सन्तुष्ट थी। राजा शिवि निरन्तर भगवदाराधनमें लीन रहते थे। इनकी भगवान्‌से एकमात्र कामना थी कि मैं दुःखसे पीड़ित प्राणियोंकी पीड़ाका सदा निवारण करता रहूँ। किंतु 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥' की श्रेणीमें आनेवाले इन्द्रको राजा शिविके धर्म-कर्मसे अपने इन्द्रासन छिननेका भय हुआ। उन्होंने राजाकी परीक्षा लेने, हो सके तो इन्हें धर्मच्युत करनेके लिये अपने साथ अग्निदेवको लेकर मर्त्यलोकको प्रस्थान किया। इन्द्रने बाजका रूप धारण किया, अग्निने कबूतरका रूप बनाया। बाजने कबूतरका पीछा किया। बाजके भयसे त्रस्त-कम्पित कबूतर उड़ता हुआ आकर राजा शिविकी गोदमें गिर पड़ा और इनके वस्त्रोंमें छिप गया। राजाने उसे प्रेमसे पुचकारते हुए अभयदान दिया। इतनेमें उसका पीछा करता हुआ बाज आ पहुँचा। उसने कहा—'राजन्! मैं भूखा हूँ, यह कबूतर मेरा आहार है। आप इसे मुझे दे दीजिये और मुझ भूखेकी प्राण-रक्षा कीजिये।'

राजाने कहा—'बाज! यह कपोत आर्त होकर मेरी शरण आया है। मैंने इसे अभयदान दिया है। शरणागतकी रक्षा करना हमारा धर्म है। हम इसे किसी प्रकार तुमको नहीं दे सकते।'

बाजने कहा—'महाराज! जहाँ शरणागतकी रक्षा करना आपका धर्म है, वहीं किसीका आहार छीनना भी तो आपके लिये अधर्म है। यहाँ आपका धर्म है कि मुझ बुभुक्षितको आहार दें; अन्यथा मेरी हत्याका पाप तो आपको लगेगा ही। मेरे मर जानेसे मेरे स्त्री-बच्चे भी भूखों मर जायँगे; उनकी हत्याका भी पाप आपको लगेगा। अतः आप इतना अधिक पाप न करें और मेरा आहार मुझे देकर धर्मका पालन करें।'

राजाने कहा—'मैं शरणागतको तुम्हें कदापि नहीं दे सकता। आहारके लिये इसके स्थानपर जिसका और जितना मांस कहो, मैं तुम्हें देता हूँ। तुम भरपेट खा लो।'

बाज बोला—'मैं मांसाहारी हूँ। कबूतरका मांस या अन्य मांस मेरे लिये समान हैं। आप चाहें तो कबूतरके बराबर अपना मांस तराजूपर तौलकर मुझे दे सकते हैं। मुझे अधिककी आवश्यकता भी नहीं है।'

राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने कहा—'श्येनराज! यह आपने बड़ी कृपा की। आज इस नश्वर शरीरसे अविनाशी धर्मकी रक्षा हो रही है।'

राजधानीमें कोलाहल मच गया। आज राजा एक कपोतकी प्राणरक्षाके लिये अपने शरीरका मांस काटकर तुलापर तौलने जा रहे हैं—यह देखनेके लिये नगरकी सारी प्रजा एकत्रित हो गयी। राज-दरबारमें ही तुला मँगायी गयी। एक पलड़ेपर कबूतर रखा गया, दूसरेपर राजाने अपने शरीरसे मांस काटकर रखा। मांस कम पड़ा तो और काटकर रखा। वह भी कम पड़ गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर राजा अपने शरीरसे मांस काटकर रखते गये। पर कबूतरका पलड़ा सदा भारी रहा। वह जैसे राजाका मांस पाकर अधिकाधिक और भारी होता जा रहा था। सारी प्रजा साँस रोके, अश्रु बहाते यह दृश्य देख रही थी। पर राजाका मुखमण्डल उत्साहसे प्रफुल्लित हो रहा था। अन्तमें राजा स्वयं तराजू (पलड़े) पर बैठ गये। उसी समय आकाशमें

दुन्दुभियाँ बज उठीं। नभसे सुमनवृष्टि होने लगी। उपस्थित प्रजाजनने आनन्दके आँसू बहाते हुए शरणागतवत्सल महाराजका जयनाद किया। अन्तरिक्षमें प्रकाश व्याप्त हो गया। दोनो पक्षी अदृश्य हो गये। दो देवता इन्द्र और अग्नि सामने खड़े थे। सभी उन्हें आश्चर्यचकित हो देखने लगे।

इन्द्रने कहा—'महाराज! आपकी परीक्षाके लिये मैंने बाजका और इन अग्निदेवने कपोतका रूप धारण किया था। आप परीक्षामें सच्चे धर्मात्मा निकले। आप-जैसे परोपकारी जगत्की रक्षाके लिये ही जन्म लेते हैं। आप दिव्यरूप प्राप्त करें। चिरकालतक राज्य-सुख भोगें। अन्तमें आपको परमपद प्राप्त होगा।'

राजा शिबि अक्षत शरीर तराजूसे नीचे उतर आये। दोनों देवताओंकी स्तुतिके लिये उनके हाथ ऊपर उठे ही थे कि दोनों देवता अन्तर्हित हो गये। प्रजा धन्य-धन्य करती हुई अपने घर सिधारी।

महाराज शिबिने परोपकार-धर्मकी रक्षा की। अतः धर्मने राजाकी रक्षा की। राजाने धर्मपूर्वक बहुत दिनोंतक पृथ्वीका शासन किया और अन्तमें परमपदकी प्राप्ति की। ऐसे आदर्शचरित्र राजा अब कहाँ हैं! भारतके शासकों, राष्ट्रनायकोंके लिये यह आदर्श ग्राह्य है।

त्यागमूर्ति दधीचि

त्याग-तपकी मूर्ति, परमार्थ-परायण महर्षि दधीचि अथर्वा ऋषिके पुत्र एवं ब्रह्माजीके पौत्र थे। उनके आश्रममें बहुत-से ऋषि-मुनि निवास करते थे। महर्षि दधीचि बालब्रह्मचारी तथा जितेन्द्रिय थे। लोभ, भय उन्हें छूतक नहीं गया था। वे त्यागके साथ-साथ अन्यायका प्रतीकार करना भी जानते थे। देव-वैद्य अश्विनीकुमार ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण करना चाहते थे, पर वैद्य होनेके कारण देवराज इन्द्र उन्हें हीन तथा ब्रह्मविद्याके लिये अनधिकृत समझते थे। अतः उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो कोई भी अश्विनी-कुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा, उसका सिर मैं वज्रसे छिन्न कर दूँगा।' इन्द्रके भयसे कोई भी ऋषि-महर्षि उपदेश देनेको तैयार न हुए। तब अश्विनी-कुमारोंने महर्षि दधीचिकी शरण ली और ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेकी प्रार्थना की। दधीचिको यह अनुचित प्रतीत हुआ कि जिज्ञासु अधिकारी ब्रह्मविद्याके लिये प्रार्थना करता फिरे और उसे इन्द्रके भयसे कोई उपदेश न करे। उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। इन्द्रका प्रयत्न दधीचिके तेजके समक्ष निष्फल रहा।

महाबली वृत्रासुरके पराक्रमसे त्रैलोक्य भयभीत हो रहा था। त्रैलोक्य-रक्षार्थ समस्त देवोंके साथ इन्द्र सहसा उसपर टूट पड़े। पर उसने सबके शस्त्रास्त्र ही निगल लिये। भयभीत हो देवता इन्द्रके साथ विष्णुभगवान्‌की शरणमें गये। उनकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने प्रसन्न होकर इन्द्रको युक्ति बतायी। ऋषि-श्रेष्ठ दधीचिसे उनका शरीर जो विद्या, व्रत तथा तपके कारण अत्यन्त सुदृढ़ हो गया है, माँग लो। उनकी हड्डीसे विश्वकर्माद्वारा वज्र निर्माणकर उससे युद्ध करो। उससे वृत्रासुर मारा जायगा और तुम्हें विजय प्राप्त होगी।

इन्द्र वेष बदलकर (ब्राह्मण-वेषमें) दधीचिके पास डरते-डरते पहुँचे। किंतु दधीचिकी तेजस्वी आँखोंने उन्हें पहचान लिया। इन्द्र सहम गये। उन्होंने अपनेको प्रकट कर दिया। महर्षिने उनके इस छलपर उन्हें फटकारा। इन्द्र चुप हो गये, तब ऋषिको दया आ गयी। उन्होंने पूछा—'अच्छा बताओ, कैसे आये?' इन्द्रने अपनी विपत्ति कह, सुनायी और [illegible] लिये उनसे हड्डियाँ माँगीं।'

दयालु ऋषिने कहा कि यदि इस नश्वर शरीरसे परोपकार हो जाता है तो अत्युत्तम है। मैं स्वयं शरीर दान करता हूँ। इसके बाद ध्यानकर महर्षि दधीचि समाधिस्थ हो गये। उनके ब्रह्मलीन हो जानेपर जंगली गौओंने खुरदरी जीभसे उन्हें चाटना आरम्भ किया। चमड़ी उधड़ जानेपर इन्द्रने उनकी तपःपूत अस्थिसे विश्वकर्माद्वारा वज्रका निर्माण कराया तथा उसके द्वारा वृत्रासुरका वध किया। इनके शेष अस्थिभागसे अन्य महत्त्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्र बने, जिन्हें देवोंने ग्रहण कर लिया।

महर्षि दधीचिका यह अपूर्व त्याग धन्य है जो उन्होंने लोकोपकारके लिये अपना शरीर दान कर दिया। उचित ही कहा गया है—

'परोपकाराय सतां विभूतयः।'

तपोमूर्ति राजा भगीरथ

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'

गीताके इस वाक्यके अनुसार अनेक जन्मकी तपस्यासे मानव सिद्ध होकर सिद्धिको प्राप्तकर परमगतिको प्राप्त करता है। इसी प्रकार किसी एक व्यक्तिके द्वारा आरम्भ किये गये सत्कर्ममें यदि प्रयासमें सफलता उसीके समयमें नहीं मिलती तो उसके परवर्ती व्यक्तियों-(वंशजों-)के समयतक उक्त प्रयासमें सफलता अवश्य प्राप्त हो जाती है। गङ्गाजीको भूतलमें ले आनेका प्रयास महाराज सगरके पौत्र अंशुमानने आरम्भ किया, जो उनकी तीसरी पीढ़ीमें महाराज भगीरथद्वारा पूर्ण हुआ और भूतलको गङ्गाजलसे पुनीत करनेका श्रेय महाराज भगीरथको प्राप्त हुआ। उन्हींके नामपर आज गङ्गाजीको 'भागीरथी' कहते हैं।

महाराज भगीरथ इक्ष्वाकुवंशीय राजा सगरके प्रपौत्र एवं अंशुमानके पौत्र थे। इनके पूर्व सगरके साठ हजार पुत्र अश्वमेध यज्ञके घोड़ेके अन्वेषणके समय कपिलमुनिके शापसे भस्म हो गये थे। उनके उद्धारका एकमात्र उपाय उनके भस्मसे गङ्गाजलका स्पर्श होना था। इसके लिये तपस्या करते-करते अंशुमान कालकवलित हो गये। उनके पुत्र दिलीपने भी गङ्गाजीको लानेके लिये तपस्या की, पर वे भी सफल नहीं रहे; कालकवलित हो गये।

दिलीपके पश्चात् उनके पुत्र महाराज भगीरथ राज्यासीन हुए। वे बड़े प्रतापी राजा थे। उनकी उदारता, उनकी प्रजापालनपद्धति तथा उनके न्यायकी ख्याति सर्वत्र थी। प्रजाको सर्वथा निश्चिन्त कर राजा भगीरथने अपने पूर्वजोंके उद्धारकी ओर (गङ्गाजीको भूतलपर लानेके लिये) ध्यान दिया। उन्होंने प्रजापालन-का भार विश्वासी एवं समर्थ मन्त्रियोंको सौंपकर तपके लिये प्रस्थान किया।

भगीरथने गोकर्ण नामके पवित्र स्थानपर बहुत दिनोंतक घोर तपस्या की। उनकी तपस्यापर प्रसन्न हो ब्रह्माजीने प्रकट होकर वरदान माँगनेको कहा। राजाने कहा—'भगवन्! आप गङ्गाजीको भूतलपर आने दें, जिससे मेरे पितरोंका उद्धार हो जाय। इससे भूतलके असंख्य प्राणियोंका भी उद्धार—भला होगा, हम सबके उद्धार एवं परमार्थ-हेतु आप गङ्गाजीको भूतलपर भेजनेकी कृपा करें।'

ब्रह्माने कहा—'राजन्! मैं गङ्गाको भूतलपर भेजनेको तैयार हूँ। किंतु उनका प्रखर वेग कौन रोकेगा? उसके लिये किसीको तैयार करो, अन्यथा भूतल उनके प्रबल प्रवाहमें बह जायगा। मेरी समझमें महादेवजीके अतिरिक्त और कोई नहीं है, जो गङ्गाजीके

प्रवाहको रोक सके।' आप आशुतोष शंकरको तपस्याके द्वारा प्रसन्नकर उन्हें इसके लिये तैयार करें।

गङ्गाजीके अन्तर्हित हो जानेपर राजाने आशुतोष शंकरको प्रसन्न करनेके लिये हिमालयमें तपस्या आरम्भ कर दी। वे एक पैरके अँगूठेके बलपर खड़े होकर शंकरजीकी आराधना करते रहे। एक वर्षकी कठिन तपस्याके पश्चात् शंकरजीने प्रसन्न होकर गङ्गाजीको धारण करने-(वेग रोकने-) का वचन दे दिया।

अब राजाने गङ्गाजीका आवाहन किया। भगवान् शंकर अपनी जटा छितराये, कमरपर हाथ रख सावधान हो, गङ्गाके प्रवाहको रोकनेके लिये ऊर्ध्वमुख हो उनका मार्ग देखने लगे। गङ्गाजी प्रबल वेगसे चल पड़ीं। अपने जटा-जूटमें ही गङ्गाजीको उलझा लिया। वे लाख प्रयास करनेपर भी जटा-जूटसे बाहर न निकल सकीं। तब राजा भगीरथने बना हुआ भी काम बिगड़ता देखकर पुनः शंकरजीकी प्रार्थना की। शंकरजीने प्रसन्न होकर गङ्गाजीको सात धारमें विभक्तकर बिन्दुसरोवरकी ओर प्रवाहित कर दिया। उनमेंसे एक ही धारने भगीरथके मार्गका अनुसरण किया। वह (वर्तमान) गङ्गासागरके पास जाकर साठ हजार सगर-सुतोंको तारती हुई सिन्धुमें मिल गयी।

राजा भगीरथके द्वारा गङ्गाजीके भूतलपर लानेकी बात सारे देशमें फैल गयी। प्रजा गङ्गा-स्नान-दर्शन एवं अपने राजाके दर्शन-हेतु उमड़ पड़ी। बहुत दिनोंकी कठिन तपस्याकी सफलताके पश्चात् राजाने बड़ी धूम-धामसे राजधानीमें प्रवेश किया। नगरके लोगोंने राजाका भव्य स्वागत किया और राजाकी आरती उतारी।

इस प्रकार राजा भगीरथने स्वार्थके साथ-साथ महान् परमार्थ (परोपकार) किया, जो गङ्गाजीको भारतमें प्रवाहित कर दिया। उनकी इस अमूल्यनिधि-(गङ्गाजी-)का भारत सदा ऋणी एवं कृतज्ञ रहेगा। आज 'भगीरथकी तपस्या' कठिन अथवा अथक श्रमका पर्याय बन गया है। किसी भी कठिन प्रयत्नको लोग 'भगीरथ-प्रयत्न' कहते हैं।

गोभक्त दिलीप

अयोध्याके राजा दिलीप बड़े त्यागी, धर्मात्मा एवं प्रजावत्सल थे। उनके राज्यमें प्रजा सब प्रकारसे संतुष्ट एवं सुखी थी। राजाको प्रौढ़ावस्थातक भी कोई संतान न हुई। अतः वे एक दिन रानी सुदक्षिणासहित गुरु वसिष्ठके आश्रममें पहुँचे और उनसे निवेदन किया—'भगवन्! मैं पितृ-ऋणसे अभी अनृणी नहीं हुआ; क्योंकि मेरे पश्चात् वंशमें और कोई नहीं है; अतः बादमें पितरोंको पिण्डदान दुर्लभ हो जायगा। इससे आप कोई युक्ति बतायें, जिससे मुझे कोई संतान हो।'

गुरु वसिष्ठने ध्यानस्थ होकर कुछ देखा। फिर वे बोले—'राजन्! यदि आप मेरे आश्रममें स्थित कामधेनु-की पुत्री नन्दिनी गौकी निश्छल सेवा करें तो उसके प्रसादसे आपको संतान अवश्य प्राप्त होगी।'

राजाने अपने सेवकोंको अयोध्या वापस भेज दिया और स्वयं रानी सुदक्षिणासहित महर्षिके तपोवनमें राजचिह्न त्याग कर तापस-वेषमें गो-सेवामें निरत हो गये। प्रतिदिन प्रातः वे सुदक्षिणासहित गायकी पूजा करते। गोदोहनके पश्चात् बछड़ा दूध पीनेके पश्चात् बाँध दिया जाता था। राजा गायको चरनेको स्वच्छन्द छोड़ देते थे। वह जिधर जाना चाहती, उधर उसके पीछे-पीछे छायाकी तरह रहते। उसके जल पीनेके बाद ही राजा जल पीते थे। उसे स्वादिष्ट घास खिलाते, सुहलाते, मच्छर

भगाते हुए राजा उसकी समर्पित-भावसे निश्छल सेवा करते थे। सन्ध्या समय आश्रमके द्वारपर खड़ी रानी उनकी प्रतीक्षा करती रहती थी। आते ही गौको तिलक करती, गोदोहनके पश्चात् राजा-रानी गायकी सेवा करते, स्थानकी सफाई करते, दीपका प्रकाश करते, उसके सो जानेपर सोते और प्रातः उसके जगनेके पूर्व उठते थे।

इक्कीस दिन निरन्तर छायाकी भाँति गो-सेवा करनेपर बाईसवें दिन राजा गौ चरा रहे थे। एक सिंह अचानक गायपर टूट पड़ा। तुरंत राजाने धनुषपर बाण चढ़ाकर सिंहका वध करना चाहा। पर आश्चर्य! उनके हाथकी अँगुलियाँ बाणकी पूँछपर चिपक गयीं। वे जड़वत साश्चर्य देखते रह गये। अन्तमें सिंह मनुष्यकी वाणीमें राजाको और चकित करते हुए बोला—'राजन्! तुम्हारा बाण मुझपर नहीं चल सकता। मैं भगवान् शंकरका सेवक कुम्भोदर हूँ। इन वृक्षोंकी सुरक्षाके लिये भगवान् शंकरने मुझे यहाँ नियुक्त किया है और कहा है कि यहाँ जो कोई जीव आयेगा, वह तुम्हारा आहार होगा। आज मुझे यह गौ आहार मिली है। तुम लौट जाओ!'

राजाने कहा—'सिंहराज! जैसे शंकरजीके प्रिय इस वृक्षकी रक्षा करना आपका कर्तव्य-धर्म है, उसी प्रकार गुरुदेवकी गौकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य-धर्म है। आपको आहार चाहिये, उसके लिये मैं गौके बदले अपना शरीर समर्पित करता हूँ। आप मुझे खाकर क्षुधा शान्त करें। गौको छोड़ दें। इसका छोटा बछड़ा इसकी प्रतीक्षा करता होगा।' सिंहने राजाको बहुत समझाया, पर राजाने एक न सुनी। वे अस्त्र-शस्त्र त्यागकर सिंहके समक्ष मांसपिण्डकी भाँति पड़ गये।

राजा मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पर उन्हें नन्दिनी-की अमृतमयी वाणी—'वत्स! उठो, तुम्हारी परीक्षा हो चुकी। मैं तुमपर परम प्रसन्न हूँ, वरदान माँगो!'—सुनायी पड़ी।' राजाने सिर उठाकर देखा; सामने गौ माताकी भाँति प्रसन्न खड़ी थी। सिंहका कहीं पता नहीं था। राजाने वंशधर पुत्रकी याचना की। गौने कहा—'मेरा दूध दोनेमें दुह कर पी लो। तुम्हें पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी।' राजाने कहा—'माता! आपके दूधपर प्रथम अधिकार आपके बछड़ेका है। उसके पश्चात् गुरुदेवका, उसके पूर्व और बिना गुरुकी आज्ञाके मैं दुग्धपान नहीं कर सकता। आप क्षमा करें।' गौ परम प्रसन्न होकर बोली—'एवमस्तु!'

सायंकाल आश्रमपर लौटकर राजाने गुरुदेवको सारी घटना बता दी। गुरुदेवने गोदोहनके पश्चात् अपने हाथसे राजा और रानीको आशीर्वादके साथ दुग्धपान करनेको दिया। गोसेवा एवं दुग्धपानके पश्चात् राजा और रानी सानुज लौट आये। रानी गर्भवती हुई। यथासमय उसने वंशधर पुत्र रघुको उत्पन्न किया। जब रघु तरुण हुआ तो दिलीपने उसे राज्य-भार सौंप वानप्रस्थ ले लिया और अन्तमें योगबलसे शरीर त्याग दिया। फिर इन्हीं रघुके नामपर आगे चलकर सूर्यवंश 'रघुवंश' कहा जाने लगा। यही 'कालिदास'-जैसे प्रसिद्ध कविके सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ आधारभूत शब्द बना तथा उसका प्रचार-प्रसार भी अगणित टीका-टिप्पणियों तथा विश्वभरमें चर्चाद्वारा अद्भुतरूपसे हुआ।

दाता रघु

अयोध्या-नरेश महाराज रघु इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंमें प्रमुख स्थान रखते हैं । इनके पिता महाराज दिलीप थे । इनकी माताका नाम सुदक्षिणा था । ये बड़े गुणग्राही, धर्मज्ञ और सर्वविद्याविशारद थे । इनके प्रताप एवं यशके कारण ही इनके पश्चात् इक्ष्वाकुवंश रघुवंशके नामसे प्रख्यात हुआ ।

महाराज रघुने दिग्विजय कर समस्त भूमण्डलका एकछत्र राज्य प्राप्तकर विश्वजित् यज्ञ किया । उसमें उन्होंने सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी; यहाँ तक कि रानीने सम्पूर्ण आभूषण एवं पात्र भी दान कर दिये थे । उस समय राजा रघु मिट्टीके पात्रमें भोजनादि करते थे । ऐसे ही समयमें महर्षि वरतन्तुके शिष्य स्नातक ब्रह्मचारी कौत्स गुरुकी दक्षिणाके लिये राजदरबारमें उपस्थित हुए ।

महाराज रघुने उठकर ब्रह्मचारीका स्वागत किया । उन्होंने उपलब्ध मिट्टीके पात्रमें पाद्य-अर्घ्य आदि लेकर उनकी पूजा की । उसके पश्चात् आश्रम, गुरुदेव, शिक्षा-दीक्षा आदिके विषयमें महाराजने कुशल-क्षेम पूछा । ब्रह्मचारीने कहा—'महाराज सर्वत्र कुशल है । आप-जैसे धर्मनिष्ठ राजाके राज्यमें प्रजाका अशुभ कैसे हो सकता है ।' अन्तमें राजाने ब्रह्मचारीसे आगमनका कारण पूछा और कहा—'विप्रवर ! मेरे योग्य कोई सेवा बताइये ।'

ब्रह्मचारीने कहा—'महाराज ! विद्याध्ययन समाप्त करके मैंने गुरुदेवसे गुरुदक्षिणाके लिये निवेदन किया । गुरुदेवने कहा—'वत्स ! तुम्हारी सेवा ही मेरी दक्षिणा रही । अब तुम जाओ ।' पर मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा । इसपर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा—'तो चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा मुझे लाकर दो ।' मैं उसीके लिये आपके पास आया था । पर आपके मिट्टीके पूजा-पात्रसे ही ज्ञात हो गया कि अब आपने सब कुछ दान कर दिया है । अतः आपसे कुछ माँगना उचित नहीं है । आपका कल्याण हो । मैं किसी अन्य दाताके पास जा रहा हूँ ।' यह कहकर विप्र कौत्स उठ खड़ा हुआ ।

राजाने नम्र हो हाथ जोड़कर प्रार्थनापूर्वक उन्हें रोकते हुए कहा—'विप्रवर ! वेदमें पारङ्गत ब्रह्मचारी गुरुदक्षिणाके लिये रघुके पास आया, पर निराश होकर दूसरे दाताके पास माँगने गया—यह मेरे जीवनमें कलङ्कका प्रथम पाठ न जोड़ें । आप मेरी यज्ञशालामें दो-तीन दिन अतिथिरूपमें अग्निकी भाँति निवास करें । मैं गुरुदक्षिणाकी व्यवस्था करता हूँ ।'

राजाने ब्रह्मचारीकी व्यवस्था यज्ञशालामें करा दी । धन प्राप्त करनेके लिये भूमण्डलमें कोई राजा उन्हें दिखायी नहीं दिया, जिनसे उन्होंने कर प्राप्त न कर लिया हो; अतः दुबारा माँगना अन्याय एवं अधर्म था । इसलिये उन्होंने कुबेरपर चढ़ाईकर धन प्राप्त करनेका निश्चय किया और रथको तैयार कर अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित होकर उसीपर रातको सो गये कि ब्राह्ममुहूर्त होते ही कल कुबेरपर आक्रमण करूँगा ।

प्रातःकाल प्रस्थानके पूर्व ही दौड़ते हुए कोषाध्यक्षने आकर निवेदन किया—'महाराज ! रात्रिमें कोषागारमें स्वर्णवृष्टि हुई है और कोषागार स्वर्णसे भर गया है ।' महाराज रघुने जाकर देखा तो कोषागार स्वर्णसे परिपूर्ण था । उन्होंने यात्रा निरस्त कर दी ।

राजदरबार लगा । सम्पूर्ण अपार स्वर्णराशि वहाँ ढेर लगा दी गयी । ब्रह्मचारी कौत्सको सम्मानसहित बुलाकर महाराजने कहा—'विप्रवर ! यह सम्पूर्ण धनराशि आपके लिये है, सब ऊँटोंपर लदवा ले जाइये ।'

ब्रह्मचारी कौत्सने कहा—'महाराज ! मुझे तो केवल चौदह करोड़ ही स्वर्णमुद्रा गुरुदक्षिणाके लिये

चाहिये। अपने लिये मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं उससे अधिक एक भी मुद्रा नहीं ले जाऊँगा।'

राजा बोले—'विप्रवर! यह धनराशि केवल आपके लिये ही प्राप्त हुई है। इसमेंसे एक भी मुद्रा अन्य मदमें नहीं जा सकती। आपको सब ले जाना होगा।'

त्यागका विचित्र दृश्य उपस्थित था। दाता और गृहीता (याचक) दोनों ही महात्यागी निकले। कोई भी अपना हठ छोड़नेको तैयार नहीं था। सारी अयोध्याकी प्रजा उन दोनों निःस्पृह याचक कौत्स तथा उदार दाता राजा रघुकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी।

अन्तमें विलम्ब होते देख राजसभाने जब एक स्वरसे ब्रह्मचारीसे अनुरोध किया कि आप राजाके प्रणकी रक्षाके लिये सम्पूर्ण धनराशि ले जानेकी कृपा करें, तब उस ब्रह्मचारी कौत्सने ऊँटोंपर लदवाकर सारा धन ले जाकर परन्तु ऋषिको समर्पित कर दिया।

धन्य हैं दाता रघु, श्लाघ्य हैं याचक कौत्स और महाधन्य है उन दोनोंकी जन्मदात्री भारतभूमि। चरित्रका यह सर्गीय उत्कर्ष आज उत्कोचके नरकको देखकर आँसू बहा रहा होगा।

सत्यवादी महाराज दशरथ

महाराज दशरथ अयोध्याके प्रतापी राजा थे। इनके पिताका नाम अज और माताका नाम इन्दुमती था। इनका रथ दसों दिशाओंमें अबाधगतिसे जाता था। इन्द्रकी सहायता करने ये स्वर्गतक जाया करते थे। इनके राज्यमें प्रजा सुखी थी। प्रजाके प्रतिनिधियोंसे राज्यकार्यमें परामर्श किया जाता था। सुमन्त्र सारथि होते हुए भी राजा दशरथके स्नेहपात्र, भ्रातृतुल्य मन्त्री थे। राजा दशरथ न्यायी, धर्मात्मा, सत्यवादी और प्रजावत्सल भी थे। मुखसे निकले वचनका पालन प्राण देकर भी करते थे।

दशरथकी तीन रानियाँ—कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा थीं। आयुके तीन भाग बीत जानेपर भी उन्हें कोई संतान न हुई। चौथेपनमें उनके चार पुत्र हुए—कौसल्याके राम, कैकेयीके भरत, सुमित्राके दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हुए। चारों भाइयोंमें परस्पर अगाध प्रेम था। अयोध्यावासियोंकी आँखोंके वे तारे थे। दशरथके तो वे प्राण ही थे, विशेषतः ज्येष्ठ पुत्र राम। सभी राम सोलहवें वर्षमें प्रवेश कर रहे थे कि महर्षि विश्वामित्र अपने यज्ञकी रक्षाके लिये महाराज दशरथसे उनके दो पुत्रों—श्रीराम और लक्ष्मणको माँगने आ पहुँचे। महाराज माँगनेवाले याचकोंके लिये कभी 'नहीं' नहीं कहते थे, किंतु प्राणप्रिय पुत्र रामको आँखोंसे ओझल भी नहीं करना चाहते थे। अन्तमें वसिष्ठ आदि ऋषियोंके समझानेपर उन्होंने दोनों पुत्रोंको ऋषिके साथ यज्ञरक्षा-हेतु भेज दिया।

यज्ञकी रक्षाके पश्चात् चारों भाइयोंका जनकपुरमें विवाह हुआ। राजाने रामको सब लायक जानकर गुरुजन और प्रजाकी सम्मतिसे रामका राज्याभिषेक करना निश्चित किया। उस समय राजकुमार भरत और शत्रुघ्न ननिहाल केकय देशमें थे। अपनी कुटिल दासी मन्थराके बहकावेमें आकर कैकेयीने राजा दशरथसे उनके पूर्व प्रदत्त दो वरदानोंको माँगा। राजा प्रतिश्रुत तो थे ही उन्होंने कहा—'सहर्ष प्राप्त करो। क्या चाहिये?' कैकेयीने एकसे रामका चौदह वर्ष वनवास और दूसरेसे भरतका राज्याभिषेक माँगा। रामके वनवासकी बात सुनकर दशरथपर मानो वज्रपात हो गया। उन्होंने कैकेयीको बहुत समझाया कि भरतको राज्य दे देता हूँ, पर रामका वनवास न

माँगे। उनके बिना मैं जीवित न रह सकूँगा। पर महीयसी कैकेयीने एक न सुनी। पुत्र-वियोगकी कल्पनासे वे अधमरे-से हो गये। भूमिपर लुढ़क गये और राम! हा राम!की रट लगाने लगे।

जब राम, लक्ष्मण और सीता वन चले गये तब दशरथने सुमन्त्रको यह समझाकर रथपर उन्हें वन ले जानेको भेजा था कि दो-चार दिन वन दिखाकर तीनोंको समझा-बुझाकर लौटा लाना। किंतु जब सुमन्त्र खाली लौटे, तब पुत्र-वियोगमें दशरथ-मरण निश्चित हो गया। फिर तो—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥

महाराज दशरथकी सत्यवादिता और पुत्रवात्सल्य अपने चरमोत्कर्षपर था। इसके विषयमें रामचरितमानस-(रामायण-)की निम्नाङ्कित पंक्तियाँ आकल्प दुन्दुभि-निनाद करती रहेंगी—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥

× × ×

जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

× × ×

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

इस प्रकार चरित्रके धनी महाराज दशरथने जीवन और मरण दोनोंको सफल कर लिया।

सुधन्वा

राजकुमार सुधन्वा चम्पकपुर-(भागलपुर-)के नरेश हंसध्वजका कनिष्ठ पुत्र था। वह जितना महान् शूर-वीर योद्धा था, उतना ही महान् भगवद्भक्त था। उसे भगवान्का ही भरोसा था। रात-दिन उन्हींकी आराधनामें लगा रहता था।

महाभारत-युद्धके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञ किया। अश्वके पीछे-पीछे गाण्डीवी अर्जुनके नेतृत्वमें विशाल सेना विजय-यात्रा कर रही थी। किसी राजाका घोड़ेको पकड़नेका साहस न हुआ। अबाधगतिसे विचरण करता हुआ वह अश्व चम्पकपुरीकी सीमामें प्रविष्ट हुआ। राजाकी आज्ञासे उनके सैनिकोंने अश्वको पकड़ लिया। अतः युद्ध छिड़ गया। सैनिकोंके संग्रहके लिये राजाने घोषणा कर दी कि निर्धारित समयतक जो सैनिक, राजकुमार या सेनापति युद्धक्षेत्रमें उपस्थित न होगा, वह तप्त तेलके कड़ाहमें डाल दिया जायगा।

युद्धके लिये सुसज्जित भक्त-वीर सुधन्वा अन्तःपुर गया। वहाँ धर्मसंकटवश उसे कुछ विलम्ब हो गया और वह निर्धारित समयके पश्चात् रणक्षेत्रमें पहुँचा। राजाज्ञानुसार उसे भी तप्त तेलके कड़ाहमें कूदनेका दण्ड मिला। भक्त सुधन्वा प्रभुका स्मरण करते हुए कड़ाहके खौलते तेलमें कूद पड़ा, पर उस भक्तका बाल भी बाँका न हुआ—

हंसध्वजः शङ्खयुतो ददर्श पुत्रं कटाहे प्रतपत्तमेनम्।
पुण्यानि नामानि हरेर्जपन्तं गोविन्द दामोदर माधवेति॥[1]

पुरोहित शङ्खको तेलकी उष्णतामें सन्देह हुआ। उसने परीक्षाके लिये एक नारियल कड़ाहमें डाला ही था कि नारियल चटाकसे फटा और दोनों पुरोहितोंके

१—पुरोहित शङ्खके साथ राजा हंसध्वजने देखा कि उनका पुत्र सुधन्वा खौलते तेलके कड़ाहमें कूदकर निश्चिन्त-भावसे गोविन्द, दामोदर, माधव आदि भगवान्के पुनीत नामोंका जप कर रहा है।

मस्तकोंमें जोरसे लगा। अब भक्तकी महिमा सबकी समझमें आयी। उसे बाहर निकाला गया, बाहर निकलते ही सुधन्वा पिताको प्रणाम कर कर्मभूमि युद्धभूमिको चल पड़ा।

युद्धमें सुधन्वाने पाण्डव-सेनाका संहार करना आरम्भ कर दिया। बहुत दिनोंके बाद उस सेनाको आज युद्धका अवसर—किसी योद्धासे भिड़नेका संयोग प्राप्त हुआ था। पर सुधन्वाकी मारसे सब बेहाल थे। सब घायल होकर पलायन करने लगे। अब महाभारत-युद्धके विजेता अर्जुनकी बारी आयी। सुधन्वाके बाणोंकी वर्षासे अर्जुनके भी छक्के छूट गये। एक बालकके हाथों अपनेको पराजित होते देख उन्हें अपने सारथि कृष्णका स्मरण हो आया। सुधन्वाने भी भगवद्दर्शनकी अभिलाषासे गाण्डीवीसे कहा—'धनंजय! यदि आप सुरक्षित लौटना चाहते हैं तो अपने रक्षक सारथि 'जनार्दन' को बुलाइये। अर्जुनको मन-ही-मन जनार्दनका स्मरण करना पड़ा। दो भक्तोंकी इच्छापूर्ति करनेके लिये चाबुक लिये श्रीकृष्ण तुरंत प्रकट हो गये। अर्जुनके रथके घोड़ोंकी रास उनके हाथमें थी। भगवान्‌को पाकर भक्त अर्जुनकी प्रसन्नताका पार नहीं था। वह तुरंत भगवान्‌के चरणोंमें लिपट गया। इधर विपक्षी भक्त सुधन्वा भी शस्त्र त्यागकर दौड़ पड़ा और भगवान्‌के चरणोंमें लिपटकर रोने लगा। उसके अश्रुजलसे प्रभुके चरण धुल उठे। प्रभुको पाकर वह कृतार्थ हो उठा। उसके युद्धका उद्देश्य सफल हो गया। अब अर्जुनको अपनेपर कुछ भरोसा हुआ। उसने सुधन्वासे कहा—'क्षत्रिय होकर रणसे मुख क्यों मोड़ता है। आ मुझसे युद्ध कर। यदि तीन बाणोंमें तेरा सिर धड़से पृथक् न कर दूँ तो अपने पितरोंसहित नरकमें पड़ूँ।'

सुधन्वा बोला—'गाण्डीवी! आप क्यों बढ़-चढ़कर बातें कर रहे हैं। मैं अपने श्यामसुन्दर भुवनमोहन प्रभुकी झाँकीका आनन्द ले रहा था। मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि 'यदि आपके तीनों बाणोंको काटकर खण्ड-खण्ड न कर डालूँ तो मुझे वीरगति (सद्गति) न प्राप्त हो।'

दोनो भगवद्भक्तोंका भगवान्‌के समक्ष भीषण युद्ध छिड़ गया। अर्जुनने एक-एक कर दो बाण छोड़े, जिन्हें सुधन्वाने काट दिया। किंतु जब अर्जुनके तीसरे बाणको भी सुधन्वाने काट दिया तो उसके शोकका पारावार ही न रहा। दोनों ही भगवान्‌के भक्त थे। उनकी लीला विचित्र है। कटे बाणकी नोक स्वयं उठी जो सुधन्वाके सिरको धड़से अलग करती भूमिपर जा गिरी। सुधन्वाका सिर भूमिपर न गिरकर भगवच्चरणोंमें आ गिरा। जैसे बालक पिताकी चरणमें शरण ले रहा हो। भगवान्‌ने उस मस्तकको बड़े सम्मानसे उठाया। उससे एक दिव्य ज्योति आविर्भूत हुई, जो भगवान्‌के शरीरमें विलीन हो गयी।

भक्तवत्सल भगवान्‌ने युगल भक्तोंकी प्रतिज्ञा पूर्ण की। वस्तुतः सुधन्वाका आदर्श भक्तचरित्र अद्वितीय रहा।

संतका चरित्र-शिक्षण

एक संत एक नगरमें कपड़े सीकर अपना निर्वाह करते थे। वहीं एक व्यक्ति उनसे बहुत कपड़े सिलवाता, किंतु सिलाईके रूपमें वह उन्हें सदा खोटे सिक्के ही देता था। संत चुपचाप वे सिक्के ले लेते थे। एक बार संत कहीं बाहर गये हुए थे। उनकी दूकानपर उनका सेवक था। वह व्यक्ति सिलाई देने आया। सेवकने सिक्के देखे और लौटा दिये—'ये खोटे हैं, महोदय! दूसरे दीजिये।'

संत लौटे तो सेवकने कहा—'अमुक व्यक्ति खोटे सिक्के देकर मुझे ठगने आया था।' संत बोले—'तुमने सिक्के ले क्यों नहीं लिये। वह तो सदा मुझे खोटे सिक्के ही देता है और उन्हें लेकर मैं भूमिमें गाड़ देता हूँ। मैं न लूँ तो कोई दूसरा व्यक्ति ठगा जायगा।'

कर्तव्यकी कसौटी

(लेखक—स्वामी श्रीशरणानन्दजी)

मनुष्य साधक प्राणी है। तद्भिन्न देव या तिर्यग्योनियोंमें जितने प्राणी हैं, वे भोगमात्रके अधिकारी हैं। पाप-पुण्य या कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन करनेकी योग्यता केवल मनुष्यमें है। इसीलिये पापसे बचने और पुण्य करनेका दायित्व उसीपर है। सारे शास्त्रीय और लौकिक विधान भी उसीके लिये हैं। वह उनका अनुसरण करने, न करनेमें कुछ अंशोंतक स्वतन्त्र है। यदि वह उनका अनुसरण करे तो उस परम तत्त्वसे अभिन्न हो सकता है, जो सम्पूर्ण जगत्‌का मूल और अधिष्ठान है। यही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। यदि वह स्वेच्छाचारी होकर मनमाना आचरण करे तो नरकगामी हो सकता है, लोकमें निन्दित तो होता ही है। इस प्रकार अपने आचरणद्वारा सद्गति और दुर्गतिकी स्वतन्त्रता मनुष्यके सिवा और किसी प्राणीमें नहीं है। भगवान्‌ने जब मनुष्यको यह स्वतन्त्रता दी तो उसे कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेकी योग्यता भी प्रदान की। विवेक ही योग्यता है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिल सकता, जिसे थोड़ा भी अकर्तव्य या कर्तव्यका ज्ञान न हो। विवेक अविनाशी तत्त्व है। वह दब सकता है, परंतु नष्ट नहीं होता। गिरा-से-गिरा मनुष्य भी बुराईको बुराई जानता है। चोरी, हिंसा, छल, व्यभिचार कर्तव्य हैं—ऐसा चोर, हिंसक, कपटी और व्यभिचारी भी नहीं कह सकते। यह दूसरी बात है कि देहासक्ति या मोहके कारण वे इन्हें अकर्तव्य जानते हुए भी छोड़ नहीं पाते। वे असत्‌को असत् जानते हुए भी मोहवश उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं। यह उनके द्वारा अपने ही विवेकका अनादर है। यदि वे विवेकका आदर करके असदाचरण त्याग दें तो उनके द्वारा स्वभावसे सदाचारका ही निर्वाह होने लग जाय। जो झूठ नहीं बोलता, वह सच ही बोलेगा; जो हिंसा नहीं करता, वह अहिंसक ही रहेगा और जो चोरी नहीं करता, उसके द्वारा अस्तेय-व्रतका ही आचरण होगा। यदि निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करें तो असत्‌के त्यागमें कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि शक्ति और योग्यताकी आवश्यकता कुछ करनेके लिये ही होती है, न करनेके लिये नहीं। मनुष्य यदि असत्‌का त्याग कर देता है तो उसके द्वारा सदाचारका निर्वाह स्वभावसे ही होने लग जाता है। परंतु प्रमादवश मनुष्य असदाचरणको ही स्वाभाविक मानने लगा है। यह उसकी भूल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान्‌ने विवेककी—कर्तव्यकी कसौटी स्वतः ही मनुष्यमात्रको दी है। यदि इसका अनुसरण किया जाय तो मनुष्य स्वतः ही साधक-जीवनसे अभिन्न होकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर ले। जीवनकी पवित्रता होनेपर वह परमतत्त्व स्वयं ही अपनी उपलब्धिकी साधनसामग्री जुटा देता है। यही उसका गीतोक्त योग-क्षेमका निर्वाह है।

जीवनकी सामान्य सरणिमें तो यह नियम सर्वथा उपयुक्त है, परंतु मनुष्य जितना असत्‌को जानने और त्यागनेमें स्वतन्त्र है, उतना किसी विशिष्ट कर्तव्यका निर्णय करनेमें समर्थ नहीं है। जीवनमें कई बार अपने प्रस्तुत कर्तव्यका निर्णय करना कठिन होता है। ऐसे अवसर प्रायः सभी लोगोंके जीवनमें आते हैं। महाभारत-युद्धके आरम्भमें ऐसी ही समस्या वीरवर अर्जुनके सम्मुख उपस्थित हुई थी। व्यवहारमें कई बार अकर्तव्य कर्तव्य हो जाता है और कर्तव्य भी अकर्तव्य हो जाता है। विवेकदृष्टिसे जीव-हिंसा अकर्तव्य है, परंतु [illegible] दायित्व होनेपर वह कर्तव्य हो जाती है।

प्रहार करना योद्धाका परम कर्तव्य है। इसी प्रकार अपराधीको दण्ड देना न्यायाधीशका कर्तव्य है। ऐसे अवसरोंपर कर्तव्यका निर्णय शास्त्र या राष्ट्रके विधानके अनुसार ही करना होता है। किंतु यहीं शास्त्रों और सन्तोंमें भी मतभेद देखा जाता है। इसीसे यक्षके यह पूछनेपर कि 'कः पन्थाः' (मार्ग क्या है?) धर्मप्राण युधिष्ठिर कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
　　नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
　　महाजनो येन गतः स पन्थाः॥*
　　　　(महाभारत वनपर्व ३१३। ११७)

इस कथनके अनुसार तो महापुरुषका आचरण ही हमारा पथ-प्रदर्शक सिद्ध होता है। परंतु कई बार महापुरुषका आचरण भी सामान्य पुरुषके लिये अनुकरणीय नहीं होता। इसीसे भगवान्‌की रासलीलाके विषयमें सन्देह करते हुए जब परीक्षितने प्रश्न किया तो भगवान् शुकदेवजी बोले—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥
　　　　(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३०-३२)

'समर्थ पुरुषोंके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन और साहस भी देखा गया है। उन तेजस्वियोंके लिये वह दोषका कारण नहीं होता, जिस प्रकार कि सब कुछ भक्षण करनेवाले अग्निके लिये अभक्ष्य-भक्षणका दोष नहीं होता। किंतु असमर्थ साधक कभी मनसे भी वैसा आचरण न करे। यदि वह मूर्खतासे ऐसा करे तो समुद्रजनित विषपानके समान मूढ़तासे वैसा करेगा तो तत्काल नष्ट हो जायगा। समर्थ पुरुषोंका कथन सत्य होता है और कभी-कभी आचरण भी ठीक होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष उसीका आचरण करे जो उनके कथनके अनुसार हो।' इस प्रकार सिद्ध महानुभावोंका आचरण भी सर्वदा अनुकरणीय नहीं होता। उनका आदेश ही ग्राह्य होता है। इसीसे तैत्तिरीय-उपनिषद्में गुरु शिष्यसे कहते हैं—'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' अर्थात् 'हमारे जो शुभ आचरण हों, तुम्हें उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरोंका नहीं।' परंतु सुचरित भी सभी अनुकरणीय नहीं होते। उनमें भी अपनी सामर्थ्य देखनी होती है। पूर्वकालमें अनेक सती-साध्वी नारियाँ अपने पतिदेवके साथ सती हो गयी थीं। क्या अल्पप्राण आधुनिक नारीको भी वैसा ही करना चाहिये? पतिनिष्ठा तो अवश्य अनुकरणीय है, परंतु सहमरण न करनेसे किसी पतिपरायणा नारीको भी कोई दोष नहीं होता। किसीका पुत्र किसी असाध्य रोगसे पीड़ित हो और डाक्टर सलाह दे कि इसका भारतमें तो उपचार नहीं हो सकता, अमेरिका ले जाओ तो बच सकता है। पिताका कर्तव्य है कि पुत्रका पालन-पोषण करे। परंतु यदि उसकी आर्थिक स्थिति उसे अमेरिका ले जानेके योग्य नहीं है तो यह उसका कर्तव्य नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य वही होता है जो उसकी सामर्थ्य और योग्यताके अनुरूप हो। हाँ, अपनी सामर्थ्यके अनुरूप होनेपर भी यदि वह वैसा नहीं करता तो अवश्य कर्तव्यच्युत हो जाता है।

---

* तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (सीमा) नहीं है। श्रुतियाँ अनेक प्रकारकी हैं। मुनि भी कोई एक नहीं, जिसे प्रमाण मान लेनेसे काम चल जाय। धर्मका रहस्य बहुत गह्वरमें छिपा हुआ है। अतः जिससे महापुरुष लोग जायँ, वही मार्ग है। (कई व्याख्याताओंने यहाँ 'महाजन'का अर्थ श्रेष्ठजनोंका समूह या बहुमत भी अर्थ किया है। किन्हींने सदोष शास्त्रानुयायी एवं महापुरुषका अर्थ किया है।)

कभी-कभी किन्हीं ऐसे साधनोंकी भी हृदयमें प्रेरणा होती है, जो आपात दृष्टिसे अपने अनुरूप नहीं जान पड़ते। परंतु पूर्वसंस्कार वैसा करनेके लिये विवश कर देता है। ऐसी स्थितिमें वैसा साधन करनेपर यदि अपना मन अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता जान पड़े तो वह करणीय हो जाता है। तात्कालिक रुचि और प्रवृत्तिके अनुरूप न होनेपर भी उससे लाभ होता है। वह पूर्वजन्ममें अधूरे रहे साधनकी पूर्तिका प्रयास होता है। परंतु यदि वह किसी प्रकार अपने लक्ष्यसे भटकानेवाला हो तो उसे त्याग देना चाहिये। इस प्रकार साधकोंको अपना कर्तव्य निर्णय करनेके लिये कुछ कसौटियोंका विचार किया गया। यदि लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेकी सच्ची लगन हो तो भगवान् स्वयं ही मार्गदर्शन कर देते हैं। सच्चे साधक कभी नहीं भटकते। सच्ची लगन वही है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके सिवा और किसी प्रकारकी कामनाका स्पर्श नहीं होता। ऐसा साधक कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। श्रीभगवान् कहते हैं—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥'

भारतीय आचार-शिक्षाके परिप्रेक्ष्यमें वैदिक नारियाँ

(लेखक—डॉ० श्रीमद्व्रजमुकुन्दलालजी गोस्वामी, एम० ए०, पी-एच्० डी०, न्याय वेदान्त व्याकरण साहित्याचार्य, मीमांसाशास्त्री)

चिरकालसे भारतीय आर्यमहिलाकी शिक्षा-दीक्षा, आचार-व्यवहार और नीति उत्कर्षकी चरम सीमापर प्रतिष्ठित रही। भारतीय नारियोंके इतिवृत्तका अवलोकन करनेसे यह सिद्ध है कि प्राचीनकालमें भारतीय महिलाएँ आचार-व्यवहार, विद्या-विनयसे अलंकृत थीं। विदेशी आक्रमणोंके अवसरपर भारतीय महिलाओंकी वीरता एवं सतीत्वकी रोमाञ्चकारी घटनाएँ आश्चर्य-सागरमें निमग्न कर देती हैं। भगवती आद्याशक्तिके वर्णनमें अलौकिक शक्तिसम्पन्न महर्षि एवं इन्द्र आदि देवगण अपनेको असमर्थ पाते हैं। उनका कथन है—'दुर्गे! इस जगत्‌में जितनी विद्याएँ एवं कलाएँ हैं, वे तुम्हारे ही भेद हैं, सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ तुम्हारी ही अंश हैं—'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।'

उपनिषदोंके अनेक प्रसङ्गोंसे यह स्पष्ट है कि प्राचीनकालमें अनेकानेक ज्ञान-विज्ञान एवं सदाचार-सम्पन्न नारियाँ थीं। मैत्रेयी आदिके सहारे दार्शनिक ज्ञानधाराने भारतभूमिको उच्च स्थानपर प्रतिष्ठित किया जो उच्चतम है। शौनकने बृहद्देवतानुक्रमणीमें तथा बृहद्देवता-(२। ८२-८४)में* एकत्र ही ऋक्संहिताकी २६ स्त्री-मन्त्र-द्रष्टियोंका उल्लेख कर दिया है। याज्ञिकेद, मैकडानेल आदिने मन्त्रोंकी सूचीके सहित इनपर प्रकाश डाला है। यहाँ संक्षेपमें उनका वृत्त उपस्थित किया जा रहा है।

विश्ववारा—ऋग्वेदके पञ्चममण्डलका अट्ठाईसवाँ सूक्त अत्रिगोत्रा विश्ववाराके द्वारा दृष्ट है। इस सूक्तमें छः मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित होकर द्योतमान अन्तरिक्षमें प्रदीप्त शिखाका विस्तार करती हुई प्रभासताको धारण कर रही है। वह उषाकालमें प्रशस्त शिखाका विस्तार कर अतिशय शोभा-सम्पन्न है। ब्रह्मवादिनी विश्ववारा होम करनेके लिये स्रुक्-स्रुवके आधार कर्णपात्र हाथमें लेकर अनेक स्तोत्रोंके पाठसे देवोंकी स्तुति करती हुई पूर्वको

---

* घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत्। ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः। रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः॥

और मुखकर प्रज्वलित अग्निकी ओर गमन कर रही है। द्वितीय मन्त्रके द्वारा वह अग्निको आहुति प्रदान करती हुई अतिथि-सेवाके द्वारा अपने मङ्गलकी कामना करती है। वह घृताहुति-प्रदानके फलस्वरूप ज्ञानका विस्तार चाहती है।

तृतीय मन्त्रमें शत्रुविनाशके साथ वह प्रगाढ़ दाम्पत्यप्रेमके बन्धनको इतना सुदृढ़ करना चाहती है, जिससे जीवनमें कभी विच्छेदकी सम्भावना न रहे। पञ्चम मन्त्रमें हवन आदिके द्वारा अग्निकी प्रदीप्ति सभीका कर्तव्य बतलाया गया है। जिसद्वारा अपने भावी-कर्तव्यके लिये सचेष्ट है। वह अपने ज्ञानकी अभिवृद्धि अन्य अभिलाषासे नहीं, वरन् भारतीय नारीके जीवनके चरम परम आदर्श दाम्पत्यप्रेमको ही सुदृढ़ करनेकी भावनासे प्रस्तुत कर रही है तथा इसे ही महत्त्वपूर्ण मानती है।

घोषा—ऋग्वेदके दशम मण्डलके ३९वें और ४०वें सूक्त काक्षीवान्‌की कन्या ब्रह्मवादिनी घोषाद्वारा दृष्ट हैं। वह इन मन्त्रोंके द्वारा गार्हस्थ्य-जीवनके लिये अश्विनी-कुमारोंसे प्रार्थना करती हुई भारतीय नारियोंके गृहस्थ-जीवनके आवश्यक कर्तव्योंकी शिक्षा दे रही है। ४०वें सूक्तके नवम मन्त्रमें वह स्त्रियोंकी सौभाग्य-समृद्धि और अपेक्षित गुणोंकी प्राप्तिकी इच्छा करती है तथा अश्विनीद्वयकी कृपासे सुबुद्धि और अतिशय धान्यकी उत्पत्तिसे पतिका हित और गृहस्थके कर्तव्योंका धान्य-समृद्धिके द्वारा विधिवत् पालन करनेकी कामना चाहती है। वह कहती है कि उसके भावी पतिकी कोई हिंसा न कर सके और उसे अक्षुण्ण युवावस्थाकी प्राप्ति हो। इन भावनाओंके द्वारा गृहस्थनारीके लिये एकमात्र पतिके हितकी कामना ही काम्य है। वह अपने यौवनकी अक्षुण्णतासे सदा पतिसेवापरायण रहनेकी ही शिक्षा प्रदान कर रही है। इस सूक्तके दशम मन्त्रमें वह अश्विनीकुमारोंसे प्रार्थना करती है कि पति भावी जीवकी रक्षाके लिये दत्तचित्त रहे। वह उनकी पवित्र भावना उसे यज्ञकार्यमें नियुक्त करे तथा सन्तति-उत्पादनके द्वारा पितृयज्ञके अनुष्ठानके लिये उसे सुखसमृद्धि-शालिनी एवं सौभाग्यवती बनाये।

सभी मन्त्रोंद्वारा घोषा प्रायः एक ही कामना करती है कि भावी पति कल्याणराशिसे समृद्ध हो, लोक-कल्याण एवं पञ्च यज्ञोंके अनुष्ठानके लिये तत्पर रहे। चौदहवें मन्त्रके द्वारा वह इन स्तुतियोंके फल-स्वरूप यह कामना करती है कि मुझे ऐसी बुद्धि प्रदान करें, जिससे मैं अपने कर्तव्य-पालनसे विमुख न होऊँ। जैसे पिता अपनी कन्याको वस्त्र-आभूषणोंसे अलङ्कृतकर भावी गृहस्थ-जीवन व्यतीत करनेकी दीक्षा उसे प्रदान करता है वैसे ही मैं पुत्र-पौत्र आदिको कर्तव्य-मार्गपर सुप्रतिष्ठित करनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्नकर जीवनको सुखी करूँ।

बारह मन्त्रोंके द्वारा अपने सदाचारसे पतिकी प्रिय बनी रहूँ—यही घोषाकी ऐकान्तिक प्रार्थना है।

सूर्या—ऋग्वेदके दशम मण्डलका ८५वाँ सूक्त ब्रह्मवादिनी सूर्याके द्वारा देखा गया है। इसके पञ्च मन्त्रमें प्रतीकरूपसे अर्थका विश्लेषण है। सूर्याके विवाहके समय रैभी नामकी ऋचाएँ सूर्याकी सहचरी हुईं, नाराशंसी नामकी ऋचाएँ उसकी दासी बनीं। सूर्याके मनोहर वस्त्रोंको सामगानसे पवित्र किया गया। सप्तम मन्त्रके द्वारा सूर्याके पतिगृहमें आगमनके समय उसका सुसंगठित धर्म-जीवन ही उपहार-स्वरूप था। उसके सुप्रशान्त सुस्निग्ध नयनयुगल जामाताके घरमें प्रेरणीय तैल-हरिद्रा आदि अभ्यञ्जन-स्वरूप होकर उसके साथ चले। स्वर्लोक-भूलोक उसके कोशस्वरूप थे। कन्याके श्वशुर-गृहको जानेके समय उसके साथ धन, धान्य, आभूषणसे पूर्ण पेटिका देनेकी प्रथा थी, जो आज भी प्रचलित है। नाराशंसी ऋचाएँ सूर्याकी दासी-स्थानीया थीं। इसके अतिरिक्त पतिगृह-

गृहस्थाश्रममें सहचरी आदिके स्थानकी पूर्ति ऋचाओंके ज्ञानसे ही सम्पन्न किया था। ज्ञानसम्पत्ति रहनेपर सुस्निग्ध, मनोरम, सुदीर्घ, सुप्रशस्त नयनयुगलकी स्नेहधारा ही सम्पूर्ण अपरिचितोंको अपने स्नेहपाशमें आबद्ध करनेके लिये पर्याप्त था। ज्ञानरश्मिका प्रखर यशोरूपी प्रकाश सर्वत्र परिव्याप्त होनेसे धनके प्रयोजनकी पूर्ति होनेसे वस्त्र-भूषण आदिके कारण धन तुच्छ एवं नगण्य था।

कन्योंमें पतिगृहगमिनी कन्याको प्रदत्त शिक्षाओंका मूल आधार सूर्यासे दृष्ट ऋचाओंको माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। सौभाग्यवती-पुत्रवती होनेकी कामनाके साथ पतिगृहगमनकी आकाङ्क्षाकी अभिव्यक्ति उसमें उपलब्ध होती है। छब्बीसवें मन्त्रका उपदेश नारी जीवनकी उदात्त उदार भावनाओंका सच्चा प्रदर्शन है। 'देवता तुम्हें पिताके घरसे निर्विघ्न पतिगृह ले जायँ। अश्विनीकुमार रथपर आरोहण कराकर पतिगृहतक ले जानेकी कृपा करें। तुम पतिगृहमें जाकर अपने प्रशंसनीय आचरणोंसे गृहस्वामिनी होओ, प्रमुख प्राप्त कर शान्तभावसे सभीके साथ सद्व्यवहार करना। सौभाग्यशालिनी नारियाँ मलिन वस्त्रको धारण नहीं करतीं। परमेश्वरकी स्तुति करनेवालोंको यथाशक्ति धन प्रदान कर संतुष्ट करना। पत्नी पतिगृहमें पतिकी अभिन्न-स्वरूपा होकर आती है। मन्त्रके द्वारा अभिव्यक्त है कि वह कामना कभी अपने पतिसे विरक्त न हो एवं आनन्दमय जीवन-यापन करे। छियालीसवें मन्त्रमें कहा गया है कि तुम अपने श्वशुर, सास, ननद एवं देवरके साथ ऐसा व्यवहार करना, जिससे उनकी दृष्टिमें सम्राज्ञीके रूपमें रहो। जैसे राजमाता अपनी अनेक प्रजाओंके प्रति क्षमाभावका निर्वाह करती है एवं सुविचार, सुनीति, सुव्यवस्था एवं सुशासनके द्वारा प्रजाओंको मन्त्रमुग्धके समान वशमें रखती है, वैसे ही तुम भी अपने कुलमें सभी विषयोंकी सुव्यवस्था, सभीके साथ सदय-व्यवहारद्वारा, पारिवारिक विपदाओंके आनेपर उनसे सभीकी रक्षा कर अपने गुणोंसे सभीको वशमें रखना। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंमें भी भारतीय नारियोंके लिये अपने श्वशुर-गृहमें सदाचारकी शिक्षा दी गयी है। साथ ही यह भी सूचना मिलती है कि गुणवती नारीका गुण ही सबसे बड़ा दहेज है। अतः गुणके समादरकी भावना प्रत्येक मन्त्रसे अभिव्यक्त है। गृहस्थ-जीवनयापनके लिये इससे अधिक उपदेश गृहस्थके लिये अपेक्षित नहीं है। उपसंहारमें पति-पत्नीके हृदयकी समता—एकताके लिये वायु, धाता और वाग्देवीसे प्रार्थना की गयी है।

पुरूरवा और उर्वशी—ऋग्वेदके दशम मण्डलका पंचानवेवाँ सूक्त पुरूरवा और उर्वशीके द्वारा दृष्ट है। इस सूक्तमें अठारह मन्त्र हैं। ये मन्त्र पति और पत्नीकी उक्ति और प्रत्युक्तिके रूपमें कहे गये हैं।

इन्द्रसेना—ऋग्वेदके दशम मण्डलके सूक्त १०२, मन्त्र २ से व्यक्त होता है कि प्राचीन भारतीय महिलाएँ केवल गृहस्थजीवन ही व्यतीत नहीं करती थीं, वरन् आवश्यकता पड़नेपर युद्धभूमिमें रथारूढ हो गोधन आदिकी दुष्टोंसे रक्षा करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देनेको भी संनद्ध रहती थीं। मुद्गल ऋषिकी पत्नी इन्द्रसेनाने रथपर आरूढ होकर सहस्रों दुष्टोंको हराया। उसने विपक्षके सैनिकोंके हाथोंसे गौकी रक्षा की थी। गोधनकी महत्ता भारतीय महिलाओंके चरित्रसे सुव्यक्त है। गोधनपर किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर ये स्त्रियाँ भी युद्ध करनेके लिये उद्यत हो जाती थीं, जिससे दूध, दही, खीर, नवनीत, घृतकी कमीका अनुभव इस भूमिके लोगोंको न हो सके।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके १०८वें सूक्तमें ग्यारह मन्त्र हैं। मन्त्र पणियों और सरमाकी उक्ति-प्रत्युक्तियोंके रूपमें उपनिबद्ध हैं। पणियोंने सरमासे कहा—

सकता । वह तो विरोधियोंका विनाश चाहता है । नहीं चाहता कि उसके विचारसे असहमत एक प्राणी भी बचा रह जाय । हिरण्यकशिपुने दैत्योंको यह आदेश दिया कि वे ईश्वर और उसके विधान माननेवालोंकी निर्मम हत्या कर डालें। कोई बचने न पाये ।[1] सशक्त दैत्य पृथिवीपर उतर आये और उन्होंने निरीह मानवोंपर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया । दूसरोंकी तड़पनोंसे जो सुख पाते हैं,[2] वे कितना जुल्म ढाह सकते हैं, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है । गाँव-के-गाँव, नगर-के-नगर फूँक डाले गये । गोशालाएँ, बगीचे, खेत, अग्निशाला, यज्ञोंके स्थान, खान आदिकी खानें, किसानोंकी बस्तियाँ, तपस्वियोंके गाँव—सब जला दिये गये ।[3] इस तरह हिरण्यकशिपुने सारे भूमण्डलको श्मशान बना दिया । शक्ति प्राप्त कर लेनेके बाद उसके विद्वेषकी आगमें मानो घी पड़ गया । झट उसने अपनेको ईश्वर घोषित कर दिया और अपनेसे भिन्न ईश्वरकी सत्ताको उसने अस्वीकार कर दिया । उसने जोर-शोरसे युद्ध छेड़ दिया । समस्त दिशाओं और समस्त लोकपालोंको उसने समरसे रंग दिया । सबोंके पद छीन लिये । सबोंको शक्ति-हीन कर गुलाम बना दिया । भोजन-पानीसे भी वंचित कर दिया । देवताओंके हव्य और पितरोंके कव्यको छीनकर वह स्वयं खा डालता था । तर्पणके जलको वह स्वयं पी लेता था ।[6] जो अपने विचारसे असहमत अपने पुत्रकी हत्यासे बाज नहीं आया, वह भला किसको छोड़ सकता था ! सन्देह होनेपर उसने गुरुके पुत्रोंकी भी हत्याका आदेश दे दिया ।

ऋतम्भरा प्रज्ञासे बचाव—देवर्षि नारदसे सबकी हत्या देखी न गयी, किंतु परिस्थिति ऐसी न थी कि वे प्रत्यक्ष कुछ कर सकें । सम्पर्कहका बाधार क्या असर हो सकता है । उपदेशका पत्थरपर क्या प्रभाव पड़ सकता है । कयाधू प्रभावित थी, नारदने उपदेश भी दी । उसको समझानेमें नारदने हजारों वर्ष लगाये । फिर भी वह समझकर भी न समझ सकी । वही कयाधू-की-कयाधू बनी रही ।[10] आगे चलकर हिरण्यकशिपुपर तो बदलावकी प्रभावक पद्धति भी व्यर्थ हो गयी । अन्ततः वह देखकर भी देख न सका । इस तरह परिस्थितिने समझा था कि नारद हिरण्यकशिपुके अनुकूल बने रहें और कोई ऐसी योजना तैयार करें, जिससे मरते हुए तीनों लोकोंको बचाया जा सके, मिटती हुई मानवताको फिरसे जिलाया जा सके । यही कारण है कि

१-सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः । (श्रीमद्भा० ७ । २ । १०)

२-इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽऽदृताः । तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥ (श्रीमद्भा० ७ । २ । १३)

३-पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् । खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥ (श्रीमद्भा० ७ । २ । १४)

४-भगवत्स्वमोर् हवम् । (श्रीमद्भा० ७ । ४ । ४) ।

५-परमेश्वरसंभोऽत्र विमन्यो मय्यवस्थिते । (विष्णुपु० १ । १७ । २१)

६-स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः । ... लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ (श्रीमद्भा० ७ । ४ । ५,७)

७-(क) ··हविर्भागानभुङ्क्त स्वयं तेजसा ॥ (श्रीमद्भा० ७ । ४ । १३)

(ख) भगवति मोक्षभिक्षुभूते प्रणमं ... तीर्थकल्पे ... ।

८-पद्मपुराण, उत्तरखण्ड । (वही ७ । ८ । ४४)

९-लिङ्गपुराण, पूर्वार्ध अ० ९० ।

१०-इसमें स्वीकार किया है कि कयाधू नारदके उपदेशको भूल गयी थी—तत्तु ······ ; ······ मातुर्तिरोदधे (श्रीमद्भा० ७ । ७ । १६) ।

नारदको हिरण्यकशिपुके आगे उसकी शौर्यकी गाथाका गान करना पड़ता था—

तस्मिन्महेन्द्रासनमास्थितं स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः।
(श्रीमद्भा० ७ । ४ । १४)

बलपूर्वक इन्द्रके आसनपर आसीन हिरण्यकशिपुके आगे विश्वावसु और तुम्बुरु-जैसे प्रमुख गन्धर्व गाया करते थे। नारदको भी इसमें योग देना पड़ता था।

आज दुनियामें अभी वैसी भयावह परिस्थिति नहीं आ पायी है। अभी बचावके उपाय किये जा सकते हैं। पञ्चशीलका सिद्धान्त देकर भारतने विश्वको महाप्रलयके मुखमें पड़नेसे एक बार बचा लिया था। किंतु नारदजीके सामने, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, बिल्कुल प्रतिकूल परिस्थिति थी। वही परिस्थिति थी, जो स्टालिनके संहार-कालमें गुरुदेवको थी। इस तरह नीतिका संकेत था कि नारद अभी परिस्थितिकी अनुकूलताकी प्रतीक्षा करें।

हिरण्यकशिपु दीर्घकालिक तपश्चर्यामें लग गया। इन्द्र फिर प्रमुखमें आ गये। नारद इसी परिस्थितिकी प्रतीक्षामें थे। अब वे जन-सम्पर्क कर सकते थे। खुले आम बोल सकते थे। पर समझायें किसको! समझने-वाले तो चुन-चुनकर मारे जा चुके थे। जो बचे थे, उनमेंसे कुछ हिरण्यकशिपु बन चुके थे और कुछ बनने जा रहे थे। नारदके उपदेशका उनपर कोई प्रभाव पड़नेवाला न था। तब नारदने अपनी अतम्भरा प्रज्ञाका उपयोग किया। उन्होंने विश्वको एक ऐसी वस्तु दी, जो कसौटी बनकर ऐसा निर्णय दे, जिससे विरोधीको भी झख मारकर मान लेना पड़े और जो बच्चोंको ऐसा रुचिकर आहार दे, जिससे उनके चरित्रका निर्माण होकर रहे। इस तरह नारदके सामने नयी पीढ़ीके निर्माणके अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता न था।

नयी पीढ़ीका निर्माण—नयी पीढ़ीके निर्माणके लिये उचित पात्र उन्होंने कयाधूके गर्भमें स्थित शिशुको चुना। यह चुनाव और गर्भस्थ शिशुको समझा सकना ये बातें भी उनकी तपःपूत शक्तिसे ही संभव हुईं। अब समस्या यह थी कि कयाधू उनके संपर्कमें आये कैसे! संपर्क भी अनुकूल वातावरणमें अपेक्षित था। इस काममें ईश्वरने उनकी सहायता पहुँचायी। उन्होंने नारदको सहसा वहाँ उपस्थित कर दिया, जहाँ वह इन्द्रकी बन्दिनी बनकर कुररीकी तरह रोती-धोती चली जा रही थी। वह समझ रही थी कि अब वह और उसका गर्भस्थ शिशु कुछ ही घंटोंके मेहमान हैं। देवर्षिने अवसरसे लाभ उठाया। उन्होंने कयाधूका पक्ष लिया। इन्द्रको समझाया कि साध्वी महिलाका तिरस्कार पाप है। कयाधूको छोड़ दें।[१] इन्द्र बोले कि मैं कयाधूकी हत्या नहीं करूँगा। किंतु इसके गर्भस्थ शिशुको न छोड़ूँगा। साँपका बच्चा साँप होता है। हिरण्यकशिपु-का बच्चा भी हिरण्यकशिपु होगा। हिरण्यकशिपुने तीनों लोकोंको तबाह कर डाला है। इसका बच्चा भी यही करेगा। अतः तीनों लोकोंकी हत्या बचानेके लिये एककी हत्या अनीति नहीं है। शिशुको मारकर कयाधूको छोड़ दूँगा।[२]

नारदने बहुत कह-सुनकर कयाधूको छुड़ा दिया। इस उपकारसे कयाधूका अभिभूत होना स्वाभाविक था। अपने प्राणसे बढ़कर उसे अपने बच्चेके प्राणकी चिन्ता थी और यह बात चुकी थी कि यदि नारद न होते तो उसके बच्चेका बचना तो असंभव ही था। उसका क्या होगा, यह भी निश्चित न था। नारदके संरक्षणकी अपेक्षा अभी बनी हुई थी; क्योंकि आसुरी सत्ता जा फिर भी

१–मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम्। (श्रीमद्भा० ७ । ७ । ८)
२–आस्तां यावत् प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः। (श्रीमद्भा० ७ । ७ । ९)

भक्त' लिखकर वह समाप्त हो गया। इन्हीं दो घटनाओंके आधारपर आज सारी दुनियाँ पोटेशियम सायनाइडको 'मीठा' मानती है।

अन्य असुरोंकी तरह कयाधूमें भी अनास्थाका तिमिर रोग इतना प्रबल हो गया था कि वेदकी स्वतः प्रकाशता उसकी आँखोंका विषय नहीं हो पाती थी। अतः नारदको घटनाका सहारा लेना पड़ा। ईश्वरकी सत्ताकी मूर्तिमान् घटना तो स्वयं नारद ही थे। उन्होंने ईश्वरको केवल देखा ही नहीं था, अपितु शिष्य बनकर उनसे पढ़ा भी था।[1] नारदकी आप्ततापर कयाधूको कोई संदेह न था। उनकी आप्तताने ही कयाधूको इन्द्रसे छुटकारा दिलाया था। जब इन्द्रने नारदसे सुना कि कयाधूके पेटमें कोई 'महाभक्त' है, तब उन्होंने झट कयाधूको सम्मानके साथ छोड़ दिया और उस गर्भस्थ शिशुके उद्देश्यसे उसकी परिक्रमा भी की।[2]

इस तरह नारदकी आपबीती घटनाओंने कयाधूको आस्तिक बना दिया। विष्णुपुराणसे[3] पता चलता है कि उन्होंने तात्कालिक अन्य घटनाओंका भी सहारा लिया था। कभी सनककी, कभी सनन्दनकी, कभी अत्रिकी घटनाएँ सुनायी जा रही थीं। सनत्कुमार, सनातन, मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु आदि सन्तोंकी सत्य घटनाएँ बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुईं। फलतः दोनों शिष्य भक्त और ज्ञानी बन गये।

(क्रमशः)

अन्तर्मार्जनमेव चरित्रम्

(लेखक—वीतराग महात्मा श्रीचतुर्भुज स्वामीजी)

'सुखं मे स्याद् दुःखं मा भूत्'—'मुझे सुख प्राप्त हो, दुःख न मिले' यह प्राणिमात्रकी अभिलाषा रहती है। किंतु दुःख बिना प्रयत्न किये भी प्राप्त होता रहता है। सुख प्रयत्न करनेपर भी नहीं प्राप्त होता। सत्य तो यह है कि मनुष्यका चित्त अखण्ड सुख, अपरिच्छिन्न ज्ञान, अनन्त सत्ताको चाहता है। आज ही नहीं, अनादिकालसे ही यह चर्चा चली आ रही है कि मन श्रीभगवान्के चरणारविन्दोंमें नहीं लगता। हम और आप हजार सत्सङ्ग करते हैं, कितने ग्रन्थोंका अभ्यास करते हैं, कन्दराओंमें जाकर साधन करते हैं, घर-बार छोड़कर संन्यास भी ग्रहण करते हैं, किंतु मनमें शान्ति नहीं है। भले ही हम दूसरोंको बाह्य-व्यवहारोंसे शान्तिका नाटक दिखायें, किंतु जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तब ऐसा लगता है कि हमसे बड़ा कोई दम्भी नहीं है।

१—प्रह्लादने अपने साथियोंसे स्वीकार किया है कि इनके गुरु नारदने ईश्वरको अपनी आँखोंसे देखा था—देवदर्शनात्
(श्रीमद्भा० ७।६।२८)

'देवस्य भगवतो दर्शनं यस्य सः' (बालप्रबोधिनी) देवदर्शनात् भगवद्दर्शनवतो नारदात्।
(भाग० अन्वितार्थप्रकाशिका व्याख्या)

२—अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ। (वही ७।७।११)

३—गुरुओंके इस कथनपर कि 'विष्णुसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है' प्रह्लादने कहा कि 'ईश्वरसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों प्रयोजन सिद्ध होते हैं' और प्रमाणमें ऋषियोंकी घटनाएँ प्रस्तुत कीं—

मरीचिमिश्रैर्दक्षाद्यैस्तथैवान्यैरनन्ततः। धर्मः प्राप्तस्तथा चान्यैरर्थः कामस्तथापरैः॥
तत्त्ववेदिनो भूत्वा ज्ञानध्यानसमाधिभिः। अवापुर्मुक्तिमपरे पुरुषा ध्वस्तबन्धनाः॥
(विष्णुपुराण १।१८।२२-२३)

अर्थात्—उन विष्णु भगवान्से ही मरीचि, दक्ष आदि ऋषियोंने धर्म, कुछ ऋषियोंने अर्थ, किन्हींने काम की प्राप्ति हुई। अन्य लोगोंने ज्ञान, ध्यान और समाधिके द्वारा उन्हींको परमतत्त्व समझकर मोक्ष प्राप्त किया है।

इसके मूल कारण—बन्धनके हेतु—विषय नहीं हैं, किंतु विषयजनित राग ही बन्धनका हेतु है। रागकी निवृत्ति बाह्याचरणसे नहीं हो सकती। उसकी निवृत्ति चरित्रसे ही हो सकती है। चरित्रका निर्माण बाह्याचरणसे भी होता है तथा भीतरी शोधनसे भी चरित्रका निर्माण होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति बहुत बाह्याचरण करता है, वही चरित्रवान् हो। वह दम्भी भी हो सकता है। बाह्याचरण रावणका कम नहीं था। महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—'यष्टाऽहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यशूरः' (वा० रा० ६। १०९। २) यह रावण अग्निहोत्र करता है, महातपस्वी है। वेदान्तका पण्डित है, कर्म करनेमें शूर है। फिर भी उसे अधर्म कहते हैं, अधर्मी भी नहीं।

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥

यदि रावण अधर्मपरायण न होता तो वह इन्द्रका भी रक्षा करनेवाला होता। वे महर्षि श्रीभगवान् रामको 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—रामको धर्मकी मूर्ति कहते हैं, केवल धर्मी नहीं। रावण शास्त्रोंका पण्डित होनेपर भी राक्षसराज कहा जाता है, उसकी माता कैकसी राक्षसी थी इस लिये। साथ ही उसमें एक और दोष है, वह है, चरित्रका अभाव; अर्थात् भीतरी जगत् उसका ठीक नहीं है। भगवान् रामका भीतरी जगत् ठीक है। वे कहते हैं—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल)

दूसरी ओर रावण विपरीत आचरणवाला है।

[illegible] दसानन [illegible]।
जाके डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥

कहनेका अभिप्राय कि चरित्रका निर्माण बाह्याचरणकी अपेक्षा भीतरी-शोधनसे ही सम्भव है। बाह्याचरण उसमें सहायक है, साध्य नहीं है। यदि मनुष्य प्रतिदिन सायंकाल अपने मनमुकुरको मार्जित करे तो उसे बहुत शीघ्र ही लाभ हो जायगा। हमारा रूप भी अच्छा है, पर यदि दर्पण मैला है तो उसमें अपना निरीक्षण ठीक नहीं होगा। आचार्योंने रास्ता बताया है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥

मनुष्यको चाहिये कि प्रतिदिन अपने कृत्योंका अवलोकन करे—मेरा कृत्य पशुके समान हो रहा है या महापुरुषोंके समान। चरित्रका सम्बन्ध मनसे—अन्तःकरणसे जुड़ा है। पुण्य तथा पापकी व्यवस्था भी मनपर ही निर्भर है। सीतान्वेषणके समय रावणगृहमें श्रीहनुमान्‌जीको यह शङ्का हो गयी कि मेरा चरित्र (शील) आज भ्रष्ट हो गया, क्योंकि मैंने अनावृत राक्षसियोंको देखा है। पर तुरन्त उन्होंने अपने अन्तर्में सोचा तो उन्हें समझमें आया कि मैं ठीक हूँ—'नहि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।' (वा० रा०) मैंने स्त्रियोंको देखा तो सही, किंतु मेरा मन विचलित नहीं हुआ—

न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते।
मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥
(वा० रा०)

—'समस्तेन्द्रियोंके प्रवर्तनमें हेतु मेरा मन सुव्यवस्थित है।' कहनेका अभिप्राय क्या? कौन व्यक्ति कितना चरित्रवान् है, इसका निर्णय स्वयं व्यक्ति पर रहता है। बाहरसे तो केवल अनुमानमात्र हो सकता है। कभी-कभी अपना निर्णय भी गलत हो सकता है, किंतु यदि वह निर्णय शास्त्रानुकूल है, तब वह ठीक, अन्यथा वह भी धोखेबाजोंके मायाजाल-विभीषणकी चरित्रोंमें आ जाएगा।

लोक-संग्रहार्थ सदाचरण भी करना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा कुछ भी कृत्य अवशिष्ट नहीं है । तथापि मैं चरित्रानुष्ठान करता हूँ—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः,
आचाराद् विप्रयुक्तो हि न विप्रः वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥
(स्मृति)

आचरणहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकता है, यहाँतक कि ब्राह्मण भी चारों वेदोंका अध्येता होनेपर भी अनाचारी होनेपर वेदका फल नहीं प्राप्त करता है । वेदका अध्येता न होनेपर भी आचरणयुक्त ब्राह्मण समस्त वेदका फलभागी बनता है । सचमुचमें महापुरुषोंका आचरण ही शास्त्र है—

'यास्तेषां स्वैरकथास्तान्येव शास्त्राणि भवन्ति ।

महापुरुष चाहे उपदेश दे या न दे, तब भी उनके पास जाना ही चाहिये; क्योंकि जो उनका आचरण है वही शास्त्र होता है । मनुजी कहते हैं—

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ।

जिसको शुद्ध हृदय-महात्मा स्वीकार करें वही वास्तवमें धर्म है। इससे यह सूचित होता है कि चरित्रका निर्माण बाह्यजगत्से न होकर आभ्यन्तरजगत्से होता है । जबतक चित्तके दोषापकरण न होंगे, तबतक चरित्रनिर्माण न होगा । प्रश्न होगा कि चित्तका शोधन सत्सङ्गादि साधनोंसे होता है । सत्सङ्ग तो प्रतिदिन करते हैं, किंतु चित्तकी स्थिति वही है । इसका कारण क्या ? या तो जल ऊसर भूमिमें जा रहा है या हम फावड़ेमें जल भर रहे हैं; नहीं तो द्रवित सुवर्ण जिस प्रकारके साँचेमें पड़ जाता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है । हमारे द्रवीभूतान्तःकरणमें सत्सङ्ग एक बार भी हो जाय तो जीवनका बहुत बड़ा काम हो जाता है । वह चित्त कब द्रवीभूत होगा, जब हम प्रतिदिन अपना निरीक्षण शुरू कर दें । जब प्रतिदिन गन्दगी चित्तमें दिखायी देगी तो उसके मार्जनकी इच्छा भी हो जायेगी; क्योंकि मन स्वाभाविक स्वच्छताका प्यासा है ।

चरित्र ही सर्वस्व है

(लेखक—श्रीभेमसर्जनपीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वतीजी महाराज)

श्रीमदनन्त अचिन्त्य लोकातीत अप्राकृत दिव्य चिन्मय कल्याणगुणगणनिलय सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीरामभद्र राघवेन्द्र प्रभु तो मूर्तिमान् चरित्र ही हैं । उनका परम-मङ्गलमय दिव्य चरित्र अनादिसमस्तपुंसाक्षात्कृतपाद-भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषशून्य सम्प्रदाय-विच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वविशिष्ट नित्यनिःश्वासभूत स्वतःप्रमाणरूप अपौरुषेय वेदों द्वारा नित्य गेय है । वनवास-समयमें श्रीमद्राघवेन्द्रप्रभुसे अमलात्मा मुक्त योगीन्द्र मुनीन्द्र परमहंस ब्रह्मविद् महर्षियोंने वेदोंके विषयमें कहा था—'हृदयेष्वेव तिष्ठन्ते ये वेदा वः परं धनम्' (वाल्मी० ३ । १ । २६) । इन्हीं वेदोंने श्रीरामके अनन्तानन्त चरित्रका शतकोटि श्लोकोंमें* गान किया है—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥
(रामरक्षास्तोत्र १)

आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकिरामायणका प्रथम सर्ग मूल-रामायणके नामसे विख्यात है । इसके तीसरे श्लोकमें महात्मा महर्षि श्रीवाल्मीकिजी, देवर्षि श्रीनारदजीसे पूछते हैं—

* रामायन सतकोटि अपारा ।

सच्चरित्रता

(श्री १०८ वैष्णव-पीठाधीश्वर श्रीविट्ठलेशस्वामी महाराज)

श्रीमद्यशोदोत्संगलालित, नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र क्रीडार्थ अखिल ब्रह्माण्डकी रचनाकर उसमें जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—चार प्रकारके प्राणी बनाये हैं। उनमें मनुष्य-शरीर ही श्रेष्ठ है—'आसो मे पौरुषी प्रिया'। सकल पुरुषार्थोंको देनेवाले दुर्लभ एवं अनित्य मनुष्य-जन्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ये चार वर्ण वेदद्वारा व्यवस्थित हैं। भगवान्‌ने अपने श्रीअङ्गोंसे चार वर्णोंकी रचना की है।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋक्० १० । ९०)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(गीता ४ । १३)

परमात्मा परम पुरुष भगवान् विष्णुके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जाँघोंसे वैश्य एवं पैरसे शूद्र पैदा हुए हैं।' गुणकर्मानुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम भी सहज हैं।' सभीके कर्तव्य-अकर्तव्योंका निर्देश भी दिया है। भगवदाज्ञा-रूप, विधि-निषेधात्मक वेदद्वारा निश्चय जो आचरणीय सदाचार है, वही सच्चरित्रता है। यह भी सनातन वर्णाश्रमधर्मके सुरक्षित रहनेसे सुरक्षित रहती है। अन्यथा दुश्चरित्रतामें कोई शुभ कल्याणके लक्षण नहीं हैं—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥

श्रीमनुमहाराजके आज्ञानुसार 'इस देशमें पैदा हुए ब्राह्मणसे ही सभी मनुष्योंको अपने-अपने चरित्र सीखने चाहिये—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु०)

उपर्युक्त वाक्यसे ब्राह्मण ही जन्मसे गुरु है। 'जन्मना ब्राह्मणो गुरुः'—इस वाक्यसे ब्राह्मण भगवन्मुखरूप हैं। उन्हींके शुभाशीर्वादोंसे अन्य लोग सानन्द जीवन यापन करते हैं। अतः उन्हींसे अपने चरित्रोंका गठन करना परमावश्यक है; क्योंकि वर्णाश्रमीकी पहचान स्वभावानुसार और स्वधर्माचरणसे होती है—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥

—शम, दम, तपस्या, पवित्रता, संतोष, क्षमा-शीलता, सीधापन, दया, सत्य और भगवद्भक्ति—ये ब्राह्मणवर्णके तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ऐश्वर्य और ब्राह्मण-भक्ति—ये क्षत्रियवर्णके स्वभाव हैं।

—आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, धन-संचयसे सन्तुष्ट न होना और ब्राह्मणोंकी सेवा करना —ये वैश्यवर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ, माता और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट रहना, ये शूद्रवर्णके स्वभाव हैं।

श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीको चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण कर्तव्य बतलाते हुए कहा है—मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करे, सत्यपर दृढ़ रहे, चोरी न करे, काम, क्रोध तथा लोभसे बचे। जिन कर्मोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता हो और उनका भला हो, वही करे।

शौच, आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जपपरायण, समस्त प्राणियोंमें भगवद्दृष्टि, मन, वाणी और शरीरका संयम, ये सभी आश्रमियोंके नियम हैं। अस्पृश्यावस्था-प्राप्त प्राणी-पदार्थोंको न छूना, अभक्ष्य वस्तुओंको न खाना, अपेय न पीना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना, ये नियम भी सबीके लिये हैं।

मानव-जीवनके साथ चरित्रका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच्चरित्रता और दुश्चरित्रताके फलाफलकी बातें किसीसे छिपी नहीं हैं। चरित्रगठन दुश्चरित्ररूपी रोगकी महौषधि है। मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रकी आलोचना करनी चाहिये और यह सोचना चाहिये कि मेरा आचरण पशुओंके समान है या सत्पुरुषके सदृश है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि ॥

संसारमें ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपनी सन्तानको सच्चरित्रवान् देखकर प्रसन्न न हो। जो स्वयं दुश्चरित्रवान् है, वह भी अपनी संतानको दुश्चरित्र नहीं देखना चाहता। वह भी यही चाहता है कि किसी तरह उसकी संतान सच्चरित्र हो। वह उसे सच्चरित्र बनानेके लिये हजारों रुपये खर्च कर सकता है तो भी सफलमनोरथ नहीं होता।

दुश्चरित्र संतानसे केवल माता-पिताको ही कष्ट नहीं होता, अपितु परिवारमात्रको कष्ट होता है। साथ ही इससे समाज और देशका भी अमङ्गल होता है।

सुख सभी चाहते हैं, पर वह तभी मिल सकता है, जब उचित रीतिसे अपने कर्तव्य कर्मोंका पालन किया जाय। शिक्षाका प्रधान उद्देश्य है चारित्रिक उत्थान, न कि धन कमानेके लिये कलाका अभ्यास। यदि शील-स्वभाव अच्छा न हुआ तो विद्याभ्यासका फल क्या हुआ। मनुष्य कहलानेके लिये चरित्र-शिक्षाग्रहण आवश्यक है। सच्चरित्रता मनुष्य-जीवनका प्रथम साधन है जिसके बिना मानव दानव हो जाता है। सभी लोग विद्या पढ़कर शिष्टाचार, विनय, उपयुक्त साहस, सहनशीलता, सत्यपरायणता, उदारता, दयालुता, परोपकारिता एवं सज्जनता आदि अनेक गुणोंसे अपने हृदयको अलंकृतकर और सच्चरित्र बनकर सुखी उन्नति कर सकते हैं। सच्चरित्र लोगोंके विशेष मानसिक सुखका विकास होता है और उनके दिन सुखसे व्यतीत होते हैं। दुश्चरित्र लोगोंका संसारमें कोई विश्वास नहीं करता।

भारतवर्षकी अवनतिका कारण भारतवासियोंका चारित्रिक ह्रास ही है। भारतवासी यदि अपने चरित्रको न बिगाड़ते तो वे आज भी जगद्गुरु होते। आजकल श्रीराम-लक्ष्मणके समान सुशील, धर्मराज युधिष्ठिरके सदृश सत्यप्रिय, भीष्मपितामहके तुल्य दृढ-प्रतिज्ञ, भीम-अर्जुन आदिके सदृश भ्रातृवत्सल, विदुरके समान विनयी, व्यास, वसिष्ठ, कपिलदेव आदि महर्षियोंके समान ज्ञानी और पूर्वकालिक आर्यगणोंके समान धर्मभीरु, राजभक्त तथा दया, क्षमा आदि गुणोंसे युक्त एक भी मनुष्य कहीं दिखायी नहीं देता। पर तो भी अभीतक आदर्श पुरुषोंका बिल्कुल अभाव हो जाना क्या कभी सम्भव है !

वर्तमान समयमें भी अनेक महापुरुषोंने जन्म ग्रहण करके अपने उदात्त चरित्रोंसे लोगोंको अनेक उपदेश दिये हैं। अब भी भूतपूर्व महात्माओंके सच्चरित्रकी कहानी सर्वत्र व्याप्त है। संसारमें आदर्श पुरुषोंका अभाव नहीं है। अभाव है—केवल हमलोगोंकी उन्नत दशामें प्राप्त होनेकी कामनाका, ग्रहण करनेकी शक्तिका से करनेवाली

हमलोग बहुत शीघ्र उन्नतिके ऊँचे शिखरपर पहुँच सकते हैं। यदि सज्जनोंके मार्गपर जितना चलना चाहिये उतना नहीं चल सकते तो थोड़ा-थोड़ा चलकर आगे बढ़नेका प्रयत्न करो। सन्मार्गपर पाँव रखोगे तब सुख मिलेगा ही—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥

सज्जनोंके साथ बैठना चाहिये, सज्जनोंकी संगतिमें रहना चाहिये और सज्जनोंके ही साथ मैत्री या विवाद करना चाहिये। दुर्जनोंसे किसी भी प्रकारका सम्पर्क नहीं रखना चाहिये।

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किंचिदाचरेत्॥

सत्संगसे सदाचारकी शिक्षा उपलब्ध होती है। सदाचारके पालन करनेसे सद्बुद्धिद्वारा सच्चरित्रका गठन होता है। इससे प्राणी सद्गति पानेका अधिकारी हो जाता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवालोंको सज्जनोंसे सच्चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। तभी सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकते हैं तथा भारतीय संस्कृतिकी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकेगी। अन्ततः परम पिता जगदीश्वर श्रीगोपालजीसे यह प्रार्थना है कि अज्ञानान्धकारमें निमग्न सभी जनोंको सच्चरित्रवान् बनायें।

सच्चरित्र राघवेन्द्र राम

(लेखक—श्री[illegible] पन्त, शास्त्री)

चरित अथवा चरित्र शब्द प्रायः समानार्थक है। अच्छा आचरण चरित्र या सच्चरित्र है, बुरा आचरण दुश्चरित्र। रामादिका आचरण चरित्र है, रावण आदिका आचरण दुश्चरित्र है। यह स्मृतियों आदिमें कहा गया है—श्रीराम, युधिष्ठिर आदिके समान व्यवहार करना चाहिये, रावण, दुर्योधन आदिके समान नहीं। रामचरित्र एक अरब श्लोकोंमें विस्तृत है—'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।' (रामरक्षास्तोत्र)। उसका एक-एक अक्षर महापातकनाशक है। भगवान् विष्णुके चरित महाभारत, विष्णुपुराण, भागवत, पद्मपुराण तथा हरिवंश आदि पुराणोंमें फैला है। सीताचरित वाल्मीकिरामायणमें व्याप्त है—'सीतायाश्चरितं महत्।' इसी प्रकार शिवपुराण, स्कन्दपुराण आदिमें शिवचरित, देवीभागवत, मार्कण्डेय आदिमें देवीचरित्र निर्दिष्ट है। सूर्यचरित सौरपुराण, भविष्यपुराण आदिमें, गणेश-चरित गणेशपुराण, मुद्गलपुराण आदिमें वर्णित है। दुर्गासप्तशतीमें प्रथमचरित्र, मध्यमचरित्र एवं उत्तरचरित्र मधु-कैटभ, महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ तथा धूम्राक्ष-वधरूप वृत्त वर्णित है। क्षेमेन्द्रके दशावतारचरितमें भगवान्के दस अवतारोंके वृत्तका वर्णन है। श्रीहर्ष-चरितमें श्रीहर्षके चरित्रका एवं नैषधीयचरितमें महाराज नलके चरित्रका वर्णन है। इससे सिद्ध हुआ कि सद्वृत्तका नाम चरित या चरित्र है। कहीं-कहीं सत्के विपरीत अर्थमें भी चरित शब्दका प्रयोग दिखायी देता है। जैसे—'सर्वं रावणस्य चरितं [illegible] करोति' (हितोपदेश) एवं 'स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' परंतु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'के अनुसार सत्-अर्थमें ही चरित या चरित्र शब्द प्रयुक्त होता है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजीने देवर्षि नारदजीसे पूछा—इस समय इस लोकमें कौन अपने-अपने गुणों तथा चारित्रसे युक्त है—'चारित्रेण च को युक्तः।' धर्मका ज्ञाता, सत्य वचन बोलनेवाला एवं दृढ़व्रती कौन है, इत्यादि। कौन सब इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, विद्वान् तथा

हिंसा उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्तिसे रहित कौन है ? जिसके दर्शनोंकी अभिलाषा सबको हो ऐसा कौन है ? विद्या, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, तप आदिमें दूसरोंकी उन्नति देखकर डाह न करनेवाला कौन है ? यदि कोप आ जाय तो युद्धमें देव, दानव आदि सब-के-सब जिससे डरें ऐसा कौन है ? देवर्षे ! यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ। आप तीनों लोकोंमें सर्वत्र विचरण करते रहते हैं, अतः ऐसे पुरुषश्रेष्ठको जाननेमें आप सर्वथा समर्थ हैं।

देवर्षिने कुछ देर सोचकर कहा—महर्षे ! ऐसे सुन्दर चरित्र और गुणोंसे युक्त इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न कौशल्यानन्दवर्द्धन तथा दशरथनन्दन श्रीराम हैं। उन्हींमें आपके पूछे गये गुण घटते हैं। देवर्षि नारदजीने श्रीरामके सब शारीरिक शुभ लक्षणोंका वर्णन करते हुए कहा—वे (राम) अपने मनको वशमें किये हुए, महापराक्रमी, कान्तिमान्, धैर्यवान्, अपनी सब आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखनेवाले, श्लाघनीय बुद्धिवाले, कामन्दकीय आदि नीतिशास्त्रोंके ज्ञाता, प्रशंसनीय भाषणशक्तिसे युक्त, सबसे बढ़कर शोभा, ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न, धर्मके ज्ञाता, सत्य प्रतिज्ञावाले, सब लोगोंके कल्याणके लिये पिताके तुल्य हितैषी, त्रिलोकव्यापी, दिव्यकीर्तिसे विभूषित, ज्ञानवान्, बाहरी और शरीरकी आभ्यन्तर पवित्रतावाले, पिता, माता, गुरु, देवता आदि पूज्योंके सम्मुख विनम्र, पिताके तुल्य सब लोगोंके पालन-पोषणमें समर्थ, सब प्राणियोंके सकल व्यवहारोंके निर्देशनसे संरक्षक, सब लोगोंके प्रिय, धर्मके संरक्षक, अपने धर्म, यज्ञ-याग, अध्ययन, दान आदिके रक्षणमें तत्पर, मृदु, मधुर स्वभाव, लौकिक तथा अलौकिक सब कर्मोंमें दक्ष, सज्जनों, सन्तोंद्वारा सदा सेवित, सबके आदरणीय, सब सुख-दुःखोंमें हर्ष-विषादसे रहित, माता कौशल्याके आनन्दको बढ़ानेवाले श्रीराम सब शुभ गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे गम्भीरतामें समुद्रके तुल्य, धैर्यमें हिमालयके समान, पराक्रममें भगवान् विष्णुके तुल्य, चन्द्रमाके समान सबके प्रिय, क्रोधमें कालाग्निके तुल्य, क्षमामें पृथ्वीके समान, दानमें कुबेरके तुल्य, सत्य वचनमें साक्षात् धर्मके तुल्य हैं। ये सब आचरण ही चरित्र या सुचरित्र हैं। मर्यादापुरुषोत्तम रामके शुभ चरित्रोंका आदर्शरूपमें सबको पालन करना चाहिये। भागवतमें कहा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।' अर्थात् भगवान् रामका मनुष्यावतार इस लोकमें मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये है, केवल राक्षसोंके वधके लिये नहीं है।

अथर्ववेदके सांमनस्य सूक्तमें कहा गया है—सबसे सौहार्द एवं वैर-विद्वेषका अभाव स्थापितकर परस्पर ऐसा प्रेम बढ़ाना चाहिये जैसे गौ अपने नवजात बछड़ेसे प्रेम करती है। पुत्रको पिताका अनुवर्ती, आज्ञापालक और माताके प्रति भी दृढ़ भक्तिमान् होना चाहिये, उत्तम कर्म करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। उन्नति-पथपर आरूढ़ होना चाहिये। परस्पर मधुर भाषण करना चाहिये। ये सब सुचरित्र राममें कूट-कूटकर भरे हैं।

तभी तो राम कहते हैं—सत्य ही लोकमें ईश्वर है। सत्यमें धर्म सदा आश्रित है। संसारमें सभी वस्तुएँ सत्यमूल हैं। सत्यसे बढ़कर कोई पद नहीं है। वेद भी सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'—सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं। अतः सभीको सत्यपरायण होना चाहिये। मैं पिताजीकी आज्ञाका पालन क्यों न करूँ। मैं किसी भी लोभसे, मोहसे तथा अज्ञानसे पिताजीके सत्यसेतुका कदापि भेदन नहीं कर सकता। पूज्यतम महाराज दशरथ मेरे पिता हैं, जन्मदाता हैं, उन्होंने मेरे लिये जो आज्ञा प्रदान की है, वह कदापि मेरे द्वारा मिथ्या न होगी। पिताजीके वचनसे मैं अग्निमें प्रविष्ट हो सकता हूँ, समुद्रमें गिर सकता हूँ। चन्द्रमासे उसकी शोभा भले पृथक् हो जाय, हिमालय भले ही हिमादिसे रहित हो जाय, समुद्र अपनी मर्यादा भले ही त्याग दे, परन्तु मैं पिताजीकी आज्ञा नहीं टाल सकता।

पुरुषप्रवर पिताजीके लिये जो भी प्रिय कार्य किया जा सकता है, मैं प्राणोंका परित्याग करके भी वह सब करनेके लिये कृतसंकल्प हूँ। पितृचरणोंकी शुश्रूषा और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे बढ़कर पुत्रके लिये कोई महत्तर धर्म हो ही नहीं सकता। इसलिये कहा गया है—देवताओंद्वारा स्पृहणीय दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको त्यागकर पिताकी आज्ञासे धर्मात्मा राम वनको चले गये। राज्याभिषेकसे जिसमें प्रसन्नता नहीं झलकी तथा वनवास-क्लेशसे जिसमें म्लानता नहीं आयी, राघवेन्द्र रामचन्द्रकी वह सुन्दर वदनारविन्दश्री (शोभा) हमलोगोंके लिये सदा मञ्जुल-मङ्गल-दायिनी हो। इसीसे किसीने कहा है—सम्पूर्ण पृथ्वीका साम्राज्य पुराने जीर्ण-शीर्ण तृणके समान त्यागकर, अपार सागरको जलबिन्दुके तुल्य बाँध दिया, रुई कपासके समान लङ्काधिपति रावणको बाणसमूहसे मार डाला तथा समूची सोनेकी लङ्का भीखके साधारण मुद्राके समान रावणके भाई विभीषणको दे दी। रामचन्द्र श्रीरामके इन चरित्रोंको सुनकर कौन ऐसा होगा जो उनकी स्पर्धा न करे। महान् आपत्ति आनेपर धीरजका न छूटना, विपुल सम्पदाओंकी प्राप्तिमें अभिमानको छूतक न जाना तथा उत्साहमें कभी भी कमी न आना यही तो सत्पुरुषोंका लक्षण है।

माँ कौसल्याके तो राम जीवन ही थे। तभी तो वे कहती हैं—मुझे समस्त कल्याण-गुणोंसे युक्त सर्वशास्त्र-विशारद एक पुत्रके बिना जीवनका उत्साह नहीं है। माँ कैकेयी स्वयं कहती हैं—कौसल्यासे भी अधिक राम मेरी प्रचुरमात्रामें सेवा करते हैं। अन्य माताओंने भी कहा था—राम दुःख पहुँचानेपर भी क्रोध नहीं करते और स्वयं भी क्रोध करनेवाली बात नहीं करते। क्रुद्ध लोगोंको भी प्रसन्न कर लेते हैं। भाइयोंके प्रति भी उनका प्रेम अनुराग था। वे कहते हैं—लक्ष्मण! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीतक जब कुछ मैं भाइयोंके लिये चाहता हूँ। भाइयोंके संग्रह और सुखके ही मैं राज्य चाहता हूँ। यदि मैं आयुध छूकर सत्य कहता हूँ, बिना भरतके, बिना तुम्हारे, बिना शत्रुघ्नके जो भी मेरा सुख हो उसे अग्निदेव भस्म कर दें।' लङ्का-विजयके बाद विभीषणने अनुरोध किया कि कुछ समय लङ्कामें रहकर मेरा आतिथ्य ग्रहण कर तब अयोध्याको प्रस्थान किया जाय। इसपर श्रीरघुनाथ श्रीरामने कहा—'राक्षसेश्वर! मैं तुम्हारी बात न मानूँ, यह सर्वथा असम्भव है, किंतु मेरा मन उस भाई भरतके लिये आतुर हो रहा है जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये बहुत प्रार्थना की, किंतु मैंने स्वीकार नहीं किया।'

गुरुवर महर्षि वसिष्ठके प्रति राघवेन्द्र रामकी अगाध भक्ति थी। विश्वामित्र, भरद्वाज, शरभङ्ग, अगस्त्य आदि महर्षियोंके प्रति अपार भक्ति थी। अपने मित्र गुहराज, विभीषण, सुग्रीव आदिके प्रति भी रामने अपने अपार सौशील्यसे परम प्रेम प्रदर्शित कर उन्हें अपना सखा कहा। राम सदा प्रशान्तात्मा थे और मृदुतापूर्वक बोलते थे। कोई कठोरतासे बोलता था तो भी वे उससे कठोरताका व्यवहार नहीं करते थे। भूलसे भी किसीके किये गये एक उपकारसे भी संतुष्ट हो जाते थे। आत्मवान् होनेके कारण उनके सैकड़ों अपराधोंका स्मरण नहीं करते थे। रामकी धर्ममें तत्परता एवं मुखमें मधुरता स्तुत्य थी। रामके उत्कट दया तथा मित्रके प्रति निर्मल चित्तता सर्वोपरि थी। वे गुरुके प्रति विनयान्वित थे। उनके चित्तमें अतिगम्भीरता, आचरणमें पवित्रता, गुणोंमें रुचि, शास्त्रोंमें अभिज्ञता, रूपमें सुन्दरता एवं हरिमें भक्ति अपार उदार थी। रामसे बढ़कर संसारमें चरित्रवान् कोई नहीं हुआ—'नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः।'

(वा० रा० २।४८।१६)

अतः मनुष्यमात्रको श्रीरामके चरित्रका आदर्श मानकर चलना चाहिये।

अमृत-बिन्दु

१—साधकको सदा लोभी व्यक्तिकी तरह दूसरेके सुखके लिये लालायित रहना चाहिये। ऐसा होनेसे वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जायगा।

२—साधकको चाहिये कि वह अपनेको कभी भोगी या संसारी व्यक्ति न समझे। उसमें सदा यह जागृति रहनी चाहिये कि 'मैं साधक हूँ'।

३—अपनेको भगवान्का समझकर संसारका काम करे तो संसारका भी काम ठीक होगा और भगवान्का भी। परंतु अपनेको संसारका समझकर संसारका काम करे तो संसारका काम भी ठीक नहीं होगा और भगवान्का काम तो होगा ही नहीं।

४—मनुष्य सांसारिक वस्तु-व्यक्ति आदिसे जितना अपना सम्बन्ध मानता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है। यदि वह केवल भगवान्से अपना सम्बन्ध माने तो सदाके लिये स्वाधीन हो जाय।

५—मानवशरीरका दुरुपयोग करनेसे जीव बँध जाता है और सदुपयोग करनेसे मुक्त हो जाता है। अपने स्वधर्मके लिये दूसरोंका अहित करना मानवशरीरका दुरुपयोग है और अपने स्वधर्मका त्याग करके दूसरोंका हित करना उसका सदुपयोग है। वास्तवमें मानव-शरीर केवल दूसरोंका हित करनेके लिये ही मिला है।

६—प्रभु अपने हैं, पर अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत हम प्रभुके लिये हैं। तात्पर्य है कि प्रभु अपने उपयोगमें लेनेके लिये नहीं हैं, प्रत्युत हमें अपने-आपको उन्हें देना है और विपरीत-से-विपरीत परिस्थिति आनेपर भी उसे प्रभुका भेजा प्रसाद समझकर प्रसन्न रहना है।

७—सदुपयोग करनेके लिये ही वस्तु अपनी है और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् अपने हैं। इसलिये वस्तुको संसारमें लगा दे और अपनेको भगवान्में लगा दे।

८—अपने सुखके लिये उद्योग करना दुःखको निमन्त्रण देना है और दूसरोंके सुखके लिये उद्योग करना आनन्दको निमन्त्रण देना है।

९—मनुष्य जितना सुख भोगेगा, उतना ही वह सुखका दास बनेगा और जितना सुखका दास बनेगा, उतना ही वह दुःख भोगेगा। इसलिये सुखभोगका त्याग करना चाहिये।

१०—समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य—इन चारोंको अपने लिये मानना दुरुपयोग है और इन्हें दूसरोंके हितमें लगाना सदुपयोग है।

११—परमात्मप्राप्तिमें आड़ वस्तुओंने नहीं, प्रत्युत वस्तुओंके महत्त्वने लगायी है। इसलिये वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि हृदयसे निकाल देनी चाहिये। क्षणभङ्गुर वस्तुओंका महत्त्व ही क्या है?

१२—परमात्माके साथ हरेक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका समानरूपसे सम्बन्ध है। इसलिये जो जहाँ है, वहीं परमात्माको पा सकता है।

१३—पति मर सकता है, स्त्रीको छोड़ भी सकता है, पर फिर भी नये घर जाते समय लड़कीको चिन्ता नहीं होती। परंतु भगवान् न तो कभी मरते हैं और न कभी छोड़ते ही हैं, फिर भगवान्से सम्बन्ध जोड़नेपर किस बातकी चिन्ता? खुद भगवान्को पकड़ना तो आता है, पर छोड़ना आता ही नहीं।

१४—संसारके संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है। इस वास्ते संसारका वियोग ही सत्य है।

१५—जड़के साथ जितना सम्बन्ध-विच्छेद होता जाता है, उतनी ही साधकमें विलक्षणता आती जाती है।